वर्तमान में प्रचलित मान्यता के अनुसार अन्य चिकित्सा पद्धतियों की भांति आयुर्वेद को भी एक चिकित्सा पद्धति माना जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि चिकित्सा या उपचार के क्षेत्र में आयुर्वेद की अपनी कतिपय मौलिक विशेषताएं हैं, किन्तु वस्तुतः वह मात्र उपचार विधि प्रतिपादक चिकित्सा शास्त्र ही नहीं है, अपितु जीवन विज्ञान, जीवन दर्शन एवं जीवन पद्धति का एक ऐसा समन्वित रूप है जिसमें स्वस्थ जीवन यापन की विभिन्न विधियों एवं विधाओं के साथ-साथ मनुष्य के शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक एवं भौतिक स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्त पक्षों पर विस्तार पूर्वक गहराई और बारीकी से विचार किया गया है। अतः आयुर्वेद को मात्र चिकित्सा शास्त्र न मानकर उसे सम्पूर्ण जीवन विज्ञान मानना ही अभीष्ट है, क्योंकि आयु ही जीवन है, आयु का वेद (ज्ञान) ही आयुर्वेद है, अतः आयुर्वेद एक सम्पूर्ण जीवन विज्ञान है।

आयुर्वेद शास्त्र का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि उस का आध्यात्मिक पक्ष जितना सबल, परिपुष्ट और महत्त्वपूर्ण है उतना ही सबल, परिपुष्ट और महत्त्वपूर्ण उसका दार्शनिक पक्ष है। जिसके द्वारा रोग-निदान, रोगी-रोग परीक्षा विधि एवं समस्त चिकित्सा सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए हैं। दर्शन शास्त्र की विषय वस्तु यद्यपि सिद्धान्तों पर आधारित सैद्धान्तिक होती है जिसमें व्यवहारिकता अथवा प्रायोगिकता के पक्ष का अभाव रहता है, किन्तु आयुर्वेद में दर्शन शास्त्र के आलम्बन एवं प्रतिपादन के साथ-साथ उसके व्यवहारिक पक्ष को विशेष रूप से रेखांकित एवं प्रतिपादित किया गया है। इसीलिए सम्पूर्ण आयुर्वेद शास्त्र मात्र सैद्धान्तिक नहीं है, अपितु वह व्यवहार परक और प्रायोगिक विधियों पर आधारित है।

भारतीय दर्शन शास्त्र में यद्यपि आयुर्वेद दर्शन के नाम से किसी स्वतन्त्र दर्शन का उल्लेख या परिगणन नहीं किया गया है, तथापि मानवीय जीवन दर्शन की अन्यान्य प्रवृत्तियों के आधारभूत सिद्धान्तों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म और गम्भीरतम जो विवेचना आयुर्वेद में की गई है उससे सहज स्वाभाविक रूप से आयुर्वेदीय स्वतन्त्र मौलिक दर्शन की उद्भावना अथवा सम्भावना को पर्याप्त बल मिलता है।

इसी तथ्य को विभिन्न आयामों के माध्यम से प्रस्तुत ग्रंथ में निबद्ध किया गया है। इसमें मुख्यतः आयुर्वेद के उन आधारभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन एवं दार्शनिक विवेचन किया गया है जो जीवन के प्रति तो उत्तरदायी हैं ही, जिनके द्वारा सम्पूर्ण आयुर्वेद शास्त्र का मौलिक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। अतः निश्चय ही दार्शनिक एवं आयुर्वेद जगत् में यह पुस्तक कतिपय नवीन तथ्यों का उद्घाटन करती है। □

आयुर्वेद के चिन्तक एवं विचारक। शासकीय प्रशासनिक सेवा में रहते हुए भी आयुर्वेद के चिन्तन में परिपक्वता की प्रतीक हैं आपके द्वारा संरचित वे कृतियां जो आयुर्वेद के विद्वानों, अध्यापकों, छात्रों, शोधार्थियों एवं सामान्य जन में समान रूप से रुचि पूर्वक पढ़ी जाती हैं। आपके द्वारा रचित कृतियों में जहां मौलिकता की स्पष्ट छाप दिखाई देती है वहीं भाषा सम्बन्धी दुरूहता कहीं भी देखने में नहीं मिलती है। यही कारण है कि आपके द्वारा लिखित पुस्तकें अध्यापकों एवं छात्रों में विशेष रूप से लोकप्रिय हैं।

आपके वैदुष्य एवं ज्ञान गरिमा की स्पष्ट अनुभूति आपकी पुस्तकों को पढ़ने से मिलती है। वर्तमान में पुस्तक रूप में आपकी तीन कृतियां हैं—आयुर्वेद दर्शन, योग और आयुर्वेद तथा आयुर्वेद परिचय। इन सभी के दो-दो संस्करण निकल चुके हैं, प्रस्तुत तीसरा संस्करण आपके हाथ में है।

पुस्तक रचना के अतिरिक्त लेखन की अन्य विधाओं का सतत प्रवाह चलता रहता है। इसके परिणामस्वरूप आपको समय समय पर विभिन्न पुरस्कारों से पुरस्कृत एवं सम्मानित किया गया है। भाषा विभाग, हरियाणा सरकार द्वारा आयोजित अखिल भारतीय निबन्ध प्रतियोगिता में आपको प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ। गुजरात विश्वविद्यालय, जामनगर द्वारा आयोजित प्रतियोगिता में प्रथम पुरस्कार के रूप में आपको स्वर्ण पदक से सम्मानित किया गया। हिन्दी संस्थान, उत्तर प्रदेश तथा आयुर्वेद एवं तिब्बी अकादमी, उत्तर प्रदेश द्वारा आपकी पुस्तक 'आयुर्वेद दर्शन' पुरस्कृत की गई है। देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इन्दौर द्वारा सम्बद्धता एवं मान्यता प्राप्त कुन्दकुन्द ज्ञापनीठ, इन्दौर द्वारा 1995 में आपके द्वारा लिखित 'श्रुत परम्परा में आयुर्वेद' शीर्षक आलेख को अर्हत् वचन प्रथम पुरस्कार (रु. 5000.00) से पुरस्कृत एवं सम्मानित किया गया। □

पुस्तक प्राप्ति स्थान :

चौखम्भा ओरियन्टालिया

CHAUKHAMBHA ORIENTALIA

बैंग्लो रोड, 9 यू०बी० जवाहर नगर

पोस्ट बॉक्स नं० 2206

निकट किरोड़ीमल कालेज

दिल्ली–110007

Phone : 2911617, 238790

आयुर्वेद दर्शन

लेखक
आचार्य राजकुमार जैन
एम. ए. (हिन्दी-संस्कृत), एच. पी. ए.
दर्शनायुर्वेदाचार्य, साहित्यायुर्वेद शास्त्री,

प्राक्कथन
पद्मभूषण वैद्यरत्न पं. शिव शर्मा

प्राणावाय (जैनायुर्वेद) शोध संस्थान
११२ए/ब्लाक-सी, पाकेट-सी
शालीमार बाग, दिल्ली-११००५२

प्रकाशक :
प्राणावाय (जैनायुर्वेद) शोध संस्थान

मुद्रक :
ग्लोब आफसेट प्रेस

तृतीय संस्करण : १९९७

★ मूल्य : दो सौ रुपये मात्र

पुस्तक प्राप्ति स्थान

आचार्य राजकुमार जैन
११२ए/ब्लाक-सी, पाकेट-सी
शालीमार बाग, दिल्ली-११००५२

चौखम्भा ओरियन्टालिया
पोस्ट बाक्स नं. २२०६
बंगलो रोड, ९-यू. बी, जवाहर नगर
(किरोड़ीमल कालेज के पास)
दिल्ली ११०००७ (भारत)
फोन : २९११६१७, २३८७९०

समर्पण

जिन्होंने पूर्ण निष्ठा के साथ आयुर्वेद की मूक सेवा में
अपने जीवन के ८४ वर्ष लगा दिए और जिन के
शुभाशीर्वाद व प्रेरणा से मैं अपनी इस कृति
को मूर्त्तरूप देने में सफल हो सका हूं, उन
पूज्य पिता श्री के चरण कमलों में
अत्यन्त श्रद्धा एवं विनय के साथ
समर्पित मेरे तुच्छ प्रयास का
यह सुवासित पुष्प ।

प्राक्कथन

सन् १६२८ में (भारत विभाजन से लगभग २० वर्ष पूर्व) लाहौर औरिएण्टल कान्फ्रेन्स का एक महाधिवेशन हुआ था। उन दिनों मैं श्रीमद् दयानन्द आयुर्वेद महा-विद्यालय, लाहौर में कायचिकित्सा का प्राध्यापक था। महाविद्यालय के प्राचार्य तथा प्रबन्धकारिणी के आदेश पर उस संस्था की ओर से उस महाधिवेशन में मैंने भी भाग लिया था। वहीं पहली बार यह चर्चा सुनी कि चरक ने जिस ढंग से चरक संहिता में साँख्य का प्रतिपादन किया है वह साँख्य का दर्शन अथवा सांख्यकारिका का शतप्रतिशत अनुकरण नहीं है, एक स्वतन्त्र सांख्य का स्वरुप है। इसका यह अर्थ भी नहीं है कि चरक ने एक नवीन दर्शन का निर्माण कर दिया, क्योंकि उसका कोई भी वाक्य साँख्य के मौलिक सिद्धान्तों का विरोध अथवा खण्डन नहीं करता। जो भी थोड़ा बहुत परिवर्तन कहीं हुआ है उसका लक्ष्य आयुर्वेद के अपने विशिष्ट सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए एक सुविधाजनक तथा अनुकूल दार्शनिक नींव डालना है।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक आचार्य राजकुमार जैन केवल सांख्य के क्षेत्र में ही नहीं, सम्पूर्ण दार्शनिक क्षेत्र में आयुर्वेद के दृष्टिकोण को स्वतन्त्र मानते हैं।

मैं लेखक के दृष्टिकोण से सहमत हूँ। आत्मा, मन और शरीर का काल-द्रव्य के साथ संयोग वियोग के बीच का अन्तर आयु का प्रमाण है। इस अवधि में मनुष्य को प्राकृतावस्था में रखना आयुर्वेद का उद्देश्य है। परन्तु आयुर्वेद ने जन्म और मरण की भी रोगों में ही गणना की है—स्वाभाविक रोगों में। आयुर्वेद का यह प्रसंग उन अंशों में से है जिनके कारण यह शास्त्र अन्य चिकित्सा प्रणालियों से अधिक भिन्न, अधिक व्यापक तथा सम्पूर्ण समझा जाता है। बौद्धिक चिन्तन ने इसे और भी अधिक सार्थकता प्रदान की है। इसी करण से इस प्रणाली को दर्शनशास्त्र की भूमिका धारण कर प्राक् चैकित्सिक विज्ञान का स्वरूप भी स्वयं ही ग्रहण करना पड़ता है।

इस भूमिका में षड्दर्शनों की पृष्ठभूमि का पूर्ण सम्मान रखते हुए उनके आधारभूत सिद्धान्तों के साथ एक व्यापक जीवनशास्त्र की क्रियात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आयुर्वेद के प्रवर्त्तकों ने इस शास्त्र के मौलिक सिद्धान्तों का एक उपा-देय तथा वाँछनीय सामञ्जस्य बिठाया है। यही आयुर्वेद दर्शन है।

द्वादश अध्याय-आप्तोपदेश प्रमाण निरूपण

त्रयोदश अध्याय-अन्य प्रमाण निरूपण

चतुर्दश अध्याय–तद्विद्य सम्भाषा

पंचदश अध्याय—सृष्टि उत्पत्ति क्रम एवं तत्व निरूपण

षोडश अध्याय—लय और प्रलय निरूपण

सप्तदश अध्याय—कार्यकरण भाव एवं वाद निरुपण

अष्टादश अध्याय-तन्त्रयुक्ति विज्ञानीय

एकोनविंश : अध्याय

व्याख्या, कल्पना, ताच्छील्य, अर्थाश्रय एवं तन्त्रदोष

प्रथम अध्याय

मंगलाचरण

दीर्घायुष्यं विधत्ते सुखमपि परमं यो जनानामजस्रं
रोगाणां जालपाशं सपदिमननतः साग्रहं यश्छिनत्ति ।
ध्वस्ताधिव्याधिवर्गं विहतमलचयं सर्ववंद्यं नमस्त-
मात्रेयं वाग्निवेशं चरकमुनिवरं देवधन्वन्तरिं वा ।।

अर्थात् जो मनुष्य के दीर्घायुष्य को करता है, जो लोगों को सतत रूपेण परम सुख प्रदान करता है, एक बार मनन करने मात्र से जो रोगों के जाल रूपी पाश को आग्रहपूर्वक काट देता है, जिसने समस्त आधि व्याधि वर्ग को नष्ट कर दिया है, दोष समूह को नष्ट करने वाले, समस्त प्राणियों द्वारा वन्दनीय महर्षि आत्रेय अथवा महर्षि अग्निवेश, महर्षि चरक या भगवान धन्वन्तरि को नमस्कार है।

विषय प्रवेश

जब से सृष्टि का आरम्भ हुआ है तब ही से प्राणियों को सुख और दुःख की अनुभूति होने लगी थी। मनुष्यों की अनुभूति में सुख उसके लिए अनुकूल प्रतीत एवं हितकारी प्रवृत्ति थी। इसके विपरीत दुख उसके लिए प्रतिकूल प्रतीत एवं अश्रेयस्कर प्रवृत्ति थी। अतः प्रारम्भ से ही मनुष्य सुख की प्राप्ति एवं सतत उसकी स्थिति तथा दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए प्रयत्न करता रहा। मनुष्यों के इस स्वाभाविक प्रयास में उसे सफलता दिलाने लिए इस भूमण्डल पर आयुर्वेद का अवतरण हुआ। क्योंकि मनुष्यों की तत्कालीन अनुकूल प्रतीति जनित सुख (आरोग्य) की उपलब्धि एवं प्रतिकूल प्रतीति जनित दुख (विकार) की निवृत्ति के लिए आयुर्वेद ही समर्थ था। मूलतः आयुर्वेद का प्रयोजन भी यही है —"स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम्, आतुरस्य विकार प्रशमनम्" अर्थात् स्वस्थ मनुष्यों के स्वास्थ्य की रक्षा करना और रुग्ण व्यक्तियों के विकार का प्रशमन करना।

सम्पूर्ण आयुर्वेद की आधार शिला उसके मूलभूत सिद्धान्तों पर ही अवलम्बित

है। उन मौलिक सिद्धान्तों के अध्ययन के बिना आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त करना सर्वथा असम्भव है। अतः सर्वप्रथम उनका अध्ययन एवं ज्ञान नितान्त अपेक्षित है। यद्यपि आयुर्वेद के समस्त मौलिक सिद्धान्त एवं सम्पूर्ण आयुर्वेद का आधारभूत विज्ञान आयुर्वेद की निजी चिन्तनधारा, उसका अपना प्रयोजन, एवं उसके स्वकीय दृष्टिकोण पर ही आधारित है, तथापि वे सिद्धान्त और वह विज्ञान भारतीय दर्शनशास्त्र एवं तात्विक विषयों से अनुप्राणित हैं। उन सिद्धान्तों में दार्शनिक एवं आध्यात्मिक सिद्धान्तों का समावेश इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। भारतीय दर्शनशास्त्र की चिन्तनधारा, अध्ययन पद्धति, मनन शैली एवं अनुशीलन परम्परा का उसकी समकालीन विद्याओं पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। यही कारण है कि आयुर्वेद के आधारभूत सिद्धान्त भी दर्शनशास्त्र और दार्शनिक तत्वों से पर्याप्त प्रभावित हैं। इसका एक कारण यह भी है कि आर्ष काल में जिन जिन विषयों एवं विद्याओं का अध्ययन तथा अध्यापन हुआ है तथा जिन गुरुओं ने आयुर्वेद आदि विद्याओं की शिक्षा दीक्षा दी है वे स्वयं आयुर्वेद के साथ साथ दर्शनशास्त्र एवं अन्य विषयों के भी ज्ञाता, कर्ता एवं प्रवक्ता थे। अतः उनके द्वारा आयुर्वेदीय मौलिक सिद्धान्तों का विवेचन दार्शनिक सिद्धान्त से प्रभावित होना स्वाभाविक है।

दर्शन शब्द का अर्थ और उसकी व्यापकता

दर्शन का सामान्य अर्थ होता है देखना। 'दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम्'' अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाय वह दर्शन कहलाता है। सामान्यतः नेत्रों के माध्यम से चक्षु इन्द्रिय द्वारा जो क्रिया प्रतिपादित की जाती है वह दर्शन शब्द से अभिप्रेत है। वस्तुओं के स्वरूप को उसके तात्विक अथवा वास्तविक रूप में देखना ही दर्शन कहलाता है। वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप ज्ञान को ही दर्शन कहते हैं। कुछ आचार्यों के अनुसार दर्शन शब्द का मोटा और स्पष्ट अर्थ है साक्षात्कार करना, अथवा प्रत्यक्ष ज्ञान से किसी वस्तु का निर्णय करना।

तात्पर्य यह है कि विभिन्न दर्शनकार ऋषियों ने अपने अपने दृष्टिकोण के अनुसार वस्तु के स्वरूप को जानने की चेष्टा की और उसी का बार-बार मनन, चिन्तन और निदिध्यासन किया। जिसका यह स्वाभाविक फल है कि उन्हें अपनी बलवती भावना के अनुसार वस्तु का वह स्वरूप स्पष्ट प्रतिभासित हुआ।

अभिप्राय यह है कि प्रत्येक दर्शनकार ऋषि ने प्रथम चेतन और और जड़ के स्वरूप, उनका पारस्परिक सम्बन्ध तथा दृश्य जगत की व्यवस्था को जानने का अपना दृष्टिकोण बनाया। पश्चात् उसी का सतत चिन्तन और मनन धारा के परिपाक से जो तत्व साक्षात्कारकी प्रकृष्ट और बलवती भावना जाग्रत हुई उसके विशद और स्फुट आभास से निश्चय किया कि उन्होंने विश्व का यथार्थ दर्शन किया है। तत्वों का साक्षात्कार किया है, आत्मा के यथार्थ स्वरूप का अवलोकन किया है तथा स्वात्मानुभूति के अनन्त

सागर में अखण्ड, अक्षय और परमोत्कृष्ट अलौकिक सुख का अनुभव किया है। इस प्रकार दर्शन का मूल उद्गम दृष्टिकोण से हुआ है और उनका अन्तिम परिपाक है भावनात्मक साक्षात्कार में।

दर्शन का मुख्य प्रयोजन आध्यात्मिक तत्वों की विवेचना कर उसके यथार्थ स्वरूप के रहस्य का ज्ञानोपार्जन कराना है। आध्यात्मिक तत्वों के अतिरिक्त अन्य तत्वों का विवेचन एवं दिग्दर्शन कराना भी दर्शन शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है। तत्व चिन्तन की उच्चात्युच्च कल्पना, विचारों की सूक्ष्मता, विविध आध्यात्मिक विषयों के अध्ययन, मनन एवं अनुशीलन की गम्भीरता तथा प्रत्येक तत्व की सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचना ही दर्शन का आधार है।

दर्शन की उद्भूति

भारतवर्ष एक धर्म प्रधान देश है। अतः भारतीय जन जीवन में आध्यात्मिकता, धार्मिक भावना एवं सामाजिक सौहार्द भाव की जड़ें इतनी गहरी जमी हुई हैं कि अनेक वर्षों के आघात प्रत्याघात भी उनका समूलोच्छेदन नहीं कर सकते। भारतीय चिन्तन धारा ने जहाँ परहित विवेक की प्रतिष्ठापना की वहाँ इसने "मैं" और "विश्व" तथा उसके पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर उन्मुक्त और गम्भीर मनन किया है। दिव्य द्रष्टा ऋषियों ने ऐहिक चिन्ता से मुक्त होकर आत्म तत्व की गवेषणा में अपनी समग्र शक्ति एकाग्र चित्त से लगाई। उन्होंने आत्म साधना की प्रक्रिया का अन्वेषण किया और ज्ञान के आधार पर अलौकिक चक्षुओं द्वारा संसार के परिभ्रमणशील चक्र का अवलोकन कर इसकी यथार्थता से मानव मात्र को अवगत कराया।

सृष्टि के आदि काल से ही बौद्धिक चिन्तन एवं आत्मानुशीलन में एकाग्र चितवृत्ति द्वारा समस्त प्रवृत्तियों को अन्तर्मुख करने वाले ऋषि महर्षियों के हृदय में सृष्टि के प्रति बाल सुलभ जिज्ञासा एवं औत्सुक्य वृत्ति प्रादुर्भूत हुई। इस सृष्टि तथा उससे सम्बन्धित विविध भावों के विषय में अनेक प्रश्न उन ऋषियों के अन्तःकरण में समुत्पन्न हुए। उन प्रश्नों का समाधान उन्होंने अपनी तपःसाधना द्वारा आत्म साक्षात्कार पूर्वक किया। कालान्तर में एवंभूत विविध जिज्ञासाओं का समाधान लिपिबद्ध करके शास्त्र के रूप में उन्हें सुरक्षित रखा गया। जिन ग्रन्थों में विशेषतः उस ज्ञान को लिपिबद्ध किया गया है - इस प्रकार के शास्त्र एवं ग्रन्थों को ही दर्शन शास्त्र की संज्ञा से व्यवहृत किया गया। दर्शनशास्त्र एक वैज्ञानिक शास्त्र है, जो नित्यप्रति अनेक तत्वों के विषय में अन्वेषण कर गम्भीरता पूर्वक उनका चिन्तन करता है, उससे सम्बन्धित प्रत्येक पहलू का विचार कर उसके रहस्य का ज्ञान प्राप्त करता है तथा उसके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर उसे हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है।

यह सृष्टि क्या है। इसका प्रयोजन क्या है? इसकी उत्पत्ति कब हुई? इसका सृष्टा कौन है? सृष्टि करने का उद्देश्य क्या था? आत्मा क्या है? परमात्मा क्या

है ? हम कौन हैं ? क्या हैं ? और कहां से आये हैं ? हमारा क्या कर्तव्य है ? और जीवन का अन्तिम ध्येय क्या है ? इत्यादि प्रश्नों का समुचित समाधानात्मक उत्तर हमें दर्शन शास्त्र ही दे सकता है ? क्योंकि उपर्युक्त प्रश्नों का समाधान करना ही दर्शन शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है। तत्व ज्ञान द्वारा परम सुख या मोक्ष प्राप्ति का उपाय बतलाना दर्शनशास्त्र की मौलिक विशेषता है।

आयुर्वेद पर दर्शनों का प्रभाव

लगभग समस्त भारतीय दर्शन आध्यात्मिकता से अनुप्राणित रहे हैं। इसके परिणाम स्वरूप भारतीय दर्शनों ने आत्मा-मन-इन्द्रिय और उससे सम्बन्धित विषयों के प्रतिपादन को विशेष महत्व दिया। भारतीय दर्शनों की स्वतन्त्र चिन्तन धारा ने अपनी समकालीन विधाओं को भी पर्याप्त रूप से प्रभावित किया। इसके परिणाम स्वरूप आयुर्वेद भी दार्शनिक विचारधारा, दार्शनिक तत्वों एवं दार्शनिक अनुचिन्तन के प्रभाव से मुक्त नहीं रह सका। यह बात दूसरी है कि दृष्टिकोण की भिन्नता और आयुर्वेदीय सिद्धान्तों के अनुसार कतिपय विषयों में दार्शनिक तत्वों की अनुकूलता के कारण किसी दर्शन ने अल्प रूप में तो किसी दर्शन ने अधिक रूप में आयुर्वेद को प्रभावित किया। किन्तु यह एक निर्विवाद तथ्य है कि सभी दर्शनों ने आयुर्वेद और उसके सिद्धान्तों को न्यूनाधिक रूप में प्रभावित किया है। आयुर्वेद का इतना वैशिष्टय अवश्य है कि उसने दर्शनों के प्रतिपाद्य आत्मा-मन-इन्द्रिय के अधिष्ठान भूत शरीर का सर्वांगपूर्ण विवेचन कर दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुरुप उसकी उपयोगिता एवं सार्थकता को प्रतिपादित किया।

भारतीय दर्शनशास्त्र एवं आयुर्वेद दोनों ही भारतीय संस्कृति का पोषण एवं संवर्धन करने वाले अभिन्न अंग रहे हैं। भारतीय दर्शनकार ऋषियों ने दर्शनशास्त्र के माध्यम से जहाँ विश्व की चेतना भूत आत्मा को जाग्रत कर उसे निःश्रेयस के पथ पर अग्रसर किया वहाँ आयुर्वेद ने आत्मा के निवास स्थान भूत शरीर की स्वास्थ्य रक्षा, आरोग्य एवं अनातुरावस्था के लिए विभिन्न उपायों का निर्देश किया ताकि स्वस्थ एवं अनातुर शरीर के माध्यम से आत्मा अपने चरम लक्ष्य निवृत्ति को प्राप्त कर सके। जिस प्रकार संसार चक्र के रूप में आत्मा और शरीर परस्पर संयुक्त हैं उसी प्रकार शास्त्रीय अध्ययन पद्धति के रूप में दर्शन और आयुर्वेद का पारस्परिक सम्बन्ध प्रारम्भ से ही चला आ रहा है।

आयुर्वेद के दार्शनिक पक्ष को इस दृष्टि से ग्रहण किया जाना चाहिए कि आयुर्वेदीय चिकित्सा के अनेक महत्वपूर्ण सिद्धान्त दार्शनिक सिद्धान्तों से पूर्णतः प्रभावित अथवा उन पर आधारित हैं। इसे निम्न उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है—

वैशेषिक दर्शन ने अन्य पदार्थों के साथ 'सामान्य' और 'विशेष' को पदार्थ माना है। आयुर्वेद में भी इन्हें पदार्थ स्वीकार किया गया है। इसके अतिरिक्त आयुर्वेद में चिकि-त्सा सिद्धान्त के रूप में भी इन दोनों पदार्थों की व्यापकता हुई। जैसे शरीर में

रक्ताल्पता की स्थिति की चिकित्सा में "सामान्य" सिद्धान्त के अनुसार "**सामान्यं वृद्धिकारणम्**" के आधार पर रक्त के समान गुणधर्म वाले द्रव्यों के प्रयोग से रक्त की वृद्धि होती है तथा रक्ताल्पता दूर होकर व्याधि का नाश होता है। ज्वर के रोगी को पित्त नाशक द्रव्यों का प्रयोग विपरीत गुण धर्म होने से 'विशेष' के आधार पर किया जाता है। जैसे गुडूचीसत्व पित्तनाशक एवं ज्वरघ्न होने से ज्वर का शमन करता है। इसी प्रकार आयुर्वेद में अन्य दार्शनिक तत्वों एवं सिद्धान्तों का विवेचन भी चिकित्सा सिद्धान्तानुसारी होने से महत्वपूर्ण है। अतः यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि आयुर्वेद का दार्शनिक पक्ष अत्यधिक समृद्ध, समुन्नत एवं प्रबल है।

दर्शनों की संख्या और श्रेणी विभाजन

भारत में प्रचलित दर्शनों को मुख्य रूप से दो श्रेणियों में विभाजित किया गया है—

(१) आस्तिक दर्शन और (२) नास्तिक दर्शन।

आस्तिक दर्शन वह माना जाता है जो वेद मतावलम्बी है, वेदों में श्रद्धा व भक्ति रखता है, वेदों को अपौरुषेय एवं ईश्वरकृत मानता है तथा वेदों का अस्तित्व व प्रामाण्य स्वीकार करता है। एतद्विध वैदिक या वेदमतावलम्बी दर्शनों की संख्या छः है। यथा—गौतमकृत न्याय दर्शन, कणादकृत वैशेषिक दर्शन, कपिलकृत सांख्य दर्शन, जैमिनीकृत मीमांसा दर्शन तथा व्यासकृत ब्रह्मसूत्र या वेदान्त दर्शन। इन षड्विध दर्शनों का मूलस्रोत उपनिषद् हैं। इन दर्शनों (तत्व ज्ञान या तत्व चिन्तन के मूल शास्त्रों) का जन्म उपनिषदों से ही हुआ है—ऐसा विद्वानों का अभिमत है। दर्शन के बीज उपनिषदों में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते हैं। उपनिषद् वेद के भाग हैं। इन उपनिषदों की संख्या १०८ है। जिनमें से १० उपनिषद् ऋग्वेद से सम्बन्धित हैं, १९ शुक्ल यजुर्वेद से, ३२ कृष्ण यजुर्वेद से, १६ सामवेद से और ३१ अथर्ववेद से सम्बन्धित हैं।

नास्तिक दर्शन वे समझे जाते हैं जो वेदों को ईश्वरकृत नहीं मानते। वे वेदों में श्रद्धा, भक्ति या विश्वास नहीं रखते। उनके मतानुसार वेद पौरुषेय हैं। नास्तिक समझे जाने वाले दर्शनों की संख्या तीन हैं। यथा—जैनदर्शन, बौद्ध दर्शन और चार्वाक दर्शन। इनमें चार्वाक दर्शन पूर्णतः नास्तिक, अनात्मवादी, भौतिकवादी, एवं प्रत्यक्षवादी है। उसके मतानुसार आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग, नरक, मोक्ष आदि कुछ नहीं है। जो कुछ प्रत्यक्ष है, वही सत्य है, अन्य समस्त अप्रत्यक्ष असत्य, मिथ्या एवं भ्रममात्र है। अतः असत्य, मिथ्या और भ्रम को स्वीकार करना कभी हितकारी नहीं हो सकता। चार्वाक के अतिरिक्त अन्य दोनों (जैन व बौद्ध) दर्शन, स्वयं को नास्तिक नहीं समझते। क्योंकि वे आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग, नरक, मोक्ष, कर्म, कर्म फल, पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म, पुनर्जन्मादि समस्त तत्वों के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। उनके मतानुसार जो अनात्मवादी होता है और उपर्युक्त तत्वों के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता है वही

पदार्थ विभाजन एवं संख्या

पदार्थ को सामान्यत: दो भागों में विभाजित किया है[1]—(१) भाव पदार्थ और (२) अभाव पदार्थ ।

भाव पदार्थ

आयुर्वेद में केवल भाव पदार्थ ही स्वीकार किए गए हैं। **"भवन्ति सत्तामनुभवन्तीति भाव:"** अर्थात् जो सत्तावान् हो और जिसका अनुभव किया जा सके वही भाव है। संसार में ऐसे भाव पदार्थ असंख्य हैं, किन्तु फिर भी आयुर्वेद में सुविधा की दृष्टि से मुख्य भाव पदार्थों की संख्या छह मानी गई है। यथा-द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय[2]। शेष समस्त पदार्थों का समावेश इन्हीं षट् पदार्थों में हो जाता है। इन षट् पदार्थों से अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ की सत्ता नहीं है। आयुर्वेद के अतिरिक्त कुछ अन्य दर्शन भी उपर्युक्त षड्विध पदार्थ मानते हैं[3]।

अभाव पदार्थ

भाव के विपरीत जिसका अभाव हो अर्थात् न तो जिसकी सत्ता हो और न ही जिसका अनुभव हो सकता हो वह अभाव पदार्थ कहलाता है। इसे असत् पदार्थ भी कहते हैं। यह चार प्रकार का होता है। यथा—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव। आयुर्वेद में अभाव को पदार्थ नहीं माना गया है। किन्तु जो दर्शन अभाव को भी पृथक् पदार्थ मानते हैं उनके मतानुसार पदार्थों की संख्या सात हो जाती है।[4]

आयुर्वेद में यद्यपि एक स्थान पर सत् और असत् (भाव और अभाव) का उल्लेख किया गया है। किन्तु वह उल्लेख प्रसंगवशात् ही किया गया है, सिद्धान्त रूप में नहीं। यथा—**द्विविधमेव खलु सर्वं सच्चासच्च**"—चरक संहिता सूत्रस्थान १/१७ अर्थात् इस संसार में समस्त वस्तुएं दो भागों में विभक्त हैं—सत् और असत्।

इस तथ्य का स्पष्टीकरण किया जा चुका है कि आयुर्वेद केवल भाव पदार्थान्तर्गत षट् पदार्थ ही मानता है। उसे सप्तम अभाव पदार्थ अभीष्ट नहीं है। इसका मुख्य कारण यह है कि अभाव तो स्वत: सिद्ध है। अभाव से कोई कार्य नहीं होता। मानव शरीर में रोगोत्पत्ति भाव पदार्थ से ही होती है तथा उस रोग का उपचार भी भाव पदार्थ (द्रव्यों) द्वारा ही सम्भावित है। जो वस्तु संसार में है ही नहीं अथवा संसार में

१—संक्षेपत: पदार्थो द्विविध: भावोऽभावश्च।
२—सामान्यं च विशेषं च गुणान् द्रव्याणि कर्म च।
समवायं च तज्ज्ञात्वा ॥—चरक संहिता, सूत्रस्थान १। २७
३—भाव: षड्विध: द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायभेदात्।
४—द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावा: सप्तपदार्था:—तर्क संग्रह

जिसका अस्तित्व ही नहीं है उसे कैसे मना जा सकता है? अत: आयुर्वेद में अभाव को स्वीकार नहीं किया गया। इसके अतिरिक्त अभाव में कोई कारण नहीं होता। इसके विपरीत भाव पदार्थ सदा सकारण होता है। साधर्म्य और वैधर्म्य भाव की कल्पना भी केवल भाव पदार्थों में ही संभव है। अभाव में इस साधर्म्य-वैधर्म्य भाव की कल्पना भी असंभावित है। अत: ऐसी स्थिति में अभाव को पदार्थ न मानना ही उचित एवं युक्ति संगत है।

जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि आयुर्वेद में महर्षि चरक ने एक स्थल पर जगत् के पदार्थों को सत् और असत् रूप में स्वीकार कर पदार्थ के द्वैविध्य का उल्लेख किया है।[1] इससे इस तथ्य की पुष्टि होती है कि आयुर्वेद के आचार्यों ने अभाव का नितान्त निषेध नहीं किया है। उन्होंने सृष्टि में अभावात्मक पदार्थों को स्वीकार किया है। किन्तु आयुर्वेद में उन अभावात्मक पदार्थों का प्रयोजन एवं उपयोगिता नहीं होने से आयुर्वेदीय पदार्थ परिगणन में केवल षट् भाव पदार्थ का ही निरूपण किया गया है। आयुर्वेद के अध्येता एवं भावी चिकित्सक को रोगी की उत्तम चिकित्सा के लिये प्रधानत: स्थूल भावात्मक औषधि द्रव्यों (पदार्थों) का ही आश्रय लेना पड़ता है। अत: उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध भाव पदार्थ से होने के कारण अभाव उसके लिये अभीष्ट एवं प्रतिपाद्य नहीं है।

१. सदसदत्वाद्द्विधा भिन्न: सप्तधा परिकीर्तित:।— चरक

द्वितीय अध्याय

द्रव्य निरुपण

द्रव्य का लक्षण

यत्राश्रिताः कर्मगुणाः कारणं समवायि यत् ।
तद् द्रव्यम्……………………। —चरकसंहित सूत्रस्थान १/१५
द्रव्यलक्षणं तु क्रियागुणवत् समवायिकारणम् ।—सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थान ४०/३
"गुणवत्वं द्रव्यत्वजातिमत्वं वा द्रव्यसामान्यलक्षणम्"

कर्म (क्रिया) और गुण जिसमें समवाय सम्बन्ध से रहते हो तथा जो द्रव्य, गुणों और कर्मों के प्रति समवायि कारण हो वह द्रव्य कहलाता है।

अथवा जो गुणत्व तथा द्रव्यत्व जाति से युक्त होता है वह द्रव्य कहलाता है। यही द्रव्य का सामान्य लक्षण है।

द्रव्य के उपर्युक्त लक्षणों के अनुसार द्रव्य में निम्न तीन बातें आवश्यक रूप से विद्यमान होना चाहिये—गुण, कर्म और द्रव्यत्व जाति। इन तीनों की स्थिति द्रव्य में नित्य एवं स्थायी रूपेण होती है। अर्थात् गुण, कर्म और द्रव्यत्व जाति द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहती है।

संसार में द्रव्यों अथवा पदार्थों का पारस्परिक सम्बन्ध दो प्रकार का होता है। एक नित्य सम्बन्ध और दूसरा अनित्य सम्बन्ध। प्रथम नित्य सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध कहलाता है और दूसरा अनित्य सन्बन्ध संयोग सम्बन्ध कहलाता है। प्रथम प्रकार के नित्य समवाय सम्बन्ध में कार्य द्रव्य अपने कारण द्रव्य की अपेक्षा रखता है अथवा आधार द्रव्य अपने आधेय द्रव्य की अपेक्षा रखता है। इनमें दोनों ही द्रव्यों का पारस्परिक जो सम्बन्ध होता है वह स्थायी होता है। इसीलिये उसे नित्य माना गया है। द्रव्य का अपने अवयवों, गुणों और कर्मों से जो सम्बन्ध होता है वह स्थायी होने से नित्य होता है। अर्थात् जब तक उस द्रव्य की स्थिति बनी रहती है तब तक उसका अपने अवयवों-गुणों व कर्मों से सम्बन्ध भी बना रहता है। यही उसका स्थायित्व व नित्यत्व है। द्रव्य का अपने गुणों और कर्मों के साथ एतद्विध सम्बन्ध ही समवाय सम्बन्ध कहलाता है। इसी बात को अन्य प्रकार से कहा जाय तो हम कह सकते हैं कि दो या दो से

अधिक पदार्थों या द्रव्यों का इस प्रकार का पारस्परिक सम्बन्ध जो परस्पर मिले हुए पदार्थों को उस की अपनी स्थिति (अस्तित्व) पर्यन्त कभी विच्छेदित-विघटित या पृथक् न कर सके, नित्य ही उन का सम्बन्ध बना रहे समावाय सम्बन्ध कहलाता है। जैसे तन्तु और पट, मिट्टी और घट। इसी प्रकार द्रव्य का अपने अवययों, गुणों और कर्मों के साथ जो अविच्छिन्नात्मक या अविनाभाव सम्बन्ध होता हैं वह ससवाय सम्बन्ध कहलाता है। इसी प्रकार द्रव्यों या पदार्थों का परस्पर होने वाला अल्पकालिक एवं अस्थायी सम्बन्ध संयोग सम्बन्ध कहलाता है। यह अनित्य होता है। अर्थात् कुछ काल पश्चात् उन द्रव्यों या पदार्थों का सम्बन्ध विघटित हो जाता है और वे द्रव्य अलग-अलग हो जाते हैं। जैसे घोड़ा और घुड़सवार, वस्त्र और जुलाहा घट और कुम्भकार आदि।

द्रव्य के उपर्युक्त लक्षण से यह आभास मिलता है कि द्रव्य अपने गुणों एवं कर्मों के प्रति समवायि कारण होता है। यहां पर उल्लेखनीय है कि उत्पद्यमान द्रव्य, गुण या कर्म का जिसके साथ समवाय सम्बन्ध हो वह उसका कारण होता है और उस कारण को ही समवायि कारण कहते हैं। अथवा जिस द्रव्य या पदार्थ का जिसके साथ समवाय सम्बन्ध होता है वह द्रव्य या पदार्थ ही समवायि कारण कहलाता है। जैसे मिट्टी का घड़ा, शीतल जल, श्वेत वस्त्र आदि। यहाँ क्रमशः मिट्टी, जल और वस्त्र का अपने अवयव या गुण क्रमशः घड़ा, शीतल और श्वेत (वर्ण) के साथ समवाय सम्बन्ध है। क्योंकि वे अवयव या गुण उस मिट्टी, जल एवं वस्त्र से पृथक् नहीं हैं। अतः वे तीनों द्रव्य क्रमशः अपने अपने अवयव एवं गुण के प्रति समवायि कारण हैं। मिट्टी घट के प्रति, जल अपने शीतल गुण के प्रति एवं वस्त्र अपने श्वेत वर्ण के प्रति समवायि कारण है।

यहां सुविधा की दृष्टि से ऐसा भी समझा जा सकता है कि द्रव्यों या पदार्थों में यदि आधाराधेय भाव की कल्पना की जाय तो समवायि कारण आधार द्रव्य होता है और तद्गत गुण, कर्म आदि आधेय होते हैं। अतः आधार होने से द्रव्य समवायि कारण है।

द्रव्य के उपर्युक्त लक्षणों से यह स्पष्ट है कि द्रव्य में गुण और कर्म सदैव समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। द्रव्य का अपने गुण और कर्म के साथ समवाय सम्बन्ध होने से वह अपने अवयवों गुण और कर्म के प्रति समवायि कारण होता है। क्योंकि उत्पद्यमान गुण और कर्म जिस द्रव्य के आश्रित होकर रहेंगे अथवा जिस द्रव्य में वे स्थित रहेंगे उस द्रव्य के साथ उनका नित्य सम्बन्ध होने से समवाय सम्बन्ध होगा। अतः वह द्रव्य उन गुणों और कर्मों के प्रति समवायि कारण कहलायेगा।

संसार में उत्पन्न होने वाला प्रत्येक द्रव्य किसी न किसी कारण की अपेक्षा अवश्य रखता है। बिना कारण कोई द्रव्य उत्पन्न नहीं होता। इसमें कुछ कारण ऐसे होते हैं जो द्रव्य की उत्पत्ति के अनन्तर भी द्रव्य के साथ संयुक्त रहते हैं तथा उन्हें द्रव्य

से पृथक् नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त कुछ कारण ऐसे होते हैं जो द्रव्य की उत्पत्ति के पश्चात् उससे पृथक् हो जाते हैं और फिर द्रव्य के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। प्रथम प्रकार के कारण जो द्रव्य के साथ द्रव्योत्पत्ति के पश्चात् भी बने रहते हैं द्रव्य में नित्य या समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। ये कारण ही समवायि कारण कहलाते हैं। इन्हें द्रव्य से पृथक् नहीं किया जा सकता। जैसे तन्तु और पट। यहां तन्तु कारण है और पट द्रव्य है। तन्तु और पट का समवाय सम्बन्ध होने से तन्तु पट के प्रति समवायि कारण है और पट द्रव्य है। इसी भांति मिट्टी और घट। संसार के अन्य द्रव्य जो अपने अवयवों, गुणों तथा कर्मों के आश्रयभूत हैं आधार कहलाते हैं तथा उन द्रव्यों में जो गुण और कर्म रहते हैं वे आधेय कहलाते हैं। वे गुण और कर्म उनमें समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। अतः वे द्रव्य अपने उन गुण और कर्मों के प्रति समवायि कारण होते हैं। इस प्रकार द्रव्य और उसमें समवाय सम्बन्ध से रहने वाले गुण व कर्म का अधाराधेय भाव सम्बन्ध भी होता है।

संक्षेप में यदि कहा जाए तो जिसमें गुण और कर्म इस प्रकार से रहें कि उन्हें उससे पृथक् न किया जा सके तथा जो अपने गुण और कर्म के प्रति समवायि कारण अर्थात् कभी पृथक् न होने वाला कारण हो द्रव्य कहलाता है अर्थात् जिसमें गुण व कर्म समवाय सम्बन्ध से रहते हों तथा जो अपने उन गुण व कर्म के प्रति समवायि कारण हो द्रव्य कहलाता है।

द्रव्य संख्या

"खादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्य संग्रहः।"

(चरक संहिता, सूत्रस्थान १/४८)

"पृथिव्यप्तेजवाय्वाकाशकालदिगात्मामनांसीति नव द्रव्याणि।"

"क्षित्यप्तेजोमरुद् व्योमकालदिग्देहिनो मन इति द्रव्याणि।" (कारिकावलि)

"पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि।"

(वैशेषिक सूत्र १/१५)

आकाश आदि (आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी) पांच महाभूत, आत्मा, मन, काल और दिशा ये नव द्रव्य होते हैं।

अन्य आचार्यों ने भी नव द्रव्य ही माने हैं। न्याय और वैशेषिक दर्शन में भी द्रव्यों की संख्या नौ ही मानी गई है। केवल द्रव्यों के क्रम परिगणन में भिन्नता है, जिसका कोई महत्व नहीं है। न्याय एवं वैशेषिक दर्शन में नव द्रव्यों को निम्न क्रमानुसार परिगणित किया गया है—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश काल, दिशा, आत्मा और मन।

संसार में द्रव्यों की संख्या अपरिमित है। उनकी कोई गणना नहीं की जा सकती। तथापि आयुर्वेद में मूल द्रव्यों की संख्या नौ ही मानी गई है। मूल द्रव्य कहने का तात्पर्य यहाँ यह है कि संसार के अन्य समस्त द्रव्यों की उत्पत्ति इन्हीं नौ द्रव्यों से होती है। संसार का कोई भी द्रव्य इन नव द्रव्यों से अतिरिक्त नहीं है। संसार के समस्त द्रव्यों की उत्पत्ति का कारण होने से इन्हें मूल द्रव्य कहा गया है।

इन नव द्रव्यों में प्रारम्भ के पांच द्रव्य—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश महाभूत कहलाते हैं। द्रव्यों की उत्पत्ति में इन पंच महाभूतों का महत्वपूर्ण योग रहता है। इसीलिए स्थूलों द्रव्यों को भौतिक या पांच भौतिक कहा जाता है। द्रव्यों की स्थूलता एवं आकृति विशेष के निर्माण में महाभूतों की प्रमुखता रहती है। अतः संसार के प्रत्यक्षगम्य समस्त जड़-चेतन द्रव्य भौतिक कहलाते हैं।

द्रव्य के अन्य भेद

मुख्य रूप से द्रव्य यद्यपि नौ ही प्रकार के होते हैं, किन्तु कारण सापेक्षता की दृष्टि से उसके अन्य भेद भी होते हैं। जैसे—

१. उत्पत्ति भेद से द्रव्य दो प्रकार का होता है—कारण द्रव्य या मूल द्रव्य तथा कार्य द्रव्य। इनमें पृथ्वी आदि नव द्रव्य कारण या मूल होते हैं। क्योंकि इन्हीं द्रव्यों से संसार के अन्य द्रव्यों की उत्पत्ति होती है। अतः संसार के अन्य द्रव्यों की उत्पत्ति में कारण होने से इन्हें कारण द्रव्य कहा गया है। इन नव कारण द्रव्यों के अतिरिक्त संसार के अन्य समस्त कार्य द्रव्य कहलाते हैं।[1]

२. संसार के समस्त द्रव्यों को दो भागों में बाँटा गया है—प्रत्यक्ष द्रव्य और अप्रत्यक्ष द्रव्य। कुछ द्रव्य स्थूल रूप होने से प्रत्यक्ष होने योग्य हैं तथा कुछ द्रव्य अत्यन्त सूक्ष्म रूप होने से प्रत्यक्ष होने योग्य नहीं हैं। **प्रत्यक्ष द्रव्य**—जो द्रव्य इन्द्रियगोचर अथवा इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किए जाने योग्य होते हैं वे प्रत्यक्ष द्रव्य कहलाते हैं। इन्द्रिय गोचर द्रव्यों में कुछ द्रव्य चक्षु इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होते हैं, कुछ द्रव्य श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा, कुछ द्रव्य घ्राणेन्द्रिय द्वारा, कुछ द्रव्य रसनेन्द्रिय द्वारा और कुछ द्रव्य त्वगिन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होते हैं। **अप्रत्यक्ष द्रव्य**—कुछ द्रव्य ऐसे भी होते हैं जो इन्द्रिय द्वारा ग्रहण नहीं किये जा सकते। वे परमाणु रूप या अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं। इन्द्रिय द्वारा अगोचर होने से उन्हें अप्रत्यक्ष द्रव्य कहते हैं।[2]

१. तत्र पृथिव्यादिनी मूलद्रव्याणि तेषाम्। —रस वैशेषिक सूत्र

पृथिव्यादीति पृथिव्यप्तेजवाय्वाकाशानि मूलद्रव्याणि तेषामिति स्थावरजंगमानां कार्यद्रव्याणाम् भाष्य।

२. अथ प्रत्यक्षाप्रत्यक्षद्रव्याणि, परमाणुद्व्यणुके ऽप्रत्यक्षे, महदुद्भूतरूपत्वे यत्र तानि पृथिवीजलतेजांसि प्रत्यक्षाणि, आत्मा च मानसप्रत्यक्षः वाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसो त्यप्रत्यक्षाणि। बहिर्द्रव्यप्रत्यक्षं प्रति महत्वे सत्युद्भूतरूपत्वप्रयोजकम्।

३. चेतनता की दृष्टि से भी द्रव्यों का वर्गीकरण किया गया है। इस वर्गीकरण के अनुसार भी द्रव्य दो प्रकार का होता है—चेतन द्रव्य और अचेतन द्रव्य। जो द्रव्य चैतन्य युक्त होते हैं वे चेतन द्रव्य कहलाते हैं। चेतन द्रव्यों में प्रायः इन्द्रिय या इन्द्रियों का समावेश होता है। क्योंकि इन्द्रियों के माध्यम से ही उनकी चेतनता व्यक्त होती है। अतः चेतन द्रव्य सेन्द्रिय कहलाते हैं। इसके विपरीत जो द्रव्य चैतन्य विरहित होते हैं वे द्रव्य अचेतन या जड़ कहलाते हैं। उन द्रव्यों में इन्द्रियाभिनिवेश नहीं होने से उन्हें निरिन्द्रिय द्रव्य कहा जाता है।[1]

इस प्रकार भिन्न दृष्टि से द्रव्य के भिन्न भिन्न भेद होते हैं। इसके अतिरिक्त द्रव्य के कुछ अवान्तर भेद भी होते हैं। अतः संक्षेपतः उनका स्पष्टीकरण भी आवश्यक है। उपर्युक्त नव द्रव्यों में आकाश, काल, आत्मा और दिशा ये द्रव्य विभुरूप हैं। मन परमाणु रूप है, पृथ्वी, जल, तेज, वायु ये द्विविध रूप हैं। अर्थात् प्रत्येक दो दो प्रकार के हैं। परमाणु और सावयव। सावयव द्रव्य पुनः त्रिविध रूप होता है। अर्थात् सावयव के पुनः तीन भेद होते हैं—शरीर, इन्द्रिय और विषय।

इस प्रकार विविध प्रकार एवं अवान्तर भेद वाला द्रव्य अनेक प्रकार का होते हुए भी द्रव्यत्व जाति सामान्य होने से एक ही प्रकार का होता है।

आयुर्वेद के मतानुसार द्रव्य का वर्गीकरण बहुत ही अच्छे ढंग से किया गया है। निम्न तालिका द्वारा द्रव्य के वर्गीकरण को अच्छी तरह से समझा जा सकता है—

१. सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरीन्द्रियमचेतनम्। —चरक संहिता सूत्रस्थान १/४

पृथ्वी का लक्षण व भेद

"तत्र गन्धवती पृथ्वी" यह पृथ्वी का सामान्य लक्षण है। अर्थात् गन्ध गुण जिसमें समवाय सम्बन्ध से रहता हो वह पृथ्वी कहलाती है। यद्यपि गन्ध गुण अन्यत्र जल आदि में भी पाया जाता है, किन्तु अन्यत्र वह गन्ध गुण संयोग सम्बन्ध से रहता है। समवाय सम्बन्ध से तो गन्ध गुण केवल पृथ्वी में ही रहता है, अन्यत्र जल आदि में नहीं। अतः गन्धवान् होना पृथ्वी का लक्षण है।

वह पृथ्वी दो प्रकार की होती है—नित्य और अनित्य। नित्य पृथ्वी परमाणु रूप अत्यन्त सूक्ष्म होती है। उनका कभी विनाश नहीं होने (अविनाशी होने) से ही उसे नित्य कहा गया है। दूसरी अनित्य अर्थात् विनाशशील होती है। अनित्य पृथ्वी स्थूलरूप होती है। यह व्यवहार में आने वाले घट, पट आदि रूप में होने से कार्यरूपा भी कहलाती है। इस अनित्य, स्थूलरूप या कार्यरूपा पृथ्वी के तीन भेद होते हैं - शरीर, इन्द्रिय और विषय[1]।

पार्थिव शरीर—इस मर्त्यलोक में दृश्यमान मानव-शरीर, पशु-शरीर, पक्षि-शरीर तथा अन्य जीव जन्तुओं के शरीर पृथ्वी तत्व द्वारा निर्मित होने से पार्थिव शरीर कहलाते हैं। अनित्य होने से ये शरीर नश्वर हैं। इनके माध्यम से आत्मा सुख-दुख इत्यादि का अनुभव करता है। अतः यह शरीर आत्मा का भोगायतन है तथा समस्त इन्द्रियों व चेतना का आश्रय है[2]।

पार्थिव इन्द्रिय—जिस इन्द्रिय के द्वारा पृथ्वी के प्रत्यात्मनियत गुण गन्ध का ग्रहण होता है, नासिका के अग्रभाग में शक्तिरूप से स्थित घ्राण ही पार्थिव इन्द्रिय है। पृथ्वी तत्व से निर्मित तथा पृथ्वी के गन्ध गुण को ग्रहण करने के कारण ही घ्राणेन्द्रिय पार्थिव है। नासा (नासिका) घ्राणेन्द्रिय का अधिष्ठान है।

पार्थिव विषय—जो पार्थिव वस्तुएं पार्थिव शरीर एवं पार्थिव इन्द्रिय से भिन्न हैं वे ही पृथ्वी के विषय कहलाते हैं। जैसे--मिट्टी, पत्थर, स्थावर आदि।

जल का लक्षण व भेद

"शीतस्पर्शवत्यापः" यह जल का सामान्य लक्षण है। अर्थात् शीतल स्पर्श

१. सा द्वेधा-नित्या अनित्या च। नित्या परमाणुरूपा अनित्या कार्य रूपा। (अनित्या) पुनस्त्रिविधा-शरीरेन्द्रियविषयभेदात्।

२. शीर्यते इति शरीरम्, चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम् (न्या. सू. १/१/११)
चेष्टाश्रयः इन्द्रियाश्रयः अर्थाश्रयः अत्र अर्थशब्दः सुखदुःखान्यतर परः आत्मनो भोगायतनमिति वात्सायनः।

जिस द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहता हो वह जल कहलाता है। यद्यपि स्पर्श अन्य द्रव्यों में भी पाया जाता है, किन्तु वहाँ शीतल स्पर्श का उस द्रव्य के साथ संयोग सम्बन्ध होता है। अतः वह द्रव्य जल नहीं कहा जा सकता। शीतल स्पर्श का समवाय सम्बन्ध तो केवल जल के साथ ही होता है, अन्य द्रव्य के साथ नहीं। अन्य द्रव्य में शीतल स्पर्श की अनुभूति उस में विद्यमान जल के कारण होती है। अतः शीतल स्पर्श होना जल का सामान्य लक्षण है।

यह जल भी दो प्रकार का होता है—नित्य और अनित्य। नित्य जल परमाणु रूप अत्यन्त सूक्ष्म होता है। यह संसार के समस्त जलीयाँश वाले द्रव्यों की उत्पत्ति में कारण होता है। इस परमाणु रूप जल का कभी विनाश नहीं होता। अविनाशी होने से ही उसे नित्य कहा गया है। द्वितीय प्रकार का जल अनित्य होता है। यह अनित्य जल विनाशशील होता है। यह स्थूल रूप होने से प्रत्यक्षगम्य होता है। स्नान, पान आदि के व्यवहार में आने से यह स्थूल जल कार्य रूप भी कहलाता है। यह कार्यरूप, स्थूल, अनित्य जल पुनः शरीर, इन्द्रिय और विषय भेद से तीन प्रकार का होता है[1]।

जलीय शरीर—जलीय शरीर वरुण लोक में अवस्थित है। वह भी आत्मा के सुख-दुख आदि के उपभोग का साधन होने से आत्मा का भोगायतन है। यद्यपि वह शरीर भी पाँच भौतिक है, किन्तु जिस प्रकार पार्थिव शरीर में पृथ्वी तत्व की प्रधानता होती है। उसी प्रकार जलीय शरीर में जल तत्व की प्रधानता होती है। वरुण लोक जल प्रधान स्थान है। अतः वहाँ जलीय शरीर की अवस्थिति ही संभावित है। अन्य शरीर की नहीं[2]।

जलीय इन्द्रिय—जिस इन्द्रिय के द्वारा मधुरादि षड् रसों का ग्रहण एवं ज्ञान होता है तथा जो जिह्वा के अग्रभाग में स्थित रसनेन्द्रिय है वही जलीय इन्द्रिय है। रस जल का प्रत्यात्मनियत गुण है। मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय भेद से वह रस छः प्रकार का होता है। इसी रस का ग्रहण रसनेन्द्रिय द्वारा होने से रसनेन्द्रिय जलीय इन्द्रिय मानी गई है। रसनेन्द्रिय का अधिष्ठान जिह्वा है[3]।

जलीय विषय— नदी, समुद्र, तालाब, बर्फ, ओले इत्यादि जल के विषय रूप द्रव्य हैं। जलीय विषय रूप द्रव्य ही सामान्य व्यवहार में लाये जाते हैं।

१. ताः द्विविधा-नित्या अनित्याश्च। नित्या परमाणुरूपा अनित्या कार्यरूपा (अनित्या) पुनस्त्रिविधाः शरीरेन्द्रियविषयभेदात्।
२. शरीरं वरुणलोके प्रसिद्धम्।
३. इन्द्रियं रसग्राहकं रसनाप्रवर्ति।
४. विषयः सरित्समुद्रादि।

तेज का लक्षण व भेद

"उष्णस्पर्शवत्तेजः" यह तेज का सामान्य लक्षण है। अर्थात् जिस द्रव्य में उष्ण स्पर्शरूप गुण समवाय सम्बन्ध से विद्यमान हो वह तेज कहलाता है। तेज के अतिरिक्त अन्य द्रव्य में जहाँ उष्ण स्पर्श की अनुभूति होती है वहाँ उष्ण स्पर्श उस द्रव्य में संयोग सम्बन्ध से रहता है। अतः वह द्रव्य तेज नहीं है। तेज में उष्ण स्पर्श समवाय सम्बन्ध से होता है।

यह तेज भी दो प्रकार का होता है—नित्य और अनित्य। नित्य तेज परमाणु रूप अत्यन्त सूक्ष्म होता है। यह संसार के समस्त तैजस् द्रव्यों की उत्पत्ति में कारण होता है। इस परमाणुरूप तेज का कभी विनाश नहीं होता। अविनाशी होने से उसे नित्य कहा गया है। द्वितीय प्रकार का तेज अनित्य होता है। यह अनित्य तेज विनाश शील होता है। यह स्थूल रूप होने से प्रत्यक्षगम्य होता है। भोजन बनाने, यन्त्रादि चलाने, प्रकाश रूप में उपयोग करते आदि के व्यवहार में आने से यह स्थूल तेज कार्य रूप कहलाता है। यह कार्य रूप स्थूल अनित्य तेज शरीर, इन्द्रिय और विषय भेद से पुनः तीन प्रकार का होता है[1]।

तैजस् शरीर— आदित्य लोक में तैजस् शरीर होता है। सौर मण्डल के देदीप्यमान ग्रह नक्षत्र तैजस् शरीर वाले होते हैं। स्वयं भगवान् सूर्य तैजस् शरीरवान् हैं। तैजस् शरीर में तेज महाभूत की प्रधानता होती है[2]।

तैजस् इन्द्रिय— तेज का प्रत्यात्मनियत गुण है रूप। अतः जिस इन्द्रिय द्वारा रूप का ग्रहण व ज्ञान होता है तथा नेत्रान्तर्गत कृष्ण तारा मंडल के अग्रभाग में स्थित कनीनिका रूप चक्षु इन्द्रिय ही तेज होती है। इस चक्षु इन्द्रिय की उत्पत्ति तैजस् तत्व द्वारा होती है। इसका अधिष्ठान नेत्र है[3]।

तैजस् विषय— यह चार प्रकार का होता है। यथा-भौम, दिव्य, औदर्य और आकरज्।

भौम तेज— भूमण्डल पर दृश्यमान अग्नि जो भोजन आदि पकाने के काम में आती है।

दिव्य तेज— आकाश में अप्ईंधन जल से उत्पन्न होने वाली विद्युत आदि।

१. तद् द्विविधं नित्यमनित्यं च। नित्यं परमाणुरूपमनित्यं कार्यरूपम्। (अनित्यं) पुनस्त्रिविधं- शरीरेन्द्रियविषयभेदात्।
२. शरीरमादित्यलोके प्रसिद्धम्।
३. इन्द्रियं रूपग्राहकं चक्षुः कृष्णताराप्रवर्ति।

औदर्य तेज—अशित, पीत, लीढ, खादित रूप चतुर्विध अन्न का पाक करने वाली उदरस्थ अग्नि ।

आकरज तेज—खान से उत्पन्न होने वाले सुवर्ण आदि ।

वायु का लक्षण व भेद

"**अनुष्णशीतस्पर्शवान् वायुः**" तथा "**रूपरहितस्पर्शवान् वायुः**" इस लक्षण के अनुसार जो द्रव्य रूप रहित किन्तु स्पर्श युक्त होता है वह वायु कहलाता है । अर्थात् वायु में स्पर्श गुण होता है । वायुगत यह स्पर्श अनुष्णशीत होता है । वायु के सामान्य स्पर्श में न उष्णत्व होता है और न शीतत्व । वायु के स्पर्श में यदि उष्णत्व या शीतत्व की अनुभूति होती है तो उसे अग्नि या जल से संपृक्त समझना चाहिये । इसीलिए वायु को योगवाही कहा गया है ।

यह वायु भी दो प्रकार का होता है—नित्य और अनित्य । नित्य वायु परमाणु रूप अत्यन्त सूक्ष्म होता है । वह स्पर्श द्वारा ग्राह्य नहीं होता । यह समस्त वायवीय द्रव्यों की उत्पत्ति या निर्माण में कारण होता है । इस परमाणु रूप नित्य वायु का विनाश नहीं होता । अविनाशी होने से उसे नित्य कहा गया है । इसके विपरीत अनित्य वायु नश्वर होता है । यह अनित्य वायु कार्य रूप होता है । इसे स्थूल रूप भी कहा जाता है । स्थूल कार्यरूप वायु हमारे दैनिक जीवन के लिए उपयोगी होने से हमारे जीवन में विभिन्न रूप से व्यवहृत होता है । जैसे—श्वासोच्छ्वास लेना, मोटर-साइकिल आदि के ट्यूब में हवा भरना, ग्रीष्म ऋतु में बिजली के पंखे द्वारा वायु प्राप्त करना आदि । यह कार्यरूप अनित्य वायु शरीर, इन्द्रिय और विषय भेद से पुन: तीन प्रकार का होता है[1] ।

अन्य पृथ्वी, जल और तेज की भाँति कार्यरूप या स्थूल रूप वायु चक्षुग्राह्य नहीं है । वह केवल त्वगिन्द्रिय ग्राह्य है । प्रत्यात्मनियत इन्द्रिय ही उसे ग्रहण करने में समर्थ है ।

वायवीय शरीर—वायवीय शरीर वायु लोक में स्थित है । वायु की भांति वायवीय शरीर भी वायु द्वारा निर्मित होने से चक्षु गोचर नहीं है ।

वायवीय इन्द्रिय—वायु की प्रतिनिधि इन्द्रिय त्वक् है । त्वगिन्द्रि द्वारा मात्र स्पर्श का ज्ञान होता है । स्पर्श वायु का नैसर्गिक गुण है । त्वगिन्द्रिय शरीर के सम्पूर्ण बाह्य प्रदेश में व्याप्त है । अतः शरीर के किसी भी बाह्यांग द्वारा स्पर्श का ज्ञान हो

१. स द्विविधः- नित्योऽनित्यश्च । नित्यः- परमाणुरूपोऽनित्यः कार्यरूपः । (अनित्यः) पुनस्त्रिविधः- शरीरेन्द्रियविषयभेदात् ।

सकता है । यदि वायु ग्रीष्म कालीन सूर्य के ताप से संयुक्त होकर हमारे शरीर से टकराती है तो त्वगिन्द्रिय द्वारा उसके स्पर्श से उष्णता की अनुभूति होती है । इसी भांति शीतल जल आदि से संयुक्त वायु द्वारा शरीर के किसी भी अंग का स्पर्श होने से शीतलता की प्रतीति होती है । अतः त्वगिन्द्रिय का वायवीय होना प्रमाणित है ।

वायवीय विषय—वृक्ष आदि के कम्पन का हेतु विषय रूप वायु है । इसके अतिरिक्त आंधी, शरीरगत वायु-संचार तथा अन्त विधियों द्वारा वायु का ग्रहण करना आदि वायु के समस्त स्वरूप वायवीय विषय हैं ।

आकाश का लक्षण व भेद

"**शब्दगुणकमाकाशम्**" अथवा "**समवायेन शब्दाश्रयत्वमाकाशत्वम्**"—आकाश के इस लक्षण के अनुसार शब्द गुण वाला आकाश होता है अथवा जो समवाय सम्बन्ध से शब्द का आश्रय हो वह आकाशत्व है । शब्द आकाश का प्रत्यात्मनियत गुण है । अतः शब्दत्व आकाश में समवाय रूप से विद्यमान रहता है ।

आकाश का सामान्य अर्थ अवकाश (खाली स्थान) होता है । अतः वह सर्वत्र व्यापक रूप से अवस्थित है । यह अन्य पृथ्वी आदि की भांति कार्य रूप अथवा स्थूल रूप में नहीं होता । अतः वह विनाशशील या अनित्य भी नहीं है । विनाशशील नहीं होने से सर्वदा उसकी स्थिति बनी रहती है । अतः वह नित्य है । उसके कोई अवान्तर या मौलिक भेद प्रभेद नहीं होने से यह एक ही है । इसीलिए आकाश के विषय में कहा गया है—"**तच्चैकं विभु नित्यं च**" अर्थात् वह आकाश एक है, विभु (व्यापक) और नित्य है ।

आकाश के प्रत्यात्मनियत गुण शब्द की ग्राहक श्रोत्रेन्द्रिय है जो कर्ण शष्कुलि के आभ्यन्तर प्रदेश को व्याप्त कर अवस्थित रहती है । श्रोत्रेन्द्रिय आकाशात्मक होने से आकाश के मूल गुण केवल शब्द को ही ग्रहण करती है, अन्य को नहीं । यहां यह स्मरणीय है कि श्रोत्रेन्द्रिय ही आकाश नहीं है, अपितु वह आकाश द्वारा निर्मित होने से आकाशात्मक है । मूलतः आकाशत्व एवं श्रोत्रेन्द्रिय भिन्न भिन्न वस्तुएं है । आकाश का मूल गुण शब्दत्व है जो आकाश में समवाय सम्बन्ध से रहता है । श्रोत्रेन्द्रिय आकाश के उस गुण को ग्रहण मात्र करती है ।

वायु और आकाश की सिद्धि

वायु और आकाश दोनों अमूर्त द्रव्य हैं । ये दोनों पृथ्वी, जल और तेज की भांति चक्षु ग्राह्य नहीं हैं ? चक्षु द्वारा केवल उन्हीं द्रव्यों का ग्रहण होता है जो मूर्तिमान होते हैं तथा जिनका कुछ आकार या परिणाम विशेष होता है । वायु और आकाश न

तो मूर्तिमान हैं और न ही इन दोनों का कोई आकार प्रकार या परिमाण विशेष होता है। अतः चक्षु द्वारा इन दोनों द्रव्यों का ग्रहण नहीं होता। दोनों क्रमशः त्वक् एवं श्रोत्र इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्षगम्य हैं। इनका अनुमान क्रमशः स्पर्श और शब्द द्वारा किया जाता है।

स्पर्श और शब्द ये दोनों गुण हैं। गुण की स्थिति सदैव द्रव्याश्रित होती है। गुण द्रव्य के बिना नहीं रह सकता। स्वतन्त्र रूप से उसका कोई अस्तित्व नहीं रहता और न ही उस की कोई प्रतीति या अनुभूति हो पाती है। गुण का परिज्ञान द्रव्य के माध्यम से ही होता है तथा द्रव्य के माध्यम से ही गुणानुसार क्रिया होती है। अतः स्पर्श और शब्द गुण जिस किसी के आश्रित हों वह द्रव्य विशेष अवश्य है। वायु का जो लक्षण किया गया है उसके अनुसार तद्गत स्पर्श अनुष्णशीत होता है। अर्थात् वायु का स्पर्श न तो उष्ण होता है और न शीतल होता है। यह अनुष्णशीत स्पर्श यदि पृथ्वी के आश्रित मान लिया जाय तो उस स्पर्श में गन्ध का होना नितान्त अपेक्षित है, जबकि स्पर्श में गन्ध का अभाव रहता है। **"तत्र गन्धवती पृथ्वी"**—पृथ्वी के इस लक्षण के अनुसार पृथ्वी में केवल गन्ध ही आश्रित रहता है, स्पर्श नहीं। अतः स्पर्श का आश्रय पृथ्वी नहीं है। इसी प्रकार जल और तेज को भी इसका आश्रय मानना सम्भव नहीं है। क्योंकि जल शीतल होता है और तेज उष्ण होता है। अतः तत् संयुक्त स्पर्श भी केवल शीतल अथवा केवल उष्ण होगा। इसके अतिरिक्त जल केवल रस का आश्रय और तेज केवल रूप का आश्रय होता है। अतः ये दोनों स्पर्श के आश्रय नहीं हो सकते। ऐसी स्थिति में जब कि पृथ्वी, जल और तेज तीनों ही अनुष्णशीत स्पर्श के आश्रय नहीं हैं, चतुर्थ वायु ही इसका आश्रय हो सकता है। इस प्रकार अनुमान द्वारा अमूर्त (आकार प्रकार रहित) वायु की सिद्धि होती है।

इसके अतिरिक्त अवशिष्ट आकाश, काल, दिक् और आत्मा में भी अनुष्णशीत स्पर्श का आश्रयत्व सिद्ध नहीं होता। क्योंकि ये चारों ही द्रव्य विभु (व्यापक) हैं। विभु द्रव्य स्पर्श का आश्रय नहीं होते अर्थात् उनका स्पर्श नहीं किया जा सकता। स्पर्श गुण का आश्रय मन भी नहीं हो सकता। क्योंकि मन परमाणु है और परमाणु सदा अतीन्द्रिय होता है। परमाणु और अतीन्द्रिय द्रव्य का स्पर्श नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत अनुष्णशीत स्पर्श का अनुभव अवश्य त्वगिन्द्रि द्वारा होता है जिसका माध्यम वायु है। अतः चक्षु द्वारा अग्राह्य वायु की सिद्धि होती है।

आकाश भी वायु की भाँति चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं है। जिस प्रकार अन्य रूप, रस, गंध आदि गुण किसी द्रव्य विशेष का आश्रय लेकर स्थित रहते हैं, उसी प्रकार शब्द गुण भी किसी न किसी द्रव्य के आश्रित अवश्य होता है। पृथ्वी में उसका

आश्रयत्व सिद्ध नहीं है। क्योंकि उस शब्द में गंध नहीं है। शब्द में रस, रूप और स्पर्श का अभाव होने से उसे जलाश्रित या तेज या बाय्वाश्रित भी नहीं माना जा सकता। काल, दिक्, आत्मा और मन में शब्द का आश्रयत्व किसी भांति प्रमाणित नहीं है। अतः उपर्युक्त आठ द्रव्यों में से किसी में भी शब्दाश्रयत्व सिद्ध नहीं होने से केवल आकाश ही शेष रह जाता है। अतः वही शब्द का आश्रय है। शब्द का आश्रय होने से आकाश के द्रव्यत्व की सिद्धि होती है।

पंच महाभूत

द्रव्य प्रकरण के अन्तर्गत पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश का जो वर्णन किया गया है वह उनके द्रव्यत्व की दृष्टि से किया गया है। आयुर्वेद में इन्हीं पाँचों द्रव्यों को महाभूत की संज्ञा दी गई है। यद्यपि अन्य दर्शन शास्त्रों में भी इन द्रव्यों को महाभूत माना गया है। तथापि आयुर्वेद में चिकित्सा की दृष्टि से इनकी विशेष उपादेयता एवं महत्व है। आयुर्वेद का पंचमहाभूत सिद्धान्त अपनी मौलिक विशेषता रखता है। यह सिद्धान्त आयुर्वेद की ऐसी आधार शिला है जिस पर समस्त आयुर्वेद टिका हुआ है। आयुर्वेद के अनुसार समस्त द्रव्य पांच भौतिक हैं। अर्थात् संसार के समस्त कार्य द्रव्यों की उत्पत्ति पंच महाभूतों से होती है। आयुर्वेद का मुख्य प्रयोजन पुरुष की चिकित्सा कर उसे स्वास्थ्य लाभ पहुंचाना है। चिकित्सा शरीर की की जाती है। यह शरीर तथा इसके समस्त अवयव पांच भौतिक ही होते हैं। जिन औषध द्रव्यों से शरीर की चिकित्सा की जाती है वे द्रव्य भी पांच भौतिक ही होते हैं। चिकित्सा के साधनभूत औषधि-द्रव्य एवं चिकित्स्य शरीर में यदि भौतिकत्व की एकरूपता न हो तो चिकित्सा का उद्देश्य प्राप्त नहीं किया जा सकता।

हमारे शरीर का आधार दोष-धातु-मल है[1]। उन्हीं पर यह शरीर अवलम्बित है। ये दोष-धातु-मल भी पांच भौतिक ही होते हैं। यद्यपि इसका भौतिकत्व स्थूलत्वेन प्रत्यक्षगम्य नहीं है तथापि गुणकर्मानुमेय होने से इनके भौतिकत्व की सिद्धि की जाती है। इसी भांति अन्य द्रव्यों के विषय में भी यही सिद्धान्त लागू होता है। अर्थात् समस्त द्रव्यों की भौतिकता गुणकर्मानुमेय होती है। जैसे कोई द्रव्य तैजस् (आग्नेय) है। उसका आग्नेयत्व सामान्यतः प्रत्यक्षगम्य नहीं है। किन्तु शरीर में इस द्रव्य का आभ्यन्तरिक प्रयोग करने पर जब उष्णता (गरमी) बढ़ जाती है या जलन आदि होने लगती है तब अनुमान लगाया जाता है कि अमुक द्रव्य आग्नेय अथवा तेज महाभूत प्रधान है। इसी भाँति अन्य महाभूतों का अनुमान भी द्रव्य के गुण—कर्मों के आधार पर लगा लिया जाता है।

---

१. **दोष-धातु-मलमूलं हि शरीरम्।**

प्रत्येक महाभूत के गुण और कर्म पृथक् पृथक् होते हैं। किन्तु भौतिकत्व की दृष्टि से सभी महाभूत समान होते हैं। इनके जो जो गुण और कर्म होते हैं वे ही गुण कर्म इनसे समुत्पन्न द्रव्य में व्यष्टि या समष्टि रूपेण विद्यमान रहते हैं। किसी द्रव्य में किसी महाभूत की न्यूनता रहती है और अन्य महाभूत की अधिकता। इसी आधार पर उस द्रव्य में कोई गुण कर्म कम होता है और कोई गुण कर्म अधिक। जैसे गिलोय का सेवन करने से शरीर में पित्त (उष्णता) का शमन होता है तथा चन्दन भी पित्त शामक है। किन्तु गिलोय की अपेक्षा चन्दन में पित्त शामकत्व गुण अधिक है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि गिलोय की अपेक्षा चन्दन में जल महाभूत का शैत्य गुण अधिक है।

आयुर्वेद में महाभूतों की स्थूल रचना का व्यपदेश नहीं मिलता। यही कारण है कि उनका स्थूल स्वरूप चाक्षुष प्रत्यक्षगम्य नहीं है। द्रव्यों की उत्पत्ति में भी महाभूतों का स्थूल स्वरूप कारण नहीं होता। स्थूल रूपेण दृश्यमान पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश मूल महाभूत तत्व नहीं है, अपितु महाभूतों के विषय अथवा विकार हैं। इनमें एक महाभूत की अपेक्षा अन्य महाभूतों का भी मिश्रण अथवा अनुप्रवेश होता है। मूल महाभूत तत्व जो सूक्ष्मतम होता है केवल कार्य द्रव्य की उत्पत्ति में कारण होता है तथा उस द्रव्य में एक समान गुण कर्म का अधिष्ठाता होता है। इसके विपरीत स्थूलरूपेण ही वे अपने गुणों को अन्य द्रव्य में अभिनिविष्ट करने में समर्थ होते हैं। अतः इन्हें ही महाभूत नहीं समझना चाहिए। मूल महाभूत तत्व सूक्ष्मतम एवं केवल गुण कर्मानुमेय होते हैं। चाक्षुष प्रत्यक्ष द्वारा उनकी उपलब्धि सम्भव नहीं है। इस सन्दर्भ में एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि कार्यद्रव्य के नष्ट हो जाने पर भी इनका विनाश नहीं होता और ये तत्सम कार्यद्रव्य की पुनः उत्पत्ति में कारण बन जाते हैं।

महाभूतों के लक्षण व गुण

जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि चिकित्सा की दृष्टि से महाभूतों का आयुर्वेद में विशेष महत्व होने से महाभूतों के सम्बन्ध में आयुर्वेद में अन्य दर्शनों की अपेक्षा न रखते हुए स्वतन्त्र दृष्टिकोण अपनाया है। अतः यहां आयुर्वेदीय दृष्टिकोण से महाभूतों का लक्षण व उनके गुणों का विवेचन अपेक्षित है। आयुर्वेद में महाभूतों की गणना एवं उनके गुणों का का निर्देश निम्न प्रकार से किया गया है—

महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः॥

—चरक संहिता, शारीर स्थान १/२७

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ये पांच महाभूत होते हैं तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध ये उनके लक्षण प्रतिपादक क्रमशः पांच गुण होते हैं। अर्थात् आकाश का गुण शब्द, वायु का गुण स्पर्श, अग्नि का गुण रूप, जल का गुण रस और पृथ्वी का गुण गन्ध होता है। इन्हीं गुणों के आधार पर महाभूतों का ज्ञान होता है। ये गुण महाभूतों के नैसर्गिक गुण कहलाते हैं जो इन महाभूतों के अतिरिक्त अन्यत्र अनुपलब्ध हैं।

इसके अतिरिक्त महाभूतों के असाधरण लक्षण भी हैं जो उनके भौतिक गुणों पर ही आधारित हैं—

खरद्रवचलोष्णत्वं भूजलानिलतेजसाम्।
आकाशस्याप्रतिघातो दृष्टं लिंगं यथाक्रमम्॥

चरक संहिता, शारीर स्थान १/२९

पृथ्वी का खरत्व (खुरदुरापन) जल का द्रवत्व (पतलापन), वायु का चलत्व (गतिशीलता) अग्नि का उष्णत्व (गरम होना), तथा आकाश का अप्रतिघात (गति में बाधक नहीं होना तथा स्पर्श नहीं होना) ये महाभूतों के विशेष चिन्ह होते हैं।

महाभूतों के उपर्युक्त शब्द, स्पर्श आदि गुण दार्शनिक दृष्टि से एवं खरत्व, द्रवत्व आदि गुण चिकित्सा की दृष्टि से उपयोगी व महत्वपूर्ण हैं। इसीलिए आयुर्वेद में शब्द आदि गुणों को महाभूतों का साधारण लक्षण एवं खरत्व आदि गुणों को असाधारण (विशेष) लक्षण माना है। इसका एक कारण यह भी है कि महाभूतों के साधारण गुणों की अपेक्षा असाधारण गुणों में एक विशेषता होती है। वह यह कि असाधारण गुण स्पर्शनेन्द्रिय गोचर होते हैं। अर्थात् उनका ज्ञान त्वचा से होता है। यह तथ्य निम्न श्लोक द्वारा स्पष्ट है—

लक्षणं सर्वमेवैतत् स्पर्शनेन्द्रियगोचरम्।
स्पर्शनेन्द्रिय विज्ञेयः स्पर्शो ह सविपर्ययः॥

—चरक संहिता, शारीर स्थान १/३०

अर्थात् महाभूतों के उपर्युक्त खरत्व आदि समस्त लक्षण स्पर्शनेन्द्रिय (त्वचा) के द्वारा जाने जाते हैं। स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा विपरीत स्पर्श अर्थात् स्पर्श के अभाव का भी ज्ञान होता है। जैसे किसी वस्तु के उष्णत्व का ज्ञान होना तथा अन्य वस्तु के उष्णत्वाभाव का ज्ञान होना स्पर्शनेन्द्रिय का ही विषय है।

यहां महाभूतों के जिन विशेष लक्षणों का निर्देश किया गया है उनमें पृथ्वी का खर होना, जल का द्रव होना, वायु का चंचल (गतिशील) होना तथा अग्नि का उष्ण होना इनका ज्ञान तो त्वगिन्द्रिय से हो जाता है, किन्तु आकाश के अप्रतिघात या स्पर्श

के अभाव का ज्ञान त्वचा द्वारा कैसे सम्भव है ? इस प्रश्न के उत्तर में उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह सिद्धान्त प्रतिपादित है कि जिन इन्द्रियों के द्वारा जिसके भाव का प्रत्यक्ष होता है उन्हीं इन्द्रियों से उसके अभाव का ज्ञान भी होता है। जब स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा किसी वस्तु के प्रतिघात (रुकावट) का ज्ञान होता है तो उसी प्रतिघात के अभाव (रुकावट के न होने) का ज्ञान भी स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा ही होता है। जैसे किसी अग्नि संतप्त वस्तु का स्पर्श करने पर त्वचा के द्वारा उसकी उष्णता का ज्ञान होता है। उसके बाद किसी शीतल वस्तु का स्पर्श करने पर त्वचा के द्वारा उस वस्तु में उष्णता के अभाव का ज्ञान भी होता है। इसी प्रकार किसी व्यक्ति की आँखें बन्द कर उसे आगे बढ़ने (चलने) के लिए कहा जाय। बीच में किसी वस्तु के आ जाने पर उसे ज्ञान होगा कि यहां प्रतिघात या व्यवधान है। किन्तु वह वस्तु वहाँ से हटा लेने पर उस प्रतिघात (रुकावट) के अभाव का ज्ञान भी उसे स्पर्श के द्वारा ही होगा। अपने हाथ को इतस्ततः हिलाकर वह कह सकता है कि वहाँ कुछ नहीं है। यही आकाश (खाली स्थान) है और प्रतिघात नहीं होना ही उसका विशेष लक्षण है जिसका ज्ञान स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा होता है। इस प्रकार पंच महाभूतों के ये विशेष लक्षण स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा जाने जाते है। अतः महाभूतों का त्वाच प्रत्यक्ष होता है यह उपर्युक्त प्रमाण से सिद्ध है।

महाभूतों के लक्षणात्मक गुण विवेचन के सन्दर्भ में अन्य आचार्यों के मत भी दृष्टव्य हैं, जिनमें महाभूतों के अन्य गुणों का प्रतिपादन किया गया है। यथा—

"खस्याप्रतिघो लिंगं, वायोश्चलनं, तेजस औष्ण्यं, अपां द्रवत्वं, पृथिव्याः स्थैर्यम्"। —काश्यप संहिता, शारीरस्थान, पृष्ठ ७६

अर्थात् आकाश का लक्षण अप्रतिघ (रुकावट न होना), वायु का लक्षण चलन, अग्नि का लक्षण उष्णता, जल का लक्षण द्रवता और पृथ्वी का लक्षण स्थिरता है।

यहां पर अन्य लक्षण तो पूर्ववत् ही बतलाए गए हैं। केवल पृथ्वी का लक्षण खरत्व के स्थान पर स्थिरता बतलाया गया है। स्थिरता यद्यपि पृथ्वी का ही गुण है किन्तु यह त्वाच प्रत्यक्ष (स्पर्शनेन्द्रिय गोचर) नहीं होने से इसे विशेष लक्षणों में नहीं गिना गया है।

एक अन्य आचार्य के मतानुसार—

लघुर्गुरुस्तथा स्निग्धो रूक्षस्तीक्ष्ण इति क्रमात्।
नभोभूवारिवातानां वह्नेरेते गुणाः स्मृता॥

—भाव प्रकाश

लघु (हल्का), गुरू (भारी), स्निग्ध (चिकना), रूक्ष (रूखा,) और तीक्ष्ण (तीव्र) ये क्रमशः आकाश, पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि के गुण होते हैं। अर्थात्

आकाश का लघुत्व, पृथ्वी का गुरुत्व, जल की स्निग्धता, वायु की रूक्षता और अग्नि की तीक्ष्णता ये महाभूतों के नैसर्गिक गुण होते हैं। चिकित्सा की दृष्टि से इन गुणों की उपयोगिता होने से आयुर्वेद में इन गुणों का भी महत्व है।

महाभूतों के सत्वादि गुण

"तत्र सत्वबहुलमाकाशम्, रजोबहुलो वायुः, सत्वरजोबहुलोऽग्निः सत्वतमोबहुला आपः, तमोबहुला पृथिवीति।"

—सुश्रुत संहिता, शारीर स्थान १/२०

इनमें सत्व गुण की अधिकता वाला आकाश है, रजो गुण की अधिकता वाला वायु है, सत्व और रजो गुण की अधिकता वाली अग्नि है, सत्व और तमो गुण की अधिकता वाला जल है तथा तमो गुण की अधिकता वाली पृथ्वी है।

आकाश आदि पाँचों महाभूतों में यद्यपि सत्व-रज-तम तीनों गुण विद्यमान रहते हैं, तथापि प्रत्येक महाभूतों में एक या दो गुणों की अधिकता होने से उनमें उसी अधिकता वाले गुण का व्यपदेश मुख्य रूप से किया जाता है। गुण की यह अधिकता ही प्रत्येक महाभूतों की अपनी अपनी विशेषता एवं अपने अपने गुण कर्म के कारण होती है।

आकाश आदि पांचों महाभूतों में सत्व गुण की बहुलता उसके प्रकाशत्व (विषयों का ज्ञान कराने में सहायक होते) के कारण होती है। वायु में रजोगुण की बहुलता उसके चलत्व (गतिशीलता, चंचलता एवं समस्त चेष्टाओं के कारण होने से) होती है। अग्नि में सत्व और रजो गुण की बहुलता उसके प्रकाशतत्व एवं चलत्व होने से होती है। जल में सत्व और तमो गुण की अधिकता उसके स्वच्छत्व, प्रकाशकत्व, गुरुत्व और आवरणत्व के कारण होती है तथा पृथ्वी में तमोगुण की अधिकता उसके आवरणत्व के कारण होती है। इस प्रकार समस्त महाभूत त्रिगुणात्मक होते हैं तथा इन्हीं गुणों के आधार पर वे अपने क्रिया कलापों का सम्पादन करते है।

स्वतन्त्र रूप से महाभूत किसी भी कर्म को करने में असमर्थ हैं। वे प्रायः द्रव्य के माध्यम से ही कार्य करने में समर्थ होते हैं। द्रव्य से अभिप्राय यहां कार्य द्रव्य से है। आकाश आदि महाभूत भी द्रव्य हैं, किन्तु उनकी गणना कारण द्रव्यों में की जाती है। जिस कार्यद्रव्य में जिस महाभूत की अधिकता होती है वह द्रव्य उसी महाभूत के आधार पर क्रिया करता है। द्रव्य में संक्रमित महाभूत के ये गुण उसके नैसर्गिक गुण भी होते हैं। उसके लक्षण विशेष को बतलाने वाले असाधारण गुण भी उसमें होते हैं तथा उसमें व्याप्त सत्वादि गुण भी होते हैं। सभी गुणों की अनुकूलता के अनुसार ही द्रव्य कार्य करता है। किसी भी द्रव्य में न तो परस्पर विरोधी गुण ही होते हैं और न ही द्रव्य

परस्पर विरोधी कार्य करता है। उदाहरणार्थ जो द्रव्य खर गुण वाला होगा उसमें श्लक्ष्णत्व गुण असम्भावित है। इसी भाँति जो द्रव्य उष्ण गुण प्रधान है उसमें शैत्य गुण असम्भावित है। कार्य की दृष्टि से जो द्रव्य उष्णता कारक है वह उष्णता का शमन नहीं कर सकता—यह एक सामान्य सिद्धान्त है। इस प्रकार द्रव्यों में गुणों की अनुकूलता एवं तदनुरूप क्रियाशीलता महाभूत और उनके गुणों के कारण होती है।

महाभूतों की उत्पत्ति एवं उनका परस्परानु प्रवेश

तन्मयान्येव भूतानि तद् गुणान्येव चादिशेत् ।
तैश्च तल्लक्षणः कृत्स्नो भूतग्रामो व्यजन्यत् ॥
तस्योपयोगोऽहिभहितश्चिकित्सां प्रति सर्वदा ।
भूतेभ्यो हि परं यस्मान्नास्ति चिन्ता चिकित्सिते ॥

—सुश्रुत संहिता, शारीर स्थान २/१२-१३

अपने पृथक् पृथक् गुण धर्म वाले पृथ्वी आदि महाभूत तन्मय अर्थात् मूल प्रकृतिमय हैं। उस मूल प्रकृति से ही अवान्तर रूपेण पांच महाभूतों की उत्पत्ति हुई है। इसीलिए पांचों महाभूतों को मूल प्रकृति का परिणाम या विकार बतलाया गया है तथा उन्हें तन्मय कहा गया है। प्रकृति के अन्य परिणामों या विकारों की भांति ये पांच महाभूत भी तद्गुणात्मक (त्रिगुणात्मक याने सत्व-रज-तम इन तीनों गुणों से युक्त) होते हैं। उन्हीं महाभूतों से उन्हीं महाभूतों वाला यह समस्त भूतग्राम (स्थावर-जंगम युक्त सम्पूर्ण जगत्) उत्पन्न होता है। कथन का अभिप्राय यह है कि तीनों (सत्व-रज-तम गुणों से युक्त महाभूतों में जिस गुण या जिन गुणों की अधिकता होती है उन्हीं गुणों के अनुसार उन महाभूतों में अपने अपने विशेष धर्म तथा गुण कर्म होते हैं। एतद्विध पांचों महाभूतों के संयोग से ही विभिन्न गुण धर्मों वाले स्थावर व जंगम समस्त द्रव्यों की उत्पत्ति होती है। महाभूतों में जो गुरुत्व, स्थिरत्व, उष्णत्व, द्रवत्व आदि गुण होते हैं वे ही गुण स्थावर-जंगम द्रव्यों में भी होते हैं। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन आयुर्वेद में मात्र चिकित्सा की दृष्टि से किया गया है। क्योंकि चिकित्सा में महाभूतों एवं उनके गुण कर्मों की ही उपयोगिता है। महाभूतों के अतिरिक्त उनके मूल कारण रूप प्रकृति आदि का विचार चिकित्सा शास्त्र में उपयोगी नहीं होने से नहीं किया गया है।

इस प्रकार महाभूतों की उत्पत्ति मूल प्रकृति या अव्यक्त से होती हैं। इसलिए प्रकृति के गुण महाभूतों में संक्रान्त हो जाते हैं और वे भूतादि प्रकृतिमय तथा प्रकृति के गुण युक्त कहलाते हैं। सृष्ट्युत्पत्ति क्रम में अव्यक्त (प्रकृति) से महत्तत्व की उत्पत्ति होती है, महत्तत्व से अहंकार की उत्पत्ति होती है, अहंकार से पंच तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है और पंच तन्मात्राओं से पंच महाभूतों की उत्पत्ति होती है। इन समस्त

तत्वों की उत्पत्ति का मूल कारण अव्यक्त तत्व है जो मूल प्रकृति कहलाता है। अतः उस अव्यक्त या प्रकृति के गुण क्रमानुसार उससे समुत्पन्न समस्त तत्वों (द्रव्यों) में संक्रमित हो जाते हैं।

महाभूतों के उत्पत्ति क्रम में एक तथ्य यह भी है कि एक महाभूत से क्रमशः अन्य महाभूत की उत्पत्ति होती जाती है और अपने नैसर्गिक गुण के अतिरिक्त उसमें पहले वाले महाभूत के गुण संक्रमित होते जाते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि के आदि में प्रथम आकाश महाभूत स्वयं सिद्ध रहता है। वह नित्य और विभु (व्यापक) होने से विनाश को प्राप्त नहीं होता। आकाश का नैसर्गिक गुण शब्द है। जिस प्रकार आकाश को नित्य माना जाता है उसी प्रकार उसका नैसर्गिक गुण शब्द भी नित्य होता है। जिस समय केवल आकाश वर्तमान रहता है उस समय उसमें केवल एक गुण शब्द ही पाया जाता है। उसके बाद जब "आकाशाद्वायुः"—आकाश से वायु की उत्पत्ति होती है तो उस वायु में उसका अपना नैसर्गिक गुण स्पर्श तो विद्यमान रहता ही है, किन्तु उसके साथ जिस आकाश से वायु की उत्पत्ति होती है उस आकाश का शब्द गुण भी आ जाता है। इस प्रकार वायु में शब्द और स्पर्श ये दो गुण रहते हैं। इसके अनन्तर जब "वायोरग्निः"—वायु से अग्नि की उत्पत्ति होती है तो उसमें अग्नि का अपना नैसर्गिक गुण 'रूप' तो होता ही है, इसके अतिरिक्त पूर्ववर्ती आकाश और वायु के गुण क्रमशः शब्द और स्पर्श भी उसमें रहते हैं। इस प्रकार अग्नि में शब्द, स्पर्श और रूप ये तीन गुण रहते हैं। तत्पश्चात् जब "अग्नेरापः"—अग्नि से जल महाभूत समुत्पन्न होता है तब जल में उसका अपना नैसर्गिक गुण 'रस' तो विद्यमान रहता ही है, इसके अतिरिक्त उसमें तत्पूर्ववर्त्ती महाभूत आकाश, वायु और अग्नि के गुण भी अवस्थित रहते हैं। इस प्रकार जल महाभूत क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप और रस इन चार गणों से समन्वित रहता है। इसके बाद सबसे अन्त में "अद्भ्यः पृथ्वी"—जल से पृथ्वी महाभूत की उत्पत्ति होती है। पृथ्वी का अपना नैसर्गिक गुण गन्ध है जो उसमें सर्वदा विद्यमान रहता है, किन्तु इसके अतिरिक्त उसमें उसके पूर्ववर्ती महाभूत आकाश, वायु, अग्नि और जल के क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप और रस गुण भी रहते हैं। इस प्रकार पृथ्वी में अपने नैसर्गिक गुण गन्ध के साथ अन्य चारों महाभूत के गुण विद्यमान रहने से उसमें पाँच गुण हो जाते हैं। महाभूतों का यह उत्पत्ति क्रम उनमें स्थित गुणों की दृष्टि से विशेष महत्व रखता है। निम्न श्लोक द्वारा यही भाव व्यक्त होता है—

तेषामेकगुणः पूर्वो गुणवृद्धिः परे परे ।
पूर्वः पूर्वगुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः ॥

—चरक संहिता, शारीर स्थान १/२८

महाभूतों में पहला महाभूत आकाश एक गुण वाला है। अर्थात् आकाश में केवल एक गुण 'शब्द' विद्यमान रहता है और उनके बाद पिछले पिछले महाभूत में अपने से पूर्व पूर्व महाभूत के गुणों के अनुप्रवेश से क्रमशः गुण की वृद्धि हो जाती है। गुणी अर्थात् महाभूत में क्रमानुसार पूर्व में रहने वाले महाभूत और उनके गुणों का अनुप्रवेश माना जाता है।

उपर्युक्त तथ्य के स्पष्टीकरण अर्थात् भूतानुप्रवेशजन्य गुणवृद्धि क्रम को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है—

आकाश—शब्द
वायु—शब्द, स्पर्श
अग्नि—शब्द, स्पर्श, रूप,
जल—शब्द, स्पर्श, रूप, रस
पृथ्वी—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध

महाभूतों के उपर्युक्त उत्पत्ति क्रम के अनुसार एक एक महाभूत में उत्तरोत्तर एक एक गुण की वृद्धि होती जाती है। गुण वृद्धि के इस क्रम के आधार पर इस तथ्य का स्वतः प्रतिपादन होता है कि प्रत्येक महाभूत उत्पत्ति क्रम से अपने अपने पूर्व के महाभूतों से युक्त होता है। जैसे वायु में आकाश का प्रवेश होता है, अग्नि में वायु और आकाश का प्रवेश होता है, जल महाभूत में अग्नि, वायु और आकाश महाभूत का प्रवेश होता है तथा पृथ्वी महाभूत में जल, अग्नि, वायु और आकाश महाभूत का प्रवेश रहता है। यही अन्योन्यानुप्रविष्ट कहलाता है। अर्थात् एक महाभूत में अन्य महाभूत का प्रवेश होना कहलाता है। महर्षि सुश्रुत ने इस तथ्य का प्रतिपादन निम्न प्रकार से किया है—

अन्योन्यानुप्रविष्टानि सर्वाण्येतानि निर्दिशेत्।
स्वे स्वे द्रव्ये तु सर्वेषां व्यक्तं लक्षणमिष्यते॥

—सुश्रुत संहिता, शारीर स्थान १/२१

अर्थात् ये पांचों महाभूत एक दूसरे में अनुप्रविष्ट समझना चाहिए। किन्तु इन महाभूतों के अपने विशिष्ट लक्षण अपने अपने द्रव्य में ही व्यक्त होते हैं।

काल निरूपण

काल का सामान्य अर्थ होता है समय। आयुर्वेद में चिकित्सा की दृष्टि से भी काल का महत्व पूर्ण स्थान है। आयुर्वेद के अनुसार यह भी एक द्रव्य है और संसार के अन्य द्रव्यों के आवश्यिक परिवर्तन में कारण होता है। संसार में उत्पन्न होने वाले समस्त कार्य द्रव्य काल द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। कारण की दृष्टि से काल समस्त कार्य द्रव्यों की उत्पत्ति में निमित्त कारण होता है। भिन्न-भिन्न द्रव्यों का युगपत् होना, शीघ्र होना, विलम्ब से होना, रात्रि में होना, दिन में होना, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर, बसंत ग्रीष्म आदि किसी ऋतु में होना, वर्तमान काल में होना आदि इस प्रकार का ज्ञान केवल अनित्य (उत्पत्तिशील) द्रव्य में होता है। नित्य द्रव्य के विषय में उपर्युक्त प्रकार का ज्ञान सम्भव नहीं है। जिसके द्वारा यह ज्ञान होता है उसे काल कहते हैं।

काल शब्द की उत्पत्ति

"कलाशब्दस्य ककाराकारौ ली धातोश्च लकारमादाय "काल" शब्दस्य निष्पत्तिः।"

अर्थात् कला शब्द का 'ककार' और 'अकार' तथा 'ली' धातु का 'लकार' लेकर काल शब्द की निष्पत्ति हुई है।

इसे निम्न प्रकार से समझना चाहिए—

कला शब्द का ककार + अकार और 'ली' धातु का 'लकार' अर्थात् क + अ + ल = काल।

काल शब्द की परिभाषा और लक्षण

१. **'कालो हि नाम भगवान् स्वयम्भुरनादिमध्यनिधनोऽत्र रसव्यापत्सम्पत्ती जीवितमरणे च मनुष्याणामायत्ते।'** —सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थान ६/२

२. "स सूक्ष्मामपि कलां न लीयत इति कालः"। —सुश्रुत, सूत्रस्थान ६/२

३. संकलयति वा भूतानीति कालः। —सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थान ६/४

४. "कलनात् सर्वभूतानां स कालः परिकीर्तितः"।

समस्त प्राणियों का संकलन करने से यह काल कहलाता है।

५. सुखदुःखाभ्यां भूतानि योजयतीति कालः।"

समस्त प्राणियों को जो सुख और दुःख से युक्त करता है वह काल कहलाता है

६. **कलयति संक्षिपतीति कालः मृत्यु समीपं वा नयतीति कालः"**

जो आयु को घटाता है अथवा प्राणियों को मृत्यु के समीप ले जाता है वह काल कहलाता है।

७. **"अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिंगानि ।"—वै द. २-२-६**

अपर में अपर ज्ञान, पर में पर ज्ञान, युगपत् ज्ञान, चिरज्ञान, क्षिप्रज्ञान ये सब काल के चिन्ह हैं ।

८. **जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः ।**
परापरत्वधीर्हेतुः क्षणादिः स्यादुपाधितः ॥ —मुक्तावलि

उत्पन्न होने वाले पदार्थों का जनक, जगत का आश्रय, परत्व और अपरत्व बुद्धि का हेतु 'काल' है । यह काल एक होने पर भी उपाधि भेद से क्षण आदि व्यवहार वाला होता है ।

९. **कालो निमित्त कार्याणां सर्वाधारस्तथा मतः ।**
परापरत्वधीर्हेतुर्नित्यो व्यापक उच्चते ॥
उपाधिभेदादेकोऽपि क्षणादिव्यवहार भाक् ॥

काल संसार के समस्त अनित्य (उत्पत्ति और विनाश वाले) कार्य द्रव्यों का निमित्त कारण, समस्त द्रव्यों का आधार, परत्व (ज्येष्ठ) और अपरत्व (कनिष्ठ) बुद्धि का कारण, नित्य और व्यापक होता है । उपाधि भेद से एक होता हुआ भी क्षण आदि व्यवहार वाला होता है ।

१०. **"अतीतादिव्यवहारहेतु कालः—स चैको विभुर्नित्यश्च ।"**

भूत, भविष्य, वर्तमान आदि व्यवहार के कारण को काल कहते हैं । वह एक, विभु (व्यापक) और नित्य होता है ।

काल का सम्बन्ध प्रत्यक्षतः सूर्य क्रिया से है । विना सूर्य क्रिया के काल की स्थिति असम्भावित है । लोक व्यवहार में भी सूर्य क्रिया के आधार पर ही काल का व्यवहार किया जाता है । जैसे सूर्योदय होने पर प्रातःकाल, मध्याकाश में सूर्य की स्थिति होने पर मध्याह्न काल, सूर्यास्त के समय सायंकाल और सूर्यास्त के पश्चात् रात्रिकाल का व्यवहार सुविदित है । अतः काल का प्रत्यक्ष सम्बन्ध सूर्य क्रिया से है । किसी वस्तु का उत्पन्न होना, कुछ समय तक उसका स्थित रहना एवं नियत समय आने पर उनका विनाश होना काल के ही आधीन है । वस्तु का वृद्धिगत होना भी काल की अपेक्षा रखता है । हम नित्य प्रति जो यह व्यवहार करते हैं कि अमुक बच्चा एक दिन का है और अमुक दस वर्ष का । इस व्यहार का कारण काल ही है । जो बच्चा एक दिन का है, वही बच्चा आगे जाकर एक वर्ष, दस वर्ष, पचास वर्ष या इससे भी अधिक का कहलाता है । इसमें काल अथवा सूर्य क्रिया की ही अपेक्षा है । यदि काल न हो अथवा सूर्य क्रिया न हो तो उपर्युक्त समस्त व्यवहार समाप्त हो जायेगा । ऐसी स्थिति में न किसी द्रव्य की उत्पत्ति होगी, न उसकी स्थिति होगी और न उसका विनाश होगा ।

उपर्युक्त आधार पर ही द्रव्यों अथवा मनुष्यों में पर एवं अपर व्यवहार किया जाता है । दस वर्ष के बालक की अपेक्षा बारह वर्ष का बालक ज्येष्ठ(बड़ा)कहलाता

है यही उसका परत्व है । दस वर्ष वाला बालक कनिष्ठ (छोटा) कहलाता है । यही उसका अपरत्व है । किन्तु आठ वर्ष के बालक की अपेक्षा वही दस वर्ष वाला बालक ज्येष्ठ होने से पर है और आठ वर्ष वाला अपर । इस प्रकार संसार के समस्त द्रव्यों में परत्व और अपरत्व भाव की योजना भी काल कृत ही होती है ।

आयुर्वेद के अनुसार काल भी एक द्रव्य है । आयुर्वेदोक्त द्रव्य लक्षण के अनुसार जिसमें कर्म और गुण समवाय सम्बन्ध से अश्रित हो वह द्रव्य कहलाता है । इस लक्षण के अनुसार काल में भी कर्म और गुण समवाय सम्बन्ध से आश्रित होना चाहिए । सूर्य क्रिया के कारण काल भी गमनशील होता है । अतः गमन कार्य समवाय सम्बन्ध से कलाश्रित है । इसी प्रकार परत्व-अपरत्व आदि गुण का समवाय सम्बन्ध से आश्रय होने के कारण 'काल' एक स्वतन्त्र द्रव्य है ।

काल के औपाधिक भेद

काल के विषय में कहा गया है कि वह एक, नित्य और विभु होता है । किन्तु व्यवहार में वर्तमान, भूतकाल, भविष्यकाल आदि का प्रयोग होने से उसके अनेकत्व की पुष्टि होती है—ऐसी शंका कुछ लोगों द्वारा की जाती है । उनके अनुसार—**"अतीतादिव्यवहारहेतुः कालः"** यह जो काल का लक्षण प्रतिपादित किया गया है वह भी काल के भूत, वर्तमान, भविष्य आदि भेदों की ओर संकेत करता है । इसका समाधान यह है कि क्षण, निमेष, दिन, मास, वर्ष, वर्तमान, भूत, भविष्य आदि जो काल के भेद प्रतीत होते हैं वे वस्तुतः काल के भेद न होकर उसकी उपाधियाँ हैं । इसीलिए काल के लक्षण में निर्दिष्ट है कि **"क्षणादि स्यादुपाधितः"** तथा **"उपाधिभेदादेकोऽपि क्षणादि व्यवहारभाक्"** । इससे स्पष्ट है कि उपाधियां सूर्य क्रिया से उत्पन्न होती हैं अर्थात् सूर्य की गति के कारण ही क्षण, निमेष, दिन, रात, मास, वर्ष आदि का निर्माण होता है । अतः समस्त उपाधियाँ सूर्य क्रिया की अपेक्षा रखती हैं ।

सूर्य क्रिया की अपेक्षा रखने वाले काल-प्रविभाग का वर्णन महर्षि सुश्रुत ने निम्न प्रकार से किया है—

"तस्य संवत्सरात्मनो भगवानादित्यो गतिविशेषेणाक्षिनिमेषकाष्ठाकलामुहूर्ताहोरात्रपक्षमासर्त्वयनसंवत्सरयुगप्रविभागं करोति ।" —सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थान ३/३

अर्थात् भगवान सूर्य अपनी गति विशेष से उस संवत्सरात्मक काल का अक्षि, निमेष, काष्ठा, कला, मुहूर्त, अहोरात्र, पक्ष मास, ऋतु, अयन, वर्ष और युग इस प्रकार विभाग करते हैं ।

इसी का स्पष्टीकरण करते हुए महर्षि सुश्रुत ने आगे लिखा—

"तत्र लघ्वक्षरोच्चारणमात्रोऽक्षिनिमेषः पंचदशाक्षिनिमेषाः काष्ठा, त्रिंशत्काष्ठाः कला, विंशतिकलो मुहूर्तः कलादशभागश्च, त्रिंशन्मुहूर्तमहोरात्रं, पंचदशाहोरात्राणि पक्षः, स च द्विविधः शुक्लः कृष्णश्च, तौ मासः । तत्र माघादयो द्वादशमासाः ।"

अर्थात् अकार आदि लघु अक्षर के उच्चारण में जितना समय लगता है उसे 'अक्षिनिमेष' या 'निमेष' कहते हैं। ऐसे पन्द्रह निमेषों की एक काष्ठा होती है। तीस काष्ठाओं की एक कला, बीस कला का एक मुहूर्त, तीस मुहूर्त का एक अहोरात्र (दिन-रात), पन्द्रह अहोरात्र का एक पक्ष होता है। वह पक्ष दो प्रकार का होता है:—शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष—इन दो पक्षों का एक मास होता है। माघ आदि कुल बारह मास होते हैं। दो-दो मास की एक ऋतु के अनुसार छः ऋतुएं होती हैं। तीन तीन ऋतुओं के दो अयन होते हैं—उत्तरायण और दक्षिणायन। दो अयन अथवा छः ऋतुओं या बारह मास का एक संवत्सर या वर्ष होता है। पांच संवत्सर का एक युग होता है।

आयुर्वेद में काल का महत्त्व

आयुर्वेद में व्यवहारिक रूप से काल की उपयोगिता एवं महत्व तो है ही, किन्तु चिकित्सा, भेषज्ञ प्रयोग एवं आतुरावस्था की दृष्टि काल का बहुत ही महत्व है। आयुर्वेद में काल का जो वर्णन किया गया है वह इसी दृष्टि से है। महर्षि चरक ने स्पष्ट रूप से काल के व्यावहारिक प्रयोग एवं आतुरावस्था सम्वन्धी प्रयोग का उल्लेख किया है। यथा—

"कालः पुनः संवत्सरश्चातुरावस्था च । तत्र संवत्सरो द्विधा, त्रिधा, षोढा द्वादशधा भूयश्चाप्यतः प्रविभज्यते तत्तत्कार्यमभिसमीक्ष्य ।" चरक संहिता, विमान स्थान ८/१२४

अर्थात् काल दो प्रकार होता है—संवत्सर और आतुरावस्था। इनमें संवत्सर (दक्षिणायन और उत्तरायण भेद से) दो प्रकार का, (शीत, उष्ण और वर्षा भेद से) तीन प्रकार का, (वर्षा शरद-हेमन्त-शिशिर वसन्त-ग्रीष्म इन षड् ऋतु भेद से) छह प्रकार का (चैत्र, बैसाख, ज्येष्ठ, आषाढ़, श्रावण, आश्विन, कातिक, मृगशीर्ष, पौष, माघ, फाल्गुन इन द्वादश मास भेद से) बारह प्रकार का तथा इससे भी अधिक विभाग वाला होता है।

आतुरावस्था के प्रति महर्षि चरक ने निम्न मन्तव्य स्पष्ट किया है—

"आतुरावस्थास्वपि तु कार्याकार्यं प्रति कालाकालसंज्ञा । तद्यथा-अस्यामवस्थायामस्य भेषजस्याकालः कालः पुनरन्यस्येति, एतदपि हि भवत्यवस्थाविशेषेण तस्मादातुरावस्थास्वपि हि कालाकालसंज्ञा ।" —चरक संहिता, विमान स्थान ८/१२६

अर्थात् आतुरावस्थाओं में भी कार्य एवं अकार्य के प्रति काल और अकाल की संज्ञा होती है। जैसे रोगी की अमुक अवस्था में अमुक औषधि का अकाल है (अर्थात् अमुक अवस्था में अमुक औषधि देने योग्य नहीं है) और अमुक अवस्था में औषधकाल है। यह सब रोगी की अवस्था विशेष से होता है। इसलिए रोगी की अवस्थाओं में काल—अकाल संज्ञा होती है।

महर्षि चरक ने उपर्युक्त प्रकार से विभक्त काल की नित्यग और आवस्थिक संज्ञा भी दी है। यथा—

कालो हि नित्यगश्चावस्थिकश्च । तत्रावस्थिको विकारमपेक्षते, नित्यगस्तु ऋतुसात्म्यापेक्षः । **—चरक संहिता, विमान स्थान १/३०**

अर्थात् काल दो प्रकार का होता है—नित्यग और आवस्थिक। इनमें आवस्थिक काल विकार की अपेक्षा रखता है और नित्यग काल ऋतु सात्म्य की।

यहां पर संवत्सर काल को नित्यग और आवस्थिक काल को आतुरावस्था काल कहा गया है।

आयुर्वेद में रोगी की चिकित्सा के लिए जो औषधि दी जाती है—काल के अनुसार उसका बड़ा महत्व है। आयुर्वेद में इसका स्पष्ट निर्देश किया गया है कि काल के अनुसार औषधि देने से अपेक्षित फल की प्राप्ति (आरोग्य लाभ) होती है। इसीलिए आचार्यों ने रोगी का स्वभाव, प्रकुपित दोष, औषध-द्रव्य आदि को ध्यान में रखते हुए "औषध देने के दस काल" निर्धारित किये हैं। यथा—

१. अभक्त (खाली पेट) २. प्राग्भक्त (खानें के पूर्व) ३. अधोभक्त (खाने के बाद) ४. मध्यभक्त (भोजन के मध्य में) ५. अन्तरा भक्त (दो भोजनकाल के मध्य में) ६. सभक्त (भोजन के साथ साथ) ७. सामुद्ग (अन्नपान के पहले और बाद में) ८. मुहुर्मुहुः (बार बार) ९. सग्रास (एक या कुछ ग्रासों के साथ) १०. ग्रासान्तर (दो ग्रासों के मध्य)।

इस प्रकार चिकित्सा की दृष्टि से उपर्युक्त औषध देने के दस काल का उल्लेख प्रायः सभी आचार्यों ने किया है। इसका विस्तृत विवरण सुश्रुत संहिता, उत्तर तन्त्र अ० ६४, अष्टाँगसंग्रह-सूत्रस्थान, अ० २३, शार्ङ्गधर संहिता प्र० खं० अ० २ तथा अ. ६. सू. १३ में देखना चाहिए। इसके अतिरिक्त वैद्य यादव जी त्रिकम जी आचार्यकृत द्रव्यगुण-विज्ञान (उत्तरार्ध) के परिभाषा खण्ड में भी इसका विस्तृत विवरण देखा जा सकता है।

दिशा निरूपण

लोक व्यवहार में दिशा का प्रयोग पूर्व पश्चिम आदि के लिए किया जाता है। आयुर्वेद में भी इसी रूप में दिशा का प्रयोग किया गया है। किन्तु आयुर्वेद में दिशा के सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक दोनों पक्षों को समान रूप से प्रतिपादित किया गया है। दर्शन शास्त्र एवं आयुर्वेदीय दृष्टि कोण से दिशा का निम्न लक्षण प्रतिपादित किया गया है—

"इत इदमिति यस्तद्दिश्य लिंगम्।" —**वैशेषिक दर्शन** २-२-१०

अर्थात् इसकी अपेक्षा यह 'दूर' है और इसकी अपेक्षा यह 'समीप' है—इस प्रकार का ज्ञान जिसके द्वारा होता है वह 'दिशा' कहलाती है।

दूरान्तिकादि धीर्हेतुरेका नित्या दिगुच्यते।
उपाधिभेदादेकापि प्राच्यादि व्यपदेशभाक्॥ —**मुक्तावली**

अर्थात् दूर और अन्तिक (समीप) के ज्ञान का कारणभूत दिशा नित्य और व्यापक होती है। वह एक होते हुए भी उपाधि भेद से प्राची आदि नाम से व्यवहृत होती है।

सामान्यत: पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण इन चार दिशाओं का ज्ञान दिशा शब्द से होता है। किन्तु दिशा शब्द का व्यापक अर्थ करने पर हमारे दैनिक जीवन में इसकी व्याप्ति की अनुभूति होती है। हम यदि पूर्व-पश्चिम उत्तर-दक्षिण दिशा बोधक इन चार शब्दों तक ही सीमित रहें तो उसकी प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्नशील रहने पर भी हम इनको नहीं पा सकते। उदाहरणार्थ यदि हम पूर्व दिशा में उसकी प्राप्ति के लिए सतत बढ़ते चले जायें तो अनन्त काल तक भी उसकी उपलब्धि नहीं हो सकती। अत: पूर्व-पश्चिम आदि मात्र दिशा वाचक शब्द हैं।

आयुर्वेद में दिशा के व्यावहारिक पक्ष का समर्थन करते हुए दिशा का अर्थ देश या स्थान किया गया है। यथा—**"दिशा देशः स्थानम्"**। अत: व्यवहार में देश या स्थान का प्रयोग होने से उसके व्यापकत्व की और कभी भी उसका विनाश नहीं होने से उसके नित्यत्व की सिद्धि होती है।

जिस प्रकार सामान्य व्यवहार में कालिक परत्व (ज्येष्ठत्व) और कालिक अपरत्व (कनिष्ठत्व) का प्रयोग होता है उसी प्रकार दैशिक परत्व और अपरत्व का प्रयोग भी होता है। दैशिक परत्व का अभिप्राय दूर और दैशिक अपरत्व का अभिप्राय समीप होता है। जैसे अमुक वस्तु इससे इतनी दूर है—यह दैशिक परत्व है और अमुक वस्तु इससे समीप है—यह दैशिक अपरत्व है। इस प्रकार दूरत्व

का अभिप्राय दैशिक परत्व और अन्तिकत्व (समीपत्व) का अभिप्राय दैशिक अपरत्व होता है। इन दोनों (दूरत्व और अन्तिकत्व) का हेतु दिशा है।

व्यवहार में इसका प्रयोग प्रभूत रूप में होता है कि अमुक वस्तु दूर है अथवा अमुक वस्तु समीप है। समीप देश (स्थान) में विद्यमान मूर्त द्रव्य में दिशाकृत परत्व होता है। इसी प्रकार दूर देश में विद्यमान घट आदि मूर्त द्रव्य की अपेक्षा समीप देश मे विद्यमान मूर्त द्रव्य में दिशा कृत अपरत्व होता है। इसी आधार पर दिशा के द्रव्यत्व की सिद्धि भी की गई है। अर्थात् परत्व-अपरत्व ये दोनों गुण होते हैं। घट आदि मूर्तद्रव्य में जिस प्रकार रूप आदि गुण जन्य होते हैं उसी प्रकार परत्व-अपरत्व गुण भी जन्य हैं। जन्य गुण सदैव असमवायि कारण के द्वारा जन्य होता है और असमवायि-कारण संयोग दो द्रव्यों का ही हो सकता है। यहाँ घट आदि एक द्रव्य तो विद्यमान है, उसमें परत्व-अपरत्व गुणोत्पादक असमवायिकारण संयोग रूप अन्य द्रव्य होना चाहिये वह अन्य द्रव्य दिशा ही है।

आयुर्वेद सम्मत द्रव्य लक्षण के अनुसार द्रव्य में गुण और कर्म समवाय सम्बन्ध से होना चाहिए। दिशा में संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग और विभाग गुण समवायि रूप से विद्यमान रहते हैं और द्रव्यों में दूरत्व या अन्तिकत्व उत्पन्न करना ये कर्म भी समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। इस प्रकार दिशा के द्रव्यत्व की सिद्धि होती है।

लोक व्यवहार में प्रधानतः चार दिशाओं का प्रयोग होता है, पूर्व-पश्चिम-उत्तर दक्षिण। दिशा का यह चतुर्विधत्व अथवा नानाविधत्व केवल औपधिक है, वास्तविक नहीं। दिशा की उपाधि आदित्य संयोग है। आदित्य संयोग रूप उपाधि होने से ही दिशा में पूर्व-पश्चिम आदि का व्यवहार होता है। वस्तुत: दिशा एक ही है। पूर्व दिशा को 'प्राची' पश्चिम दिशा को 'प्रतीची' उत्तर दिशा को 'उदीची' और दक्षिण दिशा को 'अवाची' भी कहा गया है। इसके क्रमश: निम्न लक्षण है:—

१. **प्राची (पूर्व दिशा)** —**'आदित्यसंयोगात् भूतपूर्वाद् भविष्यतो भूताच्च प्राची'** अर्थात् भूत, भविष्य और वर्तमान काल में होने वाले सूर्य के संयोग से दिशा की 'प्राची' संज्ञा है। अथवा **'प्रागस्यामञ्चति सूर्य इति प्राची'** अथवा **"प्रथममञ्चतीति प्राची'** अर्थात् जिस दिशा में सूर्य का उदय होता हैं या जिस दिशा में भगवान सूर्य का दर्शन सर्व प्रथम होता है उसको प्राची कहते है अथवा **'तत्रोदयाचलसन्निहितमूर्ता-वच्छिन्ना दिक् प्राची"** अर्थात् उदयाचल के समीप की दिशा प्राची या पूर्व कहलाती है।

२. **प्रतीची (पश्चिम दिशा)**—**"प्रतिकूल्येनास्यामञ्चति सूर्य इति प्रतीची"** अथवा **"प्रत्यक् अञ्चतीति प्रतीची'** अर्थात् जिस दिशा में सूर्य अस्त होता है या जिस दिशा में भगवान् सूर्य का दर्शन अन्त में होता है उसे प्रतीची या 'पश्चिम' दिशा

कहते हैं अथवा "तद् व्यवहितमूर्तावच्छिन्ना (अस्ताचलसन्निहिता) च दिक् प्रतीची" अर्थात् उसके (पूर्व दिशा के) विपरीत अस्ताचल (जहां भगवान सूर्य का अस्त होता है) के समीप की दिशा 'प्रतीची' या पश्चिम कहलाती है।

६. उदीची (उत्तर दिशा)—"उदगस्यामञ्चति सूर्य इति उदीची" अथवा उदगञ्चतीति उदीची अर्थात् जिस दिशा में सूर्य संयोग ऊँचे होकर गमन करते हैं। या पूर्वाभिमुख स्थित होने पर वाम हस्त की ओर वाली दिशा उदीची या उत्तर दिशा कहलाती है अथवा "मेरुसन्निहित मूर्तावच्छिन्ना दिगुदीची" अर्थात् सुमेरु पर्वत के समीप में स्थित दिशा को उदीची या उत्तर दिशा कहते हैं।

४. अवाची (दक्षिण दिशा) "अर्वागस्यामञ्चति सूर्य इति अवाची" अथवा "अर्वागञ्चतीति अवाची" अर्थात् जिस देश में सूर्य संयोग नीचे होकर होता हो या पूर्वाभिमुख होने पर दक्षिण (दहिने हाथ की ओर वाली) दिशा को अवाची या दक्षिण दिशा कहते हैं। अथवा "तद् व्यवहृतमूर्तावच्छिन्ना तु दिग्दक्षिणा।" अर्थात् उसके (उत्तर दिशा के) विपरीत दिशा को दक्षिण दिशा कहते हैं।

—o—

आत्मा निरूपण

पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पांच महाभूतों तथा काल और दिशा द्रव्यों के अनन्तर अष्टम द्रव्य आत्मा का निरूपण किया जा रहा है। आयुर्वेद में आत्मा की गणना द्रव्यों के अन्तर्गत की गई है। यह आयुर्वेद का सर्वाधिक उपयोगी एवं महत्वपूर्ण द्रव्य है। वैसे तो समस्त द्रव्यों एवं पदार्थों की उपयोगिता एवं महत्ता अपने अपने स्थान पर है, तथापि आत्मा को विशेष महत्व दिया गया है। इसके अनेक कारण हैं, जिनका उल्लेख आगे प्रसंगवश किया जायगा। यहाँ एक बात यह स्मरणीय है कि आयुर्वेद में आत्मा के लिए "पुरुष" शब्द का व्यवहार किया गया है। इसकी सार्थकता में अनेक प्रमाण भी प्रस्तुत किए गए हैं। यद्यपि आत्मा एक ऐसा रहस्यमय गूढ़ तत्व है कि उसके मर्म ज्ञानोपलब्धि हेतु अनेक मनीषियों, योगियों एवं ऋषियों ने अपने जीवन का व्युत्सर्ग कर दिया। समस्त भारतीय दर्शन शास्त्रों में आत्मा सम्बन्धी गहनतम विवेचन विस्तृत रूपेण प्रस्तुत किया गया है। तथापि आयुर्वेद में आत्मा के विषय में कुछ ऐसे महत्वपूर्ण तथ्यों का प्रतिपादन किया गया है तथा कुछ ऐसे तथ्य स्वीकार किए गए हैं जो आयुर्वेद के क्षेत्र तक ही सीमित हैं और आयुर्वेद के लिए ही जिनकी विशेष उपयोगिता है। अतः यह आवश्यक है कि आयुर्वेद में आत्मा के सम्बन्ध में जिन तथ्यों का प्रतिपादन जिस रूप में किया गया है उसे उसी रूप में समझकर ग्रहण किया जाय।

आत्मा का लक्षण

ज्ञानाधिकरणं ह्यात्मा निर्विकारोऽद्वितीयकः।
अनादिनिधनो व्यापी जीवो सोपाधिकस्तु सः॥
उपाधिपरिनिर्मुक्तः केवलत्वं प्रपद्यते॥

अर्थात् आत्मा ज्ञान का अधिकरण, निर्विकार, अद्वितीय, अनादि, अनन्त और व्यापक होता है। वही आत्मा उपाधि विशिष्ट से युक्त होने पर जीव संज्ञा द्वारा व्यवहृत होता है। अर्थात् जीव कहलाता है। उपाधियों से रहित होकर जीव केवल विशुद्ध आत्म स्वरूप होता है। तब वह मुक्ति अथवा मोक्ष को प्राप्त होता है।

'ज्ञानाधिकरणमात्मा—अधिकरणपदं समवायेन ज्ञानाश्रयत्वलाभार्थम्। भूतलादिवारणाय ज्ञानेति, कालादिवारणाय समवायेनेत्यपि देयम्। अतो लक्षणफलितम्-ज्ञानवानात्मा आत्मत्वसामान्यवान् वा।"

आत्मा ज्ञान का अधिकरण (आश्रय) है। यहाँ अधिकरण पद समवाय रूप से आत्मा में ज्ञानाश्रयत्व प्रतिपादन के लिए दिया गया है। पृथ्वी आदि में लक्षण की अतिव्याप्ति निवारण हेतु ज्ञान पद तथा काल आदि में लक्षण की अतिव्याप्ति निवारण

हेतु समवाय पद का प्रयोग किया गया। अतः लक्षण यह हुआ—आत्मा ज्ञानवान् अथवा आत्मत्व सामान्यवान् होता है।

आत्मा सम्बन्धी उपर्युक्त लक्षणों के अनुसार आत्मा ज्ञान का अधिकरण है। अर्थात् जो द्रव्य समवाय सम्बन्ध से ज्ञान का आश्रय है उसे आत्मा कहते हैं। सामान्यतः हमें जो ज्ञान होता है वह इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष होने के पश्चात् आत्मा को ही होता है। इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला ज्ञान पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा और मन इन आठ द्रव्यों में से किसी में भी नहीं रहता। वह ज्ञान इन आठ द्रव्यों के अतिरिक्त किसी अन्य द्रव्य में रहता है। क्योंकि ज्ञान गुण है और गुण किसी द्रव्य विशेष का आश्रय करके ही रहता है। गुण बिना द्रव्य के रह नहीं सकता। द्रव्य के बिना गुण का कोई अस्तित्व नहीं होता। पृथ्वी आदि उपर्युक्त आठ द्रव्यों में ज्ञान गुण नहीं होता। अतः उपर्युक्त आठ द्रव्यों के अतिरिक्त नवम द्रव्य को ही ज्ञान का आश्रय स्वीकार किया जायेगा। वह नवम द्रव्य आत्मा है। इस प्रकार ज्ञानाधिकरण नवम द्रव्य आत्मा की सिद्धि अनुमान द्वारा होती है।

इसके अतिरिक्त तथ्यपूर्ण तर्क के आधार पर भी ज्ञान के आश्रयभूत आत्मा की सिद्धि होती है। ज्ञान गुण है और वह मानस प्रत्यक्ष होता है। महाभूतों के रूप, रस, गन्ध आदि गुण मानस प्रत्यक्ष नहीं होते। केवल चक्षु, रसना, घ्राण आदि के प्रत्यक्ष होते हैं। ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं होता। अतः ज्ञान महाभूतों का गुण नहीं हो सकता। ज्ञान एक विशेष गुण होता है तथा अपने आश्रय द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहता है। इस दृष्टि से ज्ञान काल और दिशा का गुण भी नहीं हो सकता। क्योंकि काल आदि में विशेष गुण नहीं होता तथा समवाय सम्बन्ध से काल आदि में ज्ञान का अभाव है। अतः ज्ञान आत्मा का विशेष गुण है और वह आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहता है। इस प्रकार तर्क के द्वारा आत्मा और उसके अधिकरणत्व की सिद्धि होती है। उपनिषदों में आत्मा को ज्ञानरूप मानकर उसका विवेचन किया गया है। किन्तु यहां आत्मा को ज्ञानरूप गुण का अधिकरण माना है। इसका कारण यह है कि आयुर्वेद में आत्मा को द्रव्य माना गया है। ग्रन्थ में प्रतिपादित द्रव्य के लक्षण के अनुसार किसी भी द्रव्य में गुण और कर्म का समवाय रूप से रहना अनिवार्य रूप से अपेक्षित है। जो द्रव्य समवाय रूप से किसी गुण और कर्म का आश्रय नहीं है वह द्रव्य नहीं हो सकता। इस सैद्धान्तिक दृष्टि से आत्मा ज्ञान गुण का समवाय सम्बन्ध से आश्रय है। अतः आत्मा एक द्रव्य है।

आत्मा एक ऐसा द्रव्य है जो चक्षुओं द्वारा देखा नहीं जा सकता, श्रोत्र द्वारा जिसका कोई शब्द नहीं सुना जा सकता, त्वक् द्वारा उसका कोई स्पर्श नहीं किया जा

सकता, रसना द्वारा जिसका कोई आस्वादन नहीं किया जा सकता और घ्राण द्वारा जो सूंघा नहीं जा सकता अर्थात् भौतिक इन्द्रियों द्वारा वह ग्राह्य नहीं है। अनुमान द्वारा ही उनकी सिद्धि सम्भावित है। आप्तवचन अथवा आगम उसकी सिद्धि में प्रमाण हैं। तथापि कुछ मूढ़मति वाले भ्रमवशात् चैतन्य युक्त होने से शरीर को ही आत्मा मान लेते हैं और कुछ लोग इन्द्रियों में ही आत्मा का व्यवहार करने लगते हैं। क्योंकि इन्द्रियों द्वारा ही ज्ञानोपलब्धि होती है। इसके अतिरिक्त कुछ अल्पज्ञ जन मन को ही आत्मा समझ लेते हैं। क्योंकि मनसा संयुक्त इन्द्रियां ही ज्ञान प्राप्ति में सहायक होती हैं। इसके विपरीत वस्तुस्थिति यह है कि शरीर, इन्द्रियां और मन से भिन्न आत्मा एक स्वतन्त्र द्रव्य है। इसी तथ्य का प्रतिपादन मुक्तावलि की निम्न कारिका में निम्न प्रकार से किया गया है—

आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठाता करणं हि सकर्तृकम् ।
शरीरस्य न चैतन्यं मृतेषु व्यभिचारतः ॥
तथात्वं चेन्द्रियाणामुपघाते कथं स्मृतिः ।
मनोऽपि न तथा ज्ञानाद्यनध्यक्षं तदा भवेत् ॥

अर्थात् आत्मा इन्द्रियों का अधिष्ठाता है, क्योंकि कारणों का कोई न कोई कर्ता (अधिष्ठाता) अवश्य होता है। चेतनता शरीर का गुण नहीं है, क्योंकि मृत्यु हो जाने पर शरीर में चैतन्य का अभाव पाया जाता है। मृत में व्यभिचार होने से शरीर में चैतन्य नहीं होता। चेतनता इन्द्रियों का गुण मानने पर इन्द्रियों के उपघात होने पर इन्द्रियों द्वारा ग्रहीत विषयों का स्मरण कैसे होगा? इसी भाँति मन भी चैतन्यवान् नहीं है। क्योंकि मन के अन्दर रहने वाले ज्ञान, सुख-दुःख आदि का प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। क्योंकि वह स्वयं अणु परिमाण वाला है।

आत्मा एक शाश्वत, अविनाशी, नित्य द्रव्य है। अतः उसका उपघात या विनाश कभी नहीं होता। आत्मा में बुद्धि, सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार आदि गुणों का निवास रहता है। शरीर, इन्द्रिय और मन में इन गुणों का सर्वथा अभाव रहता है। अतः आत्मा शरीर, इन्द्रिय और मन से भिन्न एक स्वतन्त्र सत्तावन द्रव्य है। शरीर द्वारा अनेक बार जो 'अहं' शब्द का प्रयोग होता है वह शरीर के लिए न होकर वस्तुतः आत्मा के लिए ही होता है। यहां यह शंका उत्पन्न होती है कि आत्मा का चाक्षुष प्रत्यक्ष तो होता नहीं है, शरीर का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है, 'अहं' शब्द का व्यवहार भी तत्कालीन प्रत्यक्षगम्य शरीर के लिए ही होता है। अतः शरीर को ही आत्मा मान लेना उपयुक्त है। इससे भिन्न वस्तु की कल्पना निरर्थक है। इस शंका का समाधान निम्न प्रकार से किया गया है—यदि शरीर को ही आत्मा मानेंगे तो मृत शरीर में भी इसका व्यभिचार होगा। अर्थात् चैतन्य आत्मा का स्वभाव है और

ज्ञान आत्मा का गुण है। मृत शरीर में चैतन्य का सर्वथा अभाव होता है। अतः शरीर आत्मा नहीं हो सकता। ज्ञान गुण का अभाव जीवित और मृत दोनों प्रकार के शरीर में होता है। जबकि ज्ञान गुण उसमें समवाय सम्बन्ध से अनिवार्य रूपेण होना चाहिए। जिसमें ज्ञान गुण समवाय सम्बन्ध से नहीं रहता वह आत्मा नहीं हो सकता। अतः ज्ञान गुण और चैतन्य धर्म वाला आत्मा स्वतन्त्र सत्तावान् शरीर से सर्वथा पृथक् द्रव्य है। इसके अतिरिक्त शरीर को आत्मा मानने में एक यह भी आपत्ति है कि शरीर के हस्त-पाद आदि अवयवों के विनष्ट हो जाने पर कई बार शरीर का भी विनाश हो जाता है। शरीर को ही आत्मा मान लेने पर आत्मा का भी विनाश हो जाना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं होता। 'अहं' शब्द का प्रयोग भी मृत शरीर द्वारा नहीं किया जाता है। अतः शरीर आत्मा नहीं है।

इन्द्रियां भी आत्मा नहीं हैं। क्योंकि इन्द्रियां भौतिक होती हैं और वे भौतिक गुणों एवं भौतिक विषयों को ही ग्रहण करने में समर्थ होती हैं। समवायत्वेन इन्द्रियों में ज्ञान गुण का अभाव होता है। वे तो केवल भौतिक अर्थ (विषय) को ही ग्रहण करती हैं। इद्रिन्यों में चैतन्य का भी सर्वथा अभाव रहता है। इसके अतिरिक्त इन्द्रियों को ही आत्मा मान लेने पर इन्द्रियों की भांति आत्मा का भी पंचविधत्व स्वीकार करना पड़ेगा। जब कि शरीरान्तर्गत आत्मा एक ही होता है। उपर्युक्त स्थिति में इन्द्रियों के द्वारा ग्रहीत वस्तु का ज्ञान भी भिन्न भिन्न इन्द्रिय के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार का होगा और वह वस्तु एक न होकर दो, तीन, चार या पांच हो सकती है। अर्थात् जिस इन्द्रिय के द्वारा जिस वस्तु का ग्रहण किया जायगा वह वस्तु तदिन्द्रिय जनित ज्ञानरूप होगी। उसके पश्चात् दूसरी इन्द्रिय द्वारा उसी वस्तु का ग्रहण किए जाने पर तज्जनित ज्ञान भी भिन्न प्रकार का होगा और उस ज्ञान के आधार पर वही वस्तु प्रथम इन्द्रिय द्वारा ग्रहीत वस्तु से सर्वथा भिन्न प्रतीत होगी। इसी भांति तृतीय इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किए जाने पर पुनः उसमें भिन्नता की प्रतीति होगी। इस प्रकार एक ही वस्तु भिन्न इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किए जाने पर उसमें द्वैविध्य, त्रैविध्य, चातुर्विध्य या पांचविध्य उत्पन्न हो जायगा। इसके विपरीत जब हम अपनी आँखों से किसी वस्तु को देखते हैं तथा रुचिकर होने पर उसे हम अपने हाथों से छूते भी हैं, आवश्यकता पड़ने पर उसे सूंघते भी हैं और अन्त में उसे खा भी लेते हैं। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में हमारा ज्ञान यह रहता है कि वस्तु एक ही है। किन्तु इन्द्रियों का आत्मत्व स्वीकार कर लेने पर वस्तु का ज्ञान एकात्मक न होकर चतुर्विधात्मक होगा। ऐसी स्थिति में वस्तु का सम्यक् ज्ञान होने में बाधा उत्पन्न होती है। किन्तु इन्द्रिय व्यतिरिक्त शारीरान्तर्गत स्वतन्त्र एक आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करने में यह बाधा या अव्यवस्था उत्पन्न नहीं होती।

प्रायः देखा जाता है कि इन्द्रिय द्वारा किसी वस्तु का ग्रहण किए जाने पर

तज्जनित ज्ञान की स्मृति चिर काल तक बनी रहती है। किंचित् कालोपरान्त उस इन्द्रिय के नष्ट हो जाने पर या इन्द्रियोपघात हो जाने पर भी तज्जनित ज्ञान की स्मृति बनी रहती है। इन्द्रिय को ही आत्मा मान लिया जाय तो इन्द्रिय का विनाश हो जाने पर तज्जनित ज्ञान का भी विनाश हो जाना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। इन्द्रियोपघात के अनन्तर भी आत्मा में तज्जनित ज्ञान की स्मृति सुरक्षित रहती है। अतः इन्द्रिय से भिन्न आत्मा एक स्वतन्त्र द्रव्य है।

इसी प्रकार अनुभव से यह सिद्ध है कि एक इन्द्रिय का प्रभाव दूसरी इन्द्रिय पर भी पड़ता है। उदाहरणतः अपने समीपस्थ व्यक्ति को रसगुल्ला खाता हुआ देखकर देखने वाले उस व्यक्ति के मुख से लालास्राव होने लगता (लार टपकने लगती) है। इससे प्रतीत होता है कि एक इन्द्रिय का प्रभाव दूसरी इन्द्रिय पर भी पड़ता है। इसका कारण यह है कि जिसके मुख से लालास्राव होने लगता (लार टपकने लगती) है उसने पूर्व में कभी रसगुल्ले का आस्वादन किया है। जिसका स्मरण उसे पुनः रसगुल्ला देखने पर हुआ। उसे पूर्व में आस्वादित रसगुल्ले के मधुर रस के कारण ही वर्तमान में उसी के आस्वादन का पुनः स्मरण हो आया। ऐसी स्थिति में प्रथमावस्था में अनुभवकर्ता एवं बाद में स्मरणकर्ता का एक होना आवश्यक है। इन्द्रियों को आत्मा मानने में एतद्विध अनुभूतिजन्य स्मृति असम्भव है। क्योंकि जो इन्द्रिय अनुभवकर्ता होगी उसे ही स्मरणकर्ता भी होना चाहिए। अतः ऐसी स्थिति में एक इन्द्रिय का प्रभाव दूसरी इन्द्रिय पर नहीं पड़ना चाहिए। किन्तु अनुभवकर्ता एवं स्मरणकर्ता आत्मा एक होने से ऐसा होना संभव है। अतः आत्मा इन्द्रियों से सर्वथा भिन्न द्रव्य है। इन्द्रियों में आत्मत्व या चैतन्य स्वीकार नहीं किया जा सकता।

अब पुनः यह शंका होती है कि यदि शरीर और इन्द्रियों को आत्मा मानने में व्यवधान होता है तो मन को ही आत्मा मान लेना चाहिए। क्योंकि मन नित्य होता है और उसी के संयोग से इन्द्रियां अपने विषयों को ग्रहण करने में प्रवृत्त होती हैं। अतः मन को ही आत्मा स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है। इसके समाधान के लिए कहा गया है कि मन को भी आत्मा स्वीकार नहीं किया जा सकता। यद्यपि मन नित्य है, किन्तु आत्मा के लिए केवल नित्यत्व होना ही आवश्यक नहीं है। मन अणुरूप होता है और अणु द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं होता। अतः मन भी प्रत्यक्ष द्रव्य नहीं है। जिन द्रव्यों में इन्द्रिय गोचरता होती है वे ही प्रत्यक्ष द्रव्य कहलाते हैं। अर्थात् इनका ज्ञान देखकर, सुनकर, सूंघकर, स्पर्शकर अथवा चखकर किया जा सकता है। इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्षजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। बहिर्द्रव्य प्रत्यक्ष के लिए उनमें महत् परिमाण तथा उद्भूतरूपत्व का होना अनिवार्य है। परमाणु और द्व्यणुक अप्रत्यक्ष होते हैं। इसके बाद से त्रसरेणु आदि प्रत्यक्ष होते हैं। क्योंकि उनमें महत्

और उद्भूतरूपत्व दोनों विद्यमान रहते हैं। आत्मा मानस प्रत्यक्ष होता है। मन अणु-रूप होने से प्रत्यक्ष नहीं है। यदि मन को ही आत्मा मान लिया जाय तो आत्मा में होने वाले समस्त दुःख-सुख, इच्छा-द्वेष, आदि गुण मन के भी हो जायेंगे। किन्तु मन का प्रत्यक्ष नहीं होने से उसमें विद्यमान सुख-दुःख आदि का भी प्रत्यक्ष नहीं होगा। इससे बड़ी विडम्बना उत्पन्न हो जायगी। अतः मन में आत्मत्व सिद्धि नितान्त असम्भाव्य है। आत्मा ज्ञानवान् मन से पृथक् एक स्वतन्त्र द्रव्य है।

"इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः।" (वै० द० ३।१।२)

अर्थात् इन्द्रिय तथा उसके गन्धादि विषयों में यह चक्षु है, यह रूप है इस प्रकार का ज्ञान इन्द्रिय तथा विषय से भिन्न प्रकार के द्रव्य की सिद्धि में हेतु है। जिस प्रकार घट निर्माण प्रक्रिया के साधनभूत दंड, कुलाल, चक्र, मिट्टी, पानी आदि का प्रयोग करने वाला इन साधनों से सर्वथा भिन्न होता है उसी प्रकार ज्ञान के साधनभूत चक्षु आदि इन्द्रियों का प्रेरक भी उन इन्द्रियों से भिन्न है, क्योंकि जो प्रेरक है वह साधनों से भिन्न होता है, यह नियम है। इस नियम के अनुसार जो चक्षु आदि इन्द्रियों को रूप आदि विषयों में प्रेरित करता है वह एक स्वतन्त्र सत्तावान् द्रव्य है। वही आत्मा शब्द से व्यवहृत होता है।

सामान्यतः आत्मा दो प्रकार का होता है—जीवात्मा और परमात्मा। सर्व शरीरों में अवस्थित, शरीर के माध्यम से समस्त कर्मों का कर्ता तथा कर्म फल का भोक्ता जीवात्मा ही होता है। यह जीवात्मा सुख-दुःख आदि के ज्ञान का समवाय सम्बन्ध से अधिकरण, अल्पज्ञ तथा अल्प शक्ति वाला होता है। इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख आदि आध्यात्मिक गुणों का आश्रय यह जीवात्मा ही है। यह प्रति शरीर भिन्न भिन्न होता है तथा नित्य और विभु होता है। आत्मा जब शरीर, इन्द्रिय और मन से संयुक्त होकर विविध योनियों में भ्रमित होता है तब वह जीवात्मा संज्ञा को धारण करता है। कर्मों का कर्ता एवं कर्मफल का भोक्ता होने से वह जीवात्मा बन्धन और मोक्ष के योग्य होता है। परमात्मा इससे भिन्न सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, नित्य, ज्ञान का अधिकरण 'ईश्वर' कहलाता है। वह नित्य, व्यापक तथा एक होता है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द रहित होने से वह बाह्य प्रत्यक्षगम्य नहीं है। सुख-दुःख आदि से परे होने के कारण इसका आन्तर (मानस) प्रत्यक्ष भी सर्वथा असम्भव है। अतः अनुमान एवं आप्त वचन ही ईश्वर की सत्ता में प्रमाणभूत होते हैं। संसार में जितने भी कार्य द्रव्य उपलब्ध होते हैं उनका कोई न कोई कर्ता अवश्य होना चाहिए। बिना कर्ता के कार्य द्रव्यों की उत्पत्ति असम्भावित है। इसी भाँति द्व्यणुक बीजों के उत्पन्न होने वाले अंकुरों आदि का भी कोई कर्ता अवश्य होना चाहिए। मनुष्य की शक्ति इनके मूल निर्माण या मूल उत्पत्ति में सर्वथा असमर्थ है। अतः ईश्वर ही इनका कर्त्ता है। इस तथ्य की पुष्टि

स्वतः हो जाती है। वह ईश्वर ही सम्पूर्ण जगत् का कर्ता, नियन्ता और संहारकर्ता है। इस तरह जीवात्मा और परमात्मा भेद से आत्मा दो प्रकार का होता है। जीवात्मा और परमात्मा सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह निकलता है कि अनित्य ज्ञान और इच्छादि का समवायी कारण जीवात्मा तथा नित्य ज्ञान और इच्छा आदि का अधिकरण परमात्मा (ईश्वर) है।

आयुर्वेद सम्मत आत्मा और उसके भेद

आयुर्वेद में आत्मा के विषय में उतना ही विशद एवं व्यापक विवेचन किया गया है जितना दर्शन शास्त्रों में किया गया है। किन्तु दोनों के उद्देश्य में अन्तर है। दर्शन शास्त्रों में आत्म तत्व का विवेचन उसकी मुक्ति या कैवल्य के लिए किया गया है। संसार की विविध योनियों में भ्रमित होने वाले आत्मा को कर्म बन्धन से छुटकारा दिलाने के लिए उसके स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। किन्तु आयुर्वेद में आत्म तत्व का विवेचन भिन्न प्रयोजन से किया गया है। आयुर्वेद का मूल उद्देश्य स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य की रक्षा करना और आतुर पुरुष के विकार का प्रशमन करना है। इसके लिए आत्मा, सत्व और इन्द्रियों से अधिष्ठित शरीर ही अभिप्रेत है। यही स्वास्थ्य, रोग और चिकित्सा का विषय है। स्वास्थ्य की रक्षा एवं रोगों के उपशमन के लिए आयुर्वेद में आत्मा रहित शरीर, सत्व और इन्द्रियों का कोई महत्व नहीं है। इसी भाँति शरीर, सत्व और इन्द्रियों से रहित आत्मा का भी कोई महत्व नहीं है। क्योंकि केवल आत्मा या केवल शरीर का रोगग्रस्त होना संभव नहीं है। अतः उसकी चिकित्सा का भी प्रश्न नहीं उठता। यद्यपि आयुर्वेद में आत्मा की मुक्ति या कर्म बन्धन से छुटकारे अथवा जन्म-मरण से छुटकारे का भी वर्णन है, किन्तु वह प्रसंगवश एवं गौण रूप से है। मुख्य रूप से आत्मा युक्त शरीर की चिकित्सा करना या उसे रोग मुक्त करना ही उद्देश्य है। इसी लिए आयुर्वेद में मोक्ष को विशेष महत्व न देकर धर्म, अर्थ और काम को ही विशेष महत्व दिया गया है। क्योंकि इह लौकिक जन्म में सशरीर आत्मा के लिए ये तीन ही साध्य हैं। इन समस्त कारणों से आयुर्वेद में आत्मा को 'पुरुष' शब्द से व्यवहृत किया गया है। पुरुष शब्द अपने आप में परिपूर्ण एवं सार्थक शब्द है। पुरुष शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार **"पुरि शरीरे शेते वसति इति पुरुषः"** अर्थात् जो शरीर में निवास करता है वह पुरुष है। आयुर्वेदाभिमत आत्मा के लिए यह अर्थ अत्यन्त उपयोगी, महत्वपूर्ण एवं सार्थक है। आयुर्वेद में आत्मा या पुरुष के तीन प्रकार स्वीकृत किए गए हैं। अर्थात् उसके तीन स्वरूप होते हैं—१—परम आत्मा या परम पुरुष, २—आतिवाहिक पुरुष या सूक्ष्म शरीर (लिंग शरीर) युक्त आत्मा, ३—स्थूल चेतन शरीर या कर्मपुरुष।

१—परम आत्मा या परम पुरुष

निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्वभूतगुणेन्द्रियैः ।
चैतन्ये कारणं नित्यो दृष्टा पश्यति हि क्रियाः ॥

—चरक संहिता, सूत्रस्थान १/५६

परम आत्मा निर्विकार होता है। वही आत्मा जब सत्व (मन), भूत (पंच महाभूत), गुण (महाभूतों के गुण-शब्द-स्पर्श, रूप, रस, गन्ध या सत्व-रज-तम) और दस इन्द्रियों से युक्त होता है तब वह चैतन्य (शरीर को चेतनता प्रदान करने और ज्ञान प्राप्त करने) में कारण होता है। वह आत्मा नित्य है, समस्त चराचर जगत का दर्शक है और क्रियाओं को देखता है।

आत्मा शब्द का व्यवहार सामान्यतः परमात्मा एवं जीवात्मा दोनों के लिए किया जाता है। यहाँ निर्मल शुद्ध स्वरूपवान् आत्मा ही परमात्मा शब्द से अभिप्रेत है। यह परमात्मा स्वभावतः निर्विकार होता है। निर्विकार का अर्थ है निर्दोष अर्थात् विकार रहित या दोष रहित। विकार का अभिप्राय यहां षड् विकारों से है। यथा जन्म, मरण, अस्तित्व, विपरीत परिणाम, वृद्धि और क्षय। आत्मा इन छः प्रकार के विकारों से रहित होता है, अतः निर्विकार माना गया है। निर्विकार का अभिप्राय निर्दोष भी होता है। राग-द्वेष आदि द्वन्द्व भाव दोष कहलाते हैं। इन राग-द्वेष आदि प्रत्येक प्रकार के द्वन्द्वों से रहित होने के कारण उसे निर्दोष भी कहा जा सकता है।

यह परम आत्मा ज्ञानवान्, चैतन्यवान्, दृष्टा और नित्य होता है। यह अद्वितीय, एक और जन्म-मरण से रहित होता है। इसकी कभी उत्पत्ति नहीं होने से अनादि तथा कभी अन्त (विनाश) नहीं होने से अनन्त होता है। यह परम आत्मा अतीन्द्रिय और व्यापक है। यह किसी लक्षण से वेद्य नहीं है, क्योंकि किसी वैशिष्ट्य युक्त वस्तु का ही किसी लक्षण विशेष द्वारा ग्रहण सम्भव है, किन्तु आत्मा तो निर्विशेष है। अतः वह किसी लक्षण विशेष द्वारा ग्राह्य नहीं है। यह चैतन्यवान् ज्ञानरूप परमात्म तत्व सत्वरूप उपाधि वैशिष्ट्य से युक्त होकर जगत की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण बनता है तथा विविध देव, तिर्यञ्च, मनुष्य आदि योनियों को प्राप्त कर स्वपूर्वोपार्जित कर्मों के अनुसार शरीर को धारण कर इतस्ततः भ्रमित होता है। जब वह आत्मा एतद्विध शरीरों को धारण करता है तो वह परमात्मा रूप न होकर जीवात्मा शब्द से व्यवहृत एवं बोधित होता है।

आत्मा नित्य होता है, किन्तु तदाश्रित ज्ञान अनित्य होता है। यदि यह शंका की जाय कि आत्मा का गुण ज्ञान जब अनित्य होता है तो उस ज्ञान गुण का अधिकरण गुणी आत्मा भी अनित्य है। किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि शब्द गुण के अनित्य होते

हुए भी उसका आश्रय गुणी (धर्मी) आकाश अनित्य नहीं होता। अतः आत्मा नित्य होता है। उसमें स्वभावतः उत्पत्ति और विनाश का अभाव होने से उसका नित्यत्व स्वतः सिद्ध है। इसी लिए जन्म धारण करने के अनन्तर अनुभूतिजन्य विषयों का यह आगामी जन्मान्तर में अनुसंधान करता है, जिससे वह नवजन्म में प्राप्त अज्ञात विषयों को भी ग्रहण करने में समर्थ होता है। जैसे बालक का जन्म होने के पश्चात् माताएं बालक का मुख अपने स्तन में लगाती हैं। बालक का मुख स्तन में लगने पर वह स्वतः ही स्तन को चूसने लगता है और उसमें से स्रवित होने वाले दूध को पीने लगता है। इसके लिए बच्चे को शिक्षा देने की आवश्यकता नहीं पड़ती और वह बिना शिक्षा दिए ही स्तन आचूषण एवं दुग्धपान प्रारम्भ कर देता है। इसका मुख्य कारण यह है कि उस बच्चे ने जब इससे पूर्व जन्म धारण किया था तब भी इसी भांति माता के स्तन का आचूषण एवं दुग्धपान किया था। उसी अनुभव के आधार पर वह आगामी जन्मान्तर में भी उसी भांति की क्रिया करता है। यह पूर्वजन्म कृत संस्कार कहलाता है। यदि आत्मा को अनित्य मान लिया जाय तो उसे पूर्व जन्म में अनुभूत विषयों का स्मरण नहीं होगा। उस स्मृति के अभाव में बालक की दुग्धपान की स्वतः प्रवृत्ति एवं स्वसम्पादित क्रिया का होना सम्भव नहीं है। क्योंकि उसमें शिक्षा का अभाव है। अतः इससे आत्मा का नित्यत्व सिद्ध है।

आत्मा को 'दृष्टा' बतलाया गया है। दृष्टा का सामान्य अर्थ होता है देखने वाला। अभिप्राय यह है कि चैतन्यवान् और ज्ञानवान् आत्मा संसार के समस्त पदार्थों और उनकी समस्त पर्यायों को सर्वविध रूपेण जानता व देखता है। जिस प्रकार कोई योगी या आप्त पुरुष जिसने राग-द्वेष आदि भावों से मुक्त होकर वैराग्य धारण कर लिया है तथा निर्लिप्त भाव से संसार में स्थित है, तटस्थ भावेन वह संसार की समस्त वस्तुओं का अपने ज्ञान चक्षुओं द्वारा अवलोकन करता है। राग-द्वेष आदि भाव नहीं होने के कारण वह न किसी के प्रति अनुरक्त रहता है और न किसी से घृणा करता है, किन्तु सामान्य रूप से निर्लिप्त भावेन वह सभी को जानता व देखता है। वस्तुओं के एतद्विध दर्शन में उसे न सुखानुभूति होती है और न दुःखानुभूति। उसी भांति आत्मा भी संसार की समस्त वस्तुओं को देखता है। इसीलिए आत्मा के लिए 'दृष्टा' विशेषण का प्रयोग किया गया है। संसार के समस्त द्रव्यों के प्रति समत्व दृष्टि रखने के कारण वह दृष्टा आत्मा ही परमात्मा कहलाता है। यह परमात्मा सत्व और शरीर से पृथक् होने पर भी सत्व तथा शरीर के सम्पर्क में आता है और राशि पुरुष में चैतन्य का कारण बनता है। तब वही एक परमात्मा, जीवात्मा संज्ञा का धारक बन जाता है और जीवात्मा संज्ञा से व्यवहृत होता है। आत्मा की उपर्युक्त दोनों ही

अवस्थाओं (परमात्मा एवं जीवात्मा) में चैतन्य की स्थिति प्रत्यात्मनियत लक्षण के रूप में होती है। सामान्यतः "चेतनस्य भावः चैतन्यम्" अर्थात् चेतन का भाव ही चैतन्य अथवा चेतनता कहलाती है। यह चेतना यद्यपि स्वयं प्रकाशरूपा है, किन्तु पर प्रकाशिनीय है। सत्वादि के योग से आत्मगत चेतनता प्रकाशित होती है। जैसे राशि पुरुष में प्राणापानोन्मेषनिमेष आदि लक्षणों की अभिव्यक्ति तब ही होती है जब वह राशिपुरुषगत आत्मा शरीरगत मन, इन्द्रिय तथा महाभूतों के गुण शब्द आदि विषयों के सम्पर्क में आता है। तब चेतना का प्रकाश तथा उससे भौतिक विषयों की ज्ञानोपलब्धि होती है। इस प्रकार आत्माश्रित इन्द्रिय द्वारा विषयों के सन्निकर्ष से जो ज्ञान समुत्पन्न होता है वह आत्म स्वरूप भूत ज्ञान से भिन्न है। क्योंकि इस ज्ञान में प्रथम आत्मा का मन के साथ संयोग, होता है, तदनन्तर आत्मसंयुक्त मन का इन्द्रियों के साथ और मन संयुक्त इन्द्रिय का अपने विषय के साथ संयोग होता है। इसके पश्चात् ज्ञान की समुत्पत्ति होती है। भौतिक विषयों के ज्ञान का यही समुत्पत्ति क्रम है। ये मन और इन्द्रिय जड़ होने के कारण विषयों में स्वतः प्रवृत्त नहीं हो सकते। किन्तु आत्मा के संयोग और तज्जनित प्रेरणा से प्रवृत्त होते हैं। इस प्रकार आत्मा द्वारा विषयों में प्रेरित किए गए मन और इन्द्रियाँ आत्माधिष्ठित या आत्माश्रित कहलाती हैं।

उपर्युक्त रूप से आत्माश्रित हुई चक्षु आदि इन्द्रियों का प्रत्येक रूप आदि विषयों के साथ संयुक्त, संयुक्त समवाय, संयुक्तसमवेत समवाय, आदि सन्निकर्ष द्वारा विषयों का जो ग्रहण व ज्ञान होता है वह जन्य (उत्पत्तिशील) होने से आत्मा के स्वरूप ज्ञान से सर्वथा भिन्न होता है। अर्थात् नित्य आत्मा का स्वरूपभूत ज्ञान इन्द्रियजन्य ज्ञान से सर्वथा भिन्न होता है और जन्य ज्ञान वाला होने के कारण जीवात्मा चेतन नहीं, किन्तु चिद्रूप होने से चेतन और जन्य ज्ञान का साक्षी या दृष्टा है। इस अभिप्राय से उपर्युक्त श्लोक में आत्मा को दृष्टा अर्थात् समस्त क्रियाओं को देखने वाला कहा गया है।

ज्ञः साक्षीत्युच्यते नाज्ञः साक्षी त्वात्मा यतः स्मृतः।
सर्वे भावाः हि सर्वेषां भूतानामात्मसाक्षिकाः ॥

—चरकसंहिता, शारीर स्थान १।८३

जो (ज्ञ) ज्ञाता अर्थात् जानने वाला होता है वही साक्षी होता है, अज्ञ (अज्ञानी) नहीं। आत्मा ही ज्ञ अर्थात् ज्ञाता या जानने वाला है। अतः आत्मा को ही साक्षी माना जाता है। समस्त महाभूतों के समस्तभाव (कार्य) आत्मा की साक्षी में ही होते हैं।

ऊपर आत्मा के लिए दृष्टा विशेषण का प्रयोग किया गया है। यहाँ पर उसी आत्मा को दृष्टा होने के कारण साक्षी बतलाया गया है। वस्तुतः जो दृष्टा होगा

वही साक्षी बन सकता है, अन्य नहीं। सामान्य अर्थ में साक्षी 'गवाह' को कहा जाता है। आत्मा को भी इसी रूप में साक्षी कहा गया है। यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है— **"साक्षीभूतश्च कस्यायं कर्ता ह्यन्यो न विद्यते ?"** अर्थात् जब आत्मा के पूर्व कोई वस्तु नहीं है तब यह गवाह किसका है? इसी प्रश्न का उत्तर उपर्युक्त श्लोक में दिया गया है। बतलाया गया है कि कार्य के पूर्व जो सदा वर्तमान रहता है, वह होने वाले कार्य स्वरूप महाभूतों का साक्षी (गवाह) तो होगा ही। क्योंकि वह सभी की उत्पत्ति को देखता है। आयुर्वेद के मतानुसार **'खादयश्चेतना षष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः'** से पंच महाभूत और आत्मा के संयोग को पुरुष कहते हैं। अतः महाभूतों के समस्त कार्य आत्मा के साक्षित्व में ही सम्पादित होते हैं। इसके अतिरिक्त राशि पुरुष के चतुर्विंशति तत्वों में महदादि भाव आत्मा की साक्षी में ही होते हैं। इस प्रकार संसार के समस्त भावों की उत्पत्ति आत्म साक्षी पूर्वक मानी गई है। अतः आत्मा को साक्षी कहा गया है।

एतद्विध रूपेण आत्मा के लिए दृष्टा, ज्ञ, साक्षी आदि विशेषणों का प्रयोग किया गया है जो सार्थक रूप में प्रयुक्त होने से तद्वाचक पर्याय के रूप में व्यवहृत होते है। आत्मा के इन पर्यायवाचक शब्दों द्वारा आत्मा में ज्ञान के नित्य अस्तित्व का बोध होता है। यहां यह स्मरणीय है कि आत्मा में रहने वाला नित्य ज्ञान उस ज्ञान से सर्वथा भिन्न है जो आत्मा का संयोग होने पर मन और इन्द्रिय के द्वारा समुत्पन्न होता है। क्योंकि इन्द्रिय और मानस जन्य ज्ञान समुत्पत्तिशील है तथा भौतिक साधनों एवं विषयों से सम्बन्धित हैं, अतः अनित्य होता है। इसके विपरीत आत्म स्वरूपभूत ज्ञान जो आत्मा में सर्वदा विद्यमान रहता है, पुनः पुनः उत्पत्तिशील नहीं होने से नित्य एवं शाश्वत होता है। आत्मा उस शाश्वत नित्य ज्ञान का आश्रय या अधिकरण है।

अव्यक्तात्मा क्षेत्रज्ञः शाश्वतो विभुरव्ययः।

—चरक संहिता, शारीरस्थान १/६१

वह आत्मा (परमात्मा) अव्यक्त, क्षेत्रज्ञ, शाश्वत, विभु और अव्यय होता है।

आयुर्वेद में 'अव्यक्त' शब्द का व्यवहार आत्मा (परमात्मा) अथवा प्रकृति-पुरुष के लिए किया जाता है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार प्रकृति-पुरुष का संयुक्त स्वरूप ही अव्यक्त कहलाता है और वह अव्यक्त ही सृष्टि की उत्पत्ति का मूल कारण है। सांख्य शास्त्र में केवल प्रकृति को ही सृष्टि का कारण माना गया है और वह प्रकृति ही अव्यक्त पद वाच्य है। किन्तु इसके अतिरिक्त जहां आत्मा के नित्यत्वानित्यत्व (**स नित्यः किमनित्यो निर्दिशतः**) का प्रश्न उत्पन्न होता है वहां अव्यक्त पद से केवल आत्मा का ही ग्रहण होता है और व्यक्त पद से राशि पुरुष लिया जाता है। अव्यक्त पुरुष

नित्य और व्यक्त राशि पुरुष अनित्य होता है। व्यक्त राशि पुरुष का ग्रहण इन्द्रियों के द्वारा होता है और अव्यक्त पुरुष परमात्मा का केवल लिंग अर्थात् लक्षण या अनुमान के द्वारा ही ज्ञान किया जा सकता है। वह अतीन्द्रिय होने से भौतिक इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य नहीं है। महर्षि चरक ने भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है—

व्यक्तमैन्द्रियकं चैव ग्रह्यते तद्यदिन्द्रियैः।
अतोऽन्यत् पुनरव्यक्तं लिंगग्राह्यमतीन्द्रियम् ॥

—चरक, संहिता, शारीर स्थान १/६२

अर्थात् जिसका इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किया जाता है वह व्यक्त और ऐन्द्रियक होता है। इससे भिन्न जो होता है वह अव्यक्त कहलाता है। अव्यक्त अतीन्द्रिय होता है और केवल लिंग (लक्षण या अनुमान) के द्वारा ही वह ग्राह्य होता है।

प्रस्तुत प्रकरण में अव्यक्त पद का प्रयोग परमात्मा के लिए ही किया गया है, क्योंकि वह इन्द्रियातीत (अतीन्द्रिय), इन्द्रियागोचर (इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य) और इन्द्रियों के द्वारा अज्ञेय है। वह परमात्मा प्रकृति तथा उससे उत्पन्न द्रव्य जिन्हें क्षेत्र कहा जाता है उनका ज्ञाता होने से क्षेत्रज्ञ कहलाता है। वह उत्पत्ति और विनाश से रहित है, अनादि निधन है, अतः शाश्वत माना जाता है। वह सर्वगत एव सर्वत्र व्यापक होने से विभु कहलाता है तथा उसका कभी ह्रास या क्षय (व्यय) नहीं होता। अतः वह अव्यय होता है। इस प्रकार परम पुरुष या परम आत्मा अव्यक्त, क्षेत्रज्ञ, शाश्वत, विभु, अव्यय आदि विशेषणों से युक्त होता है।

"अनादि पुरुषो नित्यः।" —**चरक संहिता, शारीरस्थान** १/५९
"**प्रभवो न ह्यनादित्वाद् विद्यते परमात्मनः।**" **चरक संहिता, शारीरस्थान** १/५३
विभुत्वमत एवास्य यस्मात् सर्वगतो महान्।" **चरक संहिता, शारीर स्थान** १/८०

आत्मा सम्बन्धी इस तथ्य का प्रतिपादन किया जा चुका है कि परम पुरुष या परमात्मा आदि (उत्पत्ति) और अन्त (विनाश) से रहित होने से अनाद्यनन्त है और अनाद्यनन्त होने से नित्य या शाश्वत है। वह सर्वगत और महान् होने से उसमें व्यापकत्व है।

२--आतिवाहिक पुरुष या सूक्ष्म शरीरयुक्त आत्मा

आयुर्वेद में आतिवाहिक पुरुष या सूक्ष्म शरीर युक्त आत्मा को लिंग शरीर धारक आत्मा भी कहा गया है। आयुर्वेद में लिंग शरीर की कल्पना सर्वथा मौलिक है। अन्य दर्शनों में आत्मा के एतद्विध स्वरूप का विवेचन समुपलब्ध नहीं है। आत्म तत्व के जिज्ञासु महर्षियों के अन्तःकरण में जब यह प्रश्न जिज्ञासा के रूप में समुद्भूत हुआ कि आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में कैसे प्रवेश करता है? (**देहात् कथं देहमुपैति चान्यमात्मा**) तब उन्होंने समाधिस्थ होकर अपनी दिव्य दृष्टि के द्वारा इस तथ्य का अवलोकन किया कि भौतिक शरीर के पंचत्व प्राप्ति के अनन्तर आत्मा अपने लिंग

(सूक्ष्म) शरीर के साथ शरीर के बाहर निकलता है और जन्म के समय इसी लिंग (सूक्ष्म) शरीर के साथ संयुक्त होकर नवीन शरीर (गर्भ) में प्रवेश करता है। यह लिंग शरीर अत्यन्त सूक्ष्म होता है। अतः भौतिक चक्षुओं के द्वारा यह दिखलाई नहीं पड़ता। केवल दिव्य दृष्टि के द्वारा ही उसका स्वरूप दर्शन सम्भव है। इस प्रकार सूक्ष्म शरीर या लिंग शरीर युक्त आत्मा ही आतिवाहिक पुरुष संज्ञा से अभिप्रेत है।

परमात्मा के प्रकरण में इस तथ्य का प्रतिपादन किया जा चुका है कि आत्मा ही विभु अर्थात् सर्वत्र व्यापक है। यद्यपि परम आत्म तत्व एक, विभु और शाश्वत है, किन्तु प्रति शरीर की दृष्टि से ये आत्माएं असंख्य हैं। प्रलय काल में समस्त आत्माएं परम आत्म तत्व में विलीन हो जाती हैं। प्रलय काल समाप्त होने पर नवीन सृष्टि के प्रारम्भ में प्रत्येक आत्मा को एक एक लिंग शरीर या सूक्ष्म शरीर (आतिवाहिक शरीर) प्राप्त होता है। आत्मा के साथ इस शरीर का संयोग अगला प्रलय काल आने तक रहता है। प्रलय काल आने पर इस लिंग शरीर का विनाश हो जाता है। सृष्टि चक्र में इस सूक्ष्म शरीर युक्त आत्मा का ही मृत्यु के समय एक देह से निष्क्रमण तथा अन्य देह में प्रवेश होता है। एक देह से निष्क्रमण तथा अन्य देह में लिंग शरीर युक्त आत्मा के प्रवेश का मुख्य कारण यह है कि आत्मा लिंग शरीर के साथ साथ मन से भी संयुक्त रहता है। उस मन में जन्म जन्मान्तरों की अनेक वासनायें निहित होती हैं। उन्हीं वासनाओं के वशीभूत होकर आत्मा मानस जनित व्यापार के कारण एक शरीर से दूसरे शरीर में आता जाता रहता है। माता और पिता (रज और शुक्र) के संयोग से प्राप्त शरीर को आत्मा जब तक उपभोग के योग्य समझता है तब तक वह उसे धारण किए रहता है और ज्यों ही स्थूल शरीर निरुपभोग्य हुआ त्यों ही आत्मा उस शरीर को छोड़कर अन्य शरीर को धारण कर लेता है। इस सिद्धान्त को वस्त्रों के उदाहरण से भलीभांति समझा जा सकता है। अर्थात् मनुष्य नवीन वस्त्रों को धारण करता है और पुराने वस्त्रों को फैंक देता है। मनुष्य जिन वस्त्रों को धारण करता है वे जब तक उसके उपभोग के योग्य (धारण करने योग्य) होते हैं तब तक वह उन्हें धारण करता है, किन्तु जब वे वस्त्र फट जाते हैं और मनुष्य उन्हें उपभोग के योग्य नहीं समझता तो वह उन्हें उतार कर फैंक देता है। उनके स्थान पर नवीन वस्त्र धारण कर लेता है। इसी भांति यह आत्मा भी निरुपभोग्य शरीर का त्यागकर उपभोग के योग्य नवीन शरीर को धारण कर लेता है।[1] जब आत्मा निरुपभोग्य पुराने शरीर का परित्याग करता

---

१. **वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।**
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

श्री मद् भगवद् गीता

है तो वह शरीर से अकेला ही नहीं निकलता है, अपितु उसके साथ कुछ न कुछ बन्धन अवश्य रहता है। वह है स्वोपार्जित शुभाशुभ कर्मों का बन्धन। शरीर और मन के माध्यम से आत्मा विविध प्रकार के शुभाशुभ कर्मों को करता है। पश्चात् उन कर्मों का फल भोगने के लिए उसे पुनः अन्य शरीर को धारण करना पड़ता है। इस प्रकार जिस शरीर को वह धारण करता है उसमें वह पूर्वोपार्जित कर्मों का फलोपभोग एवं नवीन कर्मों को अर्जित करता है। इस प्रकार यह क्रम सतत चलता रहता है और कर्म बन्धन के वशीभूत आत्मा जन्म-मरण के द्वारा नवीन शरीर को धारण और पूर्व देह का त्याग करता रहता है। यह क्रम अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा। आत्मा को इस जन्म-मरण के चक्कर से और विविध योनियों में उसके परिभ्रमण से मुक्ति तब मिल सकती है जब वह समस्त कर्म-बंधन से मुक्त हो। कर्म बंधन से मुक्ति केवल तपश्चरण के द्वारा कर्मों की निर्जरा (क्षय) से ही सम्भव है।

आत्मा का एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश का उल्लेख आयुर्वेद में स्पष्ट रूप से किया गया है। निम्न श्लोक द्वारा इसकी पुष्टि होती है—

भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति देहात्।
कर्मात्मकत्वान्न तु तस्य दृश्यं दिव्यं विना दर्शनमस्ति रूपम्॥

—चरक संहिता, शारीर स्थान, २/३१

अर्थात् मनोजव (मन के वेग से गमन करने वाला) आत्मा आकाश को छोड़ कर शेष चार महाभूतों के साथ मृत देह से निकल कर पुनः नूतन शरीर को प्राप्त करता है। इस प्रकार जीर्ण देह का त्याग करना और नूतन देह को प्राप्त करना आत्मा का यह कार्य पूर्वजन्मकृत कर्म के अनुसार होता है। आत्मा जब नवीन शरीर में प्रवेश करता है तब उसका रूप दिखलाई नहीं पड़ता। किन्तु जिन लोगों को तपश्चरण अथवा योग द्वारा दिव्य दृष्टि प्राप्त है वे लोग ही आत्मा के एतद्विध रूप को देखने में समर्थ हैं।

यद्यपि आत्मा को निष्क्रिय माना जाता है, किन्तु मन के संयोग से किए गए शुभाशुभ कर्मों का कर्त्ता और उनके परिणाम का उपभोक्ता आत्मा ही है। अतः शुभाशुभ कर्मों के वशीभूत आत्मा स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा रसतन्मात्रा और गन्धतन्मात्रा इन अतीन्द्रिय सूक्ष्म चार महाभूतों और मन के साथ संयुक्त होकर नाना योनियों में गमन करता है।

आत्मा को नानाविध योनियों में गमन कराने वाला मन ही होता है। आकाश क्रियाशून्य है। उसमें अवकाश प्रदान करने के अतिरिक्त अन्य क्रिया का अभाव है। अतः वह गमन क्रिया में आत्मा के साथ गर्भाशय में नहीं जाता है। इसके अतिरिक्त

आकाश विभु अर्थात् सर्वत्र व्यापक होने के कारण पहले से ही वहां विद्यमान रहता है। अतः केवल चार महाभूत ही सर्वदा (सृष्टि से प्रलय पर्यन्त) प्रत्येक आत्मा से सम्बद्ध रहते हैं। सूक्ष्म और अतीन्द्रिय महाभूतों के अतिरिक्त सूक्ष्म शरीर में मन, बुद्धि, अहंकार और सत्व-रज तम ये तीन गुण भी सर्वदा विद्यमान रहते हैं। सत्व गुण के उत्कर्ष से होने वाली मन की सात प्रकृतियां, रजोगुण के आधिक्य से होने वाली छः प्रकृतियां तथा तमोगुण के प्राबल्य से होने वाली तीन चित्त वृत्तियों का समावेश भी इस सूक्ष्म शरीर में होता है। यही सूक्ष्म शरीर **लिंग शरीर** या **आतिवाहिक शरीर** कहलाता है। इस सूक्ष्म शरीर का आत्मा के साथ नित्य (सृष्टि से प्रलय पर्यन्त) स्पर्श सम्बन्ध होने से इसे "स्पृक् शरीर" की संज्ञा भी दी गई है। अन्य ग्रन्थों के अनुसार इस सूक्ष्म शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियों के पाँच सूक्ष्म विषय या शब्द तन्मात्रा आदि पांच तन्मात्रा, प्राण-अपान-उदान-समान-व्यान ये पांच प्राण, एक मन, एक बुद्धि—इस प्रकार कुल मिलाकर १७ तत्व होते हैं। प्रलय आने पर यह शरीर नष्ट हो जाता है—"**लयं गच्छति**"—अतः यह लिंग शरीर कहलाता है।

स सर्वगः सर्वशरीरभृच्च स विश्वकर्मा स च विश्वरूपः।
स चेतनाधातुरतीन्द्रियश्च स नित्ययुक् सानुशयः स एव॥

—चरक संहिता, शारीर स्थान २/३२

अर्थात् लिंग शरीर से युक्त वह आत्मा सर्वत्र व्यापक, समस्त शरीरों को धारण करने वाला, विश्वकर्मा, जगत् रूप, चेतना धातु, अतीन्द्रिय, (इन्द्रियातीत) नित्ययुक् (मन, बुद्धि और इन्द्रियों से सदैव युक्त रहने वाला) तथा सानुशय (सद राग-द्वेष आदि द्वन्द्वों से युक्त) होता है।

सूक्ष्म शरीर से युक्त वह आतिवाहिक आत्मा सर्वत्र गमनशील होने से **'सर्वग'** (**सर्वत्र गच्छतीति सर्वगः**) कहलाता है। समस्त भौतिक स्थूल शरीरों को अपने कर्मानुसार धारण करने से **'सर्वशरीरभृत्'** कहलाता है। स्थूल शरीरों में रहता हुआ वह आत्मा मन की सहायता से विभिन्न सांसारिक कर्मों को करता है, अतः **'विश्वकर्मा'** कहलाता है। यह आत्मा विविध योनियों में भ्रमित होता हुआ अन्यान्य मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि विश्व के विविध रूपों को धारण करता है, अतः **'विश्वरूप'** कहलाता है। यह स्थूल शरीर को चेतना प्रदान करता है, अतः **'चेतना धातु'** कहलाता है। भौतिक इन्द्रियों द्वारा इसका ग्रहण सम्भव नहीं है, अतः **'अतीन्द्रिय'** कहलाता है। यह सदैव (सृष्टि से प्रलय पर्यन्त) मन, बुद्धि और इन्द्रियों से संयुक्त रहता है, अतः **'नित्ययुक्'** कहलाता है। राग-द्वेष, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से युक्त होने से इसे **'सानुशय'**

कहते हैं। मन की सहायता से मनन करने, विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से दर्शन, स्पर्शन आदि ज्ञान प्राप्त करने, कर्मेन्द्रियों की सहायता से विविध कर्म करने एवं नए नए शरीरों का उत्पादक होने के कारण इस आत्मा को हेतु, कारण, निमित्त, कर्त्ता, मन्ता, वेदिता, वेदयिता, बोद्धा, स्प्रष्टा, दृष्टा, घ्राता, श्रोता, रसयिता, गन्ता, साक्षी, वक्ता, घ्राता, ब्रह्मा, बुद्धि का स्वामी, क्षेत्रज्ञ, प्रभव और स्रष्टा कहा जाता है। अपने निर्माण के लिए भूतों का ग्रहण करने वाला होने से इसे 'ग्रहण, भूतों के गुणों से युक्त होने से इसे 'गुणी', भूतों का अधिष्ठाता होने से 'भूतात्मा' एवं इन्द्रिय और मन का अधिष्ठाता होने से अन्तरात्मा कहते हैं। इस प्रकार एक ही आत्मा विभिन्न कारणों से भिन्न-भिन्न संज्ञा वाचक होता है।

भूतानि चत्वारि तु कर्मजानि यान्यात्मलीनानि विशंति गर्भम्।
स बीजधर्मा ह्यपरापराणि देहान्तराण्यात्मनि याति याति ॥

—चरक संहिता, शारीर स्थान २.३७

अर्थ—जो चार महाभूत आत्मा में लीन होकर अर्थात् आत्मा के साथ संयुक्त होकर गर्भ में प्रविष्ट होते हैं वे 'कर्मज' कहलाते हैं। अर्थात् अपने द्वारा पूर्वजन्म में उपार्जित शुभाशुभ कर्म के वशीभूत होकर गर्भ में प्रविष्ट होते हैं। यह बीजधर्मा (सूक्ष्म कारण भूत) आत्मा चेतना धातु रूप आत्मा में जाती हुई विभिन्न शुभाशुभ शरीर में चली जाती है।

यहाँ बीजधर्मा से सूक्ष्म लिंग शरीर का ग्रहण किया गया है। यह बीजधर्मा कर्म के वशीभूत होकर ही चेतना धातु में जब प्रविष्ट होता है तो तत्काल दूसरे शरीर में चला जाता है। जब तक आत्मा मुक्त नहीं होता तब तक वह लिंग शरीर से युक्त रहता है। स्थूल शरीर को छोड़ने के बाद इसी लिंग शरीर से दूसरे नवीन शरीर में प्रवेश करता है। जैसे सूक्ष्म बीज बड़े से बड़े वृक्ष को पैदा करता है वैसे ही सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर को उत्पन्न करता है। इसी तथ्य का प्रतिपादत महर्षि सुश्रुत ने भी अपने निम्न वचन द्वारा किया है—"**क्षेत्रज्ञो, वेदयिता, स्प्रष्टा, घ्राता, दृष्टा, श्रोता, रसयिता, पुरुषः स्रष्टा गन्ता साक्षी धाता वक्ता यः कोऽसावित्येवमादिभिः पर्यायवाचकैर्नामभिरवधीयते दैवसंयोगादक्षयोऽव्ययोऽचिन्त्यो भूतात्मना सहान्वक्ष सत्वरजस्तमोभिर्दैवासुरैरपरैश्च भावैर्वायुनाभिप्रेर्यमाणः गर्भाशयामनुप्रवश्यावितिष्ठते।**"

—सुश्रुत संहिता, शारीर स्थान, अ० ३/४

महर्षियों के उपर्युक्त वचनों से स्पष्ट है कि एक शरीर से अन्य शरीर में संक्रमण करने वाला मूल द्रव्य लिंग शरीर है। स्त्री और पुरुष का संयोग होने पर संभोग (मैथुन) क्रिया द्वारा शुक्र और शोणित का सम्मूर्च्छन होता है। स्त्री के शरीर

(गर्भाशय) में उपर्युक्त प्रकार से शुक्र शोणित का संयोग होने पर तत्क्षण यह सूक्ष्म शरीर ही अपने पूर्व शरीर (मृत शरीर) को छोड़कर उत्पन्न होने वाले नवीन गर्भ के शरीर में प्रवेश करता है। वस्तुतः यदि देखा जाय तो चैतन्यवान् आत्मा सर्व व्यापक है, अतः न तो वह किसी शरीर का त्याग करता है और न ही किसी शरीर में प्रवेश करता है। होता यह है कि सीमित (असर्व व्यापक) सूक्ष्म शरीर ही मन के द्वारा अधिष्ठित होकर पूर्व शरीर का त्याग एवं नवीन गर्भ शरीर में प्रवेश करता है। किन्तु आत्मा मन को भी चैतन्य प्रदान करता है, अतः मन का अधिष्ठाता होने से सर्वत्र आत्मा का ही व्यवहार किया जाता है। अर्थात् मृत्यु और जन्म के समय मन से संयुक्त लिंग शरीर के निष्क्रमण एवं प्रवेश को आत्मा का ही निर्गमन एवं प्रवेश कहा जाता है। इस प्रकार अलक्षित आत्मा मन और लिंग शरीर की सहायता से निरन्तर एक शरीर से अन्य शरीर में संसरण किया करता है। यही '**मनोजव**' कहलाता है। महर्षि चरक ने आत्मा के संसरण में इसी 'मनोजव' शब्द का प्रयोग किया है (देखिए चरक, शारीर २/३१) आत्मा या लिंग शरीर की प्रक्रिया अर्थात् एक शरीर से अन्य शरीर में संक्रमण उसके द्वारा पूर्वजन्म में उपार्जित कर्मों के कारण होता है। लिंग शरीर एवं मन से विमुक्त आत्मा इन समस्त सांसारिक बन्धनों, पुनः पुनः जन्म-मरण के कष्टों एवं संसार की विविध यातनाओं से मुक्त होकर अक्षय मोक्ष पद को प्राप्त करता है। जहां उसे अनन्त सुख की अनुभूति होती है।

३. राशि पुरुष या स्थूल चेतन शरीर

आयुर्वेद में यही राशि पुरुष विभिन्न संज्ञाओं से व्यवहृत होता है। यथा संयोग-पुरुष, कर्म पुरुष, चिकित्स्य पुरुष, जीवात्मा, राशि पुरुष आदि। आयुर्वेद में चिकित्सा शास्त्रोपयुक्त पुरुष से यही राशि पुरुष अभिप्रेत है। आयुर्वेद का मुख्य उद्देश्य आतुर मनुष्यों की चिकित्सा करना है। चिकित्सा केवल शरीर की ही की जाती है। शरीर भी जब सचेतन होता है तब वह चिकित्सा के उपयुक्त होता है। चेतनता रहित अथवा अचेतन शरीर चिकित्सा शास्त्रोपयुक्त स्वीकार नहीं किया गया है। शरीर सचेतन तब होता है जब आत्मा के साथ उसका संयोग होता है। चेतना के बिना यह शरीर पंच महाभूतों का समुदाय मात्र रह जाता है। इस प्रकार पंच महाभूत एवं आत्मा इन छः तत्वों के संयोग से जो यह सचेतन शरीर बनता है वही '**संयोग पुरुष**' कहलाता है। इस ही संयोग पुरुष अथवा सचेतन स्थूल शरीर की चिकित्सा की जाती है तथा यही शरीर चिकित्सा के योग्य होने से '**चिकित्स्य पुरुष**' या '**कर्म पुरुष**' कहलाता है। इस संयोग पुरुष में पृथ्वी, जल, तेज, वायु आकाश और आत्मा इन षड् धातुओं का संयोग होने से वह '**षड्धात्वात्मक पुरुष**' भी कहलाता है।

चिकित्स्य पुरुष या कर्म पुरुष

सत्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत्त्रिदण्डवत् ।
लोकस्तिष्ठति संयोगात्तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥
स पुमांश्चेतनं तच्च तस्याधिकरणं स्मृतम् ।
वेदस्यास्य तदर्थं हि वेदोऽयं संप्रकाशितः ॥

—चरकसंहिता, सूत्रस्थान १/४६-४७

अर्थ-सत्व (मन), आत्मा (चेतना धातु) और शरीर (पांच भौतिक) इन तीनों के संयोग से त्रिदण्ड के समान यह लोक (पुरुष) स्थित है। उसी को पुमान् (पुरुष) कहा गया है। वह पुमान् चेतन होता है और उसे उस चेतना का अधिकरण कहा गया है। उसी के लिए अथर्ववेद का उपवेद यह आयुर्वेद शास्त्र प्रकाशित किया गया है।

यहां पर चिकित्सा शास्त्रोपयुक्त पुरुष का लक्षण बतलाया गया है कि मन, चेतना धातु एवं पाँच महाभूतों के संयोग से जो '**कर्म पुरुष**' उत्पन्न होता है वही चिकित्सा के योग्य है और चिकित्सा शास्त्र से सम्बन्धित सम्पूर्ण आयुर्वेद का प्रकाशन उसी कर्म पुरुष या चिकित्स्य पुरुष के लिए किया गया है। जिस प्रकार किसी तिपाई की स्थिति उसके तीनों पायों की विद्यमानता से ही होती है। एक भी पाये का अभाव होने पर तिपाई का निर्माण किसी प्रकार भी संभव नहीं है उसी प्रकार आत्मा, मन और सेन्द्रिय भौतिक शरीर इन तीनों में से किसी एक का भी अभाव होने पर आयुर्वेद सम्मत चिकित्सा शास्त्रोपयुक्त कर्म पुरुष या चिकित्स्य पुरुष का निर्माण सम्भव नहीं है। अतः चिकित्स्य पुरुष की उत्पत्ति में सत्व, आत्मा और शरीर इन तीनों का संयोग नितान्त अपेक्षित है। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि सम्पूर्ण चिकित्सा इसी पुरुष के अधीन है। इसके अतिरिक्त समस्त प्रकार के कर्म भी इसी पुरुष के अधीन हैं। अर्थात् इस पुरुष के न होने पर किसी भी प्रकार का कर्म सम्पन्न होना सम्भव नहीं है तथा संसार के समस्त प्रकार के कर्म निष्प्रयोजन भूत हो जावेंगे। अतः यह कर्म पुरुष कहलाता है।

संयोग पुरुष अथवा षड् धात्वात्मक पुरुष

"खादयश्चेतना षष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः"

—चरक संहिता, शारीरस्थान १/१५

"अस्मिञ्छास्त्रे पंचमहाभूतशरीरिसमवायः 'पुरुष' इत्युच्यते।"

—सुश्रुत संहिता, शारीरस्थान १/२२

षड्धातवः समुदिताः पुरुष इति शब्दं लभन्ते, तद्यथा-पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं ब्रह्म चाव्यक्तमिति। एत एव च षड् धातवः समुदिताः पुरुष इति शब्दं लभन्ते"

-चरक संहिता, शारीरस्थान ५/४

अर्थ—आकाश आदि पांच महाभूत और छठा चेतना धातु का संयोग ही 'पुरुष' कहलाता है। इस आयुर्वेद शास्त्र में पांच महाभूत और आत्मा के संयोग को ही 'पुरुष' कहते हैं।

छह धातुएं मिल कर पुरुष इस शब्द को प्राप्त करती हैं। जैसे पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश और अव्यक्त ब्रह्म (आत्मा) ये छह धातुएं मिलकर ही 'पुरुष' शब्द को प्राप्त होते हैं।

उपर्युक्त छह धातुओं के संयोग से जिस पुरुष की उत्पत्ति होती है वह '**संयोग पुरुष**' अथवा '**षड् धात्वात्मक पुरुष**' कहलाता है। यह संयोग पुरुष ही आयुर्वेद सम्मत एवं चिकित्सा शास्त्रोपयुक्त स्वीकृत किया गया है। आयुर्वेद में प्रतिपादित समस्त क्रियाएं इसी संयोग पुरुष को लक्ष्य करके वर्णित की गई हैं। इस पुरुष की ही चिकित्सा की जाती है तथा यही पुरुष चिकित्सा कर्म फल का आश्रय है। प्रस्तुत प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि सत्व, आत्मा और शरीर का उपर्युक्त प्रकार का संयोग जंगम प्राणि मात्र में पाया जाता है और इस लक्षण के अनुसार प्राणि मात्र पुरुष शब्द वाच्य है। तथापि चरक, सुश्रुत आदि महर्षियों द्वारा उपदिष्ट आयुर्वेद का निर्माण (अभिव्यक्ति) प्रमुख रूप से मनुष्य को ही लक्ष्य करके किया गया है। इसके अतिरिक्त सृष्टि के समस्त पदार्थ मनुष्य के उपकरण भूत हैं तथा मात्र उन्हीं के लिए उनका निर्माण किया गया है। अतः मनुष्य के लिए मनुष्यातिरिक्त समस्त पदार्थ उसके उपकरण हैं और मनुष्य उन उपकरणों का उपकार्य है। अतः आयुर्वेद द्वारा प्रतिपादित संयोग पुरुष, पुरुष या आत्मा शब्द से मनुष्य (नर-नारी) का ही ग्रहण होता है।

राशि पुरुष

पुनश्च धातुभेदेन चतुर्विंशतिकः स्मृतः ।
मनो दशेन्द्रियाण्यर्थाः प्रकृतिश्चाष्टधातुकी ॥

—चरक संहिता, शारीर स्थान १/१७

बुद्धीन्द्रियमनोऽर्थानां विद्याद् योगधरं परम् ।
चतुर्विंशतिक इत्येष राशिपुरुष संज्ञकः ॥

—चरक संहिता, शारीरस्थान १/३४

अर्थ—पुनः धातु भेद से वह पुरुष चौबीस तत्वों वाला कहा गया है। जिसमें मन, दस इन्द्रियां, अर्थ (पंच महाभूत) तथा अव्यक्त, महान्, अहंकार और पंच तन्मात्राएं ये आठ प्रकृतियाँ सब मिलाकर चौबीस तत्व होते हैं। इसी प्रकार बुद्धि, इन्द्रियाँ, मन और अर्थ तथा इनके योग को धारण करने वाली आत्मा इन सबकी संयुक्त राशि के परिणाम स्वरूप जो पुरुष निर्मित होता है वह **'राशि पुरुष'** संज्ञक होता है।

यह राशि पुरुष पूर्वोक्त चिकित्स्य पुरुष, कर्म पुरुष, संयोग पुरुष तथा षड् धात्वात्मक पुरुष से भिन्न नहीं है, अपितु उपर्युक्त समस्त पुरुष एक ही हैं। उनमें केवल संज्ञा भिन्नता है। आयुर्वेद में इसी पुरुष का स्थान स्थान पर भिन्न भिन्न संज्ञा द्वारा व्यवहार किए जाने के कारण यह भिन्नता प्रतीत होती है। किन्तु किसी भी संज्ञा का व्यवहार करने पर चिकित्सा शास्त्राधिकृत एक ही पुरुष का बोध होता है। एक ही पुरुष की विभिन्न संज्ञाएं होने का कारण यह भी है कि भिन्न-भिन्न दर्शन शास्त्रों ने अपने मन्तव्य को स्पष्ट करने के लिए उसका अलग अलग नामकरण कर दिया। जैसे वैशेषिक दर्शन में पुरुष शब्द की व्याख्या निम्न प्रकार से की गई है—"आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ये पांच महाभूत अर्थात् इन से निर्मित इन्द्रियाँ तथा मन सूक्ष्म शरीर सहित आत्मा (चेतना धातु) इन छह धातुओं के समुदाय (संयोग) को "पुरुष" कहते हैं।

सांख्य दर्शन के मतानुसार तत्वों (धातुओं) का संयोग निम्न प्रकार से व्यक्त किया गया है—"पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, मन, पांच महाभूत, मूल प्रकृति (अव्यक्त), महत्तत्व, अहंकार और पाँच तन्मात्राएं इन चौबीस तत्वों की राशि का संयुक्त परिणाम 'पुरुष' कहलाता है। यहां आत्मा का भी प्रकृति के समान अव्यक्त रूप होने से प्रकृति शब्द से ही ग्रहण कर लिया गया है। इस प्रकार तत्वों से निर्मित पुरुष एक ही है। कहीं पर उसे तीन धातुओं का संयोग बतलाया गया है, कहीं उसे षड् धातुओं का संयोग बतलाया गया है और कहीं उसे चौबीस तत्वों का संयोग माना गया है। पुरुष शब्द की इन अन्यान्य परिभाषाओं में पुरुष के मूल घटक, महाभूत, आत्मा, प्रकृति आदि तत्व पुरुष का धारण (निर्माण) करते हैं। अतः वे धातु शब्द से व्यवहृत किए गए हैं। आचार्य चक्रपाणिदत्त ने भी यही स्पष्टीकरण दिया है—

"पुरुषधारणाद्धातुः"—चरक संहिता, शारीर स्थान १/३ पर चक्रपाणि टीका

इस पुरुष का निर्विकार रूप "परम पुरुष (परम आत्मा) तथा आतिवाहिक पुरुष [सूक्ष्म शरीर युक्त आत्मा] से पृथक् बोध कराने के लिए इसे कर्म पुरुष, चिकित्स्य

पुरुष, संयोग पुरुष, समुदाय पुरुष, राशि पुरुष, षड् धात्वात्मक अथवा चतुर्विंशतिक पुरुष कहते हैं। इनमें पूर्वोक्त पहले के दो पुरुष परम पुरुष एवं आतिवाहिक पुरुष न तो किसी प्रकार का कर्म कर सकते हैं, न ही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और न ही किसी कर्म फल के अधिकारी हैं। इन दोनों पुरुषों में रोग के अधिष्ठानभूत भौतिक शरीर का अभाव होने से इनकी चिकित्सा भी सम्भव नहीं है। अतः ये दोनों पुरुष चिकित्सा शास्त्राधिकृत एवं चिकित्सा शास्त्रोपयुक्त नहीं माने गए हैं। इन दोनों पुरुषों के अतिरिक्त सचेतन स्थूल शरीर समस्त प्रकार के कर्म कर सकता है, इसलिए उसे कर्म पुरुष कहा गया है। इस शरीर में ही अनेक प्रकार के रोग होते हैं। रोगोपशमन हेतु उसी सचेतन शरीर की चिकित्सा की जाती है। अतः इसे **'चिकित्स्य पुरुष'** कहा गया है। इसमें छह धातुओं का संयोग या समुदाय होने से यह **'संयोग पुरुष' 'समुदाय पुरुष'** अथवा **'षड् धात्वात्मक पुरुष'** कहा जाता है। यह चौबीस तत्वों की राशि से युक्त होने से **'राशि पुरुष'** अथवा **'चतुर्विंशतिक पुरुष'** कहलाता है। इस प्रकार यह एक ही सचेतन स्थूल भौतिक शरीर युक्त पुरुष विभिन्न स्थिति के कारण भिन्न भिन्न संज्ञा को धारण करता है।

देहातिरिक्त आत्मा का अस्तित्व

समस्त दर्शन शास्त्रों में चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त यह तथ्य एक मत से स्वीकार किया गया है कि आत्मा का अस्तित्व सदैव देहातिरिक्त रहा है। अर्थात् आत्मा और शरीर ये दोनों सदा भिन्न भिन्न माने गए हैं। स्थूल रूप से प्रत्यक्षतः यह देखा गया है कि यह सचेतन शरीर जब आत्मा से शून्य हो जाता है तो शरीर की समस्त क्रियाएं समाप्त हो जाती हैं और शरीर मृत हो जाता है। जब तक शरीर में आत्मा का निवास रहता है तब तक ही शरीर जीवित माना जाता है। यदि देहातिरिक्त आत्मा का अस्तित्व स्वीकार न किया जाय तो शरीर में से आत्मा का निर्गमन होने अथवा शरीर के मृत होने के पश्चात् भी शरीर के द्वारा क्रियाएं सम्पादित की जानी चाहिए तथा जब तक भौतिक स्थूल शरीर का विनाश नहीं कर दिया जाता अथवा उसे जला नहीं दिया जाता तब तक उसमें चेतना एवं अन्य क्रियाएं विद्यमान होनी चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं होता। अतः इससे देहातिरिक्त आत्मा का अस्तित्व स्वतः सिद्ध हो जाता है। इसके अतिरिक्त देहातिरिक्त आत्मा के सद्भाव निरूपण में निम्न प्रमाण प्रस्तुत किए गए हैं—

करणान्यान्यता दृष्टा कर्त्ता भोक्ता स एव तु।
कर्त्ता हि करणैर्युक्तः कारणं सर्वकर्मणाम्—॥
अहंकारः फलं कर्म देहान्तरगतिः स्मृतिः।

विद्यते सति भूतानां कारणे देहमन्तरा ॥
निमेषकालाद् भावानां कालः शीघ्रतरोऽत्यये ।
भग्नानां च पुनर्भावः कृतं नान्यमुपैति च ॥
मतं तत्वविदामेतत् यस्मात्तस्मात् स कारणम् ।
क्रियोपभोगे भूतानां नित्यः पुरुष संज्ञकः ॥

—चरक संहिता, शारीरस्थान १/४८-५१

अर्थ-इन्द्रियों की अन्यान्यता स्पष्ट है। अर्थात् ज्ञान के द्वारभूत इन्द्रियां अनेक हैं— यह स्पष्ट है। किन्तु कर्त्ता तथा भोक्ता वही एक आत्मा है। इस प्रकार समस्त कर्मों का कारण करणों (इन्द्रियों) से युक्त कर्त्ता आत्मा ही है। अहंकार, कर्म, कर्म-फल, देहान्तर गमन, विगत भावों का स्मरण इन सब में देह के अतिरिक्त कोई अन्य कारण है, और वह कारण केवल आत्मा ही है। भावों के विनाश में निमेष (पलक का झपकना) काल से भी शीघ्रतर काल कारण है। भग्न (टूटे हुए स्थानों) का पुनः संरोहण हो जाता है। एक व्यक्ति के द्वारा किए गए कर्मों का फल कोई दूसरा नहीं भोगता। अतः इन सब कारणों से तत्वविद् विद्वानों का मत है कि प्राणियों के क्रियो-पभोग में वह आत्मा ही कारण है और वह आत्मा नित्य एवं पुरुष संज्ञक है।

उपर्युक्त प्रमाण के द्वारा देहातिरिक्त आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया गया है। जो लोग शरीर और आत्मा को अभिन्न मानते हैं अथवा इन्द्रियों एवं आत्मा का एकत्व प्रतिपादित करते हैं उनके मत का खंडन उपर्युक्त प्रमाण द्वारा किया गया है। देह एवं आत्मा की अभिन्नता को कदापि स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि शरीर में भग्न हुए अवयवों का सन्धान अथवा संरोहण क्रिया शरीर की सचेतनावस्था में ही सम्भव है। मृत शरीर में जब चेतना (आत्मा) का अभाव रहता है तब भग्न अवयवों का सन्धान या संरोहण सम्भव नहीं है। अतः इससे स्पष्ट है कि शरीर से अतिरिक्त भी भिन्न कोई द्रव्य है जो उपर्युक्त क्रियाविधि में कारण है। वह द्रव्य केवल आत्मा ही है। इसके अतिरिक्त इन्द्रियों को भी आत्मा स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि इन्द्रियां स्वयं ज्ञानरूप अथवा ज्ञान स्वभाव वाली नहीं हैं। ज्ञान स्वभाव वाला तो मात्र आत्मा ही है। इन्द्रियाँ तो ज्ञान के साधन हैं। वे आत्मा को ज्ञान कराने में सहायक होती हैं। अर्थात् आत्मा को इन्द्रियों के माध्यम से ही ज्ञान होता है। किन्तु इन्द्रियाँ स्वयं ज्ञानरूप नहीं हैं। क्योंकि यह प्रत्यक्षतः देखा जाता है कि किसी समय आत्मा को किसी इन्द्रिय के द्वारा किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त हुआ। कलान्तर में किसी कारण वश उस इन्द्रिय के नष्ट हो जाने पर पूर्व समय में उसके द्वारा प्राप्त किया गया ज्ञान एवं आत्मा दोनों को भी नष्ट हो जाना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं होता। उस इन्द्रिय

के द्वारा पूर्वकाल में उपार्जित ज्ञान की स्मृति उस इन्द्रिय के विनष्ट हो जाने पर भी आत्मा को सतत बनी रहती है। इसके अतिरिक्त इन्द्रियां भौतिक (महाभूतों से समु-त्पन्न) एवं नाशवान हैं, जबकि आत्मा अनादि एवं अविनाशी है। अतः इन्द्रियों का आत्मत्व स्वीकार नहीं किया सकता।

इस प्रकार आत्मा देह और इन्द्रियों से व्यतिरिक्त एक स्वतंत्र द्रव्य है जो नित्य, अव्यक्त, क्षेत्रज्ञ, विभु और अव्यय है। आयुर्वेद शास्त्र में वह 'पुरुष' शब्द द्वारा अभिहित एवं प्रतिपादित है।

आत्मा के लक्षण

प्राणापानौ निमेषाद्या जीवनं मनसो गतिः।
इन्द्रियान्तरसंचारः प्रेरणं धारणं च यत् ॥
देशान्तरगतिः स्वप्ने पंचत्वग्रहणं तथा।
दृष्टस्य दक्षिणेक्ष्णा सव्येनावगमस्तथा ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः।
बुद्धि स्मृत्यहंकारो लिंगानि परमात्मनः ॥

—चरकसंहिता, शारीरस्थान अ० १, ६९-७१

"इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुखज्ञानान्यात्मनो लिंगमिति।"

—न्या द० १।१।१०

"प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छा प्रयत्नाश्चात्मनो लिंगानि।"

—वै० द० ३।२।४

अर्थ—प्राण, अपान, निमेष, उन्मेष, जीवन, मनोगति, इन्द्रियान्तर संचार या इन्द्रियान्तर विकार, प्रेरणा, धारणा, स्वप्न में देशान्तर गमन, मरण, दाहिनी आँख से देखे हुए विषय का बाईं आँख से ज्ञान, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न, चेतना, धैर्य, बुद्धि, स्मृति, अहंकार ये सब परमात्मा के लक्षण हैं।

जो वायु नासिका के द्वारा श्वास रूप से ग्रहण की जाती है वह 'प्राणवायु' कह-लाती है। शरीर के द्वारा प्राणवायु का ग्रहण तब ही होता है जब वह आत्मा से संयुक्त होता है। आत्मा विरहित शरीर उपर्युक्त प्राणवायु का ग्रहण करने में असमर्थ है। जो वायु नासिका के द्वारा ही निःश्वास के रूप में बाहर निकाली जाती है वह दूषित वायु शरीर के लिए अनुपयोगी एवं अहितकारी होती है। यही वायु 'अपान' कहलाती है। चरक संहिता के टीकाकार आचार्य चक्रपाणिदत्त ने निःश्वास वायु को ही अपान वायु कहा है। यथा'''"प्राणापानौ उच्छ्वासनिःश्वासौ।' आयुर्वेद में सामान्यतः अपान वायु

से शुक्र-पुरीष-मूत्र आदि को नीचे की ओर ले जाने वाली वायु अभिप्रेत है। प्रस्तुत प्रकरण में अपान वायु के दोनों अर्थ ग्रहण किए जा सकते हैं। निमेष और उन्मेष नेत्र के पलक की क्रिया की ओर संकेत करते हैं। अर्थात् आँखों की पलक का बन्द होना **'निमेष'** और पलक का खुलना **'उन्मेष'** कहलाता है। नेत्रों की यह निमेषोन्मेष क्रिया अनैच्छिक रूप से सम्पादित होती है। यह क्रिया तब ही सम्पादित होती है जब शरीर सचेतन होता है। अचेतन शरीर में इस क्रियाद्वय का सर्वथा अभाव रहता है। अतः इन्हें भी आत्मा का लक्षण माना गया है। एक निश्चित कालावधि तक शरीर को चैतन्य प्रदान करना **'जीवन'** कहलाता है। प्रत्येक सचेतन शरीर की एक निश्चित आयु रहती है। उस आयु की कालावधि तक शरीर में आत्मा का निवास रहता है। जब तक शरीर में आत्मा की स्थिति रहती है तब तक उसमें वृद्धि, ह्रास, व्रण रोपण आदि क्रियाएं स्वतः सम्पन्न होती रहती हैं। आत्मा के न रहने पर उपर्युक्त समस्त क्रियाएं अवरुद्ध हो जाती हैं। अतः आत्मा का लक्षण **'जीवन'** बतलाया गया है। **'मनोगति'** आत्मा की स्थिति का ज्ञापक एक प्रमुख लक्षण है। स्वभावतः मन गतिशील एवं चंचल होता है। किन्तु भिन्न भिन्न विषयों के ज्ञानार्जन हेतु आत्मा मन को तत्तत् इन्द्रियों में नियोजित एवं गतिशील रखता है। आत्मा द्वारा प्रदत्त चैतन्य के अभाव में मन स्वतः निष्क्रिय एवं गति शून्य हो जाता है। आत्म संयोग ही उसे गतिशील बनाए रखता है। अतः मनोगति भी आत्मा के ज्ञापक लक्षणों में से एक है। मन जब अन्यान्य विषयों का ग्रहण करने के लिए भिन्न भिन्न इन्द्रियों से संयुक्त होकर तथा वहां से ज्ञान ग्रहण कर आत्मा को पहुँचाता है तब एक इन्द्रिय से अन्य इन्द्रिय में मन संचार का कार्य आत्मा अधिष्ठित होता है। क्योंकि आत्मा जिस विषय का ज्ञान उपलब्ध करना चाहता है वह उस विषय का ज्ञान प्राप्त करने के लिए मन को तत्सम्बन्धी इन्द्रिय के साथ संयोजित करता है। इसी प्रकार वह मन को एक इन्द्रिय से हटा कर दूसरी इन्द्रिय के साथ नियोजित कर देता है। यही **'इन्द्रियान्तर संचार'** कहलाता है जो पूर्णतः आत्माधिष्ठित होता है। इन्द्रियों को अपना विषय ग्रहण करने के लिए प्रेरित करना **'प्रेरणा'** कहलाता है। इन्द्रियों को यह प्रेरणा आत्मा के द्वारा ही प्राप्त होती है। आत्मा शरीर को धारण करता है, अतः वह 'धारण' लक्षणात्मक होता है। स्वप्नावस्था में भिन्न भिन्न देशों की गति करना तथा शरीर से आत्मा के निकल जाने पर शरीर का पंचत्व को प्राप्त करना अर्थात् मृत्यु होना आत्मा का ही लक्षण है। दाहिनी आंख से किसी वस्तु का ग्रहण करने पर बाईं आं : द्वारा भी उसका ज्ञान होना आत्मा का ही लक्षण है। इस प्रकार विभिन्न लक्षणों के द्वारा देहातिरिक्त आत्मा के सद्भाव की पुष्टि होती है।

आत्मा को ज्ञान की प्रवृत्ति

आत्मा ज्ञः करणैर्योगाज्ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते ।
करणानामवैमल्यादयोगाद्वा न वर्तते ॥
पश्यतोऽपि यथाऽऽदर्शे संक्लिष्टे नास्ति दर्शनम् ।
यद्वज्जले वा कलुषे चेतस्युपहते तथा ॥

—चरक संहिता शारीरस्थान १/५३-५४

अर्थ—आत्मा जानने वाला है। करणों (साधनों) के संयोग से उसे ज्ञान होता है। प्रस्तुत प्रकरण में करण शब्द का अभिप्राय मन, बुद्धि तथा पांचों ज्ञानेन्द्रियों से है। आत्मा का संयोग आवश्यकतानुसार जब इन कारणों से होता है तब उसे ज्ञान की प्रवृत्ति होती है। करणों की निर्मलता नहीं होने से अथवा आत्मा के साथ उनका विधिवत् संयोग नहीं होने से आत्मा को ज्ञान की प्रवृत्ति नहीं होती। जैसे मलिन दर्पण में देखने पर भी रूप का दर्शन नहीं होता तथा कलुषित जल में प्रतिबिम्ब दिखलाई नहीं पड़ता उसी भांति मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों के विकृत होने पर अथवा आत्मा के साथ इनका अयोग होने पर आत्मा को ज्ञान नहीं होता है।

न्याय भाष्य में ज्ञानोत्पत्ति के उपर्युक्त क्रम का वर्णन बड़ी सुन्दरता से किया गया है। यथा—**"आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेण इन्द्रियमर्थेन ततो ज्ञानम्।"** अर्थात् सर्व प्रथम आत्मा मन के साथ संयुक्त होता है, मन इन्द्रिय के साथ और इन्द्रिय अपने विषय के साथ साथ संयुक्त होती है, तब आत्मा को ज्ञान की प्रवृत्ति होती है। ज्ञानोत्पत्ति के इस क्रम के अनुसार आत्मा का मन के साथ निकटतम सम्बन्ध रहता है। इन्द्रियों से आत्मा का सीधा सम्बन्ध नहीं होता, अपितु मन के माध्यम से वे आत्मा से संयुक्त होती हैं। मन का आत्मा के साथ भी सीधा सम्बन्ध रहता है और इन्द्रियों के साथ भी। इस प्रकार मन दोनों ओर से अनुबन्धित रहता है।

यद्यपि इन्द्रियों के अभाव में आत्मा को कार्यात्मक ज्ञान का अभाव माना गया है। क्योंकि जो क्रिया जिन भावों के आधीन होती है उन भावों के अभाव में उस क्रिया का होना असम्भव है। जिस प्रकार घट निर्माण कला में दक्ष कुलाल अनेक घटों का निर्माण कर सकता है, तथापि मृत्तिका के अभाव में वह घट नहीं बना सकता। ठीक इसी प्रकार करणों के अभाव में आत्मा को बाह्य विषयों का ज्ञान कैसे हो सकता है? किन्तु बाह्य ज्ञान के न होने से हम आत्मा में ज्ञान का सार्वत्रिक (नितान्त) अभाव नहीं कह सकते। इन्द्रियों और चंचल मन को आत्मा के वशीभूत करके आत्मज्ञ पुरुष अपने अन्तः ज्ञान में स्थिर हो जाते हैं। तब उनको इन्द्रिय और मन के बिना भी संसार के समस्त विषयों का ज्ञान होने लगता है।

प्रस्तुत प्रसंग में एक शंका यह उत्पन्न होती है कि जब आत्मा स्वयं ज्ञानरूप है तथा समस्त पदार्थों का ज्ञाता है तब रात्रि में निद्रावस्था में उसे बाह्य विषयों का ज्ञान क्यों नहीं होता है ? मनुष्य जब सो जाता है तब क्या आत्मा भी सो जाता है ? इसका उत्तर महर्षि सुश्रुत ने बड़े अच्छे ढंग से दिया है—

करणानां तु वैकल्ये तमसाभिप्रवर्धते ।
अस्वपन्नपि भतात्मा प्रसुप्त इव चोच्यते ॥

—सुश्रुत संहिता शारीरस्थान ४

अर्थात् तमोगुण के कारण इन्द्रियों की विकलता होने पर इन्द्रियाँ और मन जब तमोगुण से आवृत हो जाती हैं तब वे अपने विषयों को ग्रहण करने में शिथिल या असमर्थ हो जाती हैं और मनुष्य में निद्रा की प्रवृत्ति होती है। तब शरीर, मन और इन्द्रियों के साथ न सोया हुआ भी जीवात्मा सोया हुआ सा कहा जाता है। अर्थात् केवल इन्द्रियां और मन ही सोते हैं, आत्मा नहीं सोता। किन्तु जिस शरीर में मन और इन्द्रियाँ हैं उसी शरीर में स्थित होने के कारण ही वह आत्मा न सोता हुआ भी उपचार वशात् सोया हुआ सा व्यवहारित होता है। आत्मा स्वयं निर्विकार होने के कारण उसके ऊपर न तो तम का प्रभाव पड़ता है और न उसमें निद्रा की विकृति उत्पन्न हो सकती है। किन्तु व्यवहार में यही कहा जाता है कि आत्मा सोता है। एक दृष्टि से ऐसा कहना उपयुक्त भी है। क्योंकि आत्मा जब अपने शुभाशुभ कर्मों के वशीभूत होकर इस शरीर में निबद्ध होता है तब वह ज्ञान प्राप्त करने के लिए पराश्रयी हो जाता है। अर्थात् बिना मन और इन्द्रियों की सहायता के उसे ज्ञान प्राप्त नहीं होता। जब इन्द्रियां नहीं होती हैं तब आत्मा को ज्ञान की प्रवृत्ति नहीं होती है। इसी प्रकार जब इन्द्रियाँ विकृत हो जाती हैं तब भी ठीक ठीक ज्ञान की प्रवृत्ति नहीं होती है। जब मन और इन्द्रियां तमोगुण के द्वारा आवृत होकर प्रसुप्त हो जाती हैं तब ज्ञान की अनुभूति नहीं होती और मन तथा इन्द्रियों के साथ आत्मा भी प्रसुप्त की भाँति प्रतीत होता है। वस्तुतः वह सोता नहीं है, क्योंकि निद्रावस्था में जब इन्द्रियां समस्त व्यवहार, वाणी एवं चेष्टाओं से विहीन होकर निष्क्रिय पड़ी रहती हैं तब विभिन्न प्रकार के स्वप्नों की प्रवृत्ति होती है। उन स्वाप्निक विषयों का ज्ञान एवं तज्जन्य सुख-दुख का अनुभव आत्मा को होता है, जिसकी स्मृति जाग्रत होने पर भी बनी रहती है।

आत्मा की उत्पत्ति

प्रभवो न ह्यनादित्वाद्विद्यते परमात्मनः ।
पुरुषो राशिसंज्ञस्तु मोहेच्छाद्वेषकर्मजः ॥

—चरक संहिता, शारीर स्थान १/५३

अर्थ—अनादि होने के कारण परमात्मा की उत्पत्ति नहीं होती है, किन्तु मोह, इच्छा, द्वेष, और कर्म के अधीन राशि पुरुष उत्पन्न होता है।

परम आत्मा सदैव अविनाशी, अनन्त एवं अनादि होता है। अतः उसकी उत्पत्ति नहीं होती है। इसके अतिरिक्त राशि पुरुष को उत्पद्यमान एवं नश्वर बतलाया गया है। राशि पुरुष को प्रत्येक जन्म के समय जो आयु प्राप्त होती है उसकी समाप्ति के पश्चात् उसका भौतिक शरीर नष्ट हो जाता है, किन्तु तदन्तर्गत आत्मा का विनाश नहीं होता। क्योंकि भौतिक शरीर के माध्यम से अपने द्वारा उपार्जित कर्मों का फल भोगने के लिए उसे पुनः नवीन शरीर धारण करना पड़ता है। वह आत्मा जब भौतिक शरीर से विरहित हो जाता है तब वह राशि पुरुष संज्ञा विहीन रहता है। उस समय उसके साथ एक अत्यन्त सूक्ष्म शरीर होने से वह लिंग शरीर युक्त कहलाता है। लिंग शरीर से युक्त यह आत्मा एक भौतिक शरीर का परित्याग कर अन्य शरीर को धारण करता है। जब वह किसी भौतिक शरीर को धारण करता है तब उसका जन्म और जब वह भौतिक शरीर का परित्याग करता है तब उसका मरण माना जाता है। इस प्रकार जन्म-मरण का चक्र सतत चलता रहता है। जन्म-मरण का यह चक्र अथवा लिंग शरीर युक्त जीवात्मा का एक योनि से अन्य योनि में संसरण (गति) होने से संसार कहलाता है। इस संसार चक्र का मूल कारण रज और तम ये दो मानस दोष हैं। तमो गुण की अधिकता होने से पुरुष में मोह अर्थात् अज्ञान या मिथ्या ज्ञान होता है। उस तम गुण की स्थिति में वह संसार के पदार्थों को अपने सुख और दुख का कारण समझता है तथा जिन वस्तुओं को अपने सुख का हेतु मानता है उनके प्राप्त करने की इच्छा तथा जिन्हें दुःख का हेतु मानता है उनके प्रति द्वेष (उनके परिहार की या उनसे बचने की इच्छा) उसके मन में उदित होता है। एतद्विध अनुकूल विषयों में इच्छा तथा प्रतिकूल विषयों में द्वेष दोनों ही मोह के कारण उत्पन्न होते हैं।

इस मोह (इच्छा और द्वेष) ही के कारण पुरुष इष्ट विषयों की प्राप्ति तथा द्विष्ट वस्तुओं के परिहार के लिए प्रवृत्ति या कर्म करता है। यह प्रवृत्ति शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की हो सकती है। शुभ प्रवृत्ति धर्म रूप होती है और अशुभ प्रवृत्ति अधर्मरूप। शुभ प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप पुण्य का संचय तथा अशुभ प्रवृत्ति (अधर्म) के परिणाम स्वरूप पाप का संचय होता है। जिसका फल क्रमशः सुख और दुख होता है। अर्थात् धर्म या पुण्य का फल सुख रूप में तथा अधर्म या पाप का फल दुख रूप में मिलता है। इन सुख दुख रूप फलों को भोगने के लिए पुरुष को बलात् शरीर धारण करना पड़ता है। इसीलिए शरीर को आत्मा का भोगायतन माना गया है—"**आत्मनो भोगायतनं शरीरं नाम**।" अर्थात् आत्मा अपने पूर्वोपार्जित शुभाशुभ कर्मों के फल का उपभोग करने के लिए जिस आयतन (साधन) का आश्रय लेता है उस आयतन (साधन) का नाम शरीर है। इस शरीर में जब आत्मा प्रविष्ट हो जाता है तब वह राशि पुरुष कहलाता है।

आत्मा क्रमशः एक शरीर का परित्याग कर अन्य शरीर को धारण करता है तथा अनादि काल से चला आ रहा यह क्रम अनन्त काल पर्यन्त चलता रहेगा। उत्त-रोत्तर शरीरों की प्राप्ति की यह परम्परा तब तक चलती रहेगी जब तक निर्मल सत्व गुण का उदय होकर वह रज और तम इन दोनों दोषों से मुक्त नहीं हो जाता। सत्व गुण का उद्रेक होने पर उसे सम्यक् तत्व ज्ञान (आत्म ज्ञान) होता है तब वह सांसा-रिक विषयों में मोह का परित्याग कर देता है, जिससे उसे सांसारिक सुख प्राप्त करने की अभिलाषा नहीं रहती है। परिणामतः इच्छा-द्वेष के वशीभूत होकर वह कोई प्रवृत्ति नहीं करता। जिससे उसे किसी कर्म का बन्धन नहीं होता और कर्मबन्धन के अभाव में वह उसका फल भोगने के लिए बलात् शरीर धारण करने के लिए बाध्य नहीं होता है। इस प्रकार वह कर्म बन्धन से रहित होकर अनन्त सुख की प्राप्ति के लिए मोक्ष गमन करता है। जहां से पुनः वह कभी संसार में लौटकर नहीं आता। यही उसका चरम लक्ष्य है।

□

मनो निरूपण

संसार के समस्त पंचेन्द्रिय प्राणियों में मनुष्य का विशेष स्थान है। प्रायः सभी पंचेन्द्रिय प्राणियों के शरीर में मन की अवस्थिति रहती है। मानव शरीर में तो मन की स्थिति, उपयोगिता एवं महत्व विशेष है। मनुष्य की समस्त इन्द्रियों का एक बार यदि विनाश हो जाय और मन अविकृत रूप से स्थिर हो तो उस व्यक्ति का कार्य चल सकता है, किन्तु उसकी समस्त इन्द्रियां स्वस्थ एवं प्राकृत हों और मन विकृत हो तो उसकी समस्त क्रियाएं एवं समस्त इन्द्रिय व्यापार अवरूद्ध हो जायगा। वह व्यक्ति किसी भी कार्य को करने में असमर्थ रहेगा। अतः इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि मानव शरीर में मन एक अत्यधिक महत्वपूर्ण द्रव्य है।

मन का महत्व एवं तत्सम्बन्धी विशेषताओं का प्रतिपादन अन्य शास्त्रों की अपेक्षा दर्शन शास्त्र में विशेष रूप से किया गया है। इसका मुख्य कारण यह है कि दर्शन शास्त्र का प्रतिपाद्य मुख्य विषय विशेष रूप से आध्यात्मिक तत्व रहे हैं। आत्मा की भाँति मन भी उन आध्यात्मिक तत्वों में प्रमुख रहा है। अतः दर्शन शास्त्रों में मन का सर्वांगपूर्ण विवेचन किया गया है।

आयुर्वेद यद्यपि एक चिकित्सा शास्त्र है तथा आध्यात्मिक विषयों के प्रतिपादन से उसे कोई प्रयोजन नहीं होना चाहिए। तथापि मन भी रोगाधिष्ठान होने से वह आयु-र्वेद का प्रतिपाद्य विषय बन जाता है। इसी प्रकार मन का सम्बन्ध आत्मा से होने के कारण तथा जिस शरीर की चिकित्सा की जाती है उसे चैतन्य प्रदान करने वाला होने के कारण आत्मा भी आयुर्वेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। इसके अतिरिक्त आत्मा और मन दोनों ही आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान के प्रतिपाद्य विषय हैं। इसके अतिरिक्त महर्षि चरक ने न्याय, वैशैषिक एवं वेदान्त दर्शन से समानता रखने वाले विचार व्यक्त किए हैं। अतः मन के विवेचन में भी आयुर्वेद में उन दर्शनों के विचारों का अवलम्बन लिया गया है। आयुर्वेद में मन के विषय में जो चिन्तन धारा प्रवाहित है उसके अनुसार निम्न विवरण प्रस्तुत है।

शरीर में मन का महत्वपूर्ण स्थान है। शरीर में सम्पादित होने वाली प्रत्येक क्रिया मन से प्रभावित है। यद्यपि मन, इन्द्रिय और शरीर को चैतन्य का प्रकाश आत्मा के द्वारा ही मिलता है। शरीर में जब तक आत्मा का अनुप्रवेश नहीं होता तब तक शरीर, उसमें आश्रित मन, इन्द्रियाँ और अन्यान्य हृदय आदि अवयव चेतना शून्य एवं क्रियाहीन होते हैं तथा आत्मा के संयोग से इनमें चेतनता एवं क्रियाशीलता आती है। किन्तु आत्मा की ज्ञानोत्पत्ति परम्परा में मन की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण रहती है। मन के अभाव में केवल इन्द्रियों के द्वारा आत्मा को ज्ञानोपलब्धि होना

नितान्त असम्भव है। यद्यपि मन स्वयं एक इन्द्रिय है तथा अन्य इन्द्रियों की भांति मन की उत्पत्ति भी महाभूतों से हुई है, तथापि मन सामान्य इन्द्रियों से भिन्न है। आत्मा को जो ज्ञानोपलब्धि होती है, उसका मुख्य साधन मन ही है। मन के अभाव में अथवा मन के विकृत हो जाने पर आत्मा को ज्ञान नहीं हो सकता। शरीर में मन की स्थिति अन्तःकरण के रूप में है। अन्य ज्ञानेन्द्रियां एवं कर्मेन्द्रियां बाह्य करण कहलाती हैं। मन की यह विशेषता है कि महाभूतों से समुद्भूत होने पर भी वह अन्य इन्द्रियों की भांति स्थूलरूप नहीं है। इसलिए अन्य इन्द्रियों की भांति यह मन इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है। जिस प्रकार शरीर में बाह्य इन्द्रियां दिखाई देती हैं उस प्रकार मन का प्रत्यक्ष नहीं होता। इसका एक कारण यह है कि बाह्य इन्द्रियों की भांति मन की स्थिति शरीर के बाह्य प्रदेश में नहीं है। शरीर के अन्दर अवस्थिति होने से उसे अन्तःकरण की संज्ञा दी गई है तथा बाह्य इन्द्रियों की भांति इन्द्रियों के द्वारा उसका ग्रहण नहीं होने से उसे 'अतीन्द्रिय' या इन्द्रियातीत कहा गया है।

मन का सामान्य अर्थ ज्ञान के योग में किया जाता है। जैसा कि मन शब्द की निरुक्ति से स्पष्ट है—"**मन् ज्ञाने बोधने वा धातुः**" अर्थात् 'मन् ज्ञाने' धातु से मनस् या मन शब्द निर्मित हुआ है। जिसकी व्युत्पत्ति के अनुसार "**मन्यते ज्ञायते बुद्ध्यतेऽनेनेति मनः।**"

संस्कृत व्याकरण के अनुसार मन् धातु ज्ञान अथवा बोधन क्रिया के लिए प्रयुक्त होता है। तदनुसार जिसके द्वारा जाना जाता है या ज्ञान प्राप्त किया जाता है अथवा बोध होता है वह मन कहलाता है।

मन स्वतन्त्र रूप से ज्ञान ग्रहण करने में समर्थ नहीं है। आत्मा और इन्द्रियों के साथ मन का संयोग होने पर ही मन के द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है। अतः इन्द्रियां भी ज्ञान का साधन हैं। वे इन्द्रियां भी स्वतन्त्र रूप से ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ हैं। इन्द्रियों को ज्ञानोपलब्धि के लिए आत्मा के द्वारा चैतन्य एवं मन के द्वारा प्रेरणा मिलना आवश्यक है। इन दोनों में से किसी एक के अभाव में इन्द्रियां भी ज्ञान ग्रहण करने में असमर्थ रहती हैं। वस्तुतः यदि देखा जाय तो इन्द्रियां ज्ञान प्राप्ति का साधन अवश्य हैं, किन्तु मूलतः वे ज्ञान ग्रहण करने में समर्थ नहीं हैं। वे तो केवल विषयों का ग्रहण करने हेतु प्रवृत्त होती हैं। अथवा विषयों के साथ संयुक्त मात्र होती हैं। वस्तुओं का ज्ञान तो मन के द्वारा ही होता है। मन के अभाव में ज्ञान कदापि संभव नहीं है। मन एक होता और ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच होती हैं। अतः मन की एक विशेषता यह भी होती है कि वह जिस इन्द्रिय के साथ संयुक्त होता है केवल वही इन्द्रिय अपने विषय के साथ संयुक्त होकर उस विषय का ग्रहण करती है और तदनन्तर मन के द्वारा उस

विषय का ज्ञान प्राप्त होता है। किन्तु जिस इन्द्रिय के साथ मन का संयोग नहीं होता है उस इन्द्रिय का अपने विषय के साथ संयोग होने पर भी वह इन्द्रिय उस विषय का ग्रहण नहीं कर पाती है। ऐसी स्थिति में उस विषय या वस्तु का ज्ञान होना भी सम्भव नहीं है। मन एक बार में केवल एक इन्द्रिय के साथ ही संयुक्त होता है। अतः एक बार में केवल एक इन्द्रिय के द्वारा ही अपने विषय के साथ संयोग एवं उस विषय का ग्रहण संभव है तथा मन को भी एक बार में केवल एक ही विषय का ज्ञान होता है। इस प्रकार मन जिस समय जिस इन्द्रिय के साथ संयुक्त होता है उस समय वह केवल उसी इन्द्रिय के द्वारा उससे सम्बन्धित विषय का ज्ञान प्राप्त करता है अन्य का नहीं।

मन का लक्षण

मन सम्बन्धी उपर्युक्त निर्वचन से शरीर में उसकी स्थिति, उपयोगिता एवं महत्व का आभास मिल जाता है। शास्त्रों में मन का जो लक्षण दिया गया है उससे भी उपर्युक्त भाव ही ध्वनित होता है। महर्षि चरक ने मन का निम्न लक्षण प्रतिपादित किया है—

लक्षणं मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव च
सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां सन्निकर्षे न वर्तते ॥
वैवृत्यान्मनसो ज्ञानं सान्निध्यात् तच्च वर्तते ॥

—चरक संहिता, शारीर स्थान १/१८-१९

अर्थ—ज्ञान का नहीं होना अथवा होना ही मन का लक्षण है। आत्मा, इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ (इन्द्रियों के विषय) के सन्निकर्ष होने पर मन का संयोग नहीं होने से ज्ञान नहीं होता तथा उपर्युक्त आत्मेन्द्रियार्थ सन्निकर्ष होने पर मन का सान्निध्य (संयोग) होने से ज्ञान होता है।

आत्मा का चक्षु आदि इन्द्रियों और शब्द आदि विषयों से सम्बन्ध होते हुए भी कभी किसी विषय का ज्ञान होता है और कभी नहीं होता है। यह ज्ञान का होना या नहीं होना किसी कारणान्तर को सूचित करता है। यही कारणान्तर मन है। यह मन जब इन्द्रियों के साथ संयुक्त होता है तो इन्द्रियां अपने रूप आदि विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होती हैं। अर्थात् मन के सान्निध्य से ज्ञान होता है और सान्निध्य नहीं होने से ज्ञान नहीं होता।

शरीर में त्रयोदश विध (तेरह प्रकार के) करण होते हैं। इन तेरह करणों को दो भागों में विभाजित किया गया है—बाह्य करण और अन्तःकरण। इनमें पांच ज्ञानेन्द्रियां (श्रोत्र, स्पर्शन, चक्षु, रसना और घ्राण) और पांच कर्मेन्द्रियां (हस्त, पाद, गुद, उपस्थ और वाक्) इन दस इन्द्रियों की गणना बाह्यकरण में की जाती है तथा मन, बुद्धि

और अहंकार की गणना अन्त:करण में की जाती है। इन तेरह ही करणों में मन प्रधान है। वह ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों का सहायक होने से उभयेन्द्रिय माना जाता है। सांख्य दर्शन की दृष्टि से मन की उत्पत्ति अहंकार से होने के कारण वह अहंकारिक माना गया है, किन्तु आयुर्वेद के मतानुसार अन्य द्रव्यों (इन्द्रियों) की भांति मन की उत्पत्ति भी महाभूतों से होने के कारण वह भौतिक होता है। दोनों ही दृष्टि से अहंकारिक होने पर अथवा भौतिक होने पर मन की उत्पत्ति का मूल कारण प्रकृति (अव्यक्त) होती है। अत: उस प्रकृति में विद्यमान तीन गुण सत्त्व-रज-तम मन में भी होते हैं। तदनुसार तीनों गुणों के अनुरूप सत्व से ज्ञान, रज से प्रवृत्ति और तम से अज्ञान आदि कार्य प्रत्येक मन में दृष्टिगोचर होते हैं। इनमें जिस गुण की अधिकता से जो ज्ञान आदि लक्षण मन में उत्पन्न होते हैं उसी गुण के आधार पर उस मन को अथवा उस मन के अधिष्ठाता को सात्विक, राजस या तामस कहा जाता है। मन के इन गुणों की अभिव्यक्ति मनुष्य की प्रकृति अथवा स्वभाव के द्वारा भी होती है। अत: उसकी प्रकृति का निर्धारण इन्हीं मानसिक गुणों के आधार पर किया जाता है। जैसे सात्विक प्रकृति, राजसी प्रकृति, तामसी प्रकृति।

मन को ज्ञान, सुख-दुख आदि का साधन माना गया है। अत: अन्य कुछ आचार्यों ने इसी आधार पर मन का निम्न लक्षण प्रतिपादित किया है—

सुखादिसाक्षात्कारस्य कारणं मन उच्यते।
अस्पर्शमणु चानन्तं प्रत्यात्मनियतत्वत:॥

अर्थात् मन को सुख आदि के साक्षात्कार का कारण भी कहा गया है। मन स्पर्श रहित और अणु परिमाणु वाला होता है। प्रत्येक शरीरस्थ आत्मा के साथ भिन्न भिन्न मन का संयोग होने से मन अनन्त (अपरिसंख्येय) होते हैं।

वैशेषिक दर्शन मन का निम्न लक्षण प्रति पादित किया गया है—

"आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिंगम्॥

—वैशेषिक दर्पण ६/२/१

अर्थात्—आत्मा, इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ (इन्द्रियों के विषय-शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) का सन्निकर्ष होने पर जिस वस्तु का संयोग होने से ज्ञान होता है तथा जिसका संयोग नहीं होने से ज्ञान नहीं होता वहवस्तु ही मन है—

आत्मन: करणदीनामिन्द्रियाणां शब्दादिविषयाणां च सद्भावेऽपि कदाचित् कुत्रचिद्विषये ज्ञानं भवति न भवति चेति दृश्यते। तेन इमौ ज्ञानस्य भावभावौ कारणान्तरं सूचयत: यच्च तदेव मन: ८"

इसके अतिरिक्त मन का एक भिन्न लक्षण और भी किया गया है—

"युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगम्" — **न्याय दर्पण १/१/१६**

अर्थात् एक साथ अनेक ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होना ही मन का लक्षण है। एक अन्य लक्षण निम्न प्रकार है—

"सुखदु:खाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मन:" —**तर्क संग्रह**

अर्थात् सुख-दुख आदि की अनुभूति को साधन रूप इन्द्रिय ही मन है। अथवा जिस इन्द्रिय से सुख-दुख आदि का अनुभव होता है वह इन्द्रिय ही मन कहलाती है।

शरीर में मन के अस्तित्व को सर्वथा अस्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि शरीर के लिए मन एक अत्यावश्यक द्रव्य है। इसकी उपयोगिता ज्ञान श्रृंखला के लिए विशेष रूप से है। अत: ज्ञानोत्पत्ति का कार्य मन का अस्तित्व मानने से ही सम्पूर्ण होता है। यदि मन का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जाय तो इस प्रश्न का समाधान कर पाना असम्भव होगा कि ज्ञानोत्पत्ति किस क्रम से होती है? मन के अभाव में ज्ञानोत्पत्ति का होना नितान्त असम्भव है। ज्ञानोत्पत्ति क्रम में यदि केवल आत्मा, इन्द्रिय और इन्द्रियों के विषय को ही कारण माना जाय तो इतने मात्र से निर्वाह होना सम्भव नहीं है। क्योंकि केवल उपर्युक्त कारणों का संयोग ज्ञानोत्पत्ति के लिए पर्याप्त नहीं है। इन कारणों के अतिरिक्त एक अन्य कारण और होता है जिसका संयोग होने पर ज्ञान होता है तथा उसका संयोग नहीं होने पर ज्ञान नहीं होता। वह अतिरिक्त कारण मन ही है।

इसके अतिरिक्त यदि मन का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जाय तो स्थिति यह होती है कि व्यापक होने के कारण आत्मा का इन्द्रियों के साथ सदा संयोग बना रहता है। इद्रियां भी अपने अपने विषयों के साथ सदैव संयुक्त रहती हैं। अत: इन्द्रियों को हमेशा ज्ञानोत्पत्ति होते रहना चाहिये। इसके अतिरिक्त आत्मा समस्त इन्द्रियों के साथ एक साथ ही संयुक्त रहता है। अत: समस्त इन्द्रियों को ज्ञान भी एक साथ संयुक्त रूप से ही होना चाहिए। किन्तु व्यवहारिक रूप से ऐसा नहीं देखा जाता। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञानोत्पत्ति की प्रक्रिया में कोई ऐसा महत्वपूर्ण द्रव्य अवश्य है जिसके विना ज्ञान नहीं होता तथा जिसके रहने पर ज्ञान होता है। वह महत्वपूर्ण द्रव्य मन ही है।

मन के अस्तित्व की सिद्धि के लिए यह प्रमाण भी दिया जा सकता है कि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द इनके साक्षात्कार के लिए क्रमश: चक्षु, रसना, घ्राण, स्पर्शन और श्रोत्र इन्द्रियां हैं, जिनके द्वारा उपर्युक्त रूप आदि विषयों का ग्रहण एवं ज्ञान होता है। किन्तु सुख-दु:ख आदि भावों का अनुभव उपर्युक्त चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा सम्भव नहीं है। अत: इसके लिए उपर्युक्त इन्द्रियों से भिन्न कोई अतिरिक्त पृथक् साधन होना चाहिए। वह साधन है मन। अर्थात् चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों के

द्वारा अग्राह्य सुख-दुःख आदि के अनुभव का साधन मन है। इसीलिए मन का एक लक्षण यह भी किया गया कि "सुखदुखद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः।" इससे मन का स्वतन्त्र अस्तित्व स्पष्ट प्रतीत होता है।

मन के गुण

अणुत्वमथ चैकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ।

अर्थ—अणुत्व (सूक्ष्मत्व अथवा सूक्ष्म होना) तथा एकत्व (एक होना) ये मन के दो गुण होते हैं। अर्थात् मन अणु परिमाण वाला तथा एक होता है।

मन को अणु परिमाण वाला मानने से उसके सर्व व्यापकत्व का निराकरण तथा असर्वव्यापकत्व की सिद्धि होती है। मन को प्रति शरीर एक मानने से इन्द्रियों की भांति उनके अनेकत्व का निराकरण होता है।

यदि मन का अणुत्व तथा एकत्व स्वीकार न कर उसे महत् परिमाण वाला तथा अनेक माना जाय तो इन्द्रियों के साथ उसका सम्पर्क निरन्तर बना रहेगा और ऐसी स्थिति में उसे समस्त इन्द्रियों के द्वारा एक साथ ही सर्वविध ज्ञान की अनुभूति होने लगेगी। जिससे ज्ञान परम्परा में एक प्रकार की विडम्बना उत्पन्न हो जायगी। अर्थात् उपर्युक्त स्थिति में मन को वर्तमान की भाँति व्यवस्थित ज्ञान की अनुभूति नहीं हो पायगी। क्योंकि एक साथ समस्त इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान होने से समस्त ज्ञान परस्पर में टकराएंगे और ज्ञान परम्परा में व्यवधान होने लगेगा। जिससे मन को किसी भी वस्तु के सम्यक् ज्ञान की उपलब्धि नहीं हो सकेगी। क्योंकि क्रमानुसार और व्यवस्थित ज्ञान शृंखला ही वस्तु में सम्यक् ज्ञान का प्रतिपादक है तथा मन ऐसे ही ज्ञान की उपलब्धि में सहायक होता है। अबाधित तथा विषमताओं से रहित ज्ञान ही मानस ग्राह्य है और इस प्रकार का ज्ञान एक काल में केवल एक इन्द्रिय के साथ संयुक्त होकर ही प्राप्त किया जा सकता है। अतः प्रति शरीर में मन एक ही होता है।

मन के अणुत्व प्रतिपादन का अभिप्राय यह है कि मन की स्थिति शरीर में अणु या सूक्ष्म रूप में है। वह आत्मा की भांति सर्व शरीर में व्याप्त होकर रहने वाला द्रव्य नहीं है। सूक्ष्म होने के कारण वह शरीर के एक प्रदेश के कई हजारवें भाग में स्थित रहता है। किन्तु अपनी सूक्ष्मता, चंचलता एवं तीव्र गतिशीलता के कारण वह सर्वदेहव्यापी की भाँति प्रतीत होता है। प्रत्यक्ष में यह देखा जाता है कि जब मन किसी एक इन्द्रिय के साथ संयुक्त रहता है तो केवल उसी इन्द्रिय के द्वारा ज्ञान का ग्रहण होता है अन्य के द्वारा नहीं। जैसे कई बार कोई व्यक्ति किसी कार्य विशेष अथवा

अध्ययन में तल्लीन होकर लग जाता है तो वाहर या अन्य स्थान से आने वाली अवाजों का ज्ञान उसे नहीं होता। इसी प्रकार परस्पर दो या अधिक व्यक्तियों के वार्तालाप करने पर किसी व्यक्ति का मन वार्तालाप की ओर न होकर अन्य विषयों के चिन्तन में लग जाता है। ऐसी स्थिति में उन व्यक्तियों के वार्तालाप का स्वर निरन्तर उस व्यक्ति के कान में पड़ते रहने पर भी उसे इस बात का ज्ञान नहीं हो पाता कि उन व्यक्तियों में परस्पर क्या वार्तालाप हो रहा है ? इसी भाँति कोई पुस्तक पढ़ते पढ़ते बीच में मन किसी अन्य विषय में लग जाता है तो उसे इस बात का ज्ञान नहीं हो पाता कि क्या पढ़ा गया है ? जब कक्षा में छात्रगण अपने अध्यापक के प्रवचन (भाषण) को सुनते हैं तो कई छात्रों का मन अन्यत्र विषय में संलग्न हो जाता है। ऐसी स्थिति में उस छात्र के लिये यह कह सकना कठिन हो जाता है कि कक्षा में अध्यापक महोदय नें अपने भाषण में क्या कहा ? इसी प्रकार अन्य अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मन जब जिस इन्द्रिय के साथ संयुक्त होता है तब केवल उसी इन्द्रिय के द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है। इससे इस तथ्य की पुष्टि भी होती है कि मन आत्मा के सदृश महान् या सर्व शरीर व्यापी नहीं है, अपितु अणु रूप है। अणुरूप होने के कारण वह एक ही समय में समस्त इन्द्रियों में संचार नहीं कर सकता। यही कारण है कि वह एक काल में केवल एक ही इन्द्रिय के साथ संयुक्त होता है। जैसा कि उपर्युक्त उदाहरणों से भी स्पष्ट है। कई बार हमको ऐसी प्रतीति भी होती है कि पाँचों इन्द्रियों के द्वारा एक साथ ही ज्ञान हो रहा है। जैसे भोजन करते समय हाथ के स्पर्श द्वारा भोजन के शीतत्व-उष्णत्व का ज्ञान होता है। रसना के द्वारा रस का ज्ञान भी होता है। घ्राण के द्वारा गन्ध की अनुभूति होती है। चक्षु के द्वारा उसे सतत देखते रहते हैं। साथ में वार्तालाप करते रहने पर शब्द श्रवण भी होता है। अतः उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि हमें समस्त ज्ञानों का अनुभव एक साथ हो रहा है। किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं होता। मन की चंचलता एवं तीव्र गतिशीलता के कारण वह समस्त इन्द्रियों के साथ क्रमशः सम्पर्क बनाता है। अर्थात् एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी, तीसरी के बाद चौथी, चौथी के बाद पाँचवी-इस प्रकार क्रमशः इन्द्रियों के साथ संयुक्त होता है। इन्द्रियों के साथ उसका संयोग इतनी शीघ्रता और तीव्र गति से होता है कि एक इन्द्रिय से दूसरी इन्द्रिय के साथ संयुक्त होने के बीच के व्यवधान या अन्तर की प्रतीति नहीं हो पाती। अतः ऐसा लगता है कि मन समस्त इन्द्रियों के साथ एक साथ संयुक्त है। इन्द्रियों के साथ मन के संयोग की यह प्रक्रिया ठीक उसी प्रकार सम्पादित होती है जिस प्रकार से कमल के पत्तों को एकत्र कर उन्हें

एक के ऊपर एक रख दिया जाय। तदनन्तर उन समस्त पत्तों का वेधन एक सुई द्वारा किया जाय। सुई द्वारा पत्तों का वेधन करने पर ऐसा लगता है कि समस्त पत्तों का वेधन एक साथ ही हो गया है, किन्तु ऐसा नहीं होता। अर्थात् उन पत्तों का वेधन तो क्रमशः एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा, तीसरे के बाद चौथा इस प्रकार होता है, किन्तु यह वेधन इतनी तीव्र गति से होता है कि क्रमशः उनके वेधन का ज्ञान नहीं हो पाता और हम यह समझते हैं कि सभी पत्तों का वेधन एक साथ ही हो गया है। ठीक यही स्थिति इन्द्रियों के साथ मन के संयोग की है। इस सन्दर्भ में एक अन्य उदाहरण अलात चक्र का भी दिया जा सकता है। अर्थात् एक पतली लौह शलाका के दोनों सिरों पर थोड़ा सा कपड़ा बाँध कर उसे मिट्टी के तेल में भिगो कर उसमें आग लगा दी जाती है। उसके बाद उसे जोरों से घुमाया जाता है जिससे प्रज्वलित अग्नि के चक्र की भांति प्रतीति होती है। यही अलात चक्र कहलाता है। इनमें शलाका के केवल दो सिरों में आग लगी रहती है किन्तु उसके घूमने की गति अत्यन्त तीव्र होने के कारण चक्र के समान अनुभव होता है। इसी प्रकार मन भी तीव्र गति से शरीर में इतस्ततः घूमता है और क्रमशः इन्द्रियों के साथ संयुक्त होकर ज्ञान प्राप्त करता है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि मन अणु परिमाण वाला तथा एक है। मन के अणुत्व तथा एकत्व की सिद्धि में युगपत् ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होना विशेष महत्वपूर्ण है। इसी आधार पर अन्य विद्वानों एवं आचार्यों ने भी मन के अणुत्व तथा एकत्व को सिद्ध किया है। महर्षि गौतम ने मन के एकत्व की सिद्धि के लिये कहा है—'**ज्ञानायौगद्यादेकं मनः**" इति न्याय दर्पण ३/२/६० अर्थात् ज्ञान के एक साथ नहीं होने से मन एक है। इसी का समर्थन महर्षि कणाद ने भी किया है। उन्होंने अपने वैशेषिक दर्पण में इस सन्दर्भ में कहा है—"**प्रयत्नायौगपद्याज्ज्ञानयौगद्यच्चैकं**" इति-वै० द० ३।२।३ अर्थात् एक समय में एक ही प्रयत्न तथा ज्ञान होने से अथवा प्रयत्न तथा ज्ञान के अयौगपद्य से मन एक होता है। आचार्य विश्वनाथ ने कारिकावलि में ज्ञानों के एक कालिक नहीं होने के कारण मन को अणु परिमाण वाला कहा है। यथा—"**अयौगपद्याज्ज्ञानानां तस्याणुत्वमिहेष्यते**" इति विश्वनाथ कारिका ३८५

कभी कभी एक समय में ही दीर्घ शष्कुली भक्षण में गन्ध, रस, रूप, आदि अनेक विषयों का ज्ञान होने की भ्रान्ति होती है। वह मन के अति तीव्र संचार के कारण होती है। इस प्रकरण को शत कमल पत्र भेदन के उदाहरण से पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है।

मन के विषय तथा कर्म

चिन्त्यं विचार्यमूह्यं च ध्येयं संकल्प्यमेव च।
यत्किंचिन्मनसो ज्ञेयं तत्सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम्॥
इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसस्त्वस्य निग्रहः
ऊहो विचारश्च ततः परं बुद्धि प्रवर्तते॥

—चरक संहिता, शारीरस्थान १/२०-२१

अर्थ—चिन्ता के योग्य, गुणागुण का विचार के योग्य, तर्क के योग्य, ध्यान के योग्य और संकल्प के योग्य भाव या पदार्थ तथा मन के द्वारा अनुभव किए जाने वाले अन्य सुख-दुःख आदि भाव ये सब मन के विषय हैं। समस्त इन्द्रियों को अपने अपने विषय में प्रेरित करना तथा अहित विषयों में उनकी प्रवृत्ति को रोकना अर्थात् इन्द्रियों का नियन्त्रण करना अथवा अपना नियमन करना, किसी विषय में तर्क करना, हिताहित का विचार करना ते सब मन के कर्म हैं।

चिन्त्य--मन के द्वारा चिन्तन किए जाने योग्य विषय जैसे यह करने योग्य है या नहीं। **विचार्य**-उपपत्ति या अनुपपत्ति (तर्क) के द्वारा यह करने से लाभ होगा और यह करने से हानि होगी अथवा किसी विषय के गुण दोष का ज्ञान करना विचार कहलाता है। इस प्रकार के विचार योग्य विषय को विचार्य कहा जाता है। **ऊह्य**-सम्भावना के द्वारा जैसे यह कार्य इसी प्रकार होगा अथवा शास्त्रानुकूल तर्कों के द्वारा किसी विषय के संशय, पूर्वपक्ष आदि का निवारण और उत्तर पक्ष के स्थापन आदि के निर्णय के लिये परीक्षण को ऊहा कहते हैं। उस ऊहा के योग्य विषय ऊह्य कहलाते हैं। **ध्येय**-भावना ज्ञान का विषय ध्येय कहलाता है अथवा एकाग्र मन से किसी वस्तु के स्वरूप का अनुचिन्तन करना ध्यान कहलाता है और ध्यान के योग्य विषय को ध्येय कहते हैं। **सकल्प्य**-अमुक विषय या वस्तु गुण युक्त है अथवा दोषयुक्त इसका निश्चय करना अथवा कर्तव्याकर्तव्य का निश्चय कर अभीष्ट प्राप्ति (सिद्धि) के लिये वही करना है ऐसे निर्णय को संकल्प कहते हैं। संकल्प के योग्य जो विषय होता है वह संकल्प्य कहलाता है।

ऊपर जिन विषयों का उल्लेख या प्रतिपादन किया गया है ये सब विषय मन के होते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ और भी विषय मन के होते हैं जो मन के द्वारा ग्राह्य होते है अथवा मन की सहायता से जिनका ग्रहण होता है। इस दृष्टि से मन के विषयों को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। अर्थात् मन के विषय दो प्रकार के होते हैं—प्रथम प्रकार के विषय वे हैं जो पांच ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से मन के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं। जैसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। ये विषय यद्यपि मुख्य रूप से इन्द्रियों के विषय कहलाते हैं। तथापि इन्द्रियों की सहायता से मन ही इनका ग्रहण

करता है। दूसरे प्रकार के विषय इन्द्रिय निरपेक्ष होते हैं। ये मन के स्वतन्त्र विषय होते हैं। अतः मन के विषयों से मुख्यतः इन्हीं इन्द्रिय निरपेक्ष स्वतन्त्र विषयों का ग्रहण किया जाता है। इन चिन्त्य आदि विषयों के ग्रहण में इन्द्रियां सर्वथा असमर्थ रहती हैं। अतः मन के द्वारा इन्द्रियातीत विषयों का ग्रहण किए जाने से वह अतीन्द्रिय कहलाता है।

इन्द्रियों के विषय नियत हैं—"**प्रतिनियतविषयैकाणीन्द्रियाणि**" अर्थात् जिस इन्द्रिय का जो विषय प्रतिनियत है वह इन्द्रिय मात्र उसी विषय का ग्रहण करती है, अन्य का नहीं। जैसे चक्षु इन्द्रिय के द्वारा केवल रूप विषय का ही ग्रहण होता है अन्य शब्द आदि विषयों का नहीं। किन्तु मन सब इन्द्रियों के साथ समस्त विषयों का ग्रहण करता है। इतना ही नहीं, इन्द्रियों के विषयों के अतिरिक्त विविध विषयों का चिन्तन, किसी विषय के गुण व गुण का विचार, शास्त्रों के अनुकूल तर्क करना, एकाग्र मनसा वस्तु विशेष का ध्यान, कर्तव्याकर्तव्य का विचार कर किसी विषय का संकल्प करना, सुख-दुःख आदि आभ्यन्तरिक भावों का अनुभव करना इत्यादि भी मन के विषय हैं। इस प्रकार इन्द्रिय ग्राह्य और इन्द्रियातीत दोनों प्रकार के विषयों का ग्रहण मन के द्वारा होता है।

मन के उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त कुछ विशिष्ट कर्म भी होते हैं। मन चूंकि एक द्रव्य है। अतः द्रव्यत्व की दृष्टि से उसमें गुण और कर्म समवाय सम्बन्ध से आश्रित रहना चाहिए। गुण और कर्म के बिना द्रव्य का अस्तित्व नहीं रहता। अतः मन के कर्मों का भी निर्देश किया गया। मुख्य रूप से मन के दो कर्म होते हैं—एक है इन्द्रियों को नियन्त्रित करना अथवा उन्हें अहित विषयों से पराङ्मुख करना और स्वविषयों में प्रवृत्ति करना। मन का दूसरा कर्म है धृति की सहायता से स्वयं अपना निग्रह अथवा नियन्त्रण करना। इसके अतिरिक्त विभिन्न तथ्यपूर्ण एवं युक्ति-संगत तर्क प्रस्तुत करना तथा हिताहित या गुण व गुण का विचार करना भी मन का ही कर्म है।

मन का स्थान

"**सत्वादिधामहृदयं स्तनोरःकोष्ठमध्यगम्**"—अष्टाँग हृदय, शारीरस्थान अ० ४

"**हृदयमिति कृतवीर्यो बुद्धेर्मनसश्च स्थानत्वात्**"—सुश्रुत संहिता शारीर स्थान, अ० ३

षडंगमंगविज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपञ्चकम्।
आत्मा च सगुणश्चेतश्चिन्त्यं च हृदि संस्थितम्॥

—चरक संहिता, सूत्रस्थान ३०/३

अर्थ—सत्व (मन) आदि का स्थान हृदय है, जो दोनों स्तनों और उरःकोष्ठ (वक्षस्थल) के मध्य में स्थित है। (अष्टांग हृदय)

हृदय में बुद्धि और मन का निवास होने से गर्भ में प्रथम हृदय का निर्माण होता है—ऐसा कृतवीर्य का मत है। (सुश्रुत)

शरीर के छहों अंगों (दो हाथ, दो पैर, मध्य भाग तथा शिरोग्रीवा) का ज्ञान कराने वाली इन्द्रियां (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण) और उनके पांचों अर्थ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) सगुण आत्मा और चित्त (मन) ये सब हृदय में अवस्थित रहते हैं।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि मन और चेतना का स्थान हृदय है। यहां पर कुछ लोग हृदय शब्द के अर्थ में भ्रम उत्पन्न करते हैं। उनका कथन है कि हृदय शब्द से यहाँ वक्ष प्रदेश में स्थित माँसपेशीमय हृदय का ग्रहण न करके शिरोगत मस्तिष्क का ग्रहण करण करना चाहिए। क्योंकि "बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य" इत्यादि वाक्यों के द्वारा बुद्धि का निवास स्थान हृदय को शिरः कपाल (प्रदेश) में स्थित मस्तिष्क मानने की पुष्टि होती है। किन्तु यह मत समीचीन प्रतीत नहीं होता। अष्टांग हृदय के उपर्युक्त वचन द्वारा प्रथम ही मन के स्थान रूप हृदय की स्थिति वक्ष प्रदेश में दोनों स्तनों के मध्य में निरुपित की गई है। अतः हृदय शब्द से सर्व सामान्य में प्रचलित मांसपेशीमय हृदय का ही ग्रहण किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त "**हृदस्याधो वामतः प्लीहा फुफ्फुसश्च दक्षिणतो यकृत् क्लोम च**" इत्यादि सुश्रुत वचन के द्वारा वक्ष प्रदेश में स्थित हृदय का ही बोध होता है। अतः शिरः कपाल में स्थित मस्तिष्क को हृदय मानना उपयुक्त नहीं है—

कुछ लोगों ने मन का स्थान हृदय की अपेक्षा जो मस्तिक निरुपित किया है, एक दृष्टि से यह भी मान्य हो सकता है। क्योंकि समस्त इन्द्रियों का आधार शिर ही है। चरक ने शिर को समस्त इन्द्रियों का अधिष्ठान निरुपित करते हुए शिर का महत्व निम्न प्रकार से प्रतिपादित किया है।

प्राणाः प्राणभृतां यत्र श्रिता सर्वेन्द्रियाणि च।
तदुत्तमांगमंगानां शिरस्तदभिधीयते॥—चरक संहिता, सूत्रस्थान १७/१२

अर्थ—जिसमें प्राणियों के प्राण आश्रित रहते हैं, जिसमें समस्त इन्द्रियां आश्रित हैं और जो शरीर के समस्त अंगों में उत्तमांग (श्रेष्ठ) है वह शिर कहलाता है।

इसी प्रकार भेल संहिता में भी मन का स्थान शिर में प्रतिपादित किया गया है—

शिरस्ताल्वन्तरगतं सर्वेन्द्रियपरं मनः।
तत्र तद्धि विषयानिन्द्रियान् रसादिकान्॥
समीपस्थान् विजानाति त्रीन् भावाँश्च नियच्छति।
तन्मनः प्रभावं चापि सर्वेन्द्रिसयं बलम्॥

कारणं सर्वबुद्धीनां चित्तं हृदयसंस्थितम् ।
क्रियाणां चेतरासां च चित्तं सर्वस्य कारणाम् ॥

अर्थात् समस्त इन्द्रियों में श्रेष्ठ मन शिरः तालु में स्थित रहता है। वह वहाँ पर समीपस्थ इन्द्रियों के रसादि विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है तथा तीन भावों का नियन्त्रण करता है। वह मन समस्त इन्द्रिय रूप, प्रभावशाली और बलयुक्त होता है। सभी प्रकार की बुद्धियों का कारण चित्त हृदय में स्थित रहता है। वह समस्त क्रियाओं का भी कारण है।

इस प्रकार सिर भी मन का स्थान स्वीकृत किया गया है। समस्त ज्ञानेन्द्रियों का अधिष्ठान सिर होने के कारण मन का अधिष्ठान भी सिर स्वतः प्रतिपादित होता है। क्योंकि मन स्वयं एक इन्द्रिय है। इसके अतिरिक्त शरीर में ज्ञान प्राप्ति का सबसे बड़ा केन्द्र शिर ही है। समस्त इन्द्रियां वहां केन्द्रित, नियन्त्रित और उपस्थित रहती हैं। अतः दीर्घ अवधि तक मन का भी वहाँ उपस्थित रहना स्वाभाविक है। इस दृष्टि से शिर को मन का स्थान माना गया है। संक्षेप में मन का स्थायी निवास, नियन्त्रण केन्द्र और कार्य क्षेत्र की दृष्टि से मन के स्थान को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। मन का मूल स्थायी स्थान हृदय है—इस तथ्य को समस्त आचार्यों ने एक स्वर से स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त समस्त इन्द्रियों का केन्द्र मस्तिष्क है जहां विषय के स्वरुप का निर्णय एवं इन्द्रियों को प्रवृत्ति या निवृत्ति हेतु आज्ञा प्राप्ति होती है। मन हृदय से मनोवह स्रोतों के द्वारा मस्तिष्क में आता है और वहां से समस्त इन्द्रियों का निग्रह या नियन्त्रण करता है। अतः मन का नियन्त्रण केन्द्र या कार्यालय मस्तिष्क है। मन का कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण शरीर है। सर्व शरीर में मनोवह स्रोतों की व्याप्ति होने के कारण शरीर के किसी भी सूक्ष्मतम परमाणु भाग में मन त्वरित गति से पहुंच जाता है। अतः उसका कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण शरीर है। केवल हृदय में स्थित रहता हुआ मन इन्द्रियों का नियन्त्रण, वस्तु स्वरूप का ग्रहण एवं सर्व शरीर परिभ्रमण नहीं कर सकता। अतः वह हृदय से मनोवह स्रोतों के द्वारा शिर और सम्पूर्ण शरीर में सतत भ्रमण करता हुआ हृदय में स्थित आत्मा को ज्ञान कराता है। इस प्रकार कार्य विभाजन की दृष्टि से मन का स्थान भिन्न भिन्न समझना चाहिए। किन्तु मूल रूपेण मन का स्थान हृदय है।

तम का द्रव्यत्व खण्डन

कुछ आचार्यों का मत है कि जिस प्रकार पृथ्वी आदि नौ द्रव्य माने गए हैं उसी प्रकार तम (अंधकार) को भी दसवाँ द्रव्य मान लेना चाहिये। क्योंकि द्रव्य का जो लक्षण बतलाया गया है, वह इसमें पूर्णतः घटित हो जाता है। पूर्वोक्त द्रव्य लक्षण के अनुसार जो गुण और कर्म का आश्रय होता है तथा जो गुण और कर्म का समवायी कारण होता है वह द्रव्य कहलाता है। द्रव्य का यह लक्षण तम में पूर्णतः प्रतिघटित होता है। क्योंकि 'नीलं तमश्चलित' इस वाक्य में तम का नीलत्व (कृष्णत्व वर्ण) उसका गुण है तथा चलन रूप क्रिया उसका कर्म है। तम में गुण और कर्म दोनों होने से वह भी एक स्वतन्त्र द्रव्य है। पूर्वोक्त नौ द्रव्यों में से किसी में भी इसका (अन्तर्भाव) नहीं किया जा सकता। यथा—(१) पृथ्वी में इसका अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। क्योंकि पृथ्वी की भाँति इसमें न तो गन्ध है और न ही इसमें स्पर्श है। अतः गन्धाभाव एवं स्पर्शाभाव होने से यह पृथ्वी नहीं हो सकता।

(२) जल में इसका अन्तर्भाव सम्भव नहीं है। जल में जिस प्रकार रस, शीत स्पर्श एवं शुक्ल रूपत्व पाया जाता है, उसी प्रकार इसमें इन गुणों का अभाव होने से जलान्तर्गत भी इसे नहीं माना जा सकता।

(३) तेज में इसका अन्तर्भाव नहीं क्योंकि हो सकता। तेज में उष्ण स्पर्श एवं भास्वर स्वरूप होता है। किन्तु तम में इसका अभाव होने से इसे तेज या तेजोऽन्तर्गत भी नहीं मान सकते।

(४) वायु में इसका अन्तर्भाव सम्भव नहीं है। क्योंकि वायु का प्रत्यात्मनियत गुण स्पर्श है। इसके अतिरिक्त सदा गतिमत्व भी उसका गुण है। तम में इन दोनों गुणों का सर्वथा अभाव है। अतः वायु के अन्तर्गत इसे नहीं माना जा सकता।

(५) आकाश विरोधी गुणधर्मी होने के कारण तम को आकाश के अन्तर्गत भी नहीं माना जा सकता। क्योंकि आकाश एक रूप विहीन द्रव्य है जबकि तम एक रूपी द्रव्य है। इसके अतिरिक्त आकाश एक व्यापक द्रव्य है, जबकि तम व्यापक नहीं है। अतः आकाश में इसका अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता।

(६) अन्य आत्मा, मन, काल और दिशा में इसका अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। क्योंकि ये चारों द्रव्य भी रुप विहीन हैं। इनके विपरीत तम में रूप गुण का सद्भाव है। इस प्रकार उपर्युक्त नौ द्रव्यों में तम का अन्तर्भाव नहीं होने से इसे एक अतिरिक्त स्वतन्त्र दसवां द्रव्य मानना चाहिये।

आचार्यों ने तम के द्रव्यत्व का खण्डन करते हुए उपर्युक्त बातों का उत्तर निम्न प्रकार से दिया है—तम कोई द्रव्य नहीं हो सकता। क्योंकि उसमें द्रव्यत्व का

अभाव है। तम कोई द्रव्य नहीं है, वह तो प्रकाश का अभाव मात्र है। यदि यह कहा जाय कि तम का अभाव ही प्रकाश है तो यह कहना अयुक्ति युक्त है। क्योंकि प्रकाश तेज रूप है। तेज का अनुभव स्पष्ट है। यह चक्षु एवं त्वग् इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य है। तेज के दहन पचन आदि कर्म प्रत्यक्ष सिद्ध हैं। इसके विपरीत तम चक्षु इन्द्रिय के मात्र के द्वारा ग्राह्य है। तम की गतिमान (चलन) क्रिया का निराकरण करते हुए महर्षि कणाद ने कहा है कि तम स्वतः कभी नहीं चलता। तेज को आवृत करने वाला कोई द्रव्य जब चलता है तब हमें यह प्रतीति होती है कि छाया चल रही है। वस्तुतः गति छाया की नहीं, अपितु जिस द्रव्य की वह छाया है उस द्रव्य की गति होती है। तम में गति की जो प्रतीति होती है वह भ्रम मात्र है। अतः तमाश्रित कोई कर्म नहीं है।

दूसरी बात यह है कि तम जब चक्षु इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य है तो इसे रूपवान् द्रव्य माना जा सकता है। क्योंकि चक्षु इन्द्रिय के द्वारा केवल रूपवान् द्रव्य का ग्रहण होता है। इसके समाधान में कहा गया है कि चक्षु इन्द्रिय रूपवान् द्रव्य का ही ग्रहण केवल प्रकाश की उपस्थिति में ही करती है। यदि तम वस्तुतः रूपवान् द्रव्य है तो प्रकाश की उपस्थिति में भी उसका ग्रहण या ज्ञान होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। प्रकाश की उपस्थिति में तत्काल तम का विनाश या अभाव हो जाता है। अतः इसे रूपवान् द्रव्य भी नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त तम में नीलत्व (कृष्णत्व) वर्ण की प्रतीति के कारण यह रूप विहीन द्रव्य भी नहीं माना जा सकता। ऐसी स्थिति में तेज (प्रकाश) का अभाव मात्र ही तम मानना उपयुक्त है। वस्तुतः तम में नील (कृष्ण) रूप एवं चलन क्रिया का ज्ञान भ्रान्ति मात्र है। वास्तविक रूप से तो केवल दीपक की अपसरण क्रिया के कारण ही तम की चलन क्रिया का भान होता है। अतः तम स्वतन्त्र अस्तित्ववान् नवम द्रव्य नहीं हो सकता। प्रस्तुत प्रसंग में न्याय मुक्तावलि का निम्न उद्धरण दृष्टव्य है—

आवश्यकतेजोऽभावेनैवोपपत्तौ द्रव्यान्तरकल्पनायां अन्याय्यत्वात्। रूपवत्ता-प्रतीतिस्तु भ्रमरूपा, कर्मवत्ताप्रतीतिरप्यालोकापसरणौपाधिकी भ्रान्तिरेव। तमसोऽति-रिक्तद्रव्यत्वेऽनन्तावयवादि कल्पनागौरवं च स्याद। —न्यायमुक्तावलि।

तृतीय अध्याय

गुण निरूपण

द्रव्य वर्णन के पश्चात् गुण का वर्णन किया जा रहा है है। गुण का परिगणन पदार्थ के अन्तर्गत किया गया है। अर्थात् गुण भी एक पदार्थ है। द्रव्य के पश्चात् गुण का वर्णन उसके महत्व के कारण किया जा रहा है। गुण सामान्यतः द्रव्य का उपकरण माना जाता है। अर्थात् गुण के अभाव में द्रव्य का अस्तित्व ही सम्भव नहीं है। प्रत्येक द्रव्य में कोई न कोई गुण अवश्य ही विद्यमान रहता है। अतः द्रव्य के अस्तित्व के लिए तदन्तर्गत स्थित गुण का विशेष महत्व है। द्रव्य और गुण ये दोनों यद्यपि भिन्न भिन्न पदार्थ हैं तथापि दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध के कारण ही दोनों का अस्तित्व विद्यमान रहता है। अर्थात् दोनों ही पदार्थ अपनी सत्ता के लिए एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। द्रव्य से पृथक् हुए गुण का कुछ भी अस्तित्व नहीं रहता। उसकी अनुभूति द्रव्याश्रित होने पर ही होती है। इसी भांति द्रव्य का अस्तित्व भी बिना गुण के नहीं रहता। अर्थात् द्रव्य के अस्तित्व के लिए गुण का संयोग नितान्त अपेक्षित है।

द्रव्य और गुण परस्पर आधार-आधेय भाव अथवा आश्रय-आश्रयी भाव से स्थित रहते हैं। गुण सदा द्रव्य के आश्रित होकर रहता है। अतः द्रव्य आधार या आश्रय होता है तथा गुण आधेय या आश्रयी होता है। गुण हमेशा द्रव्य की विशेषता बतलाने वाला होता है। अतः वह विशेषण भी कहलाता है। गुण द्रव्य के आश्रित होकर रहता है। अतः द्रव्य प्रधान होता है और गुण अप्रधान। जो दूसरों का आश्रय तथा कर्ता होता है वह प्रधान या मुख्य होता है और जो अन्याश्रित, उपकरण या विशेषण होता है वह अप्रधान या गौण होता है। प्रस्तुत प्रकरण का अभिधेय पदार्थ गुण अन्याश्रित (द्रव्याश्रित) उपकरण तथा द्रव्य की विशेषता का प्रतिपादक होता है, अतः वह गौण होता है और गौण होने के कारण उसकी 'गुण' संज्ञा है। इस प्रकार गुण की गुण संज्ञा पूर्णतः सार्थक है जो अपने आप में उपयोगी, महत्वपूर्ण एवं परिपूर्ण है। अपनी प्रमुख विशेषताओं एवं महत्व के कारण गुण का समावेश किसी अन्य पदार्थ में नहीं किया जा सकता। अतः इसे एक स्वतन्त्र पदार्थ माना गया है।

गुण का लक्षण

"समवायी तु निश्चेष्टं कारणं गुणः।"—चरक संहिता, सूत्रस्थान १/५१

"अथ द्रव्याश्रिता ज्ञेया निर्गुणा निष्क्रिया गुणाः।" —कारिकावलि।

"द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्।"

—वैशेषिक दर्पण १/१/१६

"गुणत्वजातिमत्वमिति गुणसामान्यलक्षणम्।"—प्रशस्तपाद

"विश्वलक्षणा गुणाः।" —रस वैशेषिक सूत्र १/१६

गुण सम्बन्धी उपर्युक्त परिभाषाओं में आचार्यों ने स्वकीय दृष्टिकोण के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार से गुण का लक्षण कहा है। इन लक्षणों में यद्यपि विशेष अन्तर नहीं है, किन्तु फिर भी कुछ भिन्नता अवश्य है।

गुण के उपर्युक्त लक्षण के अनुसार जो द्रव्य में समवाय सम्बंध (नित्य सम्बन्ध) से रहता हो, चेष्टा रहित हो, स्वयं भी चेष्टा (क्रिया या कर्म) रूप न हो, स्वयं निर्गुण (गुण रहित) हो तथा स्वसमान गुणान्तर (अन्य गुण) की उत्पत्ति में कारणभूत हो वह 'गुण' कहलाता है। अभिप्राय यह है कि जो द्रव्य में आश्रय करके रहता (द्रव्याश्रयी) हो, गुण रहित हो, कर्म रहित या कर्म से भिन्न हो और जो स्वसमान गुणान्तर की उत्पत्ति में असमवायी कारण हो उसे गुण कहते हैं।

उपर्युक्त प्रकार से गुण का जो लक्षण प्रतिपादित किया गया है उसमें प्रत्येक पद सकारण, अपेक्षित एवं महत्वपूर्ण है। क्योंकि जिस प्रकार द्रव्य से गुण का नित्य सम्बन्ध है उसी प्रकार द्रव्य से कर्म का भी नित्य सम्बन्ध है। इसीलिए कर्म से भिन्न जो पदार्थ समवाय सम्बन्ध से द्रव्य में रहता हो वह गुण कहलाता है। किन्तु गुण की यह परिभाषा भी निर्दोष एवं समीचीन नहीं है। क्योंकि द्रव्य में द्रव्यत्व भी समवाय सम्बन्ध से रहता है और वह द्रव्यत्व कर्म से भिन्न भी है। अतः गुण की यह परिभाषा द्रव्य में भी संघटित हो जाने से अतिव्याप्ति दोष आ जाता है। इसलिये गुण की यह परिभाषा समुचित एवं उपयुक्त नहीं है।

गुण की सामान्य परिभाषा करने के लिये यह कहना पड़ेगा कि जो पदार्थ कर्म से भिन्न हो, समवाय सम्बन्ध से द्रव्य में रहता हो तथा गुण और कर्म का आश्रय न हो वह गुण कहलाता है। इस प्रकार की परिभाषा करने पर गुण का लक्षण द्रव्य में अतिव्याप्त नहीं होता। क्योंकि द्रव्य तो मुख्य रूप से गुण और कर्म का ही आश्रय है। जबकि गुण स्वयं निर्गुण एवं कर्मरहित होता है। इसीलिए गुण के लक्षण में "निष्क्रिया निर्गुणाः गुणाः" कहा गया है।

किन्तु गुण का इस प्रकार का लक्षण करने पर भी यह लक्षण सामान्य और विशेष में घटित हो जाता है। क्योंकि सामान्य और विशेष दोनों ही कर्म से भिन्न हैं, दोनों ही गुण व कर्म से रहित हैं तथा दोनों ही द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। अतः गुण का उपर्युक्त लक्षण सामान्य विशेष में अतिव्याप्त होने से निर्दुष्ट नही कहा जा सकता। गुण का निर्दुष्ट एवं सर्वमान्य लक्षण बनाने के लिये उसको परिभाषा निम्न प्रकार से करनी होगी—जो पदार्थ कर्म से भिन्न हो, गुण और कर्म से रहित हो, समवाय सम्बन्ध से द्रव्य में रहता हो तथा कार्य के प्रति असमवायि कारण हो अर्थात् स्वसमानगुणान्तर की वृद्धि करने वाला हो उसे 'गुण' कहते हैं। गुण की उपर्युक्त परिभाषा करने पर सामान्य और विशेष में गुण के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती है। क्योंकि कारणत्व सामान्य-विशेष में नहीं होता है। अतः गुण का यह लक्षण पूर्णतः निर्दुष्ट एवं परिपूर्ण है।

ऊपर कहा जा चुका है कि गुण एक स्वतन्त्र पदार्थ है। गुण के स्वतन्त्र पदार्थ होने का कारण यह है कि गुण का जो लक्षण बतलाया गया है वह लक्षण किसी अन्य में घटित नहीं होता। इसके अतिरिक्त गुण में स्वतंन्त्र गुणत्व जाति रहती है। गुणत्व जाति वाला होने से गुण एक स्वतन्त्र पदार्थ है। जैसे द्रव्य में द्रव्यत्व जाति और कर्म में कर्मत्व-जाति होती है उसी भांति गुण में भी गुणत्व जाति होती है। गुणत्व जाति के बिना कोई पदार्थ गुण नहीं कहला सकता।

एक अन्य आचार्य ने गुण का लक्षण भिन्न प्रकार से किया है। उनके मतानुसार **"विश्वलक्षणा गुणाः"** अर्थात् जिनका लक्षण विश्व रूप में हो। विश्व की भांति फैले हुए विकीर्ण या भिन्न लक्षण वृत्ति वाले पदार्थ को गुण कहते हैं। आचार्य भदन्त नागार्जुन के मतानुसार संसार में भिन्न भिन्न प्रकार के गुण विद्यमान रहते हैं। उन सब को एक श्रेणी में या एक लक्षण में बांध कर रखना सम्भव नहीं है। भिन्न भिन्न गुण होने के कारण उनका लक्षण भी भिन्न भिन्न ही होगा। जैसे शीत-उष्ण आदि गुण स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य हैं, स्निग्ध और रूक्ष गुण चक्षुग्राह्य और स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य हैं। इस प्रकार समस्त गुण भिन्न भिन्न लक्षण वाले होने से उनका एक ऐसा लक्षण नहीं बन सकता जिसमें सब गुणों का अन्तर्भाव होता है। अतः गुण विश्व लक्षण अर्थात् भिन्न भिन्न लक्षण वाले हैं। इसी कारण से उनका एतद्विध लक्षण किया गया है।

गुण—लक्षण का विमर्श करने के उपरांत निष्कर्ष यह निकलता है कि जिसमें निम्न बातें पाई जावें वह गुण कहलाता है—

१—द्रव्याश्रयी (द्रव्य के आश्रित) हो।

२—निर्गुण (गुण से रहित) हो।

३—निष्क्रिय (कर्म से रहित) हो।

४—स्वयं कर्म रूप न हो।

५—कार्य के प्रति असमवायि कारण अथवा स्वसमान गुणान्तर की उत्पत्ति करने वाला हो। संयोग-विभाग में अनपेक्ष कारण न हो।

६—गुणत्व जाति वाला हो।

उपर्युक्त छः लक्षणों वाला गुण होता है।

गुण संख्या

आयुर्वेद में गुणों की संख्या इकतालीस स्वीकार की गई है। किन्तु वैशेषिक मतानुसार केवल चौबीस गुण ही माने गए हैं। आयुर्वेद में जो ४१ गुण माने गये हैं उनको चार श्रेणी में विभक्त कर दिया गया है। यथा, वैशेषिक गुण सामान्य गुण तथा आध्यात्मिक या आत्म गुण। पुनः सामान्य गुण दो प्रकार के होते हैं—कर्मण्य सामान्य गुण (ये शारीर गुण भी कहलाते हैं) तथा परादि सामान्य गुण। इनमें वैशेषिक गुण पांच, कर्मण्य सामान्य गुण बीस, आध्यात्मिक या आत्म गुण छह तथा परादि सामान्य गुण दस, इस प्रकार कुल इकतालीस गुण होते हैं।

कुछ आचार्यों ने गुणों की संख्या छियालीस मानी है। वे उपर्युक्त ४१ गुणों के अतिरिक्त ५ अन्य गुणों को और मानते हैं। इसमें से तीन महागुण होते हैं और दो निमित्त गुण होते हैं।

आयुर्वेदोक्त ४१ गुण निम्न प्रकार हैं—

सार्था गुर्वादयो बुद्धिः प्रयत्नान्ता परादयः।

गुणाः प्रोक्ताः————————॥ —चरक संहिता, सूत्र स्थान १।४९

अर्थ—पाँचों इन्द्रियों के अर्थ (विषय) अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पांच को वैशेषिक गुण कहा गया है। क्योंकि ये प्रत्येक महाभूत के अपने विशेष गुण हैं। एक महाभूत के गुण अन्य महाभूतों में भी उपलब्ध होते हैं। वे भूतान्तरानुप्रवेश से (अन्य महाभूतों के संयोगवश) आते हैं। गुरु-लघु, शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष मन्द-तीक्ष्ण, स्थिर-सर, मृदु-कठिन, विशद-पिच्छिल, श्लक्ष्ण-खर, स्थूल-सूक्ष्म, सान्द्र-द्रव ये २० गुण कर्मण्य सामान्य गुण कहलाते हैं। आचार्य श्री गंगाधर जी ने इन्हें **"शारीर गुण"** की संज्ञा दी है। शरीर में इन गुणों के आधार पर ही कर्म होता है अर्थात् शरीर में द्रव्य का प्रयोग करने के पश्चात् सूक्ष्म से सूक्ष्म जितनी भी क्रियाएं होती हैं वे सब इन गुणों पर ही आधारित रहती हैं, अतः इन्हें कर्मण्य गुण कहा जाता है। ये गुण सामान्यतया पृथिव्यादि महाभूतों में वर्तमान रहते हैं, अतः इन्हें **"सामान्य गुण"** भी कहा जाता है। शरीर के लिए विशेषतः इन्हीं गुणों की उपयोगिता होने से इन्हें **"शारीर गुण"** भी कहा जाता है। बुद्धि (ज्ञान) जिसके अन्तर्गत स्मृति, चेतना,

धृति, अहंकार आदि आत्मा के गुणों का भी समावेश है, अर्थात् बुद्धि शब्द से स्मृति आदि इन गुणों का भी ग्रहण कर लेना चाहिए, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और प्रयत्न ये छह आत्मा के विशेष गुण होने से "आध्यात्मिक" या "आत्म गुण" कहलाते हैं। परत्वादि दस गुण भी सामान्य गुण ही कहलाते हैं। इन्हें साधारण गुण भी कहा जाता है। ये गुण मुख्यतः द्रव्य के आभ्यन्तरिक न होकर बाह्य होते हैं। अतः इनकी साधारण संज्ञा है। परत्वादि दस गुण निम्न हैं—परत्व, अपरत्व, युक्ति, संख्या, संयोग, विभाग, पृथक्त्व, परिमाण, संस्कार और अभ्यास। इस प्रकार कुल ४१ गुण होते हैं। इन ४१ गुणों में से गुर्वादि द्रवान्त २० गुणों का उपयोग आयुर्वेद में मुख्य रूप से होता है।

अन्य आचार्यों ने इन ४१ गुणों के अतिरिक्त पांच और भी गुणों को माना है, जिससे गुणों की कुल संख्या ४६ हो जाती है। अतिरिक्त ५ गुणों में सत्व, रज और तम ये तीन महागुण होते हैं जैसा कि वाग्भट् ने बतलाया है—

सत्वरजस्तमश्चेति त्रयो प्रोक्ता महा गुणाः। —अष्टांग संग्रह, सूत्रस्थान, १

इनके अतिरिक्त धर्म और अधर्म ये दो गुण और होते हैं जो तिर्यञ्च, मानुष और देवयोनि में आत्मा के परिभ्रमण में निमित्त बनते है। अतः ये "निमित्त गुण" कहलाते हैं।

आयुर्वेद में इन पांचों गुणों की विशेष उपयोगिता नहीं होने से गुण गणना में इनका परिगणन नहीं किया गया।

वैशेषिक मतानुसार गुणों की संख्या २४ मानी गई है। उन्होंने अन्य गुणों का समावेश इन्हीं २४ गुणों में कर लिया है। वैशेषिक मत समस्त २४ गुण निम्न लिखित होते हैं—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, द्रवत्व गुरुत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म, और शब्द। यहां यह स्मरणीय है कि कारिकावलि में धर्म और अधर्म गुण के लिए अदृष्ट शब्द का प्रयोग किया गया है। अतः अदृष्ट शब्द से धर्म और अधर्म दोनों ही गुणों का ग्रहण कर लेना चाहिये। यहां पर ध्यान रखना चाहिये कि इन चतुर्विंशति गुणों का उल्लेख वैशेषिक दर्शन के मतानुसार किया गया है। अर्थात् वैशेषिक दर्शन के मतानुयायी केवल २४ गुणों को ही मानते हैं, किन्तु इसके पहले गुण संख्या प्रकरण के प्रारम्भ में गुणों का जो श्रेणी विभाजन किया गया है और उसमें जिन पांच वैशेषिक गुणों का निर्देश किया गया है वे इन गुणों से भिन्न हैं। अर्थात् पांच महाभूतों के **विशेष गुण होने से उन्हें वैशेषिक गुण की संज्ञा दी गई है।**

वैशेषिक गुण

इनकी संख्या पांच होती है। ये पांच गुण पांचों महाभूतों के होते हैं। प्रत्येक महाभूत का पृथक् पृथक् विषेष गुण होता है। अतः इन्हें वैशेषिक गुण कहा जाता है। यथा—

महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथ।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः॥

—**चरक संहिता**, शारीरस्थान १।२७

अर्था: शब्दादयो ज्ञेया गोचरा विषया गुणाः।

—**चरक संहिता**, शारीरस्थान १।३१

पंचेन्द्रियार्थाः—शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः।

—**चरक संहिता**, सूत्रस्थान ८।३१

पाँच महाभूत आकाश, वायु, अग्नि, जल पृथ्वी होते हैं। इनके विशेष गुण क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध होते हैं। अर्थात् आकाश महाभूत का विशेष गुण शब्द, वायु महाभूत का विशेष गुण स्पर्श, अग्नि महाभूत का विशेष गुण रूप, जल महाभूत का विशेष गुण रस और पृथ्वी महाभूत का विशेष गुण गन्ध होता है। इन विशेष गुणों का ग्रहण एक एक ज्ञानेन्द्रिय के द्वारा होता है। अतः ये इन्द्रियार्थ या इन्द्रियों के विषय भी कहलाते हैं। जिस ज्ञानेन्द्रिय में जिस महाभूत की अधिकता होती है वह ज्ञानेन्द्रिय उसी महाभूत के विशेष गुण का ग्रहण करती है। जैसे आकाशीय होने से श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा केवल शब्द गुण का ग्रहण होता है, वायव्य होने से स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा केवल स्पर्श गुण का ग्रहण होता है, आग्नेय होने से चक्षु के द्वारा केवल रूप गुण का ग्रहण होता है, जलीय होने से रसनेन्द्रिय के द्वारा केवल रस गुण का ग्रहण होता है और पार्थिव होने से घ्राणेन्द्रिय के द्वारा केवल गन्ध गुण का ग्रहण होता है। इस प्रकार महाभूतों के विशेष गुण का ग्रहण या ज्ञान नियत इन्द्रियों के द्वारा होता है। इन्हें अर्थ, विषय, ज्ञेय और गोचर संज्ञा के द्वारा भी व्यवहृत किया जाता है।

इन पांचों वैशेषिक गुणों का स्वतन्त्र उल्लेख वैशेषिक दर्शनोक्त चतुर्विंशति गुणों में भी किया गया है। अर्थात् इनकी स्वतंत्र सत्ता होने से किसी अन्य गुण में इनका या इनमें से किसी एक का भी अन्तर्भाव नहीं किया गया है।

कर्मण्य सामान्य गुण

आयर्वेद में इन गुणों की विशेष उपयोगिता है। उन्हें कर्मण्य गुण कहने का कारण यह है कि शरीर में जब किसी द्रव्य का प्रयोग किया जाता है तो उसके द्वारा शरीर में किसी न किसी प्रकार का कर्म अवश्य होता है। वह कर्म पूर्णतः गुण पर आधारित रहता है। अर्थात् द्रव्य में जिस प्रकार का गुण होता है उसी प्रकार के कर्म का सम्पादन होता है। यथा स्निग्ध द्रव्य घृतादि के प्रयोग से उसके स्नेह गुण के कारण शरीर में स्नेहन कर्म होता है। इसी भांति अन्य गुणों के विषय में भी ससझना चाहिए।

इन कर्मण्य गुणों को '**शारीर गुण**' की संज्ञा भी दी गई है। यह कविराज गंगाधर जी का मत है।

इन गुणों की संख्या २० होती है। यथा—

"**गुर्वादयस्तुगुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षमन्दतीक्ष्णस्थिरसरमृदुकठिनविशदपिच्छिल-श्लक्ष्णखरस्थूलसूक्ष्मसान्द्रद्रवा विंशतिः। एते च सामान्यगुणाः पृथिव्यादीनां साधारणत्वात्।**"

—**चक्रपाणि**

अर्थात् गुरु-लघु शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष, मन्द-तीक्ष्ण, स्थिर-सर, मृदु-कठिन, विशद-पिच्छिल, श्लक्ष्ण-खर, स्थूल-सूक्ष्म, सान्द्र-द्रव ये बीस गुण होते हैं। पृथ्वी आदि में ये सामान्यतः रहते हैं, अतः इन्हें सामान्य गुण कहा जाता है। इन गुणों के आधार पर ही शरीर में क्रिया होती है। अतः ये कर्मण्य सामान्य गुण कहलाते हैं।

रस वैशेषिक सूत्र में आचार्य भदन्त नागार्जुन ने कर्मण्य गुणों की संख्या केवल दस बतलाई है। यथा—"**शीतोष्ण-स्निग्ध-रूक्ष-विशद-पिछल-गुरु-मृदु-तीक्ष्ण गुणाः कर्मण्यः।**" बतलाया गया है कि चिकित्सा कर्म में इन गुणों की विशेष उपयोगिता होने के कारण इन्हें कर्मण्य गुण कहा गया है। किन्तु अन्य दस गुण जिनका परिगणन यहाँ नहीं किया गया है, चिकित्सा कर्म में उपयोगी होते है। अतः उनका भी ग्रहण कर लेना चाहिए। आयुर्वेद में कर्मण्य गुण २० ही माने गए हैं। जैसा कि चक्रपाणि दत्त के उपर्युक्त वचन से एवं अष्टांग हृदय के निम्न वचन से स्पष्ट है—

गुरु-मन्द-हिम-स्निग्ध-श्लक्ष्ण-सान्द्र-मृदु-स्थिराः।
गुणाः ससूक्ष्मविशदा विंशति सविपर्ययाः॥ —**अष्टांग हृदय, सूत्रस्थान**

ऊपर जिन गुरु आदि बीस गुणों का उल्लेख किया गया है, चिकित्सा कर्म में इन गुणों की ही अधिक उपयोगिता है। यद्यपि गुरु आदि शब्द का व्यवहार सामान्यतः द्रव्यों के विशेषण के रूप में किया जाता है। जैसे अमुक द्रव्य गुरु है, अमुक द्रव्य लघु है आदि। किन्तु गुणों के प्रसंग में इन्हें भाव वाचक समझना चाहिए। अर्थात् गुरु शब्द से गुरुता या गौरव, लघु से लघुता या लाघव, स्निग्ध से स्निग्धता आदि का ग्रहण करना चाहिए। जैसा कि आचार्य चक्रपाणि दत्त का अभिमत है—

"**रूक्षादयो भावप्रधानाः तेन रूक्षत्वादयो गुणा मन्तव्याः।**"

विभिन्न द्रव्यों में रुक्षत्व आदि जो गुण होते हैं उन्हीं के आधार पर शरीर में विभिन्न प्रकार की क्रियाएं होती हैं। उन क्रियाओं को देखकर ही गुण के विषय में अनुमान लगाया जाता है कि अमुक गुण के कारण शरीर में अमुक प्रकार की क्रिया हुई। अतः गुण के अस्तित्व का अनुमान तज्जनित कर्म के आधार पर होने का प्रमाण शास्त्रों में भी उपलब्ध होता है। जैसा कि सुश्रुत के निम्न वचन से स्पष्ट है—

"कर्मभिस्त्वनुमीयन्ते नानाद्रव्याश्रया गुणाः ।"

—सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थान ४६/११४

इसका अभिप्राय यह है कि सामान्य व्यवहार में जिन द्रव्यों को गुरु(भारी), लघु (हल्का), स्निग्ध (चिकना), आदि कहा जाता है, आयुर्वेदीय द्रव्य गुण शास्त्र के अनुसार उनको गुरु लघु आदि नहीं माना गया है, किन्तु द्रव्यों के सेवन के पश्चात् शरीर में जाकर ये गुण गौरव (गुरुता), लाघव (लघुता) आदि भावों को उत्पन्न करते हैं। अतः इस आधार पर इनमें गुरु, लघु आदि का अनुमान किया जाता है।

गुरु-लघु आदि गुण द्रव्यों में कभी स्वाभावतः ही होते हैं। यथा-माष (उड़द) में जो गुरुता होती है वह स्वभाव सिद्ध है। ऐसे द्रव्यों को प्रकृति-गुरु कहते हैं। ये गुण कभी संस्कार वश भी द्रव्य में समुत्पन्न हो जाते हैं—अर्थात् द्रव्यों को सेवन योग्य बनाने के लिए जो पाक आदि प्रक्रियाएं की जाती हैं उन प्रक्रियाओं के परिणाम स्वरूप गुणों की उत्पत्ति या न्यूनाधिकता होती रहती है। संस्कार प्रायः गुणान्तराधान के लिए ही किया जाता है। कहा भी है—'**संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते** ।" जैसे अत्यधिक पाक करने से दूध गुरु हो जाता है, खील के रूप में चावल हल्का और वमनहर हो जाता है। कभी कभी ये गुण मात्रा की न्यूनाधिकता से भी उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे लघु गुणवाली वस्तु भी यदि अधिक मात्रा में सेवन की जाय तो गुरु हो जाती है और गुरु वस्तु भी मात्रावत् सेवन करने से लघु सिद्ध होती है।

आध्यात्मिक गुण

इनकी संख्या ६ होती है। यथा—बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न। आत्मा में इन गुणों की विशेष संवित्ति होने के कारण ये अध्यात्मिक गुण कहलाते हैं। इन्हें आत्मगुण भी कहा जाता है। यद्यपि स्मृति, चेतना, धृति, अहंकार आदि गुण भी आत्मा के ही होते हैं, किन्तु ये बुद्धि की ही अवस्था विशेष होने के कारण इनका समावेश बुद्धि के अन्तर्गत ही कर लिया गया है। प्रकरणान्तर से आत्मा के निम्नलिखित गुण भी बतलाए गए हैं—

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः ।
बुद्धि स्मृत्यहंकारो लिंगानि परमात्मनः ॥

—चरक संहिता, शारीर स्थान १/७१

अर्थात् इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न, चेतना, धृति, बुद्धि, स्मृति और अहंकार ये आत्मा के लक्षण (गुण) हैं।

आचार्य शिवदास सेन ने धृति, चेतना, स्मृति और अहंकार को बुद्धि के अन्तर्गत ही समाविष्ट कर लिया है। यथा—"**बुद्धि ज्ञानम् अनेन च स्मृति-चेतना धृत्यहंकारादीनां बुद्धिविशेषाणां ग्रहणम्** ।" अर्थात् अध्यात्म गुण संग्रह में जिन छह गुणों का

परिगणन किया गया है उनमें बुद्धि शब्द से स्मृति, चेतना, धृति और अहंकार का भी ग्रहण कर लेना चाहिये। क्योंकि ये चारों गुण बुद्धि विशेष होने से इनका स्वतन्त्र परिगणन नहीं किया गया है।

परादि सामान्य गुण

पर गुण है आदि में जिसके ऐसे परादि गुण हैं। इन्हें सामान्य गुण भी कहा जाता है। पूर्वोक्त कर्मण्य सामान्य गुणों से सर्वथा भिन्न होने के कारण इन परादि गुणों का स्वतंत्र पाठ किया गया है। इसके अतिरिक्त गुर्वादि २० गुणों की अपेक्षा आयुर्वेद में इनकी संख्या दस होती है। ये दस गुण निम्नलिखित हैं—

परापरत्वे युक्तिश्च संख्या संयोग एव च ।
विभागश्च पृथक्त्वञ्च परिमाणमथापि वा ॥
संस्कारोऽभ्यास इत्येते गुणाः प्रोक्ताः परादयः ॥

—चरक संहिता, सूत्रस्थान, २६/४७-४८

परत्व, अपरत्व, युक्ति, संख्या, संयोग, विभाग, पृथक्त्व, परिमाण, संस्कार और अभ्यास ये परादि सामान्य गुण कहलाते हैं।

ये परादि दस गुण गुर्वादि गुणों की भाँति द्रव्यों के अन्तः स्थित नहीं होते, इनका प्रयोग बहिरंग के रूप में होता है। अतः ये साधारण गुण होते हैं और साधारण होने से इन्हें सामान्य गुण कहा जाता है। इन गुणों का ज्ञान प्राप्त कर लेने से चिकित्सा कार्य में सुविधा होती है, अतः आयुर्वेद में इन गुणों का वर्णन किया गया है।

गुणों का परिचय

आयुर्वेद में गुणों की कुल संख्या ४१ बतलाई गई है। यहां उन्हीं गुणों का विस्तृत परिचय दिया जा रहा है।

वैशेषिक गुण

संख्या में ये गुण ५ होते हैं। यथा-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध। इन गुणों का सामूहिक परिचय इसी गुण प्रकरण में पहले दिया जा चुका है। यहाँ उनका एकैकशः विस्तृत वर्णन किया जा कहा है।

शब्द

"श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यो गुणः शब्दः ।"

"श्रोत्रग्राह्यो गुणः शब्दो ध्वनिर्वर्ण इति द्विधा ।"

"कार्यकारणोभयविरोधी संयोगविभागौ शब्दजः प्रदेशवृत्तिः समानासमान जातीय करणः ।"

"आकाशादि पंचवृत्तिराकाशस्य गुणो मतः ।।"
'शब्दोऽम्बरगुणः श्रोत्रग्राह्यः क्षणिकः ।" —प्रशस्तापाद
'श्रोत्रोपलब्धिबुद्धिनिग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलति आकाशदेशः शब्दः ।"

—महाभाष्य

जिस गुण का ग्रहण श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा होता है वह शब्द कहलाता है। यह शब्द आकाश महाभूत का विशेष गुण है। श्रोत्रेन्द्रिय आकाश महाभूत प्रधान होती है, अतः वह केवल शब्द का ही ग्रहण करती है, अन्य का नहीं। इसी भांति शब्द का ज्ञान भी अन्य किसी इन्द्रिय के द्वारा नहीं होता। क्योंकि अन्य इन्द्रियों में आकाश महाभूत की प्रधानता नहीं होती। यह शब्द क्षणिक होता है। कार्य-कारण दोनों का विरोधी है। यह संयोग और विभाग तथा शब्द से उत्पन्न होने वाला है, एक देश में रहने वाला अर्थात् अव्याप्त वृत्ति वाला होता है। भूतान्तरानुप्रवेश होने के कारण यह पांचों महाभूतों में सामान्यतः पाया जाता है।

महाभाष्य के अनुसार शब्द उसे कहते हैं जो कान से सुना जाय, बुद्धि जिसका भली भांति ग्रहण करे, वाणी के द्वारा बोलने से (प्रयोग करने) से जो जाना जाय तथा आकाश जिसका स्थान हो।

उत्पत्ति और भेद

"संयोगाद्विभागाच्छब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः।"

"तत्र वर्णलक्षणस्योत्पत्तिः—आत्ममनसः संयोगात् स्मृत्यपेक्षाद्वर्णोच्चारणेच्छा, तदनन्तरं प्रयत्नस्तमपेक्षमाणादात्मवायुसंयोगाद्वायौ कर्म जायते स चोर्ध्वं गच्छन् कण्ठादीनमभिहन्ति, ततः स्थानवायुसंयोगापेक्षमाणात् स्थानाकाशसंयोगात् वर्णोत्पत्तिः।"

"अवर्णलक्षणोऽपि भेरीदण्डसंयोगापेक्षाद् भेर्याकाशसंयोगादुत्पद्यते। वेणुपर्वविभागात् वेण्वाकाशविभागाच्च शब्दाच्च संयोगविभागनिष्पन्नाद् वीचिसन्तानवच्छब्दसन्तान इत्येवं सन्तानेन श्रोत्रप्रदेशमागतस्य ग्रहणं नास्ति परिशेषात् सन्तानसिद्धिरिति।"

—प्रशस्तपाद

अर्थात् संयोग, विभाग और शब्द से शब्द की उत्पत्ति होती है। भेरी दण्ड आदि के संयोग, वेणु-पर्व (बांस की गांठ) का विभाग तथा वीचीतरंग न्याय के द्वारा शब्द से शब्द की उत्पत्ति होती है। इनमें वर्ण लक्षणात्मक (अकरादि तथा कवर्गादि) शब्द की उत्पत्ति निम्न प्रकार से होती है—आत्मा और मन के संयोग से स्मृति की अपेक्षापूर्वक वर्ण के उच्चारण की इच्छा होती है। तत्पश्चात् प्रयत्न आरम्भ होता है। इस प्रयत्न की अपेक्षा से आत्मा और वायु का संयोग होने से वायु में कर्म की उत्पत्ति होती

है तब वायु ऊपर की ओर जाता हुआ कण्ठ (स्वरयन्त्र) आदि प्रदेश को आहत करता है, जिसके फलस्वरूप स्थानीय वायु के संयोग से वर्णोत्पत्ति होती है।

अन्य अवर्ण (ध्वनि) लक्षणात्मक शब्द भेरी (वाद्ययन्त्र) और दण्ड के संयोग से तथा भेरी आकाश के संयोग से उत्पन्न होता है। वेणु पर्व के विभाग से तथा वेणु आकाश के विभाग से शब्द की उत्पत्ति होती है। एतद्विध संयोग तथा विभाग से समुत्पन्न हुआ शब्द वीचीतरंग न्याय से श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा ग्रहण किया जाता है। क्योंकि शब्द स्वयं श्रोत्र प्रदेश में नहीं जाता और न श्रोत्र ही शब्द के पास आता है, अपितु वीचीतरंग न्याय से श्रोत्र के द्वारा शब्द का ग्रहण होता है। जिस प्रकार एक तरंग से दूसरी तरंग की, दूसरी से तीसरी तरंग की, तीसरी से चौथी तरंग की, अर्थात् एक तरंग से उत्तरोत्तर तरंग की उत्पत्ति होती है उसी भाँति आकाश प्रदेश में समुत्पन्न हुए शब्द की क्रमिक तरंगों द्वारा प्रवृत्ति होती है जिससे श्रोत्रेन्द्रिय को शब्दज्ञान होता है। यही 'वीची तरंग न्याय' कहलाता है।

शब्द सामान्यतः दो प्रकार का होता है—वर्ण लक्षणात्मक और ध्वनि लक्षणात्मक। इसमें वर्ण लक्षणात्मक शब्द कवर्ग, चवर्ग आदि पाँच वर्गों वाला होता है। ध्वनिलक्षणात्मक शब्द स्वर प्रधान होता है। इसमें अकारादि स्वरों का समावेश रहता है तथा शंख, मृदंग, भेरी, मोटर आदि के स्वर (वर्ण रहित) शब्द इसके अन्तर्गत जाने जाते हैं। इन्हें अवर्ण लक्षणात्मक शब्द भी कहा जाता है।

वर्णात्मक शब्द पुनः दो प्रकार के होते हैं—सार्थक और निरर्थक। सार्थक शब्द राम, नदी, वृक्ष, पर्वत वाराणसी आदि संज्ञा रूप में तथा अस्ति, भवति, पचति, गच्छति आदि क्रिया रूप में होता है। ये शब्द अर्थ विशेष का ज्ञान कराते हैं। अतः अर्थयुक्त होने से सार्थक कहलाते हैं। निरर्थक शब्द वे होते हैं जिनसे किसी अर्थ विशेष का बोध नहीं होता या जो अर्थरहित होते हैं। जैसे दैनिक व्यवहार में प्रयुक्त होने वाले खाना वाना, गाय वाय, रोटी ओटी आदि। इनमें वाना, वाय, ओटी आदि ऐसे शब्द हैं जो अर्थ शून्य है अर्थात् उन शब्दों से किसी अर्थ विशेष का बोध नहीं होता। व्याकरण के नियम के अनुसार निरर्थक शब्द पद नहीं बन सकते और उनके समूह से न वाक्य रचना ही सम्भव है।

सार्थक शब्द पुनः दो प्रकार के होते हैं—मिथ्या और यथार्थ। मिथ्या शब्द शठतापूर्ण, अज्ञान युक्त, असत्य भाषण, आडम्बर पूर्ण, मिथ्या ज्ञान युक्त, निःसार या तथ्य हीन तथा असंगति युक्त होते हैं। ऐसे शब्द मनुष्यों का सही मार्ग दर्शन एवं सम्यक् ज्ञानोपलब्धि कराने में असमर्थ रहते हैं, अतः उन्हें प्रमाण स्वरूप नहीं माना जाता।

इसके विपरीत यथार्थ शब्द प्रमाण की कोटि में लिये जाते हैं। यथार्थ शब्दों में ही सम्यक् ज्ञान की निधि का संचय रहता है। निर्मल ज्ञान से युक्त आप्त पुरुषों द्वारा जिन वचनों या शब्दों का प्रयोग किया जाता है वे ही यथार्थ शब्द कहलाते हैं। **"आप्त वाक्यं प्रमाणम्"** के अनुसार आप्त पुरुष जिन वाक्यों का प्रयोग करते हैं वे वाक्य शब्द समूह से निर्मित होते हैं, वे शब्द यथार्थ होते हैं, अतः वे प्रमाण स्वरूप होते हैं। उन यथार्थ शब्दों से जो ज्ञान समुत्पन्न होता है वह सम्यक् ज्ञान कहलाता है और वही सम्यक् ज्ञान प्रमाण होता है।

इस प्रकार शब्द के उपर्युक्त भेद होते हैं। शब्द के उपर्युक्त भेदों को निम्न तालिका के द्वारा सरलता पूर्वक समझा जा सकता है—
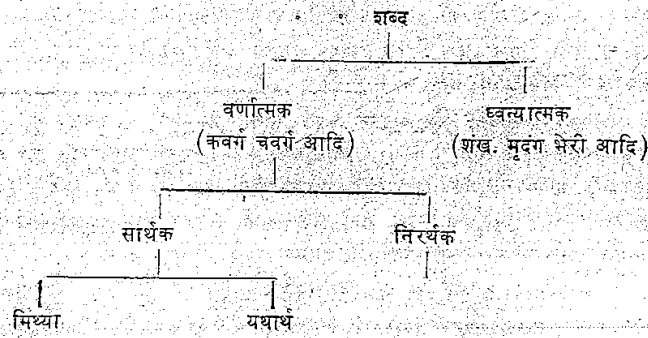
स्पर्श निरूपण

"स्पर्शस्त्वगिन्द्रियग्राह्यः वायोर्वैशेषिको गुणः।
"अनुष्णशीतशीतोष्णकाठिन्यादिप्रभेदवान् ॥"

स्पर्शस्त्वगिन्द्रियग्राह्यःक्षित्युदकज्वलनपवनवृत्तिः, त्वग् सहकारी, रूपानुविधायी, शीतोष्णानुष्णशीतभेदात् त्रिविधः। **—प्रशस्तपाद**

"त्वगिन्द्रियमात्र ग्राह्यो गुणः स्पर्शः।"

अर्थात् केवल स्पर्शनेन्द्रिय (त्वचा) के द्वारा जिस गुण का ज्ञान होता है वह स्पर्श कहलाता है। यह स्पर्श वायु महाभूत का विशेष गुण होता है। त्वगिन्द्रिय में वायु महाभूत की प्रधानता रहती है। अतः उसके द्वारा केवल स्पर्श का ही ग्रहण होता है, अन्य गुण का नहीं। इसी भांति स्पर्श गुण का ज्ञान केवल त्वगिन्द्रिय के द्वारा होता है, अन्य इन्द्रिय के द्वारा नहीं। सामान्यतः स्पर्श गुण वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी में होता है, अन्य में नहीं। यह बोधगम्य एवं रूपानुविधायी होता है।

स्पर्श गुण के उपर्युक्त लक्षण में त्वचा मात्र से न कह कर यदि ऐसा कहा जाय कि त्वचा के द्वारा जिस गुण का ज्ञान होता है वह स्पर्श कहलाता है तो संख्या, और संयोग गुण का भी त्वचा एवं नेत्र के द्वारा ग्रहण होता है, इससे संख्या, और संयोग में भी स्पर्श का लक्षण अतिव्याप्त हो जाता है। अतः संख्या एवं संयोग गुण में अतिव्याप्ति वारणार्थ 'मात्र' शब्द का प्रयोग किया गया। इसी प्रकार यदि गुण पद का प्रयोग नहीं किया जाता तो त्वचा मात्र द्वारा स्पर्शत्व जाति में अतिव्याप्ति होती है, अतः उसके वारणार्थ गुण पद का तथा रूपादि गुणों में अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'त्वगिन्द्रियमात्रग्राह्य' पद का सन्निवेश किया गया।

स्पर्श तीन प्रकार का होता है—उष्ण, शीत और अनुष्णशीत। अग्नि में उष्ण स्पर्श, जल में शीत स्पर्श और पृथ्वी तथा वायु में अनुष्णशीत स्पर्श रहता है। इस प्रकार पृथ्वी, जल, तेज और वायु त्रिविध रूप स्पर्श के आधार हैं।

रूप निरूपण

"चक्षुमात्रग्राह्यो गुणो रूपम्" **—तर्क संग्रह**

"तत्र रूपं चक्षुर्ग्राह्यम्। पृथिव्युदकज्वलनवृत्ति द्रव्याद्युपलम्भकं नयनसहकारि शुक्लाद्यनेकप्रकारं सलिलादिपरमाणुषु नित्यं पार्थिवपरमाणुष्वग्निसंयोगविरोधि सर्व कार्यद्रव्येषु कारणगुणपूर्वकमाश्रयविनाशादेव विनश्यति।" **—प्रशस्तप**

"रूपं चक्षुर्मात्रग्राह्यं तेजसस्तु गुणः स्मृतः।
तच्च सप्तविधं नीलं पीतं रक्तादि भेदतः ॥"

अर्थ—जिस गुण का ग्रहण केवल चक्षु इन्द्रिय के द्वारा होता है वह रूप कहलाता है। यह रूप अग्नि महाभूत का विशेष गुण होता है। चक्षु इन्द्रिय अग्निमहाभूत प्रधान होती है, अतः चक्षु के द्वारा केवल अग्नि के विशेष गुण रूप का ही ग्रहण होता है, अन्य विषयों का नहीं।

यह रूप गुण पृथ्वी, उदक और अग्नि में रहता है। यह द्रव्य आदि का उपलम्भक है अर्थात् जिस द्रव्य में रूप गुण रहता है उस द्रव्यगत गुण, कर्म और सामान्य (जाति) का अवबोध कराता है। यह नयन सहकारी है अर्थात् नेत्र की सहायता से इनका ज्ञान होता है। यह शुक्ल आदि अनेक प्रकार का होता है। जल आदि (जल और तेज) के परमाणुओं में यह नित्य रूप रहता है। (कार्यभूत जल और तेज में अनित्य रूप होता है। पृथ्वी के परमाणु तथा महापृथ्वी में भी अनित्य और पाकज रूप होता है।) पृथ्वी के परमाणुओं में अग्नि संयोग का विरोधी है। सभी कार्य द्रव्यों में कारण गुण के अनुसार रहता है। आश्रय के विनाश से इसका भी विनाश हो जाता है।

ऊपर रूप का जो लक्षण किया गया है उसमें यदि 'मात्र' का सन्निवेश नहीं किया जाता तो संख्या, संयोग आदि गुणों का ग्रहण चक्षु एवं त्वगिन्द्रिय से भी होता है। इससे रूप का लक्षण अतिव्याप्ति दोष युक्त हो जाता। इस दोष के निवारण के लिए ही 'मात्र' पद का प्रयोग किया गया। संख्या, संयोग आदि गुण चक्षुर्मात्र ग्राह्य नहीं हैं। 'मात्र' पद के प्रयोग से केवल चक्षु ही अभिप्रेत होता है, अतः अतिव्याप्ति नहीं होती। उपर्युक्त लक्षण में 'गुण' पद का सन्निवेश भी महत्वपूर्ण है। चक्षुमात्र के द्वारा केवल रूप गुण का ही ग्रहण नहीं होता अपितु रूपत्व जाति का भी ग्रहण होता है। **"चाक्षुर्मात्रग्राह्यो रूपम्"** ऐसा लक्षण करने से यह लक्षण रूपत्व जाति में भी अतिव्याप्त हो जाता है। अतः इस अतिव्याप्ति दोष के निवारण के लिए गुणपद का सन्निवेश किया गया यदि केवल **'गुणो रूपम्'** इतना ही लक्षण किया जाय तो अन्य रसादिगुणों में भी अतिव्याप्ति ही जाती है। इसके निवारण के लिए **"चक्षुर्मात्रग्राह्य"** पद का सन्निवेश किया गया। इस प्रकार **'चक्षुर्मात्रग्राह्यो गुणो रूपम्'** यह रूप का एक निर्दुष्ट लक्षण बना।

यह रूप सात प्रकार का होता है। यथा—नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश, शुक्ल और चित्र। इन सातों ही प्रकार के रूप का आश्रय पृथ्वी, जल और तेज है। पृथ्वी में सातों प्रकार का रूप रहता है। तेज का रूप भास्वर शुक्ल होता है। भास्वर शुक्ल रूप उसे कहते है जो स्वयं प्रकाश रूप हो और जो वस्तुएं उसके सम्पर्क में आवें उनको भी वह प्रकाशित करे। सूर्य, विद्युत, दीपक आदि का भास्वर शुक्ल रूप होता है। जो रूप श्वेत तो होता है किन्तु उसमें चमक नहीं होती उसे अभास्वर शुक्ल रूप कहते हैं। इस प्रकार का रूप जल में पाया जाता है। जल में प्रकाश हीन शुक्ल रूप होता है।

रस निरूपण

"रसानाग्राह्यो गुणो रसः" —तर्क संग्रह

रसनार्थो रसस्तस्य द्रव्यमापः क्षितिस्तथा।
निर्वृत्तौ च, विशेषे च प्रत्ययाः खादयस्त्रयः॥
—चरक संहिता, सूत्रस्थान १/६३

"रसो रसनाग्राह्यः। पृथिव्युदकवृत्तिः जीवनपुष्टिबलारोग्यनिमित्तं रसना सहकारी, मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायभेदभिन्नः/अस्यापि नित्यानित्यत्वन्निष्पत्तयो रूपवत्।"
—प्रशस्तपाद

"रसस्तु रसनाग्राह्यो जलस्येव गुणो मतः।
अव्यक्तो भूतसंसर्गात्स च षोढा विभिद्यते॥"
"रस्यते आस्वाद्यते इति रसः।"

अर्थ—रसना इन्द्रिय (जिह्वा) के द्वारा जिस गुण का ग्रहण किया जाता है

वह रस कहलाता है। रस जल महाभूत का विशेष गुण होता है। रसना इन्द्रिय जल महाभूत प्रधान होती है, अतः वह केवल रस का ग्रहण करती है, अन्य विषयों का नहीं।

जल और पृथ्वी उसके आधार कारण हैं। रस की उत्पत्ति और उसके मधुर आदि भेद में आकाश, वायु और तेज ये तीन महाभूत निमित्त कारण होते हैं।

रसना के द्वारा ग्राह्य गुण रस कहलाता है। वह पृथ्वी और जल महाभूत में रहता है। वह जीवन पुष्टि, बल और आरोग्य को देने वाला है। रसना की सहायता से उसका ज्ञान होता है। मधुर, अम्ल लवण, कटु, तिक्त और कषाय भेद से वह विभक्त है। वह भी रूप के समान ही नित्य और अनित्य दो प्रकार का होता है।

रस गुण के उपर्युक्त लक्षण में गुण पद का सन्निवेश रसत्व जाति में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति के निवारण हेतु किया गया है। क्योंकि रसना के द्वारा रस गुण के अतिरिक्त रसत्व जाति का भी बोध होता है। इससे गुण पद नहीं देने से रस का लक्षण रसत्व जाति में भी अतिव्याप्त हो जाता है। अतः गुण पद दिया गया है। 'रसना ग्राह्य' पद का सन्निवेश रूपादि गुणों में अतिव्याप्ति के वारण के लिए किया गया है। क्योंकि 'रसना ग्राह्य' पद नहीं देने से अन्य इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य गुणों में भी यह लक्षण अतिव्याप्त हो जाता। इसके निवारण के लिए 'रसना ग्राह्य' पद दिया गया है। इस प्रकार **"रसनाग्राह्यो गुणो रसः"** यह एक निर्दुष्ट लक्षण है।

यह रस छः प्रकार का होता है। यथा—

रसाः स्वाद्वम्ललवणाः तिक्तोषणकषायकाः।
षड्द्रव्यमाश्रितास्ते च यथापूर्वं बलावहाः॥
—अष्टांग हृदय, सूत्रस्थान अ० १

"रसास्तावत् षट् मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायाः।"
—चरक संहिता, विमान स्थान अ० १

मधुर-अम्ल-लवण-कटु-तिक्त-कषाय ये छह रस हैं जो द्रव्यों का आश्रय करके रहते हैं। इनमें अन्त से पूर्व-पूर्व रस अधिक बल देने वाला है। जैसे-कषाय से कटु, कटु से तिक्त, तिक्त से लवण, लवण से अम्ल और अम्ल से मधुर रस विशेष बल देने वाला होता है।

उपर्युक्त षड् विध रस की अभिव्यक्ति महाभूतों के उत्कर्षापकर्ष से होती है। यद्यपि रस का आधार जल और पृथ्वी महाभूत है, तथापि मधुरादि भेद विभक्त विशेष रसों की अभिव्यक्ति में आकाश, वायु और तेज महाभूत भी सहायक होते हैं। अर्थात् पृथ्वी और जल महाभूत की अधिकता से मधुर रस, पृथ्वी और अग्नि महाभूत की अधिकता से अम्ल रस, जल और अग्नि महाभूत की अधिकता से लवण रस, वायु और अग्नि महाभूत की अधिकता से कटु रस, वायु और आकाश महाभूत की अधिकता

से तिक्तरस तथा वायु और पृथ्वी महाभूत की अधिकता से कषाय रस की अभिव्यक्ति होती है।

जल के परमाणु में नित्य रस और कार्य रूप जल में अनित्य रस रहता है। पृथ्वी में अनित्य रस ही रहता है।

गन्ध निरूपण

"घ्राणग्राह्यो गुणो गन्धः"। — तर्क संग्रह

"गन्धो घ्राणग्राह्यः। पृथ्वीवृत्तिः घ्राणसहकारी सुरिभिरसुरभिश्च। अस्यापि पूर्ववदुत्पात्त्यादयो व्याख्याताः।" — प्रशस्तपाद

घ्राणग्राह्यो गुणो गन्धः क्षितेरेव गुणो मतः।
स चापि द्विविधो ज्ञेयः सौरभासौरभत्वतः॥

अर्थ—घ्राणेन्द्रिय के द्वारा जिस गुण का ग्रहण होता है वह गन्ध कहलाता है। यह गन्ध गुण पृथ्वी में रहता है, नासिका की सहायता से इसका बोध होता है। यह सुरभि और असुरभि भेद से दो प्रकार का होता है। इसकी उत्पत्ति भी पूर्ववत् रस के समान ही है। यह पृथ्वी महाभूत का विशेष गुण होता है। घ्राणेन्द्रिय में पृथ्वी महाभूत की प्रधानता रहती है, अतः वह केवल गन्ध गुण का ही ग्रहण करती है, अन्य विषयों का नहीं। इसी भाँति गन्ध गुण भी केवल घ्राणेन्द्रिय के द्वाराग्राह्य विषय है, अन्य इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य नहीं।

गुण के उपर्युक्त लक्षण निर्वचन में गुण पद का प्रयोग लक्षण की गन्धत्व जाति में अतिव्याप्ति के निवारण हेतु किया है। अर्थात् घ्राणेन्द्रिय के द्वारा गन्ध गुण के अतिरिक्त गन्धत्व जाति का भी ग्रहण होता है, इससे गन्धत्व जाति में लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। अतः इस अतिव्याप्ति के निवारण के लिए गुण पद का सन्निवेश किया गया। इसी भांति रूपादि गुणों में अतिव्याप्ति के निवारण हेतु 'घ्राणग्राह्य' पद दिया गया है।

सामान्यतः गन्ध दो प्रकार की होती है—सुरभि (सुगन्ध) और असुरभि (दुर्गन्ध)। पुनः यह दो प्रकार की होती है—उद्भूत (व्यक्त) और अनुद्भूत (अव्यक्त)। मिट्टी, लोहा आदि को सूंघने पर सामान्यतः गन्ध की अनुभूति नहीं होती। किन्तु उसे यदि तपा लिया जाय पश्चात् उसे सूंघा जाय तो गंध की अनुभूति होने लगती है। अतः लोहा मिट्टी आदि में स्थित इस प्रकार की गंध अनुद्भूत या अव्यक्त गंध कहलाती है। इसके विपरीत पुष्प आदि की जो गंध होती है वह दूर से ही बिना प्रयत्न के द्वारा प्रतीत होने लगती है। इस प्रकार की गंध उद्भूत या व्यक्त गन्ध कहलाती है।

गन्ध पृथ्वी महाभूत का विशेष गुण होने के कारण यह केवल पृथ्वी में ही रहता है, अन्यत्र नहीं। अतः पृथ्वी महाभूत की उपस्थिति रहने से गन्ध की अनुभूति होती है तथा उसकी उपस्थिति नहीं रहने से गन्ध की अनुभूति नहीं होती। इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक के द्वारा गन्ध की पृथ्वी में सिद्धि होने से जल आदि में गन्ध का जो भान होता है उसे पृथ्वी की ही गन्ध समझना चाहिए। इसी भांति वायु में प्रतीत होने वाली गन्ध भी पृथिवी के कारण ही होती है।

कर्मण्य सामान्य गुण

गुरु-लघु

यद्यपि इन दोनों के पृथक् लक्षण होते हैं, पुनरपि गुरु और लघु दोनों गुण वैपरीत्य दृष्टि से सापेक्ष्य होते हैं। अतः दोनों का वर्णन एक साथ किया जा रहा है।

"आद्यपतनासमवायिकारणं गुरुत्वम्।"

"यदाद्यपतने हेतुर्गुरुत्वं तदुदाहृतम्।"

"गुरुत्वं जलभूम्योः पतनकर्मकारणम्। अप्रत्यक्षं पतनकर्मानुमेयं संयोग-प्रयत्न संस्कारविरोधी। अस्य चावादिपरमाणुरूपादिवन्नित्यत्वानित्यत्वनिष्पत्तयः" — प्रशस्तपाद

"सादोपलेपबलकृद् गुरुस्तर्पण बृंहणः।" —सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थान ४६/५१७

गुरु वातहरं पुष्टिश्लेष्मकृच्चिरपाकि च।" — भावप्रकाश

अर्थ—प्रथम पतन के असमवायिकारण को गुरुत्व कहते हैं। अर्थात् वृक्ष से फल का जो प्रथम पतन होता है उसके असमवायि-कारण भूत गुण का नाम 'गुरुत्व' है। जल और भूमि के पतन कर्म का कारण 'गुरुत्व' है। यह अप्रत्यक्ष गुण है जो पतन कर्म के द्वारा अनुमान से जाना जाता है। यह संयोग-प्रयत्न-संस्कार इन तीनों का विरोधी है। जिस प्रकार जल आदि के परमाणु के रूप नित्य और अनित्य होते हैं उसी प्रकार गुरुत्व भी नित्य और अनित्य होता है। अर्थात् परमाणु रूप में नित्य और कार्य रूप में अनित्य (आश्रय के नाश होने से नाश होने वाला) है।

आयुर्वेद के अनुसार गुरु गुण के कारण शरीर में विभिन्न प्रकार की क्रियाएं एवं परिणाम होते हैं। गुरु गुण के कारण शरीर में अंगमर्द, उपलेप (मलवृद्धि) तथा बल की वृद्धि होती है। गुरु गुण तर्पक और बृंहण करने वाला होता है। जिस गुण के कारण शरीर पुष्ट होता है, कफ, पुरीषादि मल तथा बल की वृद्धि होती है, वायु का क्षय और तृप्ति का अनुभव होता है—द्रव्यों में विद्यमान वह गुण गुरु कहलाता है।

गुरु गुण से विपरीत लघु गुण होता है। गुरु और लघु ये दोनों ही परस्पर विपरीत एवं सापेक्ष्य गुण होते हैं। लघु गुण शरीर में निम्न क्रियाओं का सम्पादक होता है—

लघुस्तद्विपरीतः स्याल्लेखनो रोपणस्तथा।"

—सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थान '४६५१८

लघु पथ्यं परं प्रोक्तं कफघ्नं शीघ्रपाकि च" —भावप्रकाश

अर्थात् गुरु से विपरीत लघु गुण लेखन (कफ को शिथिल करना) तथा रोपण (घावों को भरना) करने वाला होता है। यह पथ्य होता है, कफ का नाश करने वाला तथा शीघ्रपाकि(शीघ्र पचने वाला) होता है।

गुरु द्रव्यों में पृथिवी और जल महाभूत की अधिकता रहती है तथा लघु द्रव्य आकाश, वायु और अग्नि महाभूत की अधिकता वाले होते हैं।

शीत—उष्ण

ल्हादनः स्तम्भनः शीतो मूर्च्छातृट्स्वेददाहजित्।
उष्ण स्तद्विपरीतः स्यात् पाचनश्च विशेषतः॥

—सुश्रुत संहिता, सुस्थान ४६/५१५

शीत गुण सामान्यतः शीतल क्रिया एवं शीत स्पर्श का द्योतक है। शीत गुण उष्णताभिभूत व्यक्ति को तृप्ति एवं आनन्द देने वाला होता है। शीतगुण के कारण ही शरीर तथा बाह्य जगत् की उष्णता का शमन होता है। यह आल्हाद अर्थात् प्रसन्नता कारक तथा स्तम्भक अर्थात् वमन, अतिसार रक्तस्राव आदि वहनशील (वहने वाले) भावों को रोकता है अथवा उनकी गति को मन्द कर देता है, किंवा शरीर में संचार करने वाले (गतिशील) द्रव पदार्थों की गति को मन्द कर देता है। इसके अतिरिक्त जो मूर्च्छा, पिपासा, स्वेद और दाह का शमन करता है, द्रव्य में स्थित उस गुण को शीत कहते हैं।

शीत गुणवाले द्रव्यों में जल महाभूत की प्रधानता होती है और गौण रूप से पृथ्वी और वायु महाभूत विद्यमान रहते हैं। यह स्पर्श में शरीर के बाह्य भाग को ठण्डा करता है। अन्तिम परिणिति भी शीत ही होने से इसके सेवन के अनन्तर शरीर के अन्दर भी शीलतता का संचार करता है।

इसके अतिक्त जो गुण शील के नितान्त विपरीत होता है, कष्टकारक, स्वेद, मूर्च्छा, पिपासा और दाह को उत्पन्न करने वाला, वमन आदि क्रियाओं को उत्पन्न

करने अथवा बढ़ाने वाला होता है वह उष्ण कहलाता है। उष्ण गुण पाचन करने वाला अर्थात् खाए हुए अन्नपान को पका कर रस रूप में और रस को रक्तादि रूप में परिणत करने वाला, पाचन क्रिया को बढ़ाने वाला तथा आम (अपक्व) व्रणों का पाक करने वाला होता है।

उष्ण गुणवाले द्रव्यों में अग्नि महाभूत की अधिकता होती है।

स्निग्ध-रूक्ष

स्नेहमार्दवकृत् स्निग्धो बलवर्णकरस्तथा।
रूक्षस्तद्विपरीतः स्याद् विशेषात् स्तम्भनः खरः॥

—सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थान ४६।५१६

स्निग्धं वातहरं श्लेष्मकारि वृष्यं बलावहम्।
रूक्षं समीरणकरं परं कफहरं मतम्॥

—भाव प्रकाश पूर्वखण्ड

"स्नेहोऽपां विशेषगुणः। संग्रहमृजादिहेतुः। अस्यापि गुरुत्ववन्नित्यानित्यत्व निष्पत्तयः।

—प्रशस्तपाद

जिस गुण के कारण द्रव्य शरीर में स्निग्धता, मृदुता, बल और वर्ण (कान्ति) की वृद्धि करता है, जिस गुण से शरीर में वृष्यता होती है, वायु का शमन और कफ का पोषण (वृद्धि) होता है तथा बल की वृद्धि होती है वह स्निग्ध गुण कहलाता है।

स्निग्ध गुण वाले द्रव्यों में जल महाभूत की अधिकता रहती है। स्नेह जल का विशेष गुण है। पिण्डीभाव के हेतु (कारण) का नाम स्नेह है तथा वस्तु में मृदुता आदि भी स्नेह के कारण ही होती है। स्नेह भी गुरुत्व के समान नित्य और अनित्य है। सासान्यतः लोक भाषा में चिकनापन ही स्नेह कहलाता है। यह स्नेह या चिकनापन ही वस्तुओं के फैले हुए कणों का संग्राहक अथवा पिण्डीभूत करने वाला होता है। धूल (मिट्टी), आटा आदि का पिण्ड जो जल डालकर बनाया जाता है उसको पिण्डी भाव कहते हैं। आटे या मिट्टी का एतद्विध पिण्डीभाव जलगत स्नेह के कारण होता है। आचार्य हेमाद्रि के अनुसार जिस गुण युक्त द्रव्य में शरीर को आर्द्र करने की शक्ति होती है वह स्निग्ध होता है।

इसके विपरीत रूक्ष गुण होता है। रूक्ष गुण वाले द्रव्य शरीर में रूक्षता, कठिनता आदि उत्पन्न करने वाले वायु को बढ़ाने वाले तथा कफ का शमम करने वाले होते हैं। रूक्षगुण वाले द्रव्यों में पृथिवी और वायु महाभूत की अधिकता होती है।

आचार्य हेमाद्रि के अनुसार जिसमेंशोषण करने की शक्ति होती है उसे रूक्ष कहते

हैं। वेशेषिक दर्शन में स्नेहाभाव को ही रूक्ष माना गया है। अतः पृथक् से उसका कथन नहीं किया है।

मन्द-तीक्ष्ण

"मन्दो यात्राकरः स्मृतः।" —सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थान ४६/५३२
"यात्राकर इति शरीरस्यायित्वाद्देहस्य यात्रावर्तनं करोति।"

जिस गुण के कारण द्रव्य अपनी समस्त क्रियायें मन्द गति से अल्पता, शिथिलता और चिरकाल पूर्वक करता है वह मन्द कहलाता है। मन्द गुण वाले द्रव्य पृथ्वी महाभूत की अधिकता वाले होते है।

आचार्य हेमाद्रि के अनुसार जिसमें शमन करने की शक्ति हो उसे मन्द कहते है।

"तीक्ष्णं पित्तकरं प्रायो लेखनं कफवातहृत्।" —भाव प्रकाश

"दाहपाककरस्तीक्ष्णः स्रावणो।" —सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थान ४६/५१६

तीक्ष्ण गुण प्रायः पित्त का प्रकोप करने (बढ़ाने) वाला, लेखन क्रिया करने वाला तथा कफ व वायु का नाशक होता है। जिस गुण के कारण द्रव्य दाह, पाक अथवा स्राव उत्पन्न करता है वह ताक्ष्ण कहलाता है। तीक्ष्ण गुण वाले द्रव्यों में अग्नि महाभूत की अधिकता रहती है।

आयुर्वेद के आचार्यों में इस गुण-युग्म (मन्द-तीक्ष्ण) के विषय में किंचित् विरोधाभास या वैमत्य प्राप्त होता है। मन्द गुण के विषय में तो सभी आचार्य एकमत हैं, किन्तु तीक्ष्ण गुण के विषय में कुछ मत भिन्नता है। महर्षि चरक ने मन्द का विरोधी गुण तीक्ष्ण माना है जबकि सुश्रुत और भावमिश्र ने मन्द गुण का विरोधी गुण आशु या आशुकारी माना है। यद्यपि सुश्रुत ने भी तीक्ष्ण गुण का वर्णन किया है, किन्तु वह भिन्न अर्थ वाला है। जैसा कि सुश्रुतोक्त उपर्युक्त तीक्ष्ण गुण के लक्षण से स्पष्ट है। व्यवहारिक रूप से तीक्ष्ण शब्द सुश्रुतोक्त अर्थ में ही प्रचलित है। सुश्रुत ने तीक्ष्ण का विरोधी गुण 'मृदु' बतलाया है। चरक ने भी मृदु गुण का उल्लेख किया है, किन्तु सुश्रुतोक्त अर्थ में नहीं। चरक ने इसे कठिन-विरोधी गुण के रूप में वर्णित किया है। इसके आतिरिक्त यहां यह भी स्मरणीय है कि सुश्रुत ने मन्द विरोधी गुण व्यवायी, विकासि और आशुकारी माना है। इन तीनों गुणों को अशुकारी गुण के ही अन्तर्गत मानकर उन्हें आशुकारी का ही भेद मान लिया जाय तो विंशति संख्या का निर्वाह हो जाता है और सुश्रुत ने गुणों की संख्या अनेक स्थलों पर बीस लिख कर भी जो बाइस गुणों के नाम और लक्षणों का निर्देश किया है उसका भी समुचित समाधान हो जाता है। सुश्रुत ने व्यवायी, विकासी और आशुकारी गुणों के निम्न लक्षण बतलाये हैं—

व्यवायी चाखिलं देहं व्याप्य पाकाय कल्पते।
विकासी विकसन्नेव धातुबन्धान् विमोक्षयेत्।
आशुकारी तथाऽऽशुत्वाद् धावत्यम्भसि तैलवत्॥

—सुश्रुतसंहिता, सूत्रस्थान ४६/५२२-२३

अर्थ-जिस गुण के कारण द्रव्य परिपाक होने के पूर्व ही सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर फैल जाय और बाद में वह पाक को प्राप्त हो वह 'व्यवायी' गुण कहलाता है। जिस गुण के कारण द्रव्य व्यवायी द्रव्य की भाँति अपक्वावस्था में ही प्रथम शरीर में व्याप्त होकर धातुओं और धातु बन्धों को शिथिल (स्थानच्युत) करे उसे **'विकासी'** कहते हैं। जिस गुण के कारण द्रव्य शरीर में उसी भांति फैल जाय जैसे पानी में तैल फैल जाता है तथा शरीर में फैलने के बाद शीघ्रतापूर्वक अपनी क्रिया करे उसे 'आशु' या 'आशुकारी' कहते है।

महर्षि चरक ने विंशति गुणों का उल्लेख किया है उनमें व्यवायी, विकासी और आशुकारी गुणों का निर्देश नहीं मिलता। किन्तु अन्य प्रकरण (मद्य और विष के वर्णन प्रसंग) में इन गुणों का निर्देश करते हुए वहां मद्य में उक्त तीनों गुण बतलाए हैं। इसके अतिरिक्त चिकित्सास्थान के ही अध्याय २३ के २४ वें श्लोक में उन्होंने विष के लक्षणों में भी इन तीनों गुणों का अस्तित्व स्वीकार किया है। चरक ने बस गुणों का निर्देश आहार गुणों के रूप में किया है और उपर्युक्त तीनों गुण सामान्यतः आहार द्रव्यों में नहीं होते। ये तीनों गुण मुख्यतः औषध के गुण होते हैं। अतः चरक में विंशति गुणों के अन्तर्गत इन गुणों का उल्लेख नहीं होना गुणों की संख्या की दृष्टि से मौलिक मतभेद का ज्ञापक नहीं माना जा सकता।

स्थिर-सर

"स्थिरो वातमलस्तम्भी सरस्तेषां प्रवर्तकः।" —भाव प्रकाश पूर्व खण्ड
"सरोऽनुलोमनः प्रोक्तः।" —सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थान ४६/५२२

अर्थ—जिस गुण के कारण आहार द्रव्य अथवा औषध द्रव्य वायु और मल का स्तम्भन करते हैं अर्थात् उन्हें अधोमार्ग से निकलने से रोकते हैं वह स्थिर गुण कहलाता है। इसके विपरीत जिस गुण के कारण अधोमार्ग द्वारा वायु और मल की प्रवृत्ति होती है वह सर गुण कहलाता है।

गतिशील अथवा चलायमान द्रव्य जिस गुण के कारण बाधित गति होकर रुक जाय वह गुण स्थिर कहलाता है। स्थिर गुण मुख्य रूप से पृथ्वी महाभूत का है। अतः स्थिरता कारक द्रव्य पृथ्वी महाभूत प्रधान होते हैं। आयुर्वेद में स्थिर गुण स्तम्भन का द्योतक होता है। जब शरीर में से मल, मूत्र या अन्य किसी द्रव्य की अति मात्रा में प्रवृत्ति होने लगती है तो उसकी गति अवरुद्ध करने के लिए स्थिर गुण वाले किसी

पार्थिव द्रव्य का प्रयोग किया जाता है, जिससे मल आदि का बहिर्निःसरण बन्द हो जाता है। आयुर्वेद में यह क्रिया स्तम्भन कहलाती है। अतिसार, ग्रहणी, प्रवाहिका, रक्तपित्त आदि व्याधियों में तथा शुक्र का विकृति रूप में अथवा अधिक मात्रा में स्खलन या स्राव होने पर उसे रोकने या मल, मूत्र, रक्त आदि की अति प्रवृत्ति अथवा उनके बहिर्निःसरण को रोकने के लिए स्तम्भन क्रिया करने वाले स्तम्भक द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है। ये स्तम्भक द्रव्य स्थिर गुण प्रधान होते है।

इसके विपरीत गुण का नाम **'सर'** है। आयुर्वेद के कुछ विद्वज्जन स्थिर के विपरीत गुण को 'चल' मानते हैं। वस्तुत: 'सर' और 'चल' में कोई मौलिक भेद नहीं है। दोनों एक ही गुण के पर्यायवाची नाम हैं। 'सर' गुण के कारण द्रव्य जिस कम को करता है वही कर्म **'चल'** गुण के कारण भी होता है। **'सर'** या **'चल'** गुण अप् महाभूत प्रधान द्रव्यों में पाया जाता है। इस गुण के कारण अवरुद्ध गति वाले पदार्थ (पुरीष, मूत्र, शुक्र आदि) गतिशील हो जाते हैं और शरीर के बाहर उनका निःसरण होने लगता है। जो द्रव्य सर अथवा चल गुण प्रधान होते हैं वे स्रंसक, सारक, रेचक, भेदक आदि पर्यायों के द्वारा व्यवहृत होते हैं। सर गुण के कारण पुरीष द्रव्य अधिक तीव्रगति से गुदमार्ग की ओर प्रवाहित होता है। इसी भाँति अन्य द्रव्य भी सर गुण के कारण अत्यन्त तीव्रगति वाले हो जाते हैं।

मृदु-कठिन

"यस्य द्रव्यस्य श्लथने कर्मणि शक्तिः स मृदुः, दृढ़ने कठिनः।"

—अष्टांग हृदय, सत्रस्थान १।१८ पर हेमाद्रि

अर्थ—जिस गुण के कारण द्रव्य (बाह्य या आभ्यन्तर प्रयोग के द्वारा) शरीर के एकांग अथवा सर्वांग को शिथिल करे वह 'मृदु' कहलाता है। इसके विपरीत जिस गुण के कारण द्रव्य (बाह्य या आभ्यन्तर प्रयोग के द्वारा) एकांग अथवा सर्वांग को दृढ़ करे वह कठिन कहलाता है।

व्यवहारिक रूप से मृदु और कठिन दोनों गुण स्पर्शन इन्द्रियगम्य भाव हैं। किसी भी वस्तु की मृदुता अथवा कठिनता का ज्ञान त्वचा के द्वारा स्पर्श करने पर ही होता है। जैसे स्पर्श के द्वारा ही ज्ञात होता है कि स्पंज एक मृदु द्रव्य है तथा पत्थर एक कठिन द्रव्य है। किन्तु आयुर्वेद में शरीर के अन्दर तत्तत् गुणों के द्वारा होने वाला प्रभाव ही यहां ग्राह्य है। जब कोई आहार द्रव्य अथवा औषध द्रव्य ग्रहण किया जाता है तब वह द्रव्य अपने गुणों के आधार पर विशिष्ट क्रिया करता है और तज्जनित परिणाम तदनुकूल गुण की ओर संकेत करता है। इसी भाँति मृदु और कठिन गुण भी र णाम के प्रति उ त्तरदायी हैं। अर्थात् मृदु गुण वाले आहार या औषध

द्रव्यों का सेवन करने पर शरीर में अथवा शरीरगत मलादिकों में शिथिलता आ जाती है। जिस प्रकार सूखी मिट्टी का ढेला जल का संयोग पाकर शिथिल (मृदु) हो जाता है उसी भाँति शरीर अथवा शरीरगत भाव मृदु गुण वाले द्रव्यों के संयोग से शिथिल (मृदु) हो जाते हैं। मृदु गुण वाले द्रव्यों में आकाश और जल महाभूत के गुणों की अधिकता रहती है।

इसके विपरीत कठिन गुण वाले द्रव्यों में पृथ्वी महाभूत के गुणों की अधिकता रहती है। कठिन गुण वाले द्रव्यों का आभ्यन्तरिक प्रयोग करने पर शरीर के अवयवों तथा मल आदि द्रव्यों में कठिनता उत्पन्न होती। शरीर में अनेक बार ग्रन्थि या अर्बुद (उभार) की प्रतीति होती है जो स्पर्श करने पर कठिन लगती है। कठिन गुण वाले द्रव्य के प्रयोग का ही यह परिणाम होता है जो उससे ग्रन्थि अथवा अर्बुद की उत्पत्ति होती है। इसके अतिरिक्त अनेक बार शरीर के किसी एक भाग में कुछ काठिन्य का अनुभव होता है जो वैकारिक परिणाम होता है। वह भी कठिन गुण के कारण ही होता है। मल (पुरीष) का कठिन हो जाना, अवयवों का कठिन हो जाना, अथवा माँस पेशियों की कठिनता 'कठिन' गुण के कारण होती है।

सुश्रुत ने मृदु का विरोधी गुण कठिन न बतला कर तीक्ष्ण बतलाया है उन्होंने तीक्ष्ण को क्षार स्वभावी गुण माना है। अतः उसका विपरीत गुण मृदु बतलाया है। महर्षि चरक एवं वाग्भट मृदु एवं कठिन को ही परस्पर विरोधी गुण मानते हैं। यह इन्हीं के मत का प्रतिपादन किया गया है।

पिच्छिल-विशद

पिच्छिलो जीवनो बल्यः संधानः श्लेष्मलो गुरुः।
विशदो विपरीतोऽस्मात् क्लेदाचूषणरोपणः॥

—सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थान ४६/५१७

पिच्छिलस्तन्तुलो बल्यः संधानः श्लेष्मलो गुरुः।
क्लेदच्छेदकर स्यातो विशदो व्रणरोपणः॥

—भावप्र काश, पूर्वखण्ड

"यस्य द्रव्यस्य लेपने शक्तिः स पिच्छिलः।"—हेमाद्रि

अर्थ—जिस गुण के कारण द्रव्य जीवन कारक (प्राणों को धारण करने वाला) बल्य (बल देने वाला), संधान कारक (भग्न अस्थि को जोड़ने वाला), कफ वर्धक, गुरु और तन्तुमान (जो शक्कर की चासनी के सामान तार युक्त होता है) हो वह पिच्छिल कहलाता है। इसके विपरीत विशद गुण होता है। विशद गुण के कारण द्रव्य

क्लेद (त्वचा, व्रण, शरीरावयव आदि में स्थित द्रवांश) का शोषण तथा व्रण का रोपण करने वाला होता है, जिससे शरीर में आर्द्रभाव का विनाश होता है। जिसमें लेपन करने की शक्ति होती है वह पिच्छिल होता है।

पिच्छिल गुण वाले द्रव्य सामान्यतः जल महाभूत की प्रधानता वाले होते हैं। बाह्य रूप से पिच्छिल गुण वाले द्रव्य साधारणतः वे होते हैं जो देखने में गीले, कुछ चिकने और स्पर्श करने में चिपचिपे से लगते हैं। जैसे—आर्द्र गोंद या भिन्डी के अन्दर स्थित लेसदार पदार्थ। पिच्छिल गुण वाले द्रव्यों में सामान्यतः तन्तुलता पाई जाती है। अर्थात् उनका छेदन या विभक्तीकरण करने पर उनमें तार का सा निर्माण होने लगता है और उनमें चिपकाने का वैशिष्ट्य पाया जाता है।

आभ्यन्तरिक रूप से पिच्छिल गुण वाले द्रव्यों का प्रयोग करने पर ये जीवनदायी अर्थात् जीवन को स्थिर रखने वाले होते हैं। आयुर्वेद में जो द्वादश (अग्नि, सोम, वायु, सत्व, रज, तम, पाँच इन्द्रियां और भूतात्मा) प्राण बतलाए गए हैं। इनके प्रीणन कर्म में पिच्छिल गुण सहायक होता है। यह गुण शरीर में बल कारक होता है अर्थात् पिच्छिल गुण वाले द्रव्यों का सेवन करने से शरीर में बल की वृद्धि होती है। शरीर में सदैव टूट-फूट की क्रिया होती रहती है। इसकी पूर्ति भी पिच्छिल गुण वाले द्रव्यों के द्वारा होती है। शरीर में कोषों में जो टूट फूट होती रहती है उनके संधान का कार्य भी पिच्छल गुण वाले द्रव्यों के द्वारा होता है। जल महाभूत की अधिकता के कारण पिच्छिल गुण वाले द्रव्य प्रायः कफ को बढ़ाने वाले एवं गुरु गुण युक्त होते हैं।

इसके विपरीत विशद गुण के द्वारा आर्द्रता या क्लिन्नता का विनाश होता है। विशद गुण वाले द्रव्यों में पृथ्वी एवं वायु महाभूत की प्रधानता होती है, जिससे क्लेद का शोषण होता है। इसके द्वारा शरीर के विभिन्न भागों में स्थित द्रवांश का आचूषण (शोषण) होने के कारण यह व्रण का रोपण करने वाला होता है। क्योंकि क्लेद के अभाव में व्रण में पूय का निर्माण नहीं हो पाता, जिससे शीघ्रता पूर्वक व्रण का रोपण होता है। आचार्य हेमाद्रि के कथनानुसार जिसमें क्षालन करने की शक्ति होती है उसे विशद कहते हैं।

श्लक्षण-खर

"श्लक्ष्णः पिच्छिलवज्ज्ञेयः कर्कशो विशदो यथा।"
—सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थान ४६/५२१

यस्य द्रव्यस्य रोपणे शक्तिः स श्लक्ष्णः, लेखने परः।
—अष्टांग हृदय सूत्रस्थान १/८१ पर हेमाद्रि

श्लक्ष्णः स्नेहं विनाऽपि स्यात् कठिनोऽपि हि चिक्कणः।
—भावप्रकाश पूर्वखण्ड

अर्थ—श्लक्ष्ण गुण पिच्छिल के समान ही होता है। अर्थात् पिच्छिल गुण वाले द्रव्यों के द्वारा जो कर्म सम्पादित किए जाते हैं वे ही कर्म श्लक्ष्ण गुण वाले द्रव्यों के द्वारा भी किए जाते हैं। किन्तु अन्तर केवल इतना है कि पिच्छिल द्रव्य आर्द्रता या क्लेद युक्त स्निग्ध होता है तथा श्लक्ष्ण द्रव्य स्नेह रहित होता हुआ भी कठिनता युक्त चिकना होता है। श्लक्ष्ण गुण वाले द्रव्य में रोपण शक्ति होती है। अर्थात् वह व्रण का रोपण करने वाला होता है। आचार्य हेमाद्रि के अनुसार जिस द्रव्य में रोपण करने की शक्ति होती है वह श्लक्ष्ण गुण वाला होता है।

इसके विपरीत खर गुण होता है। उसे कर्कश भी कहा जाता है। खर या कर्कश गुण वाले द्रव्य विशद गुण के समान ही होते है और विशद की ही भांति क्रिया करते हैं। खर या कर्कश गुण वाले द्रव्य अपने खरत्व गुण के कारण व्रण आदि के उभरे हुए भाग के लेखन (छीलने) का कार्य करते हैं।

यहां पर श्लक्ष्ण गुण को पिच्छिल गुण के समान बतलाया गया है। आभ्यन्तरिक प्रयोग की दृष्टि से दोनों गुण तथा दोनों गुण वाले द्रव्य समान ही होते हैं। किन्तु बाह्य दृष्टि से दोनों गुणों में अन्तर होता है। पिच्छिल गुण क्लिन्नता एवं स्निग्धता लिए हुए चिकना होता है। इस गुण वाले द्रव्य प्रायः द्रव या द्रवांश युक्त होते हैं। किन्तु श्लक्ष्ण गुण वाले द्रव्य प्रायः द्रवांश एवं स्नेहांश (स्निग्धता) रहित कठिनता युक्त चिकने होते हैं। जैसे पालिश की हुई लकड़ी, मणि, संगमरमर आदि। स्निग्धता के अभाव में भी इनका स्पर्श चिकना ही प्रतीत होता है। मछली श्लक्ष्ण गुण का ही एक उत्तम उदाहरण है। उसमें श्लक्ष्णता इतनी अधिक मात्रा में होती है कि हाथ में रखते ही तत्काल फिसल जाती है।

श्लक्ष्ण गुण के विपरीप खर गुण होता है जो खुरदुरेपन की ओर संकेत करता है। इसमें वायु और पृथ्वी महाभूत के गुणों की प्रधानता होती हैं। आभ्यन्तरिक प्रयोग करने पर खर गुण वाले द्रव्य शरीर में संचित श्लेष्मा, वसा अथवा दोष संघात का छेदन-भेदन कर उसे खुरच कर कणशः रूप में विभक्त कर देता है ताकि वे कणशः किए गए अंश शरीर के बाहर निकाले जा सकें। खर गुण के द्वारा किया जाने वाला खुरचने का कार्य ही लेखन कहलाता है। अनेक व्याधियों में लेखन कर्म की उपयोगिता रहती है। जिस प्रकार शरीर में लगे हुए मैल को खुरदुरे पत्थर से खुरच कर निकाला जाता है, उसी प्रकार अन्तः शरीर में स्थित दोष संघात को खुरचना खर गुण वाले द्रव्य का ही कार्य है। इसमें वायु और पृथ्वी महाभूत की प्रधानता होती है।

सूक्ष्म-स्थूल

'सूक्ष्मस्तु सौक्ष्म्यात् सूक्ष्मेषु स्रोतस्वनुसरः स्मृतः ।''

—सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थान ४६।५२४

स्थूलः स्थौल्यकरो देहे स्रोतसामवरोधकृत् ।
देहस्य सूक्ष्मछिद्रेषु विशेद् यत् सूक्ष्ममुच्यते ।। —भावप्रकाश

यस्य द्रव्यस्य विवरणे शक्तिः सः सूक्ष्मः, संवरणे स्थूलः ।

—अष्टांग हृदय, सूत्रस्थान १।१८ पर हेमाद्रि

अर्थ— जिस गुण के कारण द्रव्य सूक्ष्म (बारीक) स्रोतों में भी प्रविष्ट हो जाता है उसे सूक्ष्म कहते हैं। सूक्ष्म गुण वाले द्रव्यों में स्रोतों के विवरण का—उन्हें विस्तृत करने का सामर्थ्य होता है। इसके विपरीत जिस गुण के कारण द्रव्य स्रोतों को अवरुद्ध करता है (और द्रव्य को उनमें प्रविष्ट होकर अपना कर्म करने से रोकता है) वह स्थूल कहलाता है। जिस द्रव्य में विवरण (स्रोतों को खोलने) की शक्ति होती है वह सूक्ष्म गुण होता है। जिस द्रव्य में संवरण (स्रोतोऽवरोध करने) की शक्ति होती है वह स्थूल होता है।

सूक्ष्म और स्थूल गुण सामान्यतः अन्य गुणों की भाँति इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य अथवा प्रत्यक्ष गम्य नहीं हैं। जिस प्रकार स्निग्ध-रूक्ष, मृदु-कठिन, श्लक्षण-खर आदि गुणों को इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण कर जाना जा सकता है, उस प्रकार सूक्ष्म-स्थूल गुण बोधगम्य नहीं हैं। इन गुणों के आधार पर द्रव्य के द्वारा जो कर्म किया जाता है, तज्जनित परिणाम के द्वारा ही इन गुणों का बोध होता है। जैसे तैल सूक्ष्म गुण वाला होता है। किन्तु उसकी सूक्ष्मता सामान्यतः प्रतीत नहीं होती। जब शरीर पर उसका अभ्यंग (मालिस) किया जाता है तब वह अपने सूक्ष्म गुण के कारण ही शरीर के सूक्ष्म स्रोतों (रोमकूपों) में प्रविष्ट होकर अपना कर्म करता है। इसी भांति सूक्ष्म गुण वाले जिन द्रव्यों का आभ्यन्तरिक प्रयोग किया जाता है वे अपने गुण के कारण सूक्ष्म स्रोतों में प्रविष्ट होकर स्रोतों के द्वार को खोल देते हैं। सूक्ष्म गुण वाले द्रव्य आकाश और वायु महाभूत प्रधान होते हैं।

इसके विपरीत स्थूल गुण वाले द्रव्य स्रोतों के मुख को अवरुद्ध करने वाले होते हैं। जैसे ज्वर उत्पन्न होने के पूर्व दोष स्थूल गुण के कारण सम्पूर्ण शरीर के त्वचान्तर्गत समस्त रोम छिद्रों में व्याप्त होकर स्थित हो जाते हैं, जिससे रोककूपों का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है और उस मार्ग से निकलने वाला स्वेद एवं ताप बाहर नहीं निकल पाता है। परिणामतः ज्वर प्रवृत्ति होती है। इसके अतिरिक्त स्थूल गुण सामान्यतः स्थूलता कारक भी होता है। स्थूल गुण वाले द्रव्यों में पृथ्वी और जल महाभूत के गुणों

की प्रधानता रहती है। स्थूल गुण में पार्थिव एवं आप्य महाभूतों के गुणों की प्रधानता होने से तद्गुण वाले द्रव्य स्वसमान धातुओं की पुष्टि करने वाले, धातुवर्धक एवं देह पुष्टिकर भी होते हैं। किन्तु मुख्य रूप से वे स्रोतों में अवरोध ही उत्पन्न करते हैं।

सूक्ष्म गुण युक्त द्रव्य सामान्यतः विवरण शक्ति प्रधान एवं स्थूल गुण युक्त द्रव्य संवरण शक्ति प्रधान होते हैं।

द्रव-सान्द्र

द्रवः प्रक्लेदनः सान्द्रः स्थूलः स्याद् बन्धकारकः ।

—सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थान ४६।५२०

द्रवः प्रक्लेदनो व्यापी शुष्कः स्याद् बन्धकारकः ।

—डल्हण निर्दिष्ट पाठान्तर

द्रवः क्लेदकरो व्यापी शुष्कस्तद्विपरीतकः । —भाव प्रकाश पूर्व खण्ड

द्रवत्वं स्यन्दनकर्मकारणम् । —प्रशस्तपाद

अर्थ-जिस गुण के कारण द्रव्य शरीर में आर्द्रता उत्पन्न करता है और व्याप्त होने की प्रवृत्ति रखता है वह द्रव कहलाता है। द्रव गुण मुख्यतः स्यन्दन (वहन) कर्म में कारण होता है। जहां द्रवत्व गुण विद्यमान रहता है वहां स्यन्दन कर्म की प्रवृत्ति अवश्य होती है।

द्रव गुण के विपरीत सान्द्र गुण होता है जो अवयवों में शुष्कता अथवा आर्द्रता का अभाव उत्पन्न करने वाला होता है। सान्द्र गुण को कहीं कहीं शुष्क गुण भी कहा गया है। किन्तु दोनों के अभिप्राय में कोई अन्तर नहीं है।

द्रव गुण प्रधान द्रव्यों में सामान्यतः जल महाभूत की प्रधानता होती है। जल महाभूत वाले द्रव्य ही स्यन्दन कर्म में प्रवृत्ति वाले होते हैं। किन्तु इसके अतिरिक्त कुछ द्रव्य ऐसे भी हैं जिनमें द्रवत्व गुण दृष्टिगोचर नहीं होता। जैसे बर्फ, ओला आदि। अतः इस आधार पर द्रवत्व गुण दो प्रकार का होता है—**१ सांसिद्धिक** तथा **२ नैमित्तिक**। स्वतः सिद्ध द्रवत्व का नाम *'सांसिद्धिक'* है और (तेजोरूप) निमित्त के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले द्रवत्व का नाम *'नैमित्तिक'* है। जल में द्रवत्व गुण स्वतः सिद्ध होने से सांसिद्धिक है और पृथ्वी तथा तेज में तन्निमित्त के कारण होने से नैमित्तिक है। जैसे सुवर्ण आदि धातु।

इसके विपरीत सान्द्र गुण बतलाया गया है। महर्षि सुश्रुत ने सान्द्र को ही द्रव का विरोधी गुण बतलाया है। किन्तु टीकाकार आचार्य डल्हण एवं भावमिश्र ने द्रव का विरोधी गुण 'शुष्क' निर्दिष्ट किया है। द्रव गुण की विपरीतता के कारण सान्द्र या शुष्क गुण बन्धकारक होते हैं। बन्धकारक का अभिप्राय स्रोतो विबन्धकारक

या स्रोतों में अवरोध उत्पन्न करने वाला समझना चाहिए। सान्द्र गुण भी स्थूल के समान ही कार्यकारी होता है। सान्द्र गुण वाले द्रव्य प्राय: पृथ्वी महाभूत प्रधान होते हैं। यदि उनमें नितान्त शुष्कता व्याप्त हो तो तेज का अंश एवं कुछ क्लिन्नता व्याप्त हो तो आप्य अंश की विद्यमानता समझना चाहिए।

उपर्युक्त गुर्वादि बीस गुण (गुरु-लघु, शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष, मन्द-तीक्ष्ण, स्थिर-सर, मृदु-कठिन, विशद-पिच्छिल, श्लक्ष्ण-खर, सूक्ष्म-स्थूल, सान्द्र-द्रव) सामान्य गुण कहलाते हैं। आयुर्वेद-शास्त्र में इन गुणों की उपयोगिता मुख्यतः चिकित्सा कार्य के लिए होती है। अत: इसी दृष्टि से यहां इन गुणों का विवेचन किया गया है। प्रायोगिक रूपेण ये गुण अत्यन्त उपयोगी होते हैं। इन गुणों में प्रारम्भ के आठ गुणों (गुरु-लघु, शीत-उष्ण स्निग्ध-रूक्ष, विशद-पिच्छिल) को रस वैशेशिक में कर्मण्य गुण कहा गया है। क्योंकि ये आठ गुण ही विशेष उपयोगी एवं अपेक्षित होते हैं। इन आठ गुणों के आधार पर ही द्रव्य अपनी क्रियाओं को करने में समर्थ होता है, अथवा द्रव्य में अन्य गुणों के रहने या न रहने पर भी इनमें से कोई एक या अधिक गुण अवश्य होते हैं। इसीलिए चरक, सुश्रुत आदि संहिता ग्रन्थों में नागार्जुनोक्त इन अष्ट विध कर्मण्य गुणों को 'वीर्य' भी कहा गया है। इसी आधार अष्टविध वीर्यवादी मत प्रचलित हुआ है। अर्थात् जो विद्वान अष्टविध वीर्य का प्रतिपादन करते हैं वे इन्हीं आठ गुणों के आधार पर अष्टविध वीर्य की कल्पना करते हैं। वैसे आयुर्वेद में सामान्यतः द्विविध (शीत-उष्ण) वीर्य ही सर्व सम्मत है।

आध्यात्मिक गुण

बुद्धि निरूपण

"सर्वव्यवहारहेतुर्ज्ञानं बुद्धिः, अनुव्यवसायगम्यं ज्ञानत्वमेव लक्षणम्"

—तत्व दीपिका

व्यवहारमात्रहेतुर्ज्ञानं बुद्धिः प्रकीर्तिता।
सा चापि द्विविधा ज्ञेया ह्यनुभूतिः स्मृतिस्तथा ॥

अर्थ—समस्त व्यवहार के कारण भूत ज्ञान को बुद्धि कहते हैं। अथवा अनुव्यवसाय गम्य ज्ञान बुद्धि है—ऐसा दीपिकाकार का मत है। पदार्थ मात्र का ज्ञान प्राप्त करना व्यवसाय है और उस व्यवसाय का ज्ञान अनुव्यवसाय है। जैसे यह घट है, घट का एतद्विध प्रथम चाक्षुष प्रत्यक्ष व्यवसाय कहलाता है। तत्पश्चात् मुझे घट का प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा है, इस प्रकार का जो पुनः ज्ञान होता है वह अनुव्यवसाय कहलाता है। यह अनुव्यवसाय रूप जो ज्ञान होता है वही बुद्धि कहलाती है। श्री शिवादित्य ने आत्मा का

आश्रय करके स्थित रहने वाले प्रकाश को बुद्धि संज्ञा द्वारा सम्बोधित किया है। सांख्य दर्शन के आचार्य प्रकृति के प्रथम परिणाम रूप अहंकार तत्व के परिणाम महत्तत्व रूप अन्तः करण विशेष को बुद्धि मानते हैं और निर्मल बुद्धि जनित परिणाम ही उनकी दृष्टि में ज्ञान कहलाता है। इस प्रकार बुद्धि विषयक अनेक मत होते हुए भी उनमें कोई मौलिक एवं स्थूल मतभिन्नता परिलक्षित नहीं होती।

सांख्य दर्शन के मतानुसार बुद्धि की उत्पत्ति बिना किसी रूप वाली, अव्यक्त नामधेय समस्त सृष्टि की कारणभूत प्रकृति से होती है। सत्व, रज और तम इन तीन गुण वाले प्रकृति तत्व से तद्गुण युक्त महत्तत्व की उत्पत्ति होती है। यह महत्तत्व ही बुद्धि कहलाता है। यह बुद्धि अध्यवसायात्मिक होती है। इसके अनुसार अध्यवसाय ही बुद्धि का लक्षण है। अध्यवसान को अध्यवसाय कहते हैं। जैसे बीज में उत्पन्न होने वाला अंकुर विद्यमान रहता है, उसी प्रकार यह घट है, यह पट है, इत्यादि रूप से जो अध्यवसाय करती है उसको बुद्धि कहते हैं। निर्मल बुद्धि का विशेष परिणाम ही ज्ञान कहलाता है। अर्थात् अन्तःकरण रूप मन एवं बाह्यकरण रूप ज्ञानेन्द्रिय के द्वारा विषय देश में पहुंचकर घट, पट आदि विषय रूप में परिणाम को प्राप्त हुई बुद्धि ही ज्ञान कहलाती है। एतद्विध रूपेण ज्ञान रूप में परिणत हुई बुद्धि जब चैतन्य रूप पुरुष से स्वयं को भिन्न न मानते हुए अपने ज्ञानमय स्वरूप को व्यक्त कराती है तब अभिमानात्मक भाव उत्पन्न होता है। यही भाव "अहं जानामि" (मैं जानता हूं) इस रूप में प्रकट होता है। जिससे स्वच्छ बुद्धि में रहे हुए ज्ञान से चैतन्य पुरुष के भेद का ज्ञान नहीं होने से उपर्युक्त प्रकार की उपलब्धि होती है। इस प्रकार सांख्य दर्शन के अनुसार बुद्धि प्रकरण में मुख्यतः तीन बातें हमारे समक्ष आती हैं। प्रथम महत्तत्व नामधेयात्मक बुद्धि, द्वितीय अध्यवसाय के परिणाम स्वरूप घट पट आदि विषय के रूप में परिणत ज्ञान रूपात्मक बुद्धि और तृतीय चैतन्य पुरुष से अभेद ज्ञानात्मक प्राप्त हुई अभिमानात्मक उपलब्धि।

इसके विपरीत न्याय और वैशेषिक दर्शन ज्ञान और उपलब्धि को सांख्य दर्शन की भांति बुद्धि का परिणाम नहीं मान कर उन्हें बुद्धि का पर्याय ही मानते हैं उनके मतानुसार बुद्धि, ज्ञान, उपलब्धि और प्रत्यक्ष ये चारों ही पर्यायवाची शब्द हैं। आयुर्वेद के अनुसार बुद्धि पाँच प्रकार की मानी गई है। यथा-धी (प्रज्ञा), धृति (धैर्य), स्मृति (स्मरण), अहंकार और चेतना।

सामान्यतः बुद्धि के दो भेद होते हैं—अनुभव और स्मृति। अनुभव का अनुभूति और स्मृति का स्मरण पर्याय है। "संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः"—यह स्मृति का

लक्षण है। अर्थात् केवल संस्कार से उत्पन्न हुए ज्ञान को स्मृति कहते हैं तथा अनुभव-जन्य भावना को संस्कार कहते हैं। अथवा इसे यों भी कहा जा सकता है कि पूर्व में अनुभव किए हुए पदार्थ का कालान्तर में संस्कारवश बिना इन्द्रिय सन्निकर्ष के जो ज्ञान होता हैं वह स्मृति कहलाती हैं। प्रत्यभिज्ञा भी तो संस्कार से होती है। अतः प्रत्यभिज्ञा में स्मृति के लक्षण की अतिव्याप्ति न हो इसलिए केवल संस्कारजन्य कहा है। प्रत्यभिज्ञा केवल संस्कार से नहीं होती है। किन्तु संस्कार और प्रत्यक्ष इन दोनों से होती है, जबकि स्मृति केवल संस्कार से ही होती है। पुनः स्मृति दो प्रकार की बतलाई गई है।—१. भावित स्मर्तव्य और २. अभावित स्मर्तव्य। स्वप्नावस्था में जो ज्ञान होता है वह भावित स्मर्तव्य कहलाता है तथा जाग्रत अवस्था में विषयों का जो स्मरण होता है वह अभावित स्मर्तव्य कहलाता है।

उपर्युक्त स्मृति से भिन्न ज्ञान का नाम अनुभव है। अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा विषय का प्रत्यक्ष करने पर जो यथार्थ ज्ञान तत्काल होता है वह अनुभव कहलाता है। यह अनुभव इन्द्रिय सन्निकर्षजन्य होता है। इसी को अनुभूति भी कहते हैं। यह अनुभूति **विद्या** और **अविद्या** भेद से दो प्रकार की होती है। जो वस्तु जैसी है उसका वैसा ही (यथार्थ) ज्ञान होना '**विद्या**' कहलाता है—"**तद्वत् तत्प्रकारकानुभूतिर्विद्या**"। इसके विपरीत मिथ्या अथवा अयथार्थ ज्ञान का नाम '**अविद्या**' है। उपर्युक्त विद्या पुनः तीन प्रकार की होती है—**प्रत्यक्षा, लैङ्गिकी और शाब्दी**। उसीको क्रमशः प्रत्यक्षज्ञान, अनुमिति ज्ञान और शब्द ज्ञान भी कहते हैं। अविद्या दो प्रकार की होती है—**संशय** और **विपर्यय**। "**एकस्मिन् धर्मिणी विरुद्धनानाधर्मप्रकारकं ज्ञानं संशयः**" अर्थात् एक धर्मी में उसके विरुद्ध नाना धर्मों को बतलाने वाले ज्ञान का नाम '**संशय**' है। किसी ऐसी वस्तु को देखकर जिसमें अन्य वस्तु के भ्रम होने की भी सम्भावना रहती है, उसका निश्चय नहीं कर पाना ही संशय कहलाता है। जैसे सायंकालीन झुरमुट में दूर स्थित किसी स्थाणु (ठूंठ) को देख कर यह निश्चय नहीं हो पाता कि यह स्थाणु है अथवा पुरुष। इस प्रकार का अनिश्चयात्मक ज्ञान ही संशय कहलाता है। महर्षि चरक ने भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है। यथा "**संशयो नाम सन्देहलक्षणानुसन्दिग्धेष्वर्थेष्व-निश्चयः।**" अर्थात् सन्देह उत्पन्न करने वाले लक्षणों से युक्त पदार्थों में निश्चय नहीं होना '**संशय**' कहलाता है। अविद्या का दूसरा भेद विपर्यय है। इसका सामान्य अर्थ होता है विपरीत ज्ञान। एक वस्तु में अन्य वस्तु का ज्ञान होना। जैसे अंधकार में रस्सी को देखकर उसमें सर्प का भ्रम (ज्ञान) होना विपर्यय कहलाता है। यह मिथ्या ज्ञान होता है। यथा "**मिथ्याज्ञानं विपर्ययः।**" विपर्यय का एक अन्य लक्षण निम्न प्रकार है—"**तदभव-**

वति तत्प्रकरकं ज्ञानं विपर्ययः" अर्थात् किसी स्थान पर एक वस्तु का अभाव होने पर भी वहां उस वस्तु का मिथ्या ज्ञान होना '**विपर्यय**' कहलाता है। इसी को वैशेषिक एवं न्याय दर्शन में '**अन्यथाख्याति**' कहा गया है।

बुद्धि के उपरि वर्णित भेदों को निम्न प्रकार से समजा जा सकता है—
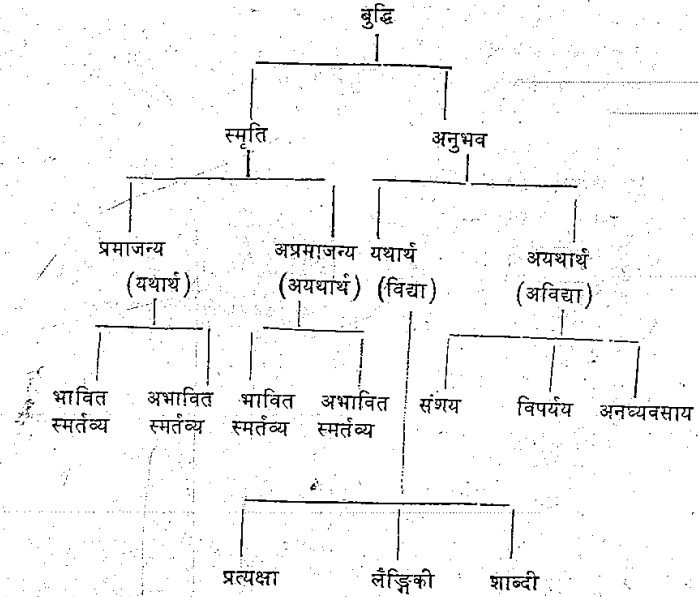
सुख निरुपण

"**अनुग्रहलक्षणं सुखम्।**" "**अनुग्रहस्वभावं तु सुखम्।**"

"**धर्मजन्यमनुकूलवेदनीयं गुणः सुखम्।**" —**प्रशस्तपाद**

"**इष्टोपलब्धीन्द्रियार्थसन्निकर्षाद् धर्माद्यपेक्षादात्ममनसोः संयोगादनुग्रहा भिषंगनयनादिप्रसादजनकमुत्पद्यते तत्सुखम्।**" —**प्रशस्तपाद**

अर्थ—अनुग्रह जिसका लक्षण है अथवा अनुग्रह स्वभाव है जिसका ऐसे गुण को सुख कहते हैं अथवा अनुकूल स्वभावात्मक सुख होता है। अनुकूल संवेदना का कारण या धर्म से जनित अनुकूल ज्ञान विषय की उपलब्धि एवं तद्विषय रूप ज्ञान होने पर तथा इन्द्रिय, इष्ट बिषय, मन और आत्मा का संयोग होने से अनुकूल प्रतीति, अनुराग और नेत्र आदि की प्रसन्नता को उत्पन्न करने वाले गुण का नाम सुख है।

प्रसन्नता अथवा अनुकूल प्रतीत की अनुभूति का नाम ही सुख है। अर्थात् जो समस्त प्राणियों को अनुकूल प्रतीत हो वह सुख कहलाता है। इसकी प्राप्ति धर्म से होती है। सुख और धर्म परस्पर कार्य कारण भाव से सम्बन्धित हैं। अपने वश में होने वाले सभी कार्य सुखदायी होते हैं। इसीलिए जो अन्य की इच्छा के वश में (पराधीन) न होकर स्वाधीन होता है वह सुख कहलाता है।

सुख के लिए अनेक विषय हो सकते हैं। अनेक बार भूत कालीन विषय के स्मरण से और भविष्य कालीन विषय के संकल्प से भी सुख होता है। ज्ञानी पुरुष इन दोनों की ही अपेक्षा नहीं रखते हैं। उनको तो विषय स्मरण, इच्छा और संकल्प के न होते हुए भी ज्ञान, शम, सन्तोष और धर्म विशेष जनित सुख होता है। इसमें मैं सुखी हूं, इस प्रकार के अनुव्यवसाय से जिस का ज्ञान होता है वह व्यवसायात्मक ज्ञान ही सुख है। सामान्य रूपेण वास्तविक सुख वह होता है जो इष्टोपलब्धि की इच्छा किसी अन्य इच्छा के आधीन न हो ऐसी इच्छा के विषय को ही सुख कहते हैं। जैसे हम अर्थ प्राप्ति की इच्छा से विविध कार्य करते हैं। कार्य करने की इच्छा अर्थ प्राप्ति की इतर इच्छा के आधीन है। अतः वह सुख या सुख का विषय नहीं हो सकती। अर्थ प्राप्ति ही सुख का विषय है।

दुख निरुपण

"अधर्ममात्रासाधारणको गुणः। बाधनालक्षणं दुखम्"। —न्यायसूत्र

"इतरद्वेषानधीनद्वेषविषयत्वम्।" —न्या० वा०

"उपघातलक्षणं दुखम्।" "सर्वं परवशं दुःखम्।"

"अधर्मजन्यं प्रतिकूलवेदनीयं गुणो दुखम्।"

अर्थ—अधर्म मात्र से उत्पन्न असाधारण गुण अथवा बाधना लक्षण वाला या उपघात लक्षण वाला दुःख होता है। अथवा अधर्म से उत्पन्न प्रतिकूल वेदना (ज्ञान का विषय) रूप गुण का नाम दुःख है।

पराधीन को दुःख कहते हैं। जो आत्मा, मन और इन्द्रिय के प्रतिकूल हो वह दुःख कहलाता है। इसकी उत्पत्ति अधर्म से होती है। अतः यह त्याज्य है।

दुःख भी एक अनुभूति है जो आत्मा को होती है। प्रत्येक प्राणी इससे बचना चाहता है और अपने लिए कभी इसकी कामना नहीं करता। दुःख अनिच्छा का विषय एवं प्रतिकूल प्रतीति रूप होता है। सामान्यतः विषण्णता को दुःख मान सकते हैं। अधर्म आदि के द्वारा किसी विषय में अनिष्टता का ज्ञान तथा इन्द्रिय और अनिष्ट विषय का सन्निकर्ष होने पर आत्मा और मन के संयोग से असहिष्णुता, दुःखानुभव, दीनता, खिन्नता आदि को उत्पन्न करने वाले गुण का नाम दुःख है। भूतकालीन अनिष्ट विषय के स्मरण

से और भविष्य कालीन अनिष्ट विषय की आशंका से दुःख होता है। मैं दुखी हूं—इस प्रकार के अनुव्यवसाय से जिसका ज्ञान होता है वह व्यवसायात्मक ज्ञान ही दुःख है। दूसरे शब्दों में दुःख का लक्षण "इतरद्वेषानधीनद्वेषविषयत्व" होता है। यदि केवल इतना ही लक्षण किया जाय कि दुःख द्वेष का विषय है तो यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष से दूषित हो जाता है। क्योंकि द्वेष का विषय तो सर्पादि भी हैं, अतः सर्प आदि में यह लक्षण अतिव्याप्त होने से इतरद्वेषानधीनद्वेष विशेषण लगाया गया। हमें सर्प से दुःख होता है, इसलिए हम सर्प से द्वेष करते हैं। वहां सर्प का द्वेष इतर (दुःख) द्वेष के आधीन है। अतः जो द्वेष दूसरे द्वेष के आधीन नहीं हो ऐसे द्वेष का विषय दुःख कहलाता है।

इच्छा निरुपण

"इच्छा कामः" —तर्क संग्रह

"स्वार्थं परार्थं वाऽप्राप्त प्रार्थनेच्छा।" —प्रशस्तपाद

अर्थ—किसी विषय वस्तु की कामना करना 'इच्छा' कहलाती है। अपने लिए अथवा किसी दूसरे के लिए अप्राप्त वस्तु की कामना करना 'इच्छा' कहलाती है। आत्मा तथा मन के संयोग से सुख और स्मृति की अपेक्षा पूर्वक यह इच्छा प्रायः उसी वस्तु की होती है जिसके सम्पादित करने के उपाय का ज्ञान होता है। इसमें इच्छात्व जाति होती है। पुष्पमाला, चन्दन, वनिता इत्यादि विषयों के सेवन से समुत्पन्न सुख से उत्तरोत्तर उसके सजातीय सुख में अथवा सुख के साधन में राग अर्थात् इच्छा उत्पन्न होती है। विषय के निरन्तर सम्बन्ध से उत्पन्न जो दृढ़तर संस्कार होता है वही तन्मयता कहलाती है। उसी तन्मयता से इच्छा होती है। इच्छा से ही धर्म, अधर्म, स्मृति और प्रयत्न में प्रवृत्ति होती है। अतः इन चारों की प्रवृत्ति का हेतु यह इच्छा ही है। काम, अभिलाषा, राग, संकल्प, कारुण्य, वैराग्य, उपधा और भाव आदि इच्छा के ही भेद हैं। इन्हें इच्छा के विषय भी कह सकते हैं। इनमें मैथुन की इच्छा को काम, अभ्यवहारेच्छा अथवा भोजन की इच्छ को अभिलाषा, पुनः पुनः एक ही विषय में अनुरंजन अथवा विषयासक्ति की इच्छा को राग, भविष्य में किसी क्रिया को करने की इच्छा को संकल्प, स्वार्थ का परित्याग कर अन्य प्राणियों के कष्ट निवारण की इच्छा को कारुण्य, दोषों को देखकर विषय त्याग की इच्छा को वैराग्य, दूसरों को ठगने की इच्छा को उपधा और अन्तः निगूढ़ या गुप्त इच्छा को भाव कहते हैं। इसके अतिरिक्त चिकीर्षा, जिहीर्षा इत्यादि क्रियाओं के भेद से भी इच्छा के अनेक भेद हो सकते हैं।

द्वेष निरुपण

"प्रज्वलनात्मको द्वेषः। यस्मिन् सति प्रज्वलितमिवात्मानं मन्यते स द्वेषः।"

"क्रोधो द्वेषः।" —तर्क संग्रह

अर्थ—क्रोध को ही द्वेष कहते हैं। यह ज्वलनात्मक होता है। जिसके होने पर मनुष्य स्वयं को प्रज्वलित की भांति अनुभव करता है वह द्वेष कहलाता है। दुःख अथवा दुःख की स्मृति के कारण आत्मा एवं मन के संयोग से द्वेष उत्पन्न होता है। यह अनिष्ट साधनता ज्ञान जन्य होता है। 'द्वेष करता हैं' इस प्रकार के अनुभव से सिद्ध जाति वाले अथवा द्विष्टसाधनताज्ञानजन्य गुण को द्वेष कहते हैं। यहाँ पर द्विष्ट-साधनताज्ञान को ही अनिष्ट साधनता ज्ञानत्व समझना चाहिए।

यह द्वेष सामान्यतः दुःख में अथवा दुःख के साधन में होता है। जैसे, सर्प, कण्टक इत्यादि से उत्पन्न दुःख में और उस दुःख के साधन भूत सर्प, कण्टक आदि में द्वेष होता है। यह भी तन्मयता, अदृष्टविशेष और जाति विशेष से उत्पन्न होता है। **तन्मयताजन्य**—एक बार सर्पदंश होने पर पुनः पुनः उसे सर्वत्र सर्प का ही दिखाई देना। **अदृष्टविशेष**—जिसे कभी सर्प दंशजन्य दुःख का अनुभव नहीं हुआ, उसे भी सर्प से द्वेष होना। **जातिविशेष**—कुत्ते का बिल्ली से, बिल्ली का चूहे से, सर्प का नेवले से द्वेष होना।

द्वेष वशात् भी धर्म, अधर्म, स्मृति एवं प्रयत्न में प्रवृत्ति होती है। अतः द्वेष भी इन चारों का हेतु या मूल होता है। क्रोध, द्रोह, मन्यु, अक्षमा, अमर्ष आदि द्वेष के विषय अथवा प्रकार होते हैं।

व्यवहारिक रूप से द्वेष घृणा का परिचयक होता है। क्योंकि किसी वस्तु अथवा किसी विषय में अनिच्छा रखना या उससे घृणा करना ही द्वेष कहलाता है। इच्छा सामान्यतः अनुकूल विषयों में होती है। इसके विपरीत प्रतिकूल विषयों में द्वेष होता है। यह एक प्रकार से मानस दोष है जो आत्मा के लिए अशुभ परिणाम कारक अथवा अशुभ बंध का हेतु होता है।

प्रयत्न निरूपण

"कृतिः प्रयत्नः।" —तर्क संग्रह

"प्रयत्नः संरम्भ उत्साह इति पर्यायाः। स द्विविधः जीवनपूर्वकः इच्छाद्वेषपूर्वकश्चेति।" —प्रशस्तपाद

अर्थ-कृति को ही प्रयत्न कहते हैं। कार्यारम्भक गुण विशेष का नाम प्रयत्न है, अर्थात् कार्य प्रारम्भ करने वाले गुण को प्रयत्न कहते हैं। दूसरे शब्दों में चेष्टा का नाम प्रयत्न है। अर्थात् किसी कार्य का सम्पादन करने के लिए जो चेष्टा विशेष की जाती है वही प्रयत्न कहलाता है। प्रयत्न, संरम्भ, उत्साह ये प्रयत्न के पर्याय वाची शब्द हैं। यह सामान्यतः दो प्रकार का होता है—१ जीवनपूर्वक और २ इच्छा-द्वेषपूर्वक।

१. **जीवन पूर्वक प्रयत्न**—जब मनुष्य निद्रावस्था में होता है तब भी उसकी श्वास, प्रश्वास की क्रिया सतत होती रहती है। अतः स्वप्नावस्था में जो प्राण-अपान का प्रेरक (श्वास, प्रश्वास की क्रियात्मक परम्परा को चालू रखने वाला) होता है तथा जाग्रत अवस्था में अन्तःकरण (मन) का इन्द्रियों के साथ संयोग कराने में हेतु अथवा मन को एक इन्द्रिय से दूसरी इन्द्रिय में पहुंचाने वाला होता है और जो आत्मा, मन तथा इन्द्रियों का संयोग कराता है वह जीवन पूर्वक प्रयत्न कहलाता है। यह प्रयत्न स्वतः सम्पादित होता है तथा जीवन के लिये अपेक्षित है।

२. **इच्छा-द्वेष पूर्वक प्रयत्न**—यह प्रयत्न हित की प्राप्ति और अहित के परिहार के लिए समर्थ होने वाले (योग्य) व्यापार का हेतु और शरीर को धारण करने वाला होता है। यह प्रयत्न इच्छा और द्वेष के कारण होता है। अपने या पर के हित साधन के लिए जो प्रवृत्तिमूलक चेष्टा की जाती है वह इच्छा पूर्वक प्रयत्न तथा अपने या पर के अहित का परिहार करने के लिए जो निवृत्तिमूलक चेष्टा की जाती है वह द्वेष पूर्वक प्रयत्न कहलाता है। यह इच्छा-द्वेष पूर्वक प्रयत्न आत्मा और मन का संयोग होने पर इच्छा और द्वेष से समुत्पन्न होता है।

प्रकारान्तर से प्रयत्न को तीन प्रकार का भी बतलाया गया है। यथा-प्रवृत्ति रूप प्रयत्न निवृत्ति रूप प्रयत्न, और जीवन योनि रूप प्रयत्न। इच्छाजन्य गुण प्रवृत्ति कहलाती है। द्वेषजन्य गुण का नाम निवृत्ति है तथा जीवन रूप अदृष्टजन्य गुण को जीवनयोनि कहते हैं। यह जीवनयोनि ही शरीर में प्राण-संचार का कारण है। इसके अभाव में मनुष्य की मृत्यु हो जाती है।

परादि सामान्य गुण

परत्वापरत्व निरूपण

"परत्वापरत्वं च परापराभिधानप्रत्ययनिमित्तम्। तत्तु द्विविधं दिक्कृतं कालकृतं च। तत्र दिक्कृतं दिग्विशेषप्रत्यायकम्। कालकृतं च वयोभेदप्रत्यायकम्।" —प्रशस्तपाद

देशकालवयोमानपाकवीर्यरसादिषु। परापरत्वे——————————————॥ —चरक संहिता सूत्रस्थान २६/६१

परत्व और अपरत्व क्रमशः पराभिधान, अपराभिधान तथा परप्रत्यय, अपर प्रत्यय के कारण हैं। ये दो प्रकार के होते हैं—दिक्कृत और कालकृत। इनमें दिक्कृत प्रत्यय दिग्विशेष के और कालकृत प्रत्यय वयोभेद के बोधक हैं।

परत्व और अपरत्व का व्यवहार देश, काल, वय, परिमाण, पाक, वीर्य, रसादि के उत्कृष्ट-निकृष्ट के निर्देश के लिए होना है। जैसे कोई स्थान (देश) किसी व्यक्ति

के स्वास्थ्य की दृष्टि से श्रेष्ठ होने से पर हैं तथा अन्य स्थान अपर। शीतकाल सामान्यतः स्वास्थ्य की दृष्टि से उपयोगी एवं उत्तम होने से पर तथा अन्य ग्रीष्म काल आदि अपर। वय (अवस्था) की दृष्टि से तरुण अवस्था पर एवं बाल्य एवं वृद्ध अवस्था अपर हैं। किसी व्यक्ति के लिए मधुर विपाक अनुकूल होने से पर तथा अन्य अम्ल या कटु विपाक अपर होता है। इसी प्रकार शीतवीर्य अनुकूल होने से पर एवं उष्ण वीर्य अपर होता है। मधुरादि षट् रसों में जो अनुकूल हो वह पर तथा अन्य अपर होते हैं। यहां पर परत्व का अभिप्राय उत्कृष्ट एवं अपरत्व का अभिप्राय निकृष्ट होता है।

दूर और समीप अथवा बड़े और छोटे व्यवहार के प्रधान कारण को परत्व और अपरत्व कहते हैं। यह परत्व एवं अपरत्व पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मन इन पाँच द्रव्यों में रहता है। दिशा और काल की अपेक्षा यह दो प्रकार का होता है। यथा दिक्कृत परत्व एवं दिक्कृत अपरत्व। इसमें देश से सम्बन्ध होने के कारण यह दैशिक परत्व-अपरत्व भी कहलाता है। दिक्कृत परत्व अथवा दैशिक परत्व का व्यवहार दूर देशीय अथवा दूरस्थ वस्तु में तथा दिक्कृत अपरत्व अथवा दैशिक अपरत्व का व्यवहार निकटदेशीय अथवा समीपस्थ वस्तु में होता है।

इसी भाँति काल की अपेक्षा से कालकृत परत्व एवं कालकृत अपरत्व होता है। इसमें काल का सम्बन्ध होने से यह कालिक परत्व एवं कालिक अपरत्व कहलाता है। कालकृत परत्व का व्यवहार ज्येष्ठ में तथा कालकृत अपरत्व का व्यवहार कनिष्ठ में होता है।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार "यह विप्रकृष्ट (दूर) है" और "यह सन्निकृष्ट (समीप) है—ऐसा प्रयोग जिन गुणों के कारण होता है, उनको क्रमशः परत्व और अपरत्व कहते हैं। आयुर्वेद के मनीषियों ने सन्निकृष्ट अर्थात् उपयोगिता में समीप (प्रधान या उत्कृष्ट) और विप्रकृष्ट अर्थात् उपयोगिता में दूर (अप्रधान या निकृष्ट) ऐसा अर्थ ग्रहण कर के देश, काल, वय, मान, विपाक, वीर्य, रस आदि में परत्वापरत्व सम्बन्ध बतलाया है।

युक्ति निरूपण

"युक्तिश्च योजना या तु युज्यते।" —**चरक संहिता सूत्रस्थान** २६/३१

"या कल्पना यौगिकी भवति सा तु युक्तिरुच्यते। अयौगिकं तु कल्पनाऽपि सती युक्तिर्नोच्यते, पुत्रोऽप्यपुत्रवत्।"

अर्थ—दोष, देश, काल, प्रकृति, बल आदि को ध्यान में रखते हुए औषधि, आहार-विहार आदि का विचार पूर्वक यथा योग्य निर्णय करके जो निर्देश दिया जाता है—**इसी का नाम 'योजना' है और यही योजना 'युक्ति' कहलाती।**

जो कल्पना यौगिकी (युक्ति युक्त या विधिपूर्वक) होती है वही 'युक्ति' कहलाती है किन्तु जो कल्पना अयौगिक (अयुक्त या बिना विधिवत्) होती है तो वह कल्पना के होने पर भी 'युक्ति' नहीं कहलाती। जैसे षड् धातुसंयोग से गर्भोत्पत्ति, मथ्य, मन्थनक और मन्थान के योग से अग्नि की उत्पत्ति, वैद्य, परिचारक, औषधि और रोगी के समुचित संयोग से रोग निवृत्ति तथा ऋतु, क्षेत्र, अम्बु एवं बीज के संयोग से शस्य (अनाज) की उत्पत्ति होती है। यही युक्ति कहलाती है। उपर्युक्त वस्तुओं के विद्यमान रहने पर भी यदि उनकी संयोजना समुचित रूप से नहीं हो पाती है तो अभीष्ट सिद्धि नहीं होती। वहां युक्ति नहीं होती है।

संख्या निरूपण

"संख्या स्याद् गणितम्।" —**चरक संहिता, सूत्रस्थान** २६/३२

"एकत्वादिव्यवहारहेतु संख्या।" —**वैशेषिक दर्पण**

"गणना व्यवहारे तु हेतुः संख्याऽभिधीयते।" —**कारिकावलि**

"गणना व्यवहारासाधारणं कारणं संख्या।" —**मुक्तावलि**

अर्थ—एक, दो, तीन आदि शब्दों से जिस गुण विशेष का बोध होता है अथवा गणना रूप व्यवहार का जो हेतु होता है वह संख्या कहलाती है। एक, दो, तीन इत्यादि यह संख्या गुण कहीं संख्या का वाचक होता है और कहीं संख्येय का। एक संख्या संख्येय वाचक होती है तथा दस के बाद की संख्या, संख्या और संख्येय दोनों की वाचक होती है। यह संख्या दो द्रव्यों में स्थित होती है तथा एकत्व इत्यादि से लेकर परार्ध पर्यन्त होती है। यथा—**एकत्वादिपरार्धपर्यन्ता नवद्रव्यवृत्तिः, एकत्वं तु नित्यगतं नित्यं, अनित्यगतमनित्यं, द्वित्वादिकं तु सर्वथाऽनित्यमेव।"** एक से लेकर परार्ध पर्यन्त संख्या निम्न प्रकार होती है—इकाई, दहाई, सैकड़ा, हजार, दस हजार, लाख, दस लाख करोड़, दस करोड़, अरब, दस अरब, वृन्द, दस वृन्द, खर्व, दस खर्व, निखर्व, दस निखर्व, शंख, दस शंख, पद्म, दस पद्म, सागर, दस सागर, अन्त्य, दस अन्त्य, मध्य, दस मध्य, परार्ध, दस परार्ध। इस प्रकार यथाक्रम दस-दस का गुणन करके परार्ध पर्यन्त संख्या है। इसमें एकत्व प्रतिपादक संख्या नित्य पदार्थों में नित्य एवं अनित्य पदार्थों में अनित्य होती है। जैसे जीव (आत्मा), ईश्वर एवं प्रकृति ये तीनों नित्य हैं। अतः एकत्व का व्यवहार होने पर 'एक' संख्या नित्य होती है। अन्य अनित्य पदार्थों जैसे शरीर, वृक्ष पर्वत आदि में व्यवहृत होने वाली 'एक' संख्या अनित्य होती है। अतः एक संख्या नित्य भी है और अनित्य भी। इसके अतिक्ति द्वित्व आदि संख्या सर्वथा अनित्य है। क्योंकि दो से लेकर परार्ध पर्यन्त संख्या अपेक्षा बुद्धिजन्य होती है। अतः वह अनित्य है। अपेक्षा बुद्धि के नाश होने से उसका भी नाश हो जाता है। अपेक्षा बुद्धि अनेक

एकत्व बुद्धि की परिचायक होती है। जैसा कि वैशेषिक दर्शन के निम्न वचन से सुस्पष्ट है—'**अयमेकोऽयमेक इत्याकाराबुद्धिरपेक्षाबुद्धिः ।**' अर्थात् यह एक है, यह एक है इस प्रकार के पृथक् पृथक् ज्ञान का नाम अपेक्षा बुद्धि है।

संयोग निरूपण

"योगः सह संयोग उच्चते ।"
द्रव्याणां द्वन्द्व सर्वत्र कर्मजोऽनित्य एव च । —**चरक संहिता, सूत्रस्थान २६/३१**
"संयुक्तव्यवहारहेतुसंयोगः सर्वद्रव्यवृत्तिः ।" —**तर्क संग्रह**
"अप्राप्तयोस्तु या प्राप्तिः सैव संयोग ईरितः ।" —**कारिकावलि**

अर्थ—द्रव्यों के एक साथ मिलने को संयोग कहते हैं, अथवा दो या दो से अधिक द्रव्यों का योग होना संयोग कहलाता है अथवा संयुक्त (मिला हुआ) है इस प्रकार के व्यवहार का कारण संयोग कहलाता है। यह सभी नव द्रव्यों में होता है। यह संयोग द्वन्द्व कर्मज, सर्व कर्मज, तथा एक कर्मज होता है। इसके अतिरिक्त अप्राप्त वस्तुओं की प्राप्ति को संयोग कहा जाता है।

दो या दो से अधिक द्रव्यों के मिलने हेतु उनका जो पारस्परिक सम्बन्ध (मिलना) होता है वह संयोग कहलाता है। जो पदार्थ पूर्व में परस्पर असम्बद्ध (मिले हुए नहीं) थे उनका किसी स्थान विशेष या समय विशेष में आपस में मिल जाना ही संयोग होता है। ऊपर जो तीन प्रकार का संयोग बतलाया गया है वह चरक के अनुसार है। कारिकवलि में भी तीन प्रकार का संयोग बतलाया गया है यथा—'**अन्यतर कर्मज**', '**उभय कर्मज**' और '**संयोगकर्मज**'। इसमें चरकोक्त द्वन्द्व कर्मज और एक कर्मज कारिकावलि के क्रमशः उभय कर्मज एवं अन्यतर कर्मज से मेल खा जाता है। किन्तु चरक का **सर्व कर्मज** तथा कारिकावलि का '**संयोगकर्मज**' अलग कुछ भिन्न प्रतीत होते हैं। उन्हें दोनों के भिन्न-भिन्न उदाहरणों के द्वारा निम्न प्रकार से समझा जा सकता है—

१. चरकोक्त एककमर्ज तथा कारिकावलि का अन्यतरकर्मज दोनों एक हैं। आचार्य श्री चक्रपाणिदत्त वृक्ष पर पक्षी के बैठने को एक कर्मज मानते हैं, क्योंकि इसमें एक पक्षी के द्वारा ही चेष्टा होती है। न्यायदर्शन वाले (कारिकावलिकार) बाज का पर्वत पर बैठना रूपी संयोग 'अन्यतर कर्मज' होता है। इसमें दोनों उदाहरण समान हैं।

२. द्वन्द्वकर्मज (चरक) और उभयकर्मज (कारिकावलि) दोनों एक ही हैं। क्योंकि दोनों के उदाहरण समान अभिप्राय को प्रकट करते हैं। यथा—चक्रपाणि के अनुसार दो भेड़ों का परस्पर लड़ना और न्यायदर्शन के अनुसार उड़ते हुए दो पक्षियों का परस्पर मिलना ये दोनों समान हैं। क्योंकि दोनों भेड़ों और पक्षियों में क्रिया पाई जाती हैं। अतः दोनों एक हैं।

३. महर्षि चरक के द्वारा प्रतिपादित 'सर्व कर्मज' और कारिकावलि में कथित 'संयोगज संयोग' दोनों परस्पर भिन्न हैं। बहुत से तिलों का योग होने पर उनसे तेल निकालना यह सर्वकर्मज है और वृक्ष की डाल पर कौवे का बैठना संयोगज संयोग है। यहां पर वृक्ष से कौवे का संयोग है ऐसा माना जाता है। अर्थात् अवयव संयुक्त होने पर वह अवयवी से भी संयुक्त है। अतः इस प्रकार का संयोगज ज्ञान संयोगज संयोग कहलाता है।

यद्यपि सर्वकर्मज संयोग और संयोगज संयोग परस्पर भिन्न प्रतीत होते हैं, किन्तु वस्तुतः दोनों एक ही हैं। दोनों में अन्तर केवल इतना है कि सर्वकर्मज संयोग एक काल में ही होता है और संयोगज संयोग उत्तर काल में सभी से संयुक्त होता है।

ये समस्त संयोग अनित्य होते हैं। क्योंकि विभाग के द्वारा इनका विनाश होता है।

विभाग निरूपण

"विभागस्तु विभक्तिः स्याद्वियोगो भागशो ग्रहः ।"
—**चरक संहिता, सूत्रस्थान २६/३३**
"संयोगनाशको गुणो विभागः ।" —**तर्क संग्रह**

अर्थ—वस्तुओं का पारस्परिक विभजन (अलग-अलग करना) अथवा एक-एक भाग करना 'विभाग' कहलाता है। संयोग नाशक गुण को विभाग कहते हैं।

यह संयोग का विरोधी गुण है। अतः जिस गुण के कारण दो या अधिक द्रव्यों के विषय में यह बुद्धि हो कि ये संयुक्त नहीं (विभक्त) हैं, उसे विभाग कहते हैं। विभाग का ही अपर पर्याय वियोग होता है। वियोग में भागशः ग्रह होता है। किसी संयुक्त औषधि में समस्त औषधियों की नियत मात्रा का ज्ञान करना कि कौन सी औषधि कितनी मात्रा में है—वियोग या विभाग कहलाता है। संयोग की भाँति विभाग भी तीन प्रकार का होता है। यथा १. द्वन्द्वकर्मज २. एककर्मज और ३. सर्वकर्मज। संयोग के उदाहरण ही विभाग के उदाहरण के रूप में प्रप्रिघटित समझना चाहिए। जैसे वृक्ष से पक्षी का अलग होना, दोनों भेड़ों का पपस्पर अलग होना तथा सम्पूर्ण तिलों को परस्पर अलग कर देना।

पृथक्त्व निरुपण

"पृथक्त्वं स्यादसंयोगो वैलक्षण्यमनेकता ।" —**चरक संहिता, सूत्रस्थान २६/३३**
"पृथक्त्वव्यवहारासाधारणकारणं पृथक्त्वम् ।" —**तर्क संग्रह**

अर्थ—असंयोग का नाम ही पृथक्त्व है। यह इससे अलग है—यह ज्ञान जिस गुण के कारण होता है उसका नाम पृथक्त्व है। जैसे यह 'घट' अमुक 'पट' से पृथक्

(भिन्न) है। इस प्रकार की बुद्धि जिसके द्वारा उत्पन्न होती है उसे पृथक्त्व कहते हैं। अथवा पृथक् व्यवहार के असाधारण कारण को पृथक्त्व कहते हैं। यह सब द्रव्यों में होता है।

यह तीन प्रकार का होता है—**असंयोग लक्षण**—जिसका कभी संयोग होना सम्भव नहीं है। जैसे विन्ध्य पर्वत और हिमालय का पृथक्त्व। २. **वैलक्षण्य रूप**-विलक्षणता (लक्षणों की असमानता) होने के कारण जहां संयोग नहीं हो सकता। जैसे-गाय, भैंस, बकरी, सुअर में विलक्षणता (लक्षण की असमानता) के कारण पृथक्त्व। ३. **अनेकता रूप**-समान जाति वाले द्रव्यों में भी अनेक रूपता होने से उनमें पृथक्त्व पाया जाता है। जैसे—गाय में काली गाय, सफेद गाय, लाल गाय आदि।

परिमाण निरुपण

"परिमाणं पुनर्मानम्।" —**चरक संहिता, सूत्रस्थान अ० २६**

"मानव्यवहारासाधारणकारणं परिमाणम्, तच्चतुर्विधमणु दीर्घं महत् ह्रस्वं च।"

—**तर्क संग्रह**

अर्थ—मान को ही परिमाण कहते हैं। मान (माप-तौल) के असाधारण कारण को 'परिमाण' कहते हैं। जिस गुण के कारण माप होता है वह परिमाण कहलाता है। माप या तौल के द्वारा जो मान ज्ञात किया जाता है उस मान व्यवहार के हेतु भूत गुण का नाम ही परिमाण है। जिस गुण को माप और तौल के विभिन्न साधनों (किलो ग्राम, मीटर, लीटर आदि के द्वारा जाना जाता है) वह परिमाण कहलाता है।

परिमाण के द्वारा ही वस्तुओं का माप या मानदण्ड नियत किया जाता है। वह सभी द्रव्यों में पाया जाता है। वह चार प्रकार होता है—अणु, महत्, दीर्घ और हृस्व।

संस्कार निरूपण

"संस्कार करणं मतम्" —**चरक संहिता, सूत्रस्थान २६/६४**

करणं पुनः स्वाभाविकानां द्रव्याणामभिसंस्कारः।"

संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते।"

—**चरक संहिता, विमान स्थान १/२६**

"सामान्यगुणात्मविशेषगुणोभयवृत्तिवव्याप्यजातिमान संस्कार:।"—गुरुत्व

"सम्यक् प्रकारेण क्रियते इति संस्कार:।"

"संस्कारस्त्रिविध: वेगो भावना स्थितिस्थापकश्च।" —**प्रशस्तपाद**

अर्थ—क्रिया के द्वारा गुणाधान करने को संस्कार कहते हैं। औषध या आहार

को तैयार करने में अनेक प्रकार की प्रक्रियाएं की जाती हैं। उन प्रक्रियाओं से द्रव्य में अन्य गुण की उत्पत्ति होती है, उसे ही संस्कार कहते हैं। इसका अपर पर्याय 'करण' है।

जिन द्रव्यों में जो गुण स्वभावत: नहीं पाए जाते हैं, उन गुणों को उन द्रव्यों में संस्कार क्रिया विशेष के द्वारा उत्पन्न किया जाता है। यह संस्कार जल, अग्नि, संसर्ग, मन्थन, देश, काल, भावना, काल प्रकर्ष एवं पात्र संयोग के द्वारा किया जाता है। यह संस्कार सामान्यत: तीन प्रकार का होता है—१—वेग, २—भावना और ३—स्थिति-स्थापक। १ वेग-यह पृथ्वी-जल-वायु-अग्नि इन चार मूर्तद्रव्यों में और अमूर्त मन में पाया जाता है। उपर्युक्त इन पाँच द्रव्यों में कारण-विशेष से जो गति-प्रवाह उत्पन्न होता है वह 'वेग' नामक संस्कार कहलाता है। इससे द्रव्यों के संयोग और वियोग का नाश होता है। २ **भावना**—अनुभव प्रत्यक्ष आदि होने के पश्चात उन अनुभवों का जो कुछ भी अंश मनमें रह जाता है उसीके द्वारा उन अनुभूत विषयों का स्मररण होता है और वे पुन: पहचानी जाती हैं। अत: पूर्वानुभूत विषयों की प्रत्यभिज्ञा जिस संस्कार के द्वारा होती है वही भावना संस्कार से अभिप्रेत है। संस्कार केवल आत्मा में रहता है। पुन: पुन: अथवा एक बार जिस वस्तु का अनुभव होता है उससे उस वस्तु की भावना मन में अंकित हो जाती है। पश्चात् वही प्रादुर्भूत होती है। ३-**स्थिति स्थापक**-जिस गुण के कारण द्रव्यों में लचकीलापन पाया जाता है तथा जिससे द्रव्य को दोनों ओर से खींचने पर द्रव्य फैल जाता है, किन्तु छोड़ देने पर पुन: अपनी स्वाभाविक पूर्व स्थिति को प्राप्त हो जाता है वह 'स्थितिस्थापक' गुण (संस्कार) कहलाता है। जैसे रबर के टुकड़े को खींचने पर वह लम्बा हो जाता है या वृक्ष की डाल पकड़ कर खींचने पर वह झुक जाती है, किन्तु छोड़ देने पर पुन: अपनी स्वाभाविक पूर्व स्थिति को प्राप्त हो जाती है। यह पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु में पाया जाता है।

अभ्यास निरूपण

"भावाभ्यसनमभ्यास: शीलनं सततक्रिया" —**चरक संहिता, सूत्रस्थान २६/३४**

अर्थ—किसी भी भाव पदार्थ का पुन: पुन: पालन (सेवन) करने को अभ्यास कहते हैं। शीलन और सतत क्रिया ये दो अभ्यास के पर्यायवाची शब्द हैं।

जब कोई कार्य लगन के साथ लगातार किया जाता है वही सतत क्रिया कहलाता है। इसी भाँति बारम्बार द्रव्यों का अनुशीलन (सेवन करना) शीलन कहलाता है। ये दोनों ही अभ्यास कहलाते हैं।

इस प्रकार ये परादि १० गण होते हैं तथा "**सार्था गुर्वादयो बुद्धि: प्रयत्नान्ता पराद्रय:** के अनुसार कुल ४१ गुण होते हैं। न्याय दर्शनोक्त धर्म और अधर्म इन दोनों गुणों को आयुर्वेद में नहीं माना गया है। अत: उनका वर्णन यहां नहीं किया गया है।

न्यायोक्त चतुर्विंशति गुण

न्याय दर्शन में आयुर्वेद की भाँति ४१ गुणों को नहीं माना गया है। उन्होंने केवल २४ गुणों का ही उल्लेख किया है। और उन्हीं २४ गुणों के अन्तर्गत आयुर्वेदोक्त ४१ गुणों को समाविष्ट कर लिया है। न्यायोक्त २४ गुण निम्न प्रकार हैं—

......अथ गुणा रूपं रसो गंधस्ततःपरम् ।
स्पर्शः संख्या परिमिति पृथक्त्वं च ततः परम् ॥
संयोगश्च विभागश्च परत्वं चापरत्वकम् ।
बुद्धिः सुखं दुखमिच्छा द्वेषो यत्नो गुरुत्वकम् ।
द्रवत्वं स्नेहसंकारावदृष्टं शब्द एव च ॥ —कारिकावलि

अर्थात् १. रूप, २. रस, ३. गन्ध, ४. स्पर्श, ५. संख्या, ६. परिमिति (परिमाण) ७. पृथक्त्व, ८. संयोग, ९. विभाग, १०. परत्व, ११. अपरत्व, १२. बुद्धि, १३. सुख, १४. दुख, १५. इच्छा, १६. द्वेष, १७. प्रयत्न, १८. गुरुत्व, १९. द्रवत्व, २०. स्नेह २१. संस्कार, २२. धर्म २३. अधर्म और २४ शब्द ये २४. गुण हैं। ऊपर श्लोक में जो अदृष्ट शब्द आया है उससे धर्म और अधर्म इन दो गुणों का ग्रहण किया गया है।

वस्तुत: ये २४ गुण ही माने गए हैं। इन्हीं २४ गुणों में आयुर्वेदोक्त ४१ गुणों का समावेश कर लिया जाता है। धर्म और अधर्म ये दो गुण आयुर्वेद में नहीं माने गए हैं। शेष समस्त गुणों को आयुर्वेद में स्वीकार किवा गया है। आयुर्वेद में उपर्युक्त न्यायोक्त गुणों के अतिरिक्त १७ लघुत्वादि गुण तथा युक्ति एवं अभ्यास ये दो (परादि) गुण इस प्रकार कुल १९ गुण अधिक माने गए हैं। इन गुणों का समन्वय इस प्रकार किया जा सकता है—अभ्यास को संस्कार में, युक्ति को संयोग में, गुर्वादि गुणों में गुरुत्व, द्रवत्व और स्नेह इन इन तीन गुणों को छोड़कर शेष गुणों को संस्कार और धर्म में समाविष्ट किया जा सकता है। आयुर्वेदोक्त गुर्वादि २० गुण दो प्रकार से प्राप्त होते हैं—१—सांसिद्धिक (स्वभाव सिद्ध) और २—नैमित्तिक (कारणजन्य)। जब इनकी प्राप्ति स्वभावत: होती है तब यह इस द्रव्य का धर्म है-ऐसा कहा जाता है और औषधि द्रव्य का वह धर्म अदृष्टजन्य होता है। ऐसी स्थिति में इनका समावेश धर्म में किया जाता है। जब निमित्तों के द्वारा इन गुणों की प्राप्ति होती है तब इन गुणों का समावेश संस्कार में कर लिया जाता है। इस प्रकार कुल चौबीस गुण ही माने जाते हैं और गुणों की संख्या सम्बन्धी मतभेद का समाधान हो जाता है।

कुछ विद्वान् इस प्रकरण में भिन्न मत रखते हैं। उनके मतानुसार चरकोक्त गुणों की संख्या भी २४ मानी जा सकती है। चरक में गुणों का वर्गीकरण एवं संख्या

निर्देश "सार्था गुर्वादयो" इत्यादि पद से किया गया है। २४ गुण मानने वाले विद्वानों के अनुसार इस पद का अर्थ यदि वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार किया जाय तो चरक के सिद्धान्तानुसार भी २४ ही गुण होते हैं। जैसे वैशेषिक दर्शन में **"रूपरसगन्ध स्पर्श संख्या परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परापरत्वे बुद्धयः सुखदुखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च** (वैशेषिक दर्पण १-१-६) ये १७ गुण बतलाए गए हैं। प्रशस्तपाद भाष्य में उपर्युक्त 'प्रयत्नाश्च' पाठ के च पद से ७ और गुण स्वीकार किए गए हैं। यथा **च शब्दसमुच्चितास्तु गुरुत्व-द्रवत्व-स्नेह संस्कार-धर्माधर्म-शब्दाः सप्तैवेत्येवं चतुर्विंशति गुणाः।"** इस प्रकार मूलतः कुल २४ गुण होते हैं। इसी भांति आयुर्वेदोक्त सार्था शब्द से स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, ये ४ गुण, 'गुर्वादयो' शब्द से गुरुत्व-द्रवत्व-स्नेह-संस्कार-धर्म-अधर्म-शब्द ये ७ गुण, बुद्धि, इच्छा, द्वेष, सुख, दुख, प्रयत्न ये ६ गुण, 'परादयः' शब्द से संस्कार, युक्ति और अभ्यास इन गुणों को छोड़कर शेष ७ गुण ग्रहण कर लेना चाहिए। इस प्रकार चरक के अनुसार भी २४ गुण होते हैं।

उपर्युक्त मत आयुर्वेद की दृष्टि से समीचीन एवं उपयोगी नहीं है। जो लोग इस धारणा के अनुसार सोचते हैं उनकी कल्पना निराधार एवं अयुक्ति युक्त है। क्योंकि महर्षि चरक के द्वारा वर्णित ४१ गुण चिकित्सा की दृष्टि से उपयोगी एवं महत्वपूर्ण हैं। प्रत्येक गुण का अपना स्वतन्त्र, महत्व एवं उपयोगिता है। अत: उन्हें केवल संख्या की दृष्टि से न्यूनाधिक नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त सार्था शब्द से सर्वत्र पंचमहाभूतों के शब्द स्पर्शादि पांच गुणों का ही ग्रहण किया गया है। यथा—**"अर्थाः शब्दादयो ज्ञेया गोचरा विषया गुणः।" (चरक संहिता शारीरस्थान १)** गुर्वादि शब्द से आयुर्वेद में सर्वत्र गुरु आदि २० गुण ही ग्रहण किए जाते हैं। यथा- **"गुरुमन्दहिमस्निग्धश्लक्ष्णसान्द्रमृदुस्थिराः। गुणा ससूक्ष्मविशदा विंशति सविपर्ययाः॥"** (अ. हृ. सू. १) 'परादि' शब्द से आयुर्वेद में सदा १० गुणों का ही ग्रहण होता है। यथा—**परापरत्वे युक्तिश्च संख्या संयोग एव च। विभागश्च पृथक्त्वं च परिमाणमथापि च। संस्कारोभ्यास इत्येते गुणा प्रोक्ताः परादयः॥'** (च. सू. अ. २५) इस प्रकार "सार्था गुर्वादयो" इत्यादि चरकोक्त वाक्य से केवल उन्हीं गुणों का ग्रहण करना उपयुक्त है जिनका निर्देश आयुर्वेद के आचार्यों ने अपनी मूल संहिताओं में किया है। इन गुणों को छोड़कर अन्य दर्शनोक्त गुणों के साथ समन्वय हेतु व्यर्थ की खींचातानी पूर्वक प्रयास करना अनुपयुक्त है।

गुणों का साधर्म्य

आयुर्वेद शास्त्र में जिन ४१ गुणों का वर्णन किया गया है वे यद्यपि परस्पर एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं, तथापि उनमें कुछ धर्म ऐसे हैं जो सभी में समान रूप से पाए

जाते हैं। अतः परस्पर भिन्न होते हुए भी उनमें जो धर्म समान रूप से मिलता है वही साधर्म्य कहलाता है। सभी गुणों में समान रूप से मिलने वाले धर्म निम्न हैं—

१. सभी गुण में गुणत्व जाति पाई जाती है। गुणत्व जाति के कारण ही वे गुण कहलाते हैं।
२. सभी गुण द्रव्य में अश्रित रहते हैं। अतः वे आश्रित धर्म वाले हैं।
३. सभी गुण गौणत्व धर्मयुक्त होने से गौण (अप्रधान) होते हैं।
४. सभी गुण निर्गुण होते हैं। उनमें कोई अन्य गुण नहीं होता।
५. सभी गुण निष्क्रिय होते हैं। वे किसी प्रकार की क्रिया (कर्म) नहीं करते अथवा उनमें कोई क्रिया नहीं पाई जाती है।
६. संयोग और विभाग में सभी गुण अनपेक्ष अकारण हैं।

गुणों का वैधर्म्य

गुणों में पाया जाने वाला वह धर्म जो समस्त गुणों में समान रूप से विद्यमान नहीं रहता अर्थात् कुछ गुणों में पाया जाता है और कुछ गुणों में नहीं पाया जाता वैधर्म्य कहलाता है। गुणों में वैधर्म्य निम्न प्रकार से होता है—

१. रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परत्व, अपरत्व तथा गुर्वादि बीस गुण मूर्त होते हैं। अर्थात् ये मूर्त गण केवल स्थूल स्वरूप वाले द्रव्यों में पाए जाते हैं। यथा—पृथ्वी, जल, तेज, और वायु में।
२. बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म संस्कार और शब्द ये अमूर्त गुण होते हैं तथा जिनका स्थूल स्वरूप नहीं होता उनमें ये पाए जाते हैं। जैसे आत्मा और आकाश में।
३. संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग ये पाँच मूर्तामूर्त गुण हैं तथा समस्त द्रव्यों में पाए जाते हैं।
४. बुद्धि, सुख, दुख इच्छा, द्वेष, प्रयत्न ये गुण उभयेन्द्रियरूप अन्तःकरण (मन) के द्वारा ग्राह्य हैं।
५. शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पाँच गुण ज्ञानेन्द्रियों के प्रत्यात्मनियत विषय हैं। अर्थात् मात्र ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ही ग्राह्य हैं। इसीलिए ये बाह्य गुण भी कहलाते हैं।
६. धर्म और अधर्म अतीन्द्रिय होते हैं।
७. संयोग और विभाग कभी भी एक द्रव्य में नहीं पाए जाते। किन्तु संख्या एक द्रव्य में और कभी अनेक द्रव्यों में पाई जाती है।
८. शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म अधर्म, संस्कार और गुर्वादि बीस गुण ये विशेष गुण कहलाते हैं। क्योंकि इन गुणों के आधार पर ही वस्तु एक दूसरे से भिन्न समझी जाती है। **"विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्"** के आधार पर ही ये विशेष गुण हैं।
९. संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व और द्रवत्व से सामान्य (नैमित्तिक) गुण होते हैं। अर्थात् अनेक द्रव्यों में ये एक साथ ही पाए जाते हैं। इनके द्वारा वस्तु एक दूसरे से पृथक् नहीं की जा सकती है। इनके द्वारा अनेक द्रव्य एक साथ समझे जाते हैं। जैसे संयोग के द्वारा दो या अधिक संयुक्त द्रव्यों का ज्ञान होता है।

द्रव्यों में पाए जाने वाले गुण

भिन्न भिन्न द्रव्यों में पाए जाने वाले गुणों की संख्या भिन्न भिन्न है। न्याय दर्शन के अनुसार निम्न द्रव्यों में उपलब्ध होने वाले गुण और उनकी संख्या निम्न प्रकार है—

वायोर्नवैकादश तेजसो गुणा जलक्षितिप्राणभृतां चतुर्दश।
दिक्कालयोः पंच षडेवाम्बरे महेश्वरेऽष्टौ मनसस्तथैव च॥

अर्थात् वायु के नौ, तेज (अग्नि) के ग्यारह, जल, पृथ्वी और जीवात्मा के चौदह-चौदह, दिशा और काल के पांच-पाँच, आकाश में छह, परमात्मा तथा मन के आठ आठ गुण होते हैं। द्रव्यों के उपर्युक्त वर्णित गुणों का विवरण निम्न प्रकार है—

१. न्यायोक्त चतुर्विंशति गुणों में से स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व तथा वेगाख्य संस्कार ये नौ गुण वायु में होते हैं।
२. उपर्युक्त नौ गुणों के साथ रूप और द्रवत्व ये ग्यारह गुण तेज में होते हैं।
३. उपर्युक्त नौ गुणों के अतिरिक्त द्रवत्व, गुरुत्व, रूप, रस और स्नेह ये चतुर्दश गुण जल में होते हैं।
४. उपर्युक्त चतुर्दश गुणों में स्नेह के स्थान पर गन्ध ग्रहण कर लेने से चौदह गुण पृथ्वीगत हो जाते हैं।
५. बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, परिमाण, संख्या पृथक्त्व, संयोग, विभाग, भावनाख्य संस्कार, धर्म और अधर्म ये चौदह गुण जीवात्मा में होते हैं।
६. संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग ये पांच गुण दिक् और काल के होते हैं।
७. संख्या आदि उपर्युक्त पांच तथा शब्द ये छः गुण आकाश में विद्यमान रहते हैं।

८. संख्या आदि उपर्युक्त पांच गुण तथा बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न ये आठ गुण परमात्मा में पाए जाते हैं।

९. संख्या आदि उपर्युक्त पांच गुण तथा परत्व, अपरत्व एवं वेग नामक संस्कार ये आठ गुण मन के होते हैं।

गुण प्राधान्य निरूपण

कुछ विद्वान द्रव्यादि पदार्थों में गुण को प्रधान तथा अन्य द्रव्यादि को अप्रधान मानते हैं। गुणों का प्राधान्य वे निम्न आधार पर मानते हैं—

१. गुण के अभाव में द्रव्य का कोई महत्व नहीं है।
२. गुणों के अनुसार ही द्रव्य कर्म करने में तत्पर होता है।
३. रसों का उत्कर्षापकर्ष द्रव्याश्रित गुणाधीन है।
४. गुणों से रसों का पराभव होता।
५. गुणों को विपाक का कारण भूत माना जाता है।
६. संख्या की दृष्टि से गुण सर्वाधिक होते हैं।
७. बाह्य एवं आभ्यन्तर दोनों प्रकार से गुणों का प्रयोगाधिक्य देखा जाता है।
८. उपदेश अपदेश एवं अनुमान के द्वारा गुणों का प्राधान्य सिद्ध है।

चतुर्थ अध्याय

कर्म निरुपण

कर्म का लक्षण

संयोगे च विभागे च कारणं द्रव्यमाश्रितम्।
कर्तव्यस्य क्रिया कर्म कर्म नान्यदपेक्षते ॥
—चरक संहिता, सूत्रस्थान १/५२

"प्रयत्नादि कर्म चेष्टितमुच्यते।" —चरक संहिता, सूत्रस्थान १/४१

"द्रव्याश्रितं च कर्म यदुच्यते क्रियेति।" —चरक संहिता, सूत्रस्थान ८/१३

"एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमितिकर्मलक्षणम्।"
—वैशेषिक सूत्र १/१/१७

अर्थ— जो एक ही साथ संयोग और विभाग में कारण हो तथा द्रव्य में आश्रित हो वह कर्म कहलाता है। कर्तव्य की क्रिया को कर्म कहते हैं। यह कर्म संयोग और विभाग में किसी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं करता। अर्थात् कर्म केवल क्रिया की अपेक्षा करता है। यत्नपूर्वक की गई चेष्टा को ही कर्म कहते हैं। द्रव्याश्रित जो क्रिया होती है वही कर्म कहलाता है। इस प्रकार जो एक द्रव्यश्रित, गुण से रहित, संयोग तथा विभाग के उत्पन्न करने में अपने से उत्तरभावी किसी भावपदार्थ (कारण) की अपेक्षा न करता हुआ कारण है वह कर्म कहलाता है। आयुर्वेद में कर्म से प्रवृत्ति का भी ग्रहण होता है। यथा—

"प्रवृत्तिस्तु खलु चेष्टा कार्यार्था सैव क्रिया कर्म यत्नः कार्य समारम्भश्च।"
—चरक संहिता, विमान स्थान अ० ८

अर्थात् कार्य के लिए जो चेष्टा की जाती है वह प्रवृत्ति कहलाती है। वही क्रिया, कर्म, यत्न और कार्य समारम्भ कहलाती है।

कर्म में सामान्यतः निम्न तथ्य अपेक्षितरूपेण होना चाहिये—

एकद्रव्यम्— कर्म एक द्रव्याश्रित होता है। यद्यपि गुण भी द्रव्य के ही आश्रित रहता है, किन्तु दोनों के आश्रितत्व में अन्तर होता है। सभी गुण एक द्रव्याश्रित नहीं होते। कुछ ऐसे गुण भी हैं जो अनेक द्रव्याश्रित होते हैं। जैसे संयोग गुण एक द्रव्याश्रित कभी नहीं होता। जैसे किसी स्थान पर जन समूह एकत्रित होने पर उनका संयोग

अनेक द्रव्याश्रित होगा । इसी भांति रोटी और घृत का संयोग दो द्रव्य (रोटी और घृत) के आश्रित होगा । अतः बह सर्वनिष्ठ या उभयनिष्ठ गुण हुआ । किन्तु कर्म में ऐसा नहीं होता । वह सदा एक ही द्रव्य के आश्रित रहता है । कोई भी कर्म ऐसा नहीं है जो दो द्रव्यों या अनेक द्रव्यों के अश्रित हो । एक द्रव्याश्रित होने से कर्म एकनिष्ठ या **'एक द्रव्यम्'** कहलाता है ।

अगुणम्—जिस प्रकार किसी गुण में अन्य गुण आश्रित होकर नहीं रहता, उसी प्रकार कर्म में भी कोई गुण आश्रित होकर नहीं रहता । कर्म किसी गुण का आश्रय अथवा किसी गुण का आधार नहीं होने के कारण वह गुण रहित होता है, अतः उसे "अगुणम्" या "निगुर्णम्" कहा गया है ।

संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणम्—कर्म के द्वारा संयोग और विभाग दोनों एक ही साथ सम्पादित होते हैं । अर्थात् कर्म जिस द्रव्य के आश्रित होकर रहता है उस द्रव्य का पूर्व देश से विभाग तथा उत्तर देश से संयोग तदाश्रित कर्म के द्वारा ही होता है । यद्यपि संयोग भी तो उत्तर देश से संयोग में हेतु होता है, किन्तु वह पूर्व देश के विभाग में हेतु नहीं हो सकता । उसी भाँति विभाग भी पूर्व देश के विभाग में हेतु होता है किंतु वह उत्तर देश के संयोग में हेतु नहीं हो सकता । कर्म एक साथ पूर्व प्रदेश के विभाग एवं उत्तर प्रदेश के संयोग में हेतु होता है । अर्थात् कर्म के द्वारा संयोग और विभाग एक साथ होता है । इसके अतिरिक्त द्रव्य भी तो संयोग और विभाग में युगपत् कारण होता है, तथापि उसे कर्म की अपेक्षा रहती है । अर्थात् कर्म के कारण ही द्रव्य संयोग-विभाग करने में समर्थ होता है । जब द्रव्य कर्म से युक्त होता है तब ही वह संयोग और विभाग कर सकता है । अभिप्राय यह है कि द्रव्य को संयोग-विभाग करने में कर्म रूप कारणान्तर की अपेक्षा रहती है । किन्तु समुत्पन्न कर्म किसी कारणान्तर की अपेक्षा किए बिना स्वयं ही संयोग-विभाग को युगपत् करता है । यही **'संयोगविभागेष्वनपेक्षकारण'** कहलाता है ।

इन तीनों (एक द्रव्य, अगुण और संयोगविभागेष्वनपेक्षकारण) के मिलने से कर्म का यह लक्षण निष्पन्न होता है कि जो द्रव्यों के परस्पर संयोग तथा विभाग को उत्पन्न करता है तथा उसके उत्पन्न करने में समवायी द्रव्य एवं सम्पूर्ण संयोगनाश की अपेक्षा करता हुआ भी अपनी उत्पत्ति के पश्चात् उत्पन्न होने वाले किसी भाव पदार्थ की (कारणान्तर के रूप में) अपेक्षा नहीं करता और सदा नियम पूर्वक एक द्रव्य के आश्रय में रहता तथा स्वयं किसी गुण का आश्रय नहीं होता वह कर्म कहलाता है ।

कर्म के भेद

यद्यपि कर्म असंख्य हैं और उसके अनेक प्रकार हैं । अतः उनकी इयत्ता निश्चित

किया जाना सम्भव नहीं है । तथापि इनको समझने के लिए और व्यवहार के लिए उन कर्मों का भेद ज्ञान आवश्यक है । इसी दृष्टि से शास्त्रों में कर्म के जो भेद या प्रकार निरूपित किए गए हैं उसी आधार पर यहां उनका विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है ।

कर्म से सामान्यतः दो प्रकार के कर्म अभिप्रेत हैं—**इहलौकिक कर्म और पारलौकिक कर्म** । इहलौकिक कर्म उपर्युक्त प्रकार से संयोग तथा विभाग में निरपेक्ष कारण होता है और पारलौकिक कर्म कर्त्तव्य की क्रिया को कहते हैं । कर्त्तव्य से सामान्यतः सद्वृत्त या सदाचार का ग्रहण किया जाता है । उसकी क्रिया अर्थात् पालन करने से जो कर्म उत्पन्न होना है वह पारलौकिक कर्म कहलाता है । दोनों कर्म केवल क्रिया की अपेक्षा करते हैं और दोनों संयोग एवं विभाग में युगपत् कारण होते हैं । जैसे—उत्क्षेपण कर्म में उर्ध्व देश से संयोग और उसी क्षण अधः देश से विभाग भी होता है । इसी भाँति सदवृत्तरूप कर्त्तव्य का पालन करने से जब शुभ कर्म से संयोग होता है उसी क्षण अशुभ कर्म से विभाग भी होता है । इस प्रकार संयोग और विभाग में कर्म निमित्त कारण होता है ।

चरक संहिता में कर्म का निरुपण करते हुए महर्षि चरक ने लिखा है—

"प्रयत्नादि कर्म चेष्टितमुच्यते"—अर्थात् प्रयत्न याने श्रम पूर्वक की जाने वाली चेष्टा ही कर्म कहलाती है । अथवा ऐसी चेष्टा जो प्रयत्न (जीवनयोनि, प्रवृत्ति और निवृत्ति) का कारण है 'कर्म' कहलाती है । इस कर्म की वृत्ति केवल मूर्त द्रव्यों में ही रहती है । अल्प परिमाण वाले द्रव्य ही मूर्त कहलाते हैं । व्यापी (सर्वत्र व्याप्त रहने वाला) या विभु द्रव्य मूर्त नहीं होते । अतः पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मन इन पांच मूर्त द्रव्यों में ही कर्म की वृत्ति रहती है । विभु द्रव्य जैसे आकाश, काल, दिक्, आत्मा में कर्म की वृत्ति कदापि सम्भव नहीं है । इन द्विविध कर्मों को ही कुछ अन्य विद्वानों ने क्रमशः लौकिक एवं आध्यात्मिक कर्म की संज्ञा दी है । अर्थात् इहलौकिक कर्म को लौकिक तथा पारलौकिक कर्म को आध्यात्मिक कर्म माना है ।

लौकिक कर्म के प्रकार

लौकिक कर्म पुनः तीन प्रकार का बतलाया गया है । यथा—१. सत्प्रत्यय' २. असत्प्रत्यय और ३. अप्रत्यय ।

सत्प्रत्यय—ज्ञान पूर्वक यानि जान-बूझकर किया गया प्रयत्न (कर्म) सत्प्रत्यय कहलाता है । जैसे गेंद को ऊपर उछालना ।

असत्प्रत्यय—अज्ञान पूर्वक किया गया कर्म असत्प्रत्यय कहलाता है । यह कर्म अनायास ही हमारी बिना जानकारी या बिना प्रयास के होता है । जैसे ऊपर उछाली हुई गेंद नीचे आने के बाद धरती से टकरा कर पुनः ऊपर उछल जाती है इस प्रकार गेंद के नीचे गिरने के बाद पुनः जो उर्ध्व गमन

क्रिया होती है वह अज्ञान मूलक एवं अप्रयास जन्य होने से असत्प्रत्यय कहलाता है। इसी प्रकार मस्तिष्कीय सौषुम्निक ज्वर से पीडित रोगी जब अपने एक पैर को सिकोड़ता है तो उसका दूसरा पैर अनायास ही अज्ञान पूर्वक सिकुड़ जाता है। यह भी असप्रत्यय का उदाहरण समझना चाहिए। यह कर्म चेतन और अचेतन दोनों में पाया जाता है।

अप्रत्यय—अप्रत्यय कर्म केवल अचेतन द्रव्यों में ही होता है। इसे निम्न तीन क्रियाओं या कारणों से समझा जा सकता है—

१. नोदन, २. गुरुत्व और ३. वेग या संस्कार। नोदन—नोदन का अर्थ है प्रेरित करना या ढकेलना। जैसे पानी में कंकड़ या कोई वस्तु डालने से उसमें हिलने की क्रिया होती है। गुरुत्व—निराधार वस्तु या द्रव्य का स्वतः नीचे गिरना। जैसे किसी तिपाई पर घड़ा रखा हुआ है। यहाँ तिपाई घड़े का आधार है। यदि तिपाई हटा ली जाय तो निराधार होने से तथा घड़ा अपने गुरुत्व के कारण नीचे गिर जायगा। वेग—गति की अत्यन्त तीव्रता। जैसे—धनुष की खींची गई प्रत्यञ्चा को छोड़ने से उत्पन्न गति की तीव्रता (वेग) के कारण धनुष से छूटा हुआ बाण बहुत दूर तक चला जाता है और अपने लक्ष्य का भेदन करता है।

न्यायोक्त कर्म के भेद

न्याय शास्त्र में कर्म के पाँच भेद बतलाए गए हैं। यथा—

उत्क्षेपणं ततोऽपक्षेपणमाकुंचनं तथा।
प्रसारणं च गमनं कर्माण्येतानि पंच च॥
भ्रमणं रेचनं स्यन्दनोर्ध्वज्वलनमेव च।
तिर्यग्गमनमप्यत्र गमनादेव लभ्यते॥ —कारिकावलि

अर्थ—उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण और गमन ये पाँच कर्म के भेद हैं। भ्रमण, रेचन, स्यन्दन, उर्ध्वज्वलन, तिर्यग्गमन आदि समस्त कर्म गमन कर्म से समझना चाहिए।

उत्क्षेपण—"ऊर्ध्वदेशसंयोगहेतुरुत्क्षेपणम्।" —तर्क संग्रह

उपर की ओर गति करना या ऊपर की ओर फेंकना। जिसके द्वारा पदार्थ का उपर के प्रदेश के साथ संयोग हो तथा अधः प्रदेश के साथ वियोग (विभाग) हो वह उत्क्षेपण कर्म कहलाता है। जैसे पत्थर का ऊपर फेंकना, गेंद का उपर उछालना, पतंग का उड़ाना आदि।

अपक्षेपण—"अधोदेशसंयोगहेतुरपक्षेपणम्।" —तर्क संग्रह

अर्थात् जो कर्म अधः प्रदेश से संयोग कराने में कारण होता है वह 'अपक्षेपण' कहलाता है। अपक्षेपण कर्म के द्वारा द्रव्य का निचले प्रदेश के साथ संयोग तथा उर्ध्व प्रदेश के साथ वियोग होता है। साधारणतः नीचे की ओर गति करना अथवा नीचे फेंकना ही अपक्षेपण कर्म होता है। जैसे सीढ़ियों के द्वारा नीचे उतरना, पत्थर का नीचे की ओर फैंकना, पेड़ से पत्तों का नीचे गिरना, आदि अपक्षेपण के उदाहरण हैं।

आकुंचन—"**शरीरस्य सन्निकृष्टसंयोगहेतु आकुंचनम्।**" —तर्क संग्रह

अर्थात् जिस कर्म के द्वारा द्रव्य का शरीर के सन्निकृष्ट प्रदेश के साथ संयोग हो वह आकुंचन कर्म कहलाता है। जिस क्रिया के द्वारा सीधे अथवा फैले हुये द्रव्य का अग्रभाग उस प्रदेश से विभाग अथवा अपने मूल प्रदेश से संयोगरूप सिकुड़कर संकुचित अथवा अल्प देश व्यापि होता है, वह आकुंचन कर्म कहलाता है। जैसे फैले हुये हाथों को सिकोड़ना, फैले हुये कपड़े को समेटना, किसी वस्तु को अपनी ओर खींचना आदि।

प्रसारण—"विप्रकृष्टसंयोगहेतु प्रसारणम्।" —तर्क संग्रह

अर्थात् जिसके द्वारा वस्तु का विप्रकृष्ट (दूरस्थ) प्रदेश के साथ संयोग हो उसे प्रसारण कर्म कहते हैं। यह कर्म आकुंचन से सर्वथा विपरीत होता है। इसमें वस्तु का परवर्ती (दूरवर्ती) प्रदेश के साथ संयोग तथा सन्निकृष्ट या समीपवर्ती प्रदेश के साथ विभाग होता है। हाथ का फैलना, कपड़े का फैलना, लताओं का फैलना, पानी का फैलना आदि।

गमन—"उत्तरदेशसंयोगहेतुर्गमनम्।" —तर्क संग्रह

अर्थात् जिसके द्वारा वस्तु का उत्तर वर्ती प्रदेश से संयोग तथा पश्चात् वर्ती प्रदेश से विभाग होता है वह 'गमन' कर्म के द्वारा व्यवहृत होता है। इस संयोग-विभाग के कारण रूप कर्म की दिशा तथा प्रदेश अनियत होता है और वस्तु की गति किसी भी प्रदेश की ओर हो सकती है। गमन से गति या चलनात्मक क्रिया का बोध होता है। इसके अतिरिक्त भ्रमण, रेचन, स्यन्दन, उर्ध्वज्वलन तथा तिर्यग्गमन आदि समस्त कर्मों का समावेश गमन कर्म में हो जाता है।

आयुर्वेद में कर्म के भेदों के अन्तर्गत उपर्युक्त उत्क्षेपणादि पंचविध कर्मों के अतिरिक्त अन्य पंचविध कर्मों का प्रतिपादन किया गया है। यथा—"**तस्य व्यस्य कर्म पंचविधमुक्तं वमनादि**"—च० सू० २६/२० अर्थात् द्रव्य के पांच प्रकार के कर्म होते हैं। यथा—१-वमन २-विरेचन ३-निरुह बस्ति ४-अनुवासन बस्ति और ५-नस्य (शिरोविरेचन)। ये सभी कर्म उपर्युक्त वैशेषिक कर्म में समाविष्ट हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त चिकित्सा शास्त्र में (विशेषतः शल्य चिकित्सा में) १. पूर्व कर्म, २. प्रधान कर्म, और ३. पश्चात् कर्म—इन तीन प्रकार के कर्म को भी माना गया है। ये समस्त कर्म उपरि निर्दिष्ट कर्म के लक्षण के द्वारा सिद्ध होते हैं। इन्हीं कर्मों के आधार पर आयुर्वेद में कर्म के लक्षण को प्रतिपादित किया गया है ताकि वह अतिव्याप्त्यादि दोष से रहित हो।

पंचम अध्याय

सामान्य निरूपण

यह आयुर्वेदीय चिकित्सा का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। इसे वस्तुतः चिकित्सा का सूत्र समझना चाहिये। आचार्यों ने आयुर्वेद का प्रयोजन बतलाते हुए कहा है—"**धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्।**" अर्थात् शरीर में स्थित वात, पित्त, कफ (धातु-रूप) इन तीनों दोषों, रस, रक्तादि सप्त धातुओं को समावस्था में रखना ही इस आयुर्वेद शास्त्र का प्रयोजन है। तात्पर्य यह है कि क्षीण हुई धातुओं को उपयुक्त औषध एवं आहार-विहार के द्वारा बढ़ाकर उन्हें सम अवस्था में रखना चाहिये। यही वैद्य का मुख्य कर्तव्य है। यही कारण है कि राजयक्ष्मा रोग में जब मांस अत्यन्त क्षीण हो जाता है तब "**दद्यान्मांसादमांसानि बृंहणानि विशेषतः।**" इत्यादि वचनों के द्वारा रोगी को मांस खाने वाले पशु-पक्षियों के मांस सेवन का निर्देश किया गया है। चूंकि मनुष्य के मांस तथा अन्य खाद्य मांस में मांसत्व सामान्य है—अतएव मांस बृंहण करने वाला होता है। कहा भी है—"**शरीर बृंहणे नान्यत्खाद्य मांसाद्विशिष्यते।**"

इससे स्पष्ट है कि आयुर्वेद शास्त्र में सामान्य का प्रतिपादन मात्र दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में नहीं किया गया है, अपितु चिकित्सा की दृष्टि से उसकी विशेष उपयोगिता है। क्योंकि "**समानगुणाभ्यासो हि धातूनामभिवृद्धिकारणम्।**" इस आर्ष वचन के अनुसार सामान्य के आधार पर ही शरीर के विभिन्न भावों की क्षीणता को दूर किया जा सकता है। इस प्रकार यह आयुर्वेदीय चिकित्सा का सूत्र एवं आयुर्वेद का मौलिक सिद्धान्त है।

दार्शनिक दृष्टि से 'सामान्य' के प्रतिपादक महर्षि कणाद हैं। उन्होंने अपने वैशेषिक दर्शन में पदार्थ के रूप में इसका प्रतिपादन एवं विवेचन किया है। किन्तु आयुर्वेद में इसे चिकित्सा के आधारभूत सिद्धान्त के रूप में अंगीकृत किया गया है। वैशेषिक दर्शन में तो इसका साधारण रूप में ही विवेचन मिलता है, जबकि आयुर्वेद में इसका विशद एवं सारगर्भित विवेचन किया गया है। आयुर्वेद में यह मात्र सैद्धान्तिक रूप में ही प्रतिपादित नहीं है, अपितु व्यवहारिक रूप में भी उसे अत्यन्त व्यापकता पूर्वक अपनाया गया है। यही कारण है कि आयुर्वेदीय चिकित्सा को व्यापक रूप से सफलता प्राप्त हुई है। इसके अतिरिक्त आयुर्वेद में सामान्य का उपयोग रोग निदान, रोग

निवारण के साथ-साथ दार्शनिक दृष्टि से दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति हेतु भी किया गया है। तदनुसार इसका तात्विक ज्ञान अपेक्षित बतला कर लोक-पुरुष का साम्य (**पुरुषोऽयं लोकसंमितः**) जिस प्रकार बतलाया गया है और इस महत्वपूर्ण सिद्धान्त को स्थिर किया गया है वह अपने आप में सारगर्भित एवं पूर्णता लिये हुए है। शरीर और संसार के प्रत्येक भाव में एकरूपता स्थापित करने और इस विषय में सिद्धान्त स्थिर करने का श्रेय मात्र आयुर्वेद शास्त्र को है।

सामान्य का लक्षण

"**सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्**"—च० सू० १।४४

"**सामान्यमेकत्वकरम्**" —च० सू० १।४५

"**तुल्यार्थता हि सामान्यम्** —च० सू० २।४५

"**अनुवृत्तिप्रत्यहेतु एकमनेकसमवेतं च सामान्यम्। तदेकत्वकरं वृद्धिकरं सादृश्यं च।**"

—**सप्तपदार्थी**

"**नित्यमनेकानुगतसामान्यम्, द्रव्य-गुण-कर्मवृत्ति, नित्यतो सत्यनेक समवेतत्वमिति वा सामान्यलक्षणम्।**"

अर्थ—सदा समस्त भाव पदार्थों की वृद्धि करने वाला कारण 'सामान्य' होता है। सामान्य एकत्व करने वाला होता है। तुल्यार्थता ही सामान्य कहलाती है, स्व-विषय के समस्त द्रव्यों में रहने वाला आत्मस्वरूपानुगम प्रत्यय का उत्पादक अनुवृत्ति प्रत्यय का कारण सामान्य होता है। सामान्य नित्य, एक तथा अनेक में अनुगत समवाय सम्बन्ध से रहता है। यह एकत्व, वृद्धि तथा सादृश्य को उत्पन्न करने वाला होता है। अर्थात् नित्य होते हुए जो अनेक पदार्थों में समवेत रहता है, उसे सामान्य कहते हैं। यह द्रव्य, गुण और कर्म तीनों में रहता है।

संयोग आदि भी अनेक पदार्थों में समवेत रूप से रहते हैं। अतः उनमें अतिव्याप्ति के निवारणार्थ "नित्यत्व" का सन्निवेश किया गया है। संयोग नित्य नहीं होता। नित्य होते हुए आकाश परिमाणादि द्रव्यों में समवेत रहते हैं। किन्तु वे एक काल में एक ही वस्तु में समवेत रहते हैं। अर्थात् आकाश परिमाण नित्य है। किन्तु वह मात्र एक आकाश में रहता है। अतः अनेक पद लगाया गया। अत्यान्ताभाव में भी नित्यत्व और अनेक वृत्ति दोनों ही गुण हैं। अतः वृत्तित्व सामान्य का परित्याग करके 'समवेतत्व' शब्द लगाया गया। इस प्रकार सामान्य का निर्दुष्ट लक्षण निष्पन्न हुआ।

सामान्य जाति—सामान्य से जाति का भी ग्रहण किया जाता है। जो लक्षण या धर्म समान गुण-धर्मी द्रव्य में पाया जाता है वह जाति कहलाता है। जैसे समस्त

गायों में समान रूप से रहने वाला धर्म **'गोत्व'** है। इसे गोत्व जाति कहते हैं। इसी प्रकार मनुष्यों में मनुष्यत्व और अश्वों में अश्वत्व आदि।

सामान्य के उपर्युक्त लक्षण के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जिस पदार्थ के द्वारा भिन्न-भिन्न देश और काल में रहे हुए अनेक द्रव्यों में समानता का ज्ञान होता है उसे सामान्य अथवा जाति कहते। जैसे भिन्न-भिन्न देश और काल में रही हुई अनेक गायें हैं। उनमें जिस पदार्थ के द्वारा हमें 'यह गाय है' 'यह गाय है' इस प्रकार की समानता का जो ज्ञान होता है, वह है "गोत्व"। जिस-जिस पदार्थ में हमें गोत्व की प्रतीति होती है। उसे ही हम गाय कहते हैं। अतः सिद्ध है कि समस्त गायों में 'गोत्व' समान रूप से विद्यमान रहता है। जो अनेक द्रव्यों में समान रूप से विद्यमान हो वही समान्य या जाति कहलाती है।

गोत्व जाति के ज्ञान से संसार के समस्त भागों में रहने वाली विभिन्न रंगों, विभिन्न गुणों और विभिन्न अवस्थाओं वाली गायें 'गोत्व' जाति से भिन्न या पृथक् नहीं हो सकती और उसी में समाविष्ट होने से सभी एक ही रूप में जानी जाती हैं। अर्थात् इनमें भेद होते हुए भी इनका जो तात्विक ज्ञान और गोत्व धर्म या जाति है वह समस्त गायों में सदा से रहता आया है और आगे भी रहेगा। गायों के नष्ट होने पर भी गोत्व जाति का विनाश नहीं होगा। गाय तो उत्पन्न भी होती है, उसका विनाश भी होता है, किन्तु उसमें रहने वाला गोत्व न कभी उत्पन्न होता है और न कभी विनष्ट होता है। अर्थात् गोत्व नित्य होता है। गायें अनेक होने पर भी उनमें स्थित गोत्व एक ही होता है और गाय में वह समवाय (अपृथग्भाव) सम्बन्ध से रहता है। तात्पर्य यह है कि अनेक द्रव्यों में रहता हुआ भी जो स्वयं एक और नित्य होता है वह सामान्य कहलाता है।

इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए आचार्यों ने सामान्य का **"नित्यत्वं अनेकानुगतं सामान्यम्"** यह लक्षण प्रतिपादित किया है। यह केवल द्रव्य, गुण और कर्म में रहता है। सामान्य में सामान्य नहीं होता। क्योंकि सामान्य में सामान्य मानने से अनवस्था होती है। विशेष में सामान्य रह नहीं सकता, क्योंकि विशेष सामान्य से सर्वथा विपरीत होता है। इसी लिए वह असामान्य कहलाता है।

सामान्य का आश्रय

सामान्य की सत्ता या स्थिति किस-किस पदार्थ में होती है इसका प्रतिपादन करते हुए आचार्य ने कहा है—**"द्रव्य गुण कर्मवृत्ति सामान्यम्।"** अर्थात् यह सामान्य द्रव्य, गुण और कर्म में रहता है। इनके अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ में सामान्य की वृत्ति नहीं है। इससे यह भी स्पष्ट है कि सामान्य स्वयं सामान्य में नहीं रहता, जैसाकि गुण स्वयं गुण में नहीं रहता है। यदि सामान्य में सामान्य की स्थिति मान ली जाय तो

वह अनवस्था दोष से दूषित हो जायगा और दोष युक्त पदार्थ न तो दर्शन शास्त्र में और न ही आयुर्वेद शास्त्र में ग्राह्य है। सामान्य की अवस्थिति विशेष में भी स्वीकार नहीं की गई है। क्योंकि वह (विशेष) इस (सामान्य) के सर्वथा विपरीत या विरुद्ध होता है। परस्पर विरोधी पदार्थों या द्रव्यों में एक दूसरे की अवस्थिति कदापि सम्भव नहीं है। समवाय एक पदार्थ होते हुए भी एक नित्य सम्बन्ध रूप होता है जो द्रव्य, गुण और कर्म मूलक होता है। अतः उसमें सामान्य की स्थिति सम्भव नहीं है। सामान्य तो समान गुण-धर्म भी वृद्धि का कारण है, न कि वह सम्बन्ध कारक है। इस प्रकार सामान्य मात्र द्रव्य-गुण-कर्म वृत्ति वाला होता है। ये तीन पदार्थ ही उसके आश्रय हैं।

सामान्य के भेद–

टीकाकार आचार्य चक्रपाणि दत्त के द्वारा आयुर्वेद में चरक संहिता में सामान्य तीन प्रकार का माना गया है। यथा—**१. द्रव्य सामान्य** **२. गुण सामान्य** और **३. कर्म सामान्य**। चरक में तीन स्थलों पर सामान्य के लक्षणों का उल्लेख मिलता है। वे तीनों लक्षण भिन्न-भिन्न प्रकार के सामान्य का प्रतिपादन करने वाले हैं। जैसे—(१) द्रव्य सामान्य—**"सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्"** (२) **गुण सामान्य—"सामान्यमेकत्वकरम्"** (३) **कर्म सामान्य—"तुल्यार्थता हि सामान्यम्"**।

द्रव्य सामान्य—मनुष्य के शरीर में स्थित और बाह्य जगत में स्थित (अन्य प्राणियों के शरीर को छेदन कर लाया गया गया) मांस समान है। क्योंकि दोनों में समानता है। इसी भांति बाह्य जगत में स्थित रक्त, मज्जा, शुक्र और शरीर गत रक्त, मज्जा, शुक्र के ही समान है। सामान्य युक्त बाह्य द्रव्य के द्वारा सामान्य युक्त शरीर गत द्रव्य की सर्वोत्तम पुष्टि (वृद्धि) होती है। जैसे मांस से मांस की, रक्त से रक्त की, मज्जा से मज्जा की, शुक्र से शुक्र की इत्यादि। इस प्रकार एक द्रव्य स्वजातीय एवं स्वयोनि द्रव्य की वृद्धि में कारण होता है। यही द्रव्य सामान्य कहलाता है।

गुण सामान्य—जिस गुण वाले द्रव्य का सेवन किया जाता है। शरीर में दोष, धातु एवं मल गत उसी गुण की वृद्धि होती है। जैसे मांस आदि बाह्य द्रव्यों में स्थित गुरु गुण तथा मांस आदि विभिन्न शरीगत धातुओं में स्थित गुरु गुण परस्पर सामान्य है। बाह्य द्रव्यों का सेवन करने पर तद्गत गुरु आदि गुण शरीरावययगत गुरु आदि गुणों की वृद्धि करते हैं। इसी प्रकार लघु, स्निग्ध, रूक्ष, शीत आदि गुणों के उदाहरण निम्न प्रकार जानना चाहिए—

"पयशुक्रयोर्भिन्नजातीयोरपि मधुरत्वादिसामान्यं तत्रैकतां करोति" अर्थात् शुक्र से भिन्न होने पर भी दूध माधुर्य गुण से शुक्र की वृद्धि करता है अथवा एकत्व को उत्पन्न करता है। अतः गुणों की समानता होने से यह गुण सामान्य है।

कर्म सामान्य—किसी बाह्य कर्म को करने से शरीरगत तद्रूप कर्म की वृद्धि होती है। एक ही स्थान पर सतत बैठे रहने से या विश्राम करने से स्थैर्य (स्थिरता) करने वाले कफ की वृद्धि होती है। इसी प्रकार अधिक संसरण (तैरना) से चलन कर्म रूप वायु की वृद्धि होती है। इस प्रकार कर्म का सेवन शरीरगत उसी कर्म की वृद्धि करने वाला होता है।

भट्टार हरिश्चन्द्र ने चक्रपाणि दत्त द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त त्रिविध—द्रव्य सामान्य, गुण सामान्य एवं कर्म सामान्य को पृथक्-पृथक् न मानकर तीनों का समावेश '**सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्**' इस परिभाषा के अन्तर्गत ही कर लिया है। अत: इन्होंने सामान्य के पृथक् तीन भेदों का मानना अयुक्तियुक्त समझा। उन्होंने सामान्य के निम्न तीन भेद स्वीकार किये हैं—(१) अत्यन्त सामान्य (२) मध्य सामान्य और (३) एक देश सामान्य। इसमें 'सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धि**कारणम्**' को अत्यन्त सामान्य, '**सामान्यमेकत्वकरम्**' को मध्य सामान्य और **तुल्यार्थता हि सामान्यम्**' को एक देश सामान्य माना है। किन्तु चक्रपाणि दत्त ने उक्त त्रिविध सामान्य को कोई विशेष महत्व नहीं दिया है। उन्होंने विशेष प्रयोजन वाला नहीं होने से श्रद्धा योग्य एवं मान्य नहीं समझा। इसके अतिरिक्त उन्होंने आगे कहा कि अनेक आचार्य सामान्य को दो प्रकार का मानते हैं—(१) उभयवृत्ति सामान्य और (२) एकवृत्ति सामान्य।

उभयवृत्ति सामान्य—उभयवृत्ति सामान्य वह होता है जिसमें वर्धक और वर्धनीय दोनों द्रव्यों में द्रव्यत्व या गुणत्व सामान्य पाया जाता है। जैसे—"मांसं मांसवर्धकम्" अर्थात् बाह्य मांस खाने से शरीरगत मांस की वृद्धि होती है। इसमें बाह्य मांस पोषक एवं शरीरगत मांस पोष्य होता है। यहां पर पोषक और पोष्य दोनों में मांसत्व सामान्य है। अत: यह उभयवृत्ति सामान्य हुआ।

एकवृत्ति सामान्य—एकवृत्ति सामान्य वह होता है जिसमें एक पक्षीय अर्थात् पोषक सामान्य होता है। जैसे "घृतमग्निकरम्" अर्थात् घृत का सेवन करने से अग्नि की वृद्धि होती है। यहां घृत और अग्नि में कुछ भी सामान्य नहीं है। प्रभाववश घृत अग्नि की वृद्धि (प्रदीप्त) करता है। वृद्धिकारक होने से सामान्य के उदाहरण के अन्तर्गत उसे लिया गया है। घृत में स्थित घृतत्व ही अग्नि की वृद्धि में कारण होता है। अग्नि में घृतत्व का अभाव है। अत: वह एकवृत्ति सामान्य हुआ। इसी भांति (दौड़ना) आदि से वायु की तथा निद्रा से कफ की वृद्धि होना आदि उदाहरण एकवृत्ति सामान्य के ही परिचायक हैं।

इस प्रकार समान और असमान दोनों प्रकार के द्रव्य वृद्धि में कारण होते हैं। इस तथ्य को देखकर कुछ आचार्यों का मत है कि महर्षि चरकोक्त उपर्युक्त लक्षण

"सामान्यं वृद्धिकारणम्" निरर्थक प्रतीत होता है। इसका समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि जहां-जहां द्रव्य, गुण अथवा कर्म की समानता हो वहां-वहां वृद्धि अवश्य होती है। यहां "जहां-जहां सामान्य हो वहां-वहां वृद्धि हो और जहां-जहां वृद्धि हो वहां-वहां सामान्य हो" ऐसी व्याप्ति नहीं बनाई जाती है। क्योंकि देखा गया है कि पर सामान्य के अभाव में भी वृद्धि होती है। यह आवश्यक नहीं कि जहाँ सामान्य हो, तुल्यार्थता हो अथवा एकत्वकर हो वहीं वृद्धि होती है। अपितु भिन्न द्रव्यत्व, भिन्न गुणत्व एवं भिन्न कर्मत्व होने पर भी प्रभाववश वृद्धि सम्भव है। जैसा कि उपर्युक्त एकवृद्धि सामान्य के अन्तर्गत "घृतमग्निकरम्" के उदाहरण के द्वारा स्पष्ट है।

यहाँ एक बात स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये कि सामान्य और प्रभाव में पर्याप्त भिन्नता है। द्रव्य में स्थित प्रभाव के द्वारा जो कार्य सम्पन्न होता है वह सामान्यत: द्रव्य-गुण-कर्मातीत होता है। ऐसी स्थिति में प्रभाव के द्वारा जो कर्म विशेष का सम्पादक होता है यदि उसे सामान्य का भी उदाहरण बतलाया जाता है तो वह कथमापि मान्य नहीं हो सकने की स्थिति में यहाँ भी उसी प्रकार का अर्थ करना उपयुक्त होगा जो उभयवृत्ति में सामान्य किया गया है। अर्थात् द्रव्य-गुण-कर्म इन तीनों में से किसी एक की सामानता होने पर उसके प्रयोग से जो वृद्धि होती है, उसे एक देश सामान्य कहना चाहिए। यह निर्विवाद सत्य है कि वृद्धि के प्रति द्रव्य, गुण और कर्म ये तीनों कारण होते हैं। इनमें से किसी एक, दो या तीनों में से सामान्य के आधार पर शरीरगत द्रव्य गुण या कर्म इन तीनों में किसी एक दो तीन की वृद्धि होती है। इन तीनों में से कोई एक भी नहीं होने पर वृद्धि का होना सर्वथा असम्भव है। यदि इनके बिना ही शरीर गत भावों की वृद्धि स्वीकार ली जाय तो 'सामान्य' सिद्धान्त की स्थापना का कोई प्रयोजन ही शेष नहीं रह जाता। वस्तुत: आयुर्वेद शास्त्र में सामान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन प्रकृतिसम समवाय पर आधारित है। उसके विपरीत वृद्धि का जो भी उदाहरण दृष्टिगोचर होता है वह विकृति विषम समवायारब्ध होता है अथवा उसे द्रव्यगत प्रभावजन्य समझना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहना अयुक्ति संगत नहीं होगा कि किसी भी रोग विशेष को दूर करने के लिए जब विभिन्न भेषज प्रयोग किए जाते हैं तब केवल द्रव्य सामान्य जिसे सर्वश्रेष्ठ माना गया है से ही कार्य की सिद्धि सम्भव नहीं है, अपितु द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनों का आश्रय लेकर चिकित्सा की जाती है, तब ही त्वरित रूप से लाभ होता है और तब आयुर्वेद के प्रयोजन की सिद्धि होती है।

सामान्य के अन्य भेद

व्यापकता की दृष्टि से सांख्यदर्शन में सामान्य के निम्न भेद बतलाए गए हैं—

सामान्यं द्विविधं प्रोक्तं परं चापरमेव च।
द्रव्यादित्रिकवृत्तिस्तु सत्ता परतयोच्यते ॥
परभिन्ना तु या जातिः सैवापरतयोच्यते।
द्रव्यत्वादिक जातिस्तु परापरतयोच्यते ॥
व्यापकत्वात्परापि स्याद् व्याप्यत्वादपरापि च।

—कारिकावलि १-८

सामान्य दो प्रकार होता—(१) पर सामान्य और (२) अपर सामान्य। द्रव्यादि तीन पदार्थों (द्रव्य, गुण और कर्म) में रहने वाली सत्ता को 'पर सामान्य' और पर से भिन्न जाति को 'अपर सामान्य' कहते हैं। द्रव्यत्व आदि जाति तो पर सामान्य भी कहलाती है। सामान्य व्यापक होने पर 'पर' और व्याप्य होने से 'अपर' भी होता है। क्योंकि व्यापकता की दृष्टि से पर सामान्य अधिक देश या अधिक व्यक्तियों में व्याप्त रहता है और "अपर सामान्य" अल्प देश या अल्प व्यक्तियों में ही व्याप्त रहता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सबसे अधिक व्यक्तियों में रहने वाली अथवा अधिक देश में रहने वाली जाति पर सामान्य और कम व्यक्तियों अथवा अल्प देश में रहने वाली जाति अपर सामान्य कहलाती है। जो दोनों के बीच में रहने वाली जाति है वह अपर सामान्य कहलाती है; जैसे द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनों पदार्थों में पदार्थत्व जाति पर सामान्य है। इसे सत्ता भी कहते हैं। क्योंकि इसके अन्तर्गत अन्य समस्त प्रकार के सामान्यों का समावेश हो जाता है। जैसे द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व, घटत्व, पटत्व आदि। पर सामान्य कभी अपर भी हो सकता है और अपर सामान्य कभी पर भी हो सकता है। अर्थात् सामान्य भाव बुद्धि विशेष के अधीन है। दृष्टि भेद से अथवा प्रकरण वश दोनों प्रकार की स्थिति सम्भव है। जैसे पदार्थत्व द्रव्यत्व की अपेक्षा पर सामान्य है और पदार्थत्व की अपेक्षा द्रव्यत्व अपर सामान्य है। किन्तु पृथ्वीत्व की अपेक्षा द्रव्यत्व भी पर सामान्य हो जाता है और पदार्थत्व की अपेक्षा द्रव्यत्व अपर सामान्य है।

अतः ये दोनों परत्वापरत्व परस्पर सापेक्ष होते हैं। एक-दूसरे की अपेक्षा रखे बिना सामान्य में परत्वापरत्व भाव सम्भव नहीं है।

षष्ठ अध्याय

विशेष निरुपण

आयुर्वेद शास्त्र में सामान्य की भांति विशेष का भी महत्वपूर्ण स्थान है। विशेष भी सामान्यवत् आयुर्वेदीय चिकित्सा का एक महत्वपूर्ण आधार-भूत सिद्धान्त है। मिथ्या आहार-विहार के द्वारा शरीर में स्थित दोष प्रकुपित (वृद्धि को प्राप्त) हो जाते हैं तो वे विभिन्न प्रकार के रोगों को उत्पन्न करते हैं। उन रोगों के उपशमनार्थ या उनकी चिकित्सार्थ बढ़े हुए दोषों का शमन या क्षय या निर्हरण करना आवश्यक है। दोषों का इस प्रकार का शमन या क्षय 'विशेष' सिद्धान्त की अपेक्षा रखता है। अर्थात् विपरीत गुण वाले द्रव्यों का सेवन करने से दोषों का उपशमन या क्षय हो सकता है। जैसा कि शास्त्र में निर्दिष्ट है—'**विपरीतगुणैर्द्रव्यैः मारुतः सम्प्रशाम्यति।**' इसी प्रकार पित्त और कफ के विषय में भी समझना चाहिये। इसके अतिरिक्त शरीर में स्थित विभिन्न अंगों, अवयवों, भावों आदि की पृथक् सत्ता का ज्ञान भी मात्र विशेष के द्वारा होता है। रक्त से अस्थि, मज्जा आदि धातुएं पृथक्-पृथक् सत्तावान् हैं। हृदय, यकृत्, प्लीहा आदि अन्यान्य अवयव भी अलग-अलग अस्तित्व वाले हैं। इन समस्त भावों के पृथक् अस्तित्व में मात्र विशेष ही कारण है। इस प्रकार चिकित्सा की दृष्टि से तथा शरीरान्तर्गत समस्त भावों में पृथक्त्व ज्ञापित करने की दृष्टि से विशेष नामक पदार्थ को आयुर्वेद शास्त्र में अंगीकार कर प्रतिपादित किया गया है।

आयुर्वेद शास्त्र में विशेष पदार्थ को विशिष्ट प्रयोजन से अपनाया गया है। रोगों की उत्पत्ति और उनका विनाश, स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य की रक्षा, चिकित्सोपयोगी द्रव्यों, गुण और कर्म का पृथक्त्व एवं पृथक् कार्मुकता का विवेचन विशेष के ही आधीन है। अन्यथा संसार में विद्यमान समस्त भावों, पदार्थों में एकत्व या एकरूपता हो जायेगी। ऐसी स्थिति में हमारा कोई भी कार्य सिद्ध नहीं हो पायगा। विशेष सिद्धान्त के द्वारा आयुर्वेद शास्त्र में प्रतिपादित मूल प्रयोजन की सिद्धि होती है। द्रव्य गुण विज्ञान के लिए तो इसकी उपयोगिता सर्वाधिक है। विभिन्न रोगों में भेषज प्रयोग का मूल आधार ही विशेष सिद्धान्त है। अतः आयुर्वेद शास्त्र में इसके महत्त्व और उपयोगिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

षड्दर्शनों में कणाद दर्शन का विशिष्ट महत्व है। कणाद दर्शन सामान्यत: वैशेषिक दर्शन के नाम से व्यवहृत होता है। इसका मुख्य कारण यह है कि प्रस्तुत विशेष पदार्थ वैशेषिक (कणाद दर्शन) का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पदार्थ है और इसका प्रतिपादन विशेष रूप से किया गया है। अतः कणाद दर्शन में विशेष पदार्थ का वैशिष्ट्य एवं विशिष्ट उपादेयता होने के कारण वह वैशेषिक दर्शन कहलाने लगा।

विशेष का लक्षण

"ह्रासहेतुर्विशेषश्च ।" —चरक संहिता सूत्र स्थान १/४३
"विशेषस्तु पृथक्त्वकृत् ।" —चरक संहिता सूत्र स्थान १/४४
"विशेषस्तु विपर्ययः ।" —चरक संहिता सूत्र स्थान १/४४
"अत्यन्तव्यावृत्तिहेतुर्विशेषः ।"

"सजातीयेभ्यो व्यावर्तनं विशेषः, शिष् असर्वोपयोगे इति धात्वनुसारात्"

—वामनाचार्य

"व्यावृत्तिप्रत्ययहेतुरनेकः प्रतिद्रव्यसमवेतो विशेषः स ह्रासहेतुः पृथक्त्वकृत् वैसादृश्यंच"

—सप्तपदार्थी

"सामान्यरहितत्वे सति नित्यैकद्रव्यमात्रवृत्तिविशेषः ।"
"अजातिरेकवृत्तिश्च विशेष इति शिष्यते ।"
"सर्वेषां भावानां द्रव्यगुणकर्मणां विशेषो ह्रासहेतुः ।"

"विशिष्टो हि भावो विशिष्टानि द्रव्यगुणकर्माणि ह्रासयितुं प्रयुङ्क्त इति विशिष्टानां द्रव्यगुणकर्मणां ह्रासे प्रयोजको विशेषः ।" —गंगाधर

अर्थ—ह्रास का कारण विशेष होता है। विशेष पृथक्त्व करने वाला होता है। सामान्य से ठीक विपरीत (उल्टा) विशेष होता है। एक वस्तु से अन्य समस्त वस्तुओं को अन्ततः पृथक् करने वाला कारण विशेष होता है। सजातीय द्रव्यों से पृथक् करने वाला विशेष होता है और यह शिष् धातु से असर्वोपयोग अर्थ में निष्पन्न हुआ है। व्यावृत्ति प्रत्यय का हेतु प्रति द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से स्थित वह ह्रास का हेतु, पृथक्त्व करने वाला तथा वैसादृश्य उत्पन्न करने वाला विशेष होता है। सामान्य के अभाव में (सामान्य से विपरीत) नित्य और एकत्व द्रव्य में रहने वाला विशेष होता है।[1]

जाति रहित और एक वृत्ति वाला विशेष होता है। समान (गुण-धर्म) वाले द्रव्यों से समान भावों की वृद्धि होती है तथा तद्विपरीत असमान याने विशेष से हानि या ह्रास होता है। द्रव्य-गुण-कर्म आदि समस्त भावों के ह्रास में 'विशेष' हेतु होता है।

विभिन्न आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित विशेष के उपर्युक्त लक्षणों से स्पष्ट है कि नित्यद्रव्य में रहने वाले सामान्य से ठीक विपरीत दूसरे द्रव्य को परस्पर व्यावृत करने वाला विशेष होता है। संसार के समस्त परमाणु एक-दूसरे से भिन्न हैं। अनेक परमाणु सजातीय होने पर भी उनकी स्वतन्त्र सत्ता एवं महत्व हैं। प्रत्येक परमाणु स्वतन्त्र अस्तित्ववान् है। अतः वह दूसरे परमाणु से सर्वथा भिन्न है। परमाणुओं की इस पृथकता का कारण विशेष है। यदि विशेष नामक स्वतन्त्र पदार्थ न माना जाय तो संसार के समस्त परमाणुओं एवं द्रव्यों में कोई विभेद या पार्थक्य नहीं रह जायगा और सभी आत्मा मिलकर एकरूप हो जायेंगी। अतः वर्तमान में हमें प्रति शरीर में भिन्न-भिन्न आत्मा की जो प्रतीति होती है वह विशेष के कारण ही है। इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य का मन एक-दूसरे से पृथक् एवं भिन्न है। मन की भिन्नता के कारण ही हम लोग एक-दूसरे के मन की बात को नहीं जान पाते हैं। इस भिन्नता का कारण भी विशेष ही है। इस प्रकार संसार के समस्त द्रव्यों एवं द्रव्यगत परमाणुओं में पारस्परिक विभेद (पार्थक्य) स्पष्ट करने के लिए षट् पदार्थान्तर्गत स्वतन्त्र रूपेण विशेष नामक पदार्थ को स्वीकार किया गया है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि विशेष पृथगाकार बुद्धि का कारण है। जैसे गोत्व ही अपर गो व्यक्ति की अपेक्षा से एकाकार बुद्धि को उत्पन्न करने से सामान्य है वही गोत्व अश्व (घोड़ा) आदि की अपेक्षा से पृथक् बुद्धि उत्पन्न करने के कारण अश्व आदि के प्रति विशेष कहलाता है।

जिस प्रकार सामान्य को वृद्धि का कारण बतलाया गया है उसी प्रकार विशेष ह्रास में कारण है। किन्तु ये दोनों वृद्धि और ह्रास में तभी कारण होते हैं जबकि उनका कोई प्रबल विरोधी कारण उपस्थित न हो। जैसे भोज्य मांस में मांसत्व होने से वह शरीर के धातु रूप मांस के समान है, परन्तु शोणित, अस्थि से असमान या पृथक् होने का कारण विशिष्ट है। अतः यद्यपि भोज्य मांस का सेवन करने से शरीर के धातु रूप मांस की वृद्धि तो होती है, किन्तु असमान या पृथक् होने से शोणित, अस्थि आदि धातुओं का विशेष की अपेक्षा से ह्रास या क्षय (कमी) होना चाहिये। किन्तु ऐसा होता नहीं है। इसका कारण यही है कि शोणित आदि के ह्रास के लिए विरोधी कारण उपस्थित नहीं है। अथवा जहां विशेष से ह्रास या क्षय अपेक्षित है वहाँ विशेष से विरुद्धत्व विशेष का ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि आचार्यों ने शास्त्र में स्थान-स्थान पर उपर्युक्त सिद्धान्त के आधार पर ही वृद्धि और क्षय का उपाय निर्देशित किया है। यथा—

वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीतैर्विपर्ययः ।

तथा—'**विपरीतगुणैर्द्रव्यैर्मारुतः सम्प्रशाम्यति ।**'

इत्यादि वचनों से विरुद्धत्व विशेष का ही संकेत मिलता है। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिये कि अविरुद्ध विशेष यद्यपि वृद्धि या ह्रास में कारण नहीं है तथा असमान द्रव्यों का उपयोग करने से विनश्वर द्रव्यों का ह्रास होता ही है, क्योंकि उसका पूरण या पोषण करने वाला हेतु उपस्थित नहीं है। इसे इस प्रकार समझना चाहिये— यदि शरीर में स्थित शोणित के विरोधी द्रव्य का सेवन नहीं किया जाय और न ही तत्समान द्रव्य का सेवन किया जाय जिससे तत्सम द्रव्य-गुण की वृद्धि हो तो परिणाम यही होगा कि शरीर में स्थित वर्तमान रक्त में कमी होती जायेगी। इसका कारण यही है कि यद्यपि विरुद्ध विशेष का सेवन नहीं किया जा रहा है, फिर भी स्वतः क्षीयमाण रक्त के पूरक हेतु के विद्यमान या सेवन नहीं होने से रक्त स्वयमेव क्षीण होता जायगा। अतः अविरुद्ध विशेष का सेवन करने पर भी ह्रास या क्षय को देखते हुए ही '**ह्रास हेतुर्विशेषश्च**' इस प्रकार का कथन किया गया है। यह ज्ञातव्य है कि द्रव्य भी किसी कारण से विनाश या क्षय को प्राप्त होते हैं, उन कारणों को ही विरुद्ध विशेष समझना चाहिये। इस प्रकार विरुद्ध एवं अविरुद्ध विशेष के आधार पर आयुर्वेद शास्त्र में चिकित्सा हेतु उसकी उपयोगिता है।

विशेष पदार्थ की व्याप्ति सामान्यतः नित्य द्रव्यों में जैसे—पृथ्वी, जल, तेज एवं वायु के परमाणुओं में एवं आकाश, काल, दिक्, मन और आत्मा में है। अतः नित्य द्रव्यों में रहने के कारण विशेष भी नित्य है। विशेष संख्या में अनेक होने के कारण अनन्त हैं अथवा जिन द्रव्यों में विशेष की व्यापकता (स्थिति) है, उन द्रव्यों की अनन्तता के कारण विशेष भी अनन्त हैं। विशेष इन्द्रिय गोचर नहीं होने के कारण इन्द्रियातीत अथवा अतीन्द्रिय होते हैं। इनकी व्यापकता अल्प देश में ही होती है। अर्थात् वैधर्म्य तक ही ये सीमित रहते हैं।

विशेष के भेद

जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है—विशेष सामान्य से ठीक विपरीत होता है। सामान्य की भाँति यह भी तीन प्रकार का होता है—द्रव्य विशेष, गुण विशेष और कर्म विशेष। ऊपर विशेष के जो विभिन्न लक्षण बतलाये गए हैं उनमें से "**ह्रास हेतुर्विशेषश्च**" यह लक्षण द्रव्य विशेष का, "विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्" यह लक्षण गुण विशेष का और "विशेषस्तु विपर्ययः" यह लक्षण कर्म विशेष का स्वीकृत किया गया है। इन लक्षणों के अनुसार विशेष को निम्न उदाहरणों के द्वारा समझना चाहिये—

द्रव्य विशेष—वृद्धिगत किसी द्रव्य को अन्य द्रव्यों के प्रयोग के द्वारा घटाना या कम करना द्रव्य विशेष कहलाता है। जैसे शरीर में वृद्धिगत मेद को घटाने के लिए उष्ण जल के साथ मधु का सेवन करना, जौ-बाजरा आदि अन्न द्रव्यों का सेवन करना। इसी प्रकार मांस को कम करने के लिए अस्थि का प्रयोग उपयुक्त होता है। अस्थि प्रयोग के लिए शंख, शुक्ति, कौड़ी की भस्म आदि द्रव्य लिए जा सकते हैं।

गुण विशेष—किसी द्रव्य का प्रयोग करने पर उसके विपरीत गुणों की हानि होना गुण विशेष कहलाता है। शरीर में वायु की वृद्धि होने पर तेल का प्रयोग किया जाता है, क्योंकि वायु शीत, रूक्ष व लघु गुण प्रधान होता है और तेल उष्ण, स्निग्ध व गुरु गुण वाला होता है। निरन्तर अभ्यास या प्रयोग करने से अपने विशेष गुण के कारण तेल वायु के गुणों का शमन करता है और वायु को दूर करता है। इसी प्रकार गुडूची शीत गुण के कारण पित्त के उष्ण गुण का शमन करती है। अतः विपरीत गुणों का ह्रास होने के कारण यह गुण विशेष कहलाता है।

कर्म विशेष—एक कर्म के द्वारा अन्य विपरीत कर्म की हानि होना कर्म विशेष कहलाता है। वायु का कर्म चलन है। जब उसकी वृद्धि हो जाती है तो उसके विपरीत रोगी को विश्राम कराया जाता है। अथवा लंघन, जल प्लावन, भ्रमण आदि कर्मों के द्वारा स्थिरता कारक कफ के कर्मों का ह्रास या शमन किया जाता है। इसी प्रकार अन्य कर्मों के द्वारा शरीर में वृद्धिगत कर्मों की हानि करना कर्म विशेष होता है।

प्रवृत्तिरुभयस्य तु

सामान्य और विशेष के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि सामान्य वृद्धि करता है और विशेष ह्रास या पृथक्त्व करता है। परन्तु सामान्य और विशेष बिना उपयोग के ही वृद्धि एवं ह्रास में कारण नहीं हुआ करते। अर्थात् अजमांस में मांसत्व रहते हुए भी जब तक उसका उपयोग नहीं किया जाता तब तक मनुष्य में तज्जन्य मांस की अभिवृद्धि होना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार विशेष में भी समझना चाहिए। महर्षि चरक ने भी यही भाव "**प्रवृत्तिरुभयस्य तु**" इस वचन के द्वारा व्यक्त किया है। अर्थात् दोनों की प्रवृत्ति ही वृद्धि एवं ह्रास में कारण होती है। अथवा इसका अर्थ यह किया जा सकता है कि धातु साम्य के लिए सामान्यवत् यथा विशेषवत् द्रव्यों का उपयोग करना उचित है। क्योंकि आयुर्वेद में द्रव्यों का उपयोग आरोग्य साधन के लिए ही होता है। जैसा कि कहा गया है—"**आरोग्यार्था च भेषजप्रवृत्तिः ।**" कथन का अभिप्राय यह है कि भिन्न-भिन्न कारणों से दोषों या धातुओं के प्रवृद्ध होने पर दोष वैषम्य या धातु वैषम्य हो सकता है। उस समय उसके गुणों से विपरीत गुण वाले विशिष्ट द्रव्यों के उपयोग से दोषसाम्य या धातु साम्य प्रति स्थापित किया जा सकता है। इसी प्रकार किसी दोष या धातु के किन्हीं कारणों से क्षीण

हो जाने पर उस दोष या धातु के समान गुण वाले द्रव्यों का सेवन करने से उस दोष या धातु की अभिवृद्धि होकर दोष साम्य या धातु साम्य स्थापित हो जाता है।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है सम्यक् प्रकार से प्रयुज्यमान एक ही द्रव्य वृद्धि और ह्रास को युगपात् करता है। एक और वह स्वसमान द्रव्य, गुण और कर्म की वृद्धि करता है तो दूसरी ओर वह अपने विरोधी या विपरीत द्रव्य, गुण और कर्म की हानि भी करता है। तब ही वह धातु साम्यकर होता है। आयुर्वेद शास्त्र में भी यही सिद्धान्त प्रतिपादित है। यथा—

"तस्माद् भेषजं सम्यगवचार्यमाणं युगपदूनातिरिक्तानां धातूनां साम्यकरं भवति, अधिकमपकर्षति न्यूनमाप्याययति।"

अर्थात् सम्यक् रूप से प्रयोग की गई भेषज (औषध) युगपात् न्यून एवं प्रवृद्ध धातुओं में साम्य को उत्पन्न करती है। वह अधिक को घटाती है और न्यून को बढ़ाती है।

इस प्रकार सामान्यतः सामान्य एवं विशेष के आधार पर वृद्धि और ह्रास की प्रवृत्ति एक साथ होती है।

सप्तम अध्याय

समवाय निरुपण

लक्षण—

समवायोऽपृथग्भावः भूम्यादीनां गुणैर्मतः।
स नित्यो यत्र हि द्रव्यं न तत्रानियता गुणाः॥

—चरक संहिता सूत्रस्थान १/४९

"भूम्यादीनां गुणैरपृथग्भावः समावायः मतः। सः नित्यः यत्र तत्र गुणः अनियतः न।"

"तेना धाराणामाधेयैर्योऽपृथग्भावः सः समावायः। स नित्य इति समावायोऽविनाशी। सत्यपि समवायिनां द्रव्याणां नाशे समवायो न विनश्यति।"

—चक्रपाणि दत्त

घटादीनां कपालादौ द्रव्येषु गुणकर्मणोः।
तेषु जातेश्च सम्बन्धः समवायः प्रकीर्तितः॥ —कारिकावलि १/१३

"अवयवावयविनोर्जातिव्यक्त्योर्गुणगुणिनोः क्रियाक्रियावतोर्नित्यद्रव्यविशेषयोश्च यः सम्बन्धः सः समवायः।" —मुक्तावलि

"अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः सम्बन्धः इहेति प्रत्यय हेतु स समवायः।"

—प्रशस्तपाद

"इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः।" —वैशेषिक दर्पण ७/२/२४

अर्थ—भूमि आदि आधार द्रव्य के साथ गुर्वादि आधेय गुणों का जो अपृथग्भाव (अलग-अलग न रहने का) सम्बन्ध है उसे समवाय कहते हैं। यह सदा नित्य होता है, जहाँ भी द्रव्य है वहाँ गुण अनियत नहीं है अर्थात् नियत रूप से विद्यमान है।—(चरक)

इससे आधार का आधेय से जो (अपृथग्भाव पृथक् नहीं होकर रहने का) सम्बन्ध है वह समवाय है। वह नित्य है। इस प्रकार समवाय अविनाशी होता है। समवायि द्रव्यों के नाश होने पर भी समवाय नष्ट नहीं होता है।

कपाल आदि में घट आदि का, द्रव्यों में गुण और कर्मों का, उन ही द्रव्य, गुण और कर्म में जाति का जो सम्बन्ध है वह समवाय कहलाता है। —(मुक्तावलि)

'इसमें यह है' इस प्रकार की बुद्धि (ज्ञान) जिसके कारण कार्य-कारण भाव (अवयवावयवी) में होती है वह समवाय है। —(वैं० द०)

दो अथवा दो से अधिक तत्वों का पारस्परिक संयोग होने पर उनमें कोई न

कोई सम्बन्ध अवश्य होता है। इस सम्बन्ध के कारण ही द्रव्य परस्पर संयुक्त रूप से स्थित रहते हैं। यह सम्बन्ध दो प्रकार का होता है—(१) नित्य सम्बन्ध (२) अनित्य सम्बन्ध।

इसमें प्रथम नित्य सम्बन्ध वह होता है जिसके द्वारा द्रव्य स्थायी रूप से एक दूसरे से संयुक्त रहते हैं। इसमें द्रव्यों का सम्बन्ध विच्छेद नहीं होता है और संयुक्त द्रव्य कभी एक-दूसरे से पृथक् नहीं होते। यह स्वतः सिद्ध होता है और किसी बाह्य कर्म के द्वारा उसे नियोजित नहीं किया जा सकता है। नित्य सम्बन्ध वाले द्रव्य पहले पृथक्-पृथक् सत्तावान् नहीं होते। अतः किसी भी कर्म के द्वारा उन्हें संयुक्त नहीं किया जा सकता और न ही किसी कर्म के द्वारा उन्हें पृथक् किया जा सकता है।

द्वितीय अनित्य सम्बन्ध वह होता है जिसमें द्रव्यों का पारस्परिक संयोग अस्थायी होता है और उन्हें कभी भी पृथक् किया जा सकता है। अनित्य सम्बन्ध में संयोजित द्रव्य पहले पृथक्-पृथक् सत्तावान नहीं होते हैं और संयुक्त होने पर भी उनकी स्वतन्त्र सत्ता विद्यमान रहती है। उन द्रव्यों को किसी बाह्य कर्म के द्वारा संयोजित किया जाता है। यह सम्बन्ध स्वतः सिद्ध नहीं होता।

उपर्युक्त दोनों प्रकार के सम्बन्धों में प्रथम नित्य सम्बन्ध ही समवाय सम्बन्ध कहलाता है और द्वितीय अनित्य सम्बन्ध साधारण संयोग मात्र होने से संयोग कहलाता है।

समवाय केवल वहीं होता है जहाँ पदार्थों में अयुतसिद्धिवृत्ति, आधार्याधार भाव एवं कार्य-कारण भाव हो। अयुतसिद्ध पदार्थों में स्वभावतः अपृथग्भाव सम्बन्ध रहता है। अर्थात् वे पदार्थ एक दूसरे के बिना स्थित नहीं रह सकते और न ही उन्हें एक-दूसरे से पृथक् किया जा सकता है। जब दो पदार्थों में से एक की स्थिति पर दूसरे की स्थिति तथा एक के विनाश पर दूसरे का विनाश निर्भर हो तो वे पदार्थ अयुतसिद्ध अथवा अयुतसिद्ध वृत्ति वाले होते हैं—जैसे अवयव और अवयवी, गुण और गुणी (द्रव्य), क्रिया और क्रियावान् (द्रव्य), जाति और व्यक्ति, नित्य द्रव्य और विशेष इन सब का परस्पर समवाय सम्बन्ध ही होता है। इसमें अवयव अवयवी से, गुण गुणी (द्रव्य) से, क्रिया क्रियावान् (द्रव्य) से, जाति व्यक्ति से और नित्य द्रव्य विशेष से कभी पृथक् नहीं हो सकता। अतः इसमें परस्पर समवाय सम्बन्ध है।

उपर्युक्त सिद्धान्त को निम्न उदाहरण के द्वारा भली भांति समझा जा सकता है। जैसे तन्तु और कपड़े में परस्पर समवाय सम्बन्ध है। क्योंकि कपड़ा शब्द का प्रयोग करने पर कपड़े के निर्माण में तन्तु अपेक्षित हैं। अर्थात् बिना तन्तुओं के कपड़े का निर्माण सम्भव नहीं है और केवल तन्तु पृथक् रहने पर वह कपड़ा नहीं कहलाया जा सकता। इस प्रकार कपड़ा और तन्तु दोनों एक-दूसरे से पृथक् नहीं रह सकते। इसे ही अयुतसिद्धि या अयुतभाव कहते हैं।

जिन द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध होता है उनमें अयुतसिद्धि वृत्ति के अतिरिक्त आधार्याधार भाव भी होता है। अर्थात् एक आधार्य (आधेय) एवं दूसरा आधार होता है। तन्तु और पट (कपड़े) में भी यही भाव विद्यमान रहता है। इनमें तन्तु आधार है और पट (कपड़ा) आधार्य या आधेय है। इसी प्रकार ऊपर जो अनेक दृष्टान्त दिये गए हैं उनमें अवयव आधार है और अवयवी आधेय, गुण आधार एवं गुणी आधेय, क्रिया आधार और क्रियावान् आधेय, जाति आधार और व्यक्ति आधेय तथा नित्य द्रव्य आधार और विशेष आधेय। इस प्रकार समवाय सम्बन्ध वाले पदार्थ अयुतसिद्ध एवं आधार्याधारभूत होते हैं।

उपर्युक्त समवाय को संयोग नहीं कहा जा सकता। क्योंकि समवाय नित्य होता है और एक होता है। यह स्वतः सिद्ध होने से किसी प्रक्रिया विशेष के द्वारा संयोजित नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत संयोग अनित्य होता है, संख्या में अनेक होते हैं और क्रिया विशेष के द्वारा संयोजित होने के कारण कृत्रिम होता है।

आयुर्वेद शास्त्र में समवाय को भी एक पृथक् पदार्थ के रूप में स्वीकार किया गया है। आयुर्वेद में चिकित्सा के लिए जिन वानस्पतिक, खनिज या अन्य द्रव्यों तथा औषधियों का प्रयोग किया जाता है उनमें स्थित गुण के आधार पर ही वैद्य यह निर्णय करने में समर्थ होता है कि कौन सा द्रव्य या औषधि किस रोग में प्रयोग करने योग्य है। द्रव्यों में स्थित गुण किस सम्बन्ध से या किस भाव से वहां स्थित है—इसकी व्यापक एवं सम्यक् विवेचना आचार्य चक्रपाणिदत्त ने की है। महर्षि चरकोक्त भूम्यादीनां गुणैः को औरअधिक स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं—"भूम्यादीनां गुणैः" यह अपृथग्भाव की विशेषता को बतलाता है। भूम्यादीनां से तात्पर्य भूमि सदृश अन्य द्रव्य आदि से है। भूमि अनेक आधेय पदार्थों का आधार है, अतः आधारत्व के उदाहरण के लिए ऐसा कहा गया है। क्योंकि भूमि समस्त रूप रस आदि अर्थ, गुरुत्व आदि विंशति गुण तथा परत्वादि दस गुण, अवयवि जो सामान्य कर्मों का आधारभूत है और ये सब आधेय हैं। अन्य किसी भी द्रव्य में इतने आधेय नहीं है। भूम्यादीनां का अभिप्राय यहाँ भूमि आदि समस्त आधारों का, यह अर्थ लगाना चाहिए। गुणैः का अर्थ आधेयों से है जो अप्रधान होते हैं। आधार की अपेक्षा आधेय सर्वत्र अप्रधान होते हैं। अप्रधान को गौण कहा जाता है। अप्रधान में गुण शब्द का भी व्यवहार पाया जाता है। जैसे-गुणीभूतोऽयम्" अर्थात् यह गुणीभूत याने अप्रधान या गौण है। कथन का अभिप्राय यह है कि आधारों की आधेय से सहावस्थिति है, यही समवाय सम्बन्ध है।

इस प्रकार समवाय के द्वारा द्रव्य और गुण का नित्य (अविनाशी) सम्बन्ध प्रतिपादित करने की दृष्टि से यहाँ उसका पदार्थत्व बतलाया गया है जो महत्वपूर्ण एवं उपयोगी है।

अष्टम अध्याय

अभाव निरूपण

आयुर्वेद में यद्यपि अभाव को स्वीकार नहीं किया गया है और न ही इसकी कोई उपयोगिता प्रतिपादित की गई है। तथापि प्रारम्भ में द्विविध पदार्थों (भाव पदार्थ और अभाव पदार्थ) का परिगणन होने के कारण परिशेष्य न्याय के अनुसार अन्त में अभाव पदार्थ का संक्षिप्त निरूपण कर देना समीचीन प्रतीत होता है। इसी दृष्टि से यहां अभाव का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है।

लक्षण–

"प्रतियोगिज्ञानाधीनज्ञानविषयत्वमभावत्वम्।"

"अभावत्वमखण्डोपाधिधर्मविशेष इति केचित्"

"भावभिन्नत्वमभावत्वमिति परे।"

अर्थ—जिस पदार्थ का ज्ञान उसके प्रतियोगी (विरोध) के ज्ञान के अधीन हो उसे अभाव कहते हैं।

कुछ विद्वानों का मत है कि अखण्डोपधि धर्म विशेष का नाम ही अभावत्व है। अन्य विद्वानों के मतानुसार भाव से भिन्नत्व का नाम ही अभावत्व है।

अभाव के उपर्युक्त लक्षणों से स्पष्ट है कि किसी वस्तु का नहीं होना ही अभाव कहलाता है। यह अभाव त्रैकालिक हो सकता है। अर्थात् वर्तमान में वस्तु का नहीं होना या अनुपलब्धि होना, भूतकाल में वस्तु का नहीं होना या अनुपलब्धि होना और भविष्यकाल में वस्तु का नहीं होना या अनुपलब्धि होना। भाव पदार्थ का ज्ञान तो स्वतः होता है। जैसे-घट का ज्ञान घट से होता है, किन्तु घटाभाव का ज्ञान स्वतः न होकर घट के द्वारा होता है अर्थात् घटाभाव का ज्ञान घट के अधीन होता है। जब तक हमें घट का ज्ञान नहीं होता तब तक घटाभाव का ज्ञान भी नहीं हो सकता।

अभाव को स्वतन्त्र पदार्थ मानते हुए आचार्य का कथन है कि द्रव्यादि जिन छह भाव पदार्थों का परिगणन एवं कथन किया गया है वे जिसके विरोधी हों ऐसा अभाव भी सप्तम एक पदार्थ है।

अभाव के भेद–

अभावस्तु द्विधा संसर्गान्योन्याभावभेदतः।
प्रागभावस्तथा ध्वंसोऽप्यत्यन्ताभाव एव च॥
एवं त्रैविध्यमापन्नः संसर्गाभाव इष्यते। —(भा० प्र०)

अर्थ—अभाव पदार्थ दो प्रकार होता है—संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव। इसमें संसर्गाभाव पुनः तीन प्रकार का होता है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव।

कुछ विद्वान् अभाव के पुनः दो भेद मानते हैं—प्रत्यक्षाभाव और अतीन्द्रियाभाव। जो वस्तु किसी भी इन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष की जा सकती है उसकी अनुपलब्धि होना प्रत्यक्ष अभाव कहलाता है। इन्द्रिय के द्वारा जो वस्तु ग्राह्य न हो, तथा उसका विद्यमान नहीं होना अतीन्द्रियाभाव कहलाता है।

प्रागभाव—

"उत्पत्तेः पूर्वं कार्यस्याविद्यमानोऽभावः प्रागभावः अनादिसान्तः।"
"प्रागभावो विनाशी अजन्य उत्पत्तेः पूर्वं कार्यस्य योऽभावः सः प्रागभावः।"

किसी भी कार्य की उत्पत्ति से पूर्व उसका जो अभाव होता है उसको प्रागभाव कहते हैं। यह अनादि है, किन्तु कार्य उत्पन्न होने के बाद इसका विनाश हो जाता है, अतः सान्त होता है। अजन्य होने से यह अनादि और विनाश होने से सान्त होता है। कार्य की उत्पत्ति से पूर्व स्वप्रतियोगी समवायि कारण में यह रहता है। अर्थात् यह कार्य की उत्पत्ति के पहले कार्य के समवायि कारण में रहता है और उसके द्वारा इस कपाल में घट होगा—ऐसा ज्ञान होता है।

प्रध्वंसाभाव—

"कार्यस्य विनाशानन्तरमुत्पद्यमानो योऽभावः प्रध्वंसाभावः सादिमनन्तः। प्रतियोगिसमवायिकारणवृत्तिः ध्वस्तः इति प्रतीतिहेतुः।"
"ध्वंसो जन्यः अविनाशी च उत्पत्त्यनन्तरं कार्यस्य योऽभावः सः ध्वंसः।"

कार्य के विनाश के पश्चात् जो उत्पन्न होता है, वह प्रध्वंसाभाव कहलाता है। यह अभाव उत्पन्न होता है किन्तु इसका कभी विनाश नहीं होता। अतः यह उत्पद्यमान होने के कारण सादि और अविनाशी होने के कारण अनन्त होता है। यह अपने प्रतियोगी (विरोधी) से उत्पन्न होकर उसके समवायिकारण में रहता है। इस अभाव के द्वारा "घट का ध्वंस हुआ" ऐसा ज्ञान होता है। यह जन्य और अविनाशी होता है।

अत्यन्ताभावः—

"त्रैकालिकसंसर्गाविच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽत्यन्तभावः ।"

"त्रैकालिकसंसर्गाभावोऽत्यन्ताभावः स चानादिरनन्तो नास्तीत्यनुभवसिद्धो नित्यः ।"

जिस अभाव की प्रतियोगिता संसर्ग से अविच्छिन्न हो और भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनों कालों में रहती हो उसको अत्यन्ताभाव कहते हैं। जैसे "पृथ्वी पर घट नहीं है इस प्रकार का अभाव अत्यन्ताभाव का उदाहरण है। यह अजन्य और अविनाशी होता है।

तीनों काल—भूत, भविष्य और वर्तमान में पदार्थ के संसर्ग के अभाव को अत्यन्ताभाव कहते हैं। "नहीं है" ऐसा अनुभव सिद्ध और नित्य है। जैसे वायु में रूप का संसर्ग नहीं है, न कभी था और न कभी होगा। इस अत्यन्तभाव से पदार्थ का अभाव प्रतिपादित नहीं होता, किन्तु उसके संसर्ग का अभाव प्रतिपादित होता है। जैसे वायु और रूप दोनों पदार्थ विद्यमान हैं, किन्तु इन दोनों का संसर्ग नहीं है। अतः इसे संसर्गाभाव कहा जा सकता है। यह प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव का अप्रतियोगी अन्योन्याभाव से भिन्न होते हुए अभाववान् होता है। इसमें प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव के निवारणार्थ 'त्रैकालिक' तथा अन्योन्याभाव के निवारणार्थ "संसर्ग" विशेषण पद लगाया गया है।

अन्योन्याभाव—

"तादात्म्यसम्बन्धाविच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽभावोऽन्योन्याभावः ।"

जिस अभाव की प्रतियोगिता तादात्म्य सम्बन्ध से अविच्छिन्न हो, उसको अन्योन्याभाव कहते हैं। जैसे घट पट नहीं है। यहां पर घटात्मा पट नहीं है, अर्थात् इन दोनों में तादात्म्य—ऐक्य नहीं है। इस प्रकार के पारस्परिक अभाव को अन्योन्याभाव कहते हैं। यहां पर प्रागभाव तथा प्रध्वंसाभाव के निवारणार्थ 'तादात्म्य' शब्द लगाया गया। तादात्म्य सम्बन्ध के द्वारा अत्यन्ताभाव का निवारण भी हो जाता है। यह भी अत्यन्ताभाव की भांति अजन्य एवं अविनाशी होता है।

उपर्युक्त प्रकार से वर्णित अभाव पदार्थ की दार्शनिक दृष्टि से भले ही कुछ उपयोगिता हो, किन्तु आयुर्वेदीय चिकित्सा की दृष्टि से इसकी कोई उपयोगिता नहीं है। क्योंकि मानव शरीर पांच भौतिक होता है। इसे स्वस्थ रखने तथा रोगाक्रान्त होने पर इसकी चिकित्सा करने में केवल पांच भौतिक द्रव्य ही उपयोगी होते हैं। अतः उन्हीं का प्रयोग किया जाता है। जो द्रव्य या पदार्थ है ही नहीं, उसके द्वारा चिकित्सा किया जाना बिल्कुल भी सम्भव नहीं है। अतः उससे आयुर्वेद का प्रयोजन भी सिद्ध नहीं होता है।

नवम अध्याय

प्रमाण निरुपण

सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में दर्शन शास्त्र का अपना विशिष्ट महत्व है। दर्शनशास्त्र भारतीय संस्कृति के प्राण माने जाते हैं। इन दर्शनाशास्त्रों में मुख्य प्रतिपाद्य विषय प्रमाण ही रहा है। क्योंकि सृष्टि, प्रलय, आत्मा, प्रकृति, स्वर्ग, मोक्ष, पुनर्जन्म आदि संसार के विभिन्न विषयों एवं तत्वों के ज्ञान की कसौटी प्रमाण को ही माना गया है। इन विषयों की सिद्धि प्रमाण के बिना सम्भव नहीं। अतः दर्शनशास्त्रों में सर्वप्रथम प्रमाण का ही विवेचन एवं प्रतिपादन मुख्य रूप में किया गया है। प्रमाण यथार्थ ज्ञान का साधन होने के कारण उसके द्वारा संसार के विभिन्न तत्वों की वास्तविक समीक्षा में अभूत पूर्व सफलता मिली है। प्रमाण के द्वारा यथार्थ का प्रतिपादन एवं अयथार्थ का निराकरण होने के कारण वह एक ऐसा निष्पक्ष मानदण्ड स्वीकार किया गया है जिसकी समानान्तर श्रेणी का कोई दूसरा साधन नहीं है। प्रमाण मान की कसौटी हैं जो पदार्थ के यथार्थ ज्ञान एवं स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं। बिना प्रमाण के कोई पदार्थ मान्य नहीं होता। इसीलिए दर्शन शास्त्रों में विशेषतः न्याय शास्त्र में प्रमाण का महत्व सर्वोपरि है। यही कारण है कि सर्वत्र न्याय शास्त्र को प्रमाण शास्त्र कहा जाता है। न्याय शास्त्र में प्रमाणों की महत्ता सर्वोपरि होने से उनकी उपयोगिता स्वतः ही बढ़ गई है।

दर्शन शास्त्र में प्रमाणों कथन एक अनिवार्य स्थिति है। प्रमाण के अभाव में दर्शन शास्त्रोक्त प्रतिपाद्य विषय की प्रामाणिकता संदिग्ध मानी जाती है। ज्ञान के साधन के रूप में प्रमाण या प्रमाणों का विवेचन कर दर्शन शास्त्र ने जिस बौद्धिक अनुचिन्तन एवं तात्विक मनन को प्रोत्साहित किया है वह अन्यत्र नहीं मिलता है। अतः प्रमाणों की उपयोगिता अपनी दृष्टि से निर्विवाद है। दार्शनिक एवं अध्यात्मिक दृष्टि से प्रभावित आयुर्वेद शास्त्र में प्रमाण विवेचन सर्वथा प्रासंगिक है।

पूर्व प्रकारण में षट् पदार्थों का निरूपण किया गया। उन पदार्थों को सम्यक्तया जाने बिना हमारे जीवन के लिए उनकी कोई उपयोगिता नहीं है। अतः सर्वप्रथम पदार्थों का यथार्थ ज्ञान अपेक्षित है। पदार्थों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिए ऐसे साधन अपेक्षित हैं जो पूर्णतः निर्दुष्ट, अकाट्य एवं अबाधित हों। क्योंकि

निर्दिष्ट, अकाट्य एवं अबाधित साधन ही वस्तु स्वरूप का यथार्थ ज्ञान कराने में सक्षम होते हैं। पदार्थ एवं पदार्थ के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए आचार्यों ने प्रमाण को सर्वाधिक उपयुक्त एक मात्र साधन माना है। अतः प्रस्तुत प्रकरण में अब प्रमाण विज्ञान का निरूपण किया जायेगा।

प्रमाण का लक्षण

"प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्। प्रमीयतेऽनेनेति करणार्थाभिधानः प्रमाणशब्दः।"
—श्री गंगाधर

"प्रमायाःकरणं प्रमाणम्"

"यथार्थानुभवः प्रमा तत्साधनं च प्रमाणम्" —उदयनाचार्य

"प्रमाता येनार्थं प्रमिणोति तत् प्रमाणाम्" —वात्सायन

"अर्थोपलब्धिहेतुः प्रमाणम्।" न्यायवार्तिक

"सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्।" —न्याय दीपिका

अर्थ—जिसके द्वारा जाना जाता है वह प्रमाण कहलाता है। जिसके द्वारा जाना जाता है वह करण अर्थ को व्यक्त करने वाला प्रमाण शब्द है। (गंगाधर) प्रमा के करण को प्रमाण कहते हैं। यथार्थ अनुभव को ही प्रमा कहते हैं, उस प्रमा का साधन प्रमाण कहलाता है (उदयनाचार्य)। जिस साधन के द्वारा प्रमाता को प्रमेय का ज्ञान होता है वह प्रमाण कहलाता है। (वात्सायन) अर्थ की उपलब्धि का हेतु प्रमाण कहलाता है। (न्यायवार्तिक) सच्चे ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। (न्याय दीपिका)

आयुर्वेद में परीक्षा शब्द का व्यवहार

प्रमाण सम्बन्धी उपर्युक्त लक्षणों से प्रमाण का अर्थ एवं स्वरूप स्पष्ट होता है। प्रमाण को ज्ञान का साधन निरूपित किया गया है। अतः वस्तु स्वरूप अथवा पदार्थों के स्वरूप के ज्ञान का साधन भी प्रमाण ही है। प्रमाण के द्वारा ही हम पदार्थों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। प्रमाण के लिए सामान्यतः निम्न पर्याय उपलब्ध होते हैं—**"उपलब्धि साधनं ज्ञानं परीक्षा प्रमाणमित्यर्थान्तरं समाख्यानि वचन-सामर्थ्यात्।"** इन पर्यायवाची शब्दों में परीक्षा शब्द महत्वपूर्ण एवं उपयोगी है। परीक्षा शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है— **'परीक्ष्यते यया बुद्ध्या सा परीक्षा'** (गंगाधर) अर्थात् जिस बुद्धि के द्वारा परीक्षा की जाती है वह परीक्षा कहलाती है। परीक्षा शब्द की व्याख्या और अधिक स्पष्ट रूप से निम्न प्रकार की गई है—**"परीक्ष्यते व्यवस्थाप्यते वस्तुस्वरूपमनयेति परीक्षा"**- चक्रपाणिदत्त। अर्थात् जिसके द्वारा वस्तुस्वरूप व्यवस्थित रूप से निरूपित किया जाता है वह परीक्षा कहलाती है। इस प्रकार प्रमाण और परीक्षा दोनों शब्द एक ही अभिप्राय के द्योतक हैं।

आयुर्वेद शास्त्र में प्रमाण के लिए परीक्षा शब्द का व्यवहार एवं प्रयोग प्रचुर रूप से हुआ है। क्योंकि आयुर्वेद में **'भिषग्द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्टयम्'** इस पाद चतुष्टय के ज्ञान के लिए तथा इनके अभ्यवहार के लिए परीक्षा ही एक उपयुक्त शब्द है। प्रमाण शब्द का जो वास्तविक अर्थ है वह आयुर्वेद शास्त्र में प्रतिपादित सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में समुचित रूप से उपयुक्त प्रतीत नहीं हुआ। प्रमाण शब्द की निष्पत्ति "माङ् माने" धातु से 'नापना' के अर्थ में हुई है। इसके अतिरिक्त प्रमाण शब्द की निरुक्ति में कतिपय आचार्यों के अनुसार करण में और कतिपय आचार्यों के अनुसार भाव में ल्युट् प्रत्यय होकर प्रमाण शब्द निष्पन्न होता है। इसीलिए कुछ आचार्य **'प्रमायाः करणं प्रमाणम्'** और कुछ आचार्य **'प्रमायाः भावः उत्पत्तिः प्रमाणम्'** इस प्रकार निरुक्ति या लक्षण करते हैं।

इसके विपरीत आयुर्वेद शास्त्र में किसी प्रपञ्च में नहीं पड़ते हुए महर्षि चरक ने परीक्षा शब्द का व्यवहार किया है जिसकी मूल प्रकृति **'ईक्ष् संदर्शने'** धातु है। आयुर्वेद शास्त्र में प्रत्यक्ष आदि के लिए प्रमाण शब्द की अपेक्षा परीक्षा शब्द का व्यवहार एवं प्रयोग एक ओर जहाँ सर्वथा प्रासंगिक एवं समीचीन है वहाँ दूसरी ओर अत्यन्त महत्वपूर्ण भी है। आयुर्वेद शास्त्र में प्रमाण के अर्थ में परीक्षा शब्द का व्यवहार निम्न उद्धरण द्वारा स्पष्ट है—**"द्विविधमेव खलु सर्वं सच्चासच्च। तस्य चतुर्विधा परीक्षा-आप्तोपदेश प्रत्यक्षमनुमानं युक्तिश्च।"** —चरक संहिता, सूत्रास्थान ११/७६

इसी प्रकार अन्यत्र भी परीक्षा शब्द का ही व्यवहार किया गया है—**"द्विविधा खलु परीक्षा ज्ञानवतां प्रत्यक्षमनुमानं च।"**

प्रमा-प्रमेय-प्रमाता और प्रमाण

वस्तु स्वरूप का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिये सामान्यतः प्रमा, प्रमेय, प्रमाता और प्रमाण इन चार अवयवों की अपेक्षा रहती है। ये चारों अवयव सम्मिलित रूप से वस्तु स्वरूप के प्रतिपादन में समर्थ होते हैं। इनमें से किसी एक का भी अभाव वस्तु स्वरूप के प्रतिपादन में बाधक हो सकता है। अतः प्रत्येक की संक्षिप्त जानकारी एवं परिचय प्रस्तुत करना आवश्यक है।

प्रमा—सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में ज्ञान शब्द का प्रयोग प्रचुर रूप से हुआ है। ज्ञान शब्द में जितना व्यापक अर्थ निहित है, उतना सम्भवतः उसके किसी पर्यायवाची शब्द में नहीं है। ज्ञान शब्द अपने आप में परिपूर्ण होने के कारण उसके क्षेत्र की कोई सीमा निर्धारण नहीं की जा सकती। ज्ञान व्यावहारिक भी होता है और अव्यावहारिक भी। ज्ञान सत्य भी होता है और भ्रमपूर्ण या मिथ्या भी। ज्ञान यथार्थ भी होता है और अयथार्थ भी। किन्तु प्रमा केवल यथार्थ ज्ञान (सत्य ज्ञान) की ही

ज्ञापक होती है। यह अयथार्थ ज्ञान से सर्वथा भिन्न एवं विपरीत होती है। अतः प्रमा शब्द का अभिप्रेतार्थ यथार्थ ज्ञान, यथार्थ अनुभव अथवा सम्यक् ज्ञान ही ग्रहण करना चाहिये। जैसा कि आचार्यों ने लिखा है—"**यथार्थानुभवः प्रमा**"—उदयनाचार्य। अर्थात् यथार्थ अनुभव को ही प्रमा कहते हैं। इसी भांति—"**तद्वति तत्प्रकारकानुभवः प्रमा**" अर्थात् जो वस्तु जैसी है उसमें उसी प्रकार का ज्ञान होना प्रमा कहलाता है। जैसे रस्सी में सर्प का भ्रम न होकर रस्सी का ही ज्ञान होना एवं सीप में चांदी का भ्रम न होकर सीप का ही ज्ञान होना यथार्थ अनुभव (ज्ञान) कहलाता है। यही प्रमा कहलाती है। रस्सी में सर्प का भ्रम एवं सीप में चांदी का भ्रम अयथार्थ अनुभव होने से अप्रमा कहलाती है।

प्रमेय—प्रमा के विषय को प्रमेय कहते हैं। प्रमा के योग्य अर्थात् जानने योग्य जो होता है वही प्रमेय कहलाता है। यही प्रमेय का साधारण अर्थ होता है। जिस वस्तु के विषय में हम ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, अथवा जो वस्तु हमारे जानने योग्य होती है वह प्रमेय कहलाती है। वस्तुस्वरूप का यथार्थ अनुभव अथवा किसी वस्तु का सम्यक् ज्ञान जब भी होगा वह किसी न किसी विषय का ही होगा। ज्ञान का व्यापार जिस विषय पर फलित होता है अर्थात् जिस विषय का यथार्थ अनुभव या सम्यक् ज्ञान होता है, यथार्थ अनुभव के उस विषय की संज्ञा प्रमेय होती है। इस दृष्टि से प्रमेय के अन्तर्गत पूर्वोक्त आयुर्वेदीय समस्त पदार्थों का समावेश हो जाता है क्योंकि समस्त पदार्थ जानने योग्य अथवा ज्ञान के विषय हैं।

आयुर्वेद शास्त्र में प्रतिपादित द्रव्यादि पदार्थ, पंच महाभूत-त्रिदोष-सप्तधातु-त्रिमल-त्रिसूत्र-त्रिस्कन्ध आदि सिद्धान्त तथा अन्य प्रतिपाद्य विषय प्रमेय हैं।

प्रमाता—उपर्युक्त प्रमेय (षट् पदार्थ) को प्रमा को ग्रहण करने वाला कोई अधिकारी अवश्य होगा। बिना अधिकारी के प्रमा का कोई प्रयोजन अथवा लाभ नहीं होता। अतः प्रमा का अधिकारी अथवा जो ज्ञान-प्राप्त करने वाला होता है वही 'प्रमाता' कहलाता है। द्रव्य विज्ञानीय प्रकरण के अन्तर्गत आत्मा निरूपण में यह स्पष्ट किया जा चुका है। "**ज्ञानाधिकरणं ह्यात्मा**" ज्ञान का अधिकरण आत्मा होता है। अर्थात् ज्ञान अथवा जानने की क्रिया केवल चेतन (आत्मा) में ही हो सकती है। चेतन (आत्मा) युक्त प्राणी (मनुष्य) ही ज्ञान का अधिकारी होने से ज्ञाता कहलाता है। ज्ञाता के बिना ज्ञान नहीं होता। अतः ज्ञाता ही ज्ञान अथवा प्रमा का आधार होने के कारण प्रमाता कहलाता है।

इसके अतिरिक्त आत्मा व्यतिरिक्त समस्त वस्तुओं के जड़ात्मक होने से वे ज्ञाता अथवा ग्रहीता नहीं बन सकती। अतः आत्मवान् पुरुष ही प्रमाता होता है।

प्रमाण—ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि सासात्यतः ज्ञान का साधन ही प्रमाण कहलाता है। जिसके द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाता है और जिसके अभाव में ज्ञानोपलब्धि होना सम्भव नहीं है वह प्रमाण कहलाता है। प्रमा, प्रमेय और प्रमाता इन तीनों की सार्थकता एवं उपयोगिता तब ही होती है जब 'प्रमाण' विद्यमान हो। क्योंकि 'प्रमाण' वह साधन है जिसके द्वारा प्रमाता विषय (प्रमेय) का यथार्थ ज्ञान (प्रमा) का लाभ करता है। जानने वाला (प्रमाता) एवं प्रमेय पदार्थों के उपस्थित रहने पर भी प्रमा (ज्ञान) का लाभ तब तक नहीं हो सकता जब तक प्रमा का लाभ कराने वाला कोई साधन न हो। क्योंकि प्रमाता में प्रमा का लाभ (ज्ञानोत्पत्ति) तब ही होता है जब उसका कोई साधन होता है। अतः प्रमा का वह साधन जिसके अभाव में प्रमाता एवं प्रमेय के विद्यमान होने पर भी प्रमा का लाभ (ज्ञान की प्राप्ति) न हो 'प्रमाण' कहलाता है। इसलिए प्रमा के करण (साधकतम कारण) को प्रमाण कहा गया है।

कार्यमात्र के अनेक कारण होते हैं। कुछ साधारण कारण होते हैं और कुछ असाधारण कारण। इसमें जो असाधारण कारण होता है उसे '**करण**' कहते हैं। असाधारण कारण को साधकतम कारण भी कहते हैं। इस प्रकार असाधारण कारण या साधकतम कारण दोनों ही '**करण**' कहलाते हैं और प्रमा का यह करण ही प्रमाण कहलाता है।

प्रमाण का महत्व—आयुर्वेद में प्रमाण की अत्यन्त उपयोगिता एवं महत्व है। क्योंकि आयुर्वेदीय पदार्थों का ज्ञान एवं वस्तु स्वरूप का विनिश्चय मात्र-प्रमाणाधीन ही है। प्रमाण केवल पदार्थों के स्वरूप का ही विनिश्चय नहीं कराते अपितु रोगों का ज्ञान प्राप्त करने एवं औषधियों का निर्णय करने में भी सहायक होते हैं। जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है आयुर्वेद में प्रमाण के लिए परीक्षा शब्द का भी व्यवहार किया गया है। जैसा कि महर्षि चरक के निम्न वचन से स्पष्ट है—

"**द्विविधमेव खलु सर्वं सच्चासच्च। तस्य चतुर्विधा परीक्षा।**"

—**चरक संहिता, सूत्रस्थान ११/१७**

यहां पर संसार के समस्त पदार्थों को सत् (भावरूप) एवं असत् (अभाव रूप) में निरूपित करते हुए उनके ज्ञान प्राप्ति के साधन चार प्रकार के बतलाये गए हैं।

प्रमाण का फल—प्रमेय की सिद्धि (पदार्थों का यथार्थ ज्ञान) प्रमाण के द्वारा होती है। अतः प्रमेय की सिद्धि होना ही प्रमाण का फल है। प्रमाण का मुख्य प्रयोजन है—यथार्थ अनुभव या सत्यानुरूपा प्रमा की उपलब्धि करना। हमें जिस विषय का यथार्थ ज्ञान होता है, वह ज्ञान अशेष, निःशंक एवं अबाधित होने के कारण प्रामाणिक होता है। प्रामाणिक ज्ञान सदैव उपादेय होता है। यही प्रमाण का फल है।

नैयायिकों के अनुसार प्रमाण का फल आत्मा संविति है। अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा जब किसी विषय का ज्ञान प्राप्त करते हैं तो उस ज्ञान के अनन्तर अनुव्यवसायात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है जो निश्चयात्मक होने के कारण वस्तु स्वरूप का विनिश्चय करने वाला होता है। इस ज्ञान सम्बन्ध से आत्मा में संविति उत्पन्न होती है तदनन्तर वह ज्ञान प्रामाणिक एवं यथार्थ माना जाता है। इसे निम्न उदाहरण के द्वारा भली भांति समझा जा सकता है। जैसे, चक्षु इन्द्रिय के द्वारा घट का प्रत्यक्ष होने पर आत्मा को यह यथार्थ अनुभव होता है कि 'घटमहं जानामि" यहां चक्षु इन्द्रिय के द्वारा घट का प्रत्यक्ष होने पर प्रत्यक्ष के अनन्तर "घटमहं जानामि" इस प्रकार का अनुव्यवसायात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है। इसके पश्चात् इस ज्ञान सम्बन्ध से उत्पन्न हुई आत्मा संविति के कारण ज्ञान की प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध हो जाती है। यही प्रमाण का फल है।

दार्शनिक विद्वानों के मतानुसार सृष्टि के दृष्ट एवं अदृष्ट सभी प्रकार के पदार्थों का ज्ञान प्रमाणों के द्वारा ही होता है। प्रमाणों के द्वारा उत्पन्न हुआ ज्ञान सर्वथा यथार्थ होता है। किन्तु अनेक बार साधनों के कारण भूत प्रमाण के अभाव में अयथार्थ ज्ञान भी होता है जो वस्तु स्वरूप के विनिश्चय में बाधक होता है। अतः ऐसी स्थिति में प्रमाण के द्वारा यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर वस्तु के यथार्थ स्वरूप का विनिश्चय करना चाहिए। यही प्रमाणों का फल है।

प्रमाणों की संख्या— पदार्थों के ज्ञान के साधनभूत प्रमाणों की संख्या के विषय में विभिन्न दर्शनों एवं दार्शनिक विद्वानों में मतैक्य नहीं है। अपने-अपने सिद्धान्त के अनुसार जिस दर्शन अथवा दार्शनिक विद्वान को जितने प्रमाणों की आवश्यकता प्रतीत हुई, उन्होंने उतने ही प्रमाणों को स्वीकार किया। अतः विभिन्न दार्शनिक विद्वानों ने स्वशास्त्र सिद्धान्तानुसार प्रमाणों की संख्या एक से दस तक स्वीकार की है। प्रमाणों की संख्या के विषय में विभिन्न दार्शनिक विद्वानों एवं दर्शनों के मत निम्न प्रकार हैं—

१. चार्वाक दर्शन ने केवल एक ही प्रमाण स्वीकार किया है। चार्वाक दर्शन के मतानुसार वस्तु स्वरूप के यथार्थ ज्ञान का साधन केवल प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण में उसकी आस्था नहीं है।

२. जैन, बौद्ध और वैशेषिक दर्शन पदार्थों एवं तत्वों के सम्यक् ज्ञान के लिए केवल दो प्रमाणों को ही स्वीकार करते हैं। उनके मतानुसार प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणों के द्वारा संसार के समस्त प्रमेयों की सिद्धि हो जाती है। अतः प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणों के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है।

३. सांख्य दर्शन, योग दर्शन एवं रामानुजाचार्य उपर्युक्त दो प्रमाणों के अतिरिक्त तीसरा प्रमाण 'शब्द' भी मानते हैं। इस प्रकार वे प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द— इन

तीन प्रमाणों को स्वीकार कर इन्हें ही प्रमेय सिद्धि का साधन स्वीकार करते हैं। नैयायिकों का एक वर्ग जो जरन्नैयायिक के नाम से जाना जाता है वह भी इन्हीं तीनों प्रमाणों का समर्थन करता है।

४. नैयायिकों के शेष दोनों वर्ग अर्थात् अर्वाचीन और प्राचीन नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द के अतिरिक्त चतुर्थ प्रमाण उपमान को स्वीकार कर प्रमाणों की संख्या चार मानते हैं। न्याय दर्शन में स्वीकृत इन चार प्रमाणों का समर्थन माहेश्वर सम्प्रदाय वालों ने भी किया है।

५. मीमांसकों का एक वर्ग जो प्रभाकर मतानुयायी अथवा प्रभाकर मीमांसक समझे जाते हैं, उपर्युक्त चार प्रमाणों के अतिरिक्त पांचवां प्रमाण **'अर्थापत्ति'** अथवा 'अर्थ प्राप्ति' नाकक स्वीकार करते हैं। इस प्रकार ये विद्वान् कुल पांच प्रमाण स्वीकार करते हैं।

६. मीमांसकों का दूसरा वर्ग जो कुमारिल भट्ट के मत का अनुसरण करता है या भट्ट मीमांसक के नाम से जाना जाता है। उपर्युक्त पांचों प्रमाणों के साथ-साथ छठा प्रमाण **"अनुपलब्धि"** या **"अभाव"** को भी स्वीकार करता है। वेदान्ती लोग भी इन्हीं छः प्रमाणों को स्वीकार करते हैं।

७. पौराणिक लोग उपर्युक्त छः प्रमाणों का समर्थन करते हुए 'सम्भव' तथा 'एतिह्य' नामक दो प्रमाणों को और जोड़कर कुल आठ प्रमाणों के द्वारा वस्तु स्वरूप का विवेचन करते हैं।

८. तान्त्रिक लोग उपर्युक्त आठ प्रमाणों को स्वीकार करते हुए नौवां प्रमाण **'चेष्टा'** नामक मानते हैं और इनके द्वारा अपने मत का प्रतिपादन करते हैं।

९. कुछ अन्य विद्वान एवं दार्शनिक उपर्युक्त नौ प्रमाणों के अतिरिक्त दसवां 'परिशेष' नामक प्रमाण भी मानते हैं। उनके मतानुसार प्रमाणों की संख्या दस होती है।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न दर्शनों एवं विद्वानों ने अपने मत और सिद्धान्त के अनुसार प्रमाणों की भिन्न-भिन्न संख्या एक से दस तक स्वीकार की है। जो दर्शन कम से कम प्रमाणों को मानकर उनके द्वारा वस्तु-स्वरूप या पदार्थों का विनिश्चय करते हैं वे दर्शन अन्य दर्शनों या विद्वानों के द्वारा स्वीकृत अधिक अन्य प्रमाणों का स्वमत सम्मत प्रमाणों में ही अन्तर्भाव कर लेते हैं। जैसे सांख्य, योग और आयुर्वेद दर्शन के विद्वान अर्थापत्ति तथा सम्भव नामक प्रमाणों का अन्तर्भाव अनुमान में, अभाव का समावेश प्रत्यक्ष और अनुमान में तथा एतिह्य नामक प्रमाण का अन्तर्भाव शब्द प्रमाण और आप्तोपदेश नामक प्रमाण में कर लेते हैं। इसी प्रकार जैन, बौद्ध एवं वैशेषिक दर्शन तीन से दस तक सभी प्रमाणों को प्रत्यक्ष और अनुमान के अन्तर्गत मान लेते हैं।

आयुर्वेद सम्मत प्रमाण—आयुर्वेदीय सिद्धान्तों का अपना विशिष्ट महत्व एवं उद्देश्य है। यहां संक्षेप में उन साधनों या प्रमाणों की संख्या का उल्लेख किया जायेगा जिनके द्वारा वे सिद्धान्त जाने जाते हैं। आयुर्वेदीय स्वतन्त्र मौलिक दर्शन होने के कारण आयुर्वेद के द्वारा सम्मत स्वतन्त्र प्रमाणों की संख्या भी है। क्योंकि उन प्रमाणों के द्वारा ही शरीर के विभिन्न अवयवों और उन पर क्रिया करने वाले आहार द्रव्य-औषध द्रव्य आदि का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। इसके अतिरिक्त उन्हीं प्रमाणों के द्वारा शरीर को विकारग्रस्त करने वाले कारणों, रुग्णावस्था में व्यक्त होने वाले विभिन्न लक्षणों और शरीर में उत्पन्न हुए रोगों का शमन करने वाली चिकित्सा का भी ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

आयुर्वेदीय ग्रंथों में सामान्यतः त्रिविध प्रमाणों पर ही विशेष जोर दिया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसके लिए आयुर्वेद के आचार्यों ने विशेषतः आत्रेय सम्प्रदाय के अनुयायियों ने त्रिविध प्रमाणों के प्रतिपादन में सांख्य, योग, एवं रामानुज के मत का ही अनुसरण किया है। यथा—**त्रिविधं खलु रोगविशेषज्ञानं भवति। तद्यथा—आप्तोपदेशः प्रत्यक्षमनुमानं चेति**—(चरक संहिता, विमान स्थान अ. ३)—अर्थात् रोग-विशेष को जानने के तीन उपाय होते हैं। जैसे—आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष और अनुमान।

इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं आवश्कतानुसार केवल दो प्रमाण ही स्वीकृत किये गये हैं। किन्तु बाद में वहाँ भी तीन प्रमाण स्वीकृत कर अपने मत का प्रतिपादन किया गया है। यथा—

"द्विविधं खलु रोगविशेषविज्ञानं भवति। प्रत्यक्षमनुमानञ्चेति सहाप्तोपदेशेन त्रिविधमपि।"

अर्थात् रोग विशेष के ज्ञान के दो साधन होते हैं। प्रत्यक्ष और अनुमान। आप्तोपदेश के साथ तीन साधन भी होते हैं। इसी प्रकार—

द्विविधं खलु परीक्षा ज्ञानवतां प्रत्यक्षमनुमानं च। एतद्धि द्वयमुपदेशश्च परीक्षा स्यात्। एवमेषा द्विविधा परीक्षा त्रिविधा वा सहोपदेशेन।

—चरक संहिता, विमान स्थान ८/८३

अर्थात् ज्ञानवान् विद्वानों के लिए परीक्षा दो प्रकार की होती है—१. प्रत्यक्ष और २. अनुमान।

उपर्युक्त दो परीक्षा और आप्तोदेश ये तीन परीक्षाएँ भी होती हैं। इस प्रकार द्विविध परीक्षा अथवा आप्तोपदेश सहित त्रिविध परीक्षा होती है।

आयुर्वेद में अन्यत्र महर्षि चरक ने आवश्यकतानुसार चतुर्विध परीक्षा का अनुमोदन करते हुए चार प्रमाणो को भी स्वीकृत किया है। यथा—

द्विविधमेव खलु सर्वं सच्चासच्च। तस्य चतुर्विधा परीक्षा—आप्तोपदेशः प्रत्यक्षम् अनुमानं युक्तिश्चेति। **—चरक संहिता सूत्र स्थान ११/१७**

अर्थात् इस पाँच भौतिक जगत् में सभी वस्तुएँ दो भागों में विभक्त हैं—१. सत् और २. असत्। इन दोनों की परीक्षा चार प्रकार से होती—१. आप्तोपदेश २. प्रत्यक्ष ३. अनुमान और ४. युक्ति।

यहां पर यद्यपि चार प्रकार के प्रमाण माने गये हैं। किन्तु आगे चल कर मुख्य रूप से तीन प्रमाणों को ही स्वीकृत किया गया है। वहाँ पर चौथे युक्ति प्रमाण को स्वतन्त्र रूप से न मानकर युक्ति प्रमाण को अनुमान का अनुग्राहक होने से उसे पृथक् स्वीकार न कर **"अनुमानं खलु तर्को युक्त्यपेक्षः"** अनुमान का यह लक्षण बतलाकर युक्ति का अनुमान के अन्तर्गत ही अन्तर्भाव कर लिया है। इसके अतिरिक्त आयुर्वेद में महर्षि चरक ने एक स्थान पर स्वतन्त्र रूपेण उपमान प्रमाण का लक्षण निर्देश पूर्वक पाँचवें प्रमाण के रूप उसके अस्तित्व का प्रतिपादन किया है। किन्तु उसे भी अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत समाविष्ट कर प्रमाणों की संख्या को केवल तीन तक ही सीमित रखा। इस प्रकार चरक में मुख्य रूप से तीन प्रमाण ही स्वीकृत किए गए हैं। आयुर्वेदीय दृष्टि से यही मत सर्वाधिक ग्राह्य है।

महर्षि सुश्रुत ने प्रमाणों के विषय में यद्यपि अपना कोई स्वतन्त्र मत व्यक्त नहीं किया है। किन्तु एक स्थान पर भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत प्रभृति शिष्यों को उपदेश देते हुए चतुर्विध प्रमाण का निर्देश नाम मात्र किया है। यथा **"तस्यांगवरमाद्य प्रत्यक्षागमानुमानोपमानैरविरुध्यममानमुपधारय"**— सु. सू. १/१६ अर्थात् उस आयुर्वेद के सर्वश्रेष्ठ और आद्य अंग (शल्यतन्त्र) का मैं प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान इन चार प्रमाणों से विरोध न करते हुए जो उपदेश कर रहा हूं उसे तुम लोग धारण करो। यहां सुश्रुत ने जिन चार प्रमाणों का कथन किया है वह सम्भवतः महर्षि गौतम के मत का अनुसरण करते हुए किया है। क्योंकि न्यायसूत्र में **"प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि।"** इन चार प्रमाणों को स्वीकार किया गया है, किन्तु आयुर्वेद में उपमान प्रमाण का पृथक् निर्देश करते हुए भी उसे अनुमान के अन्तर्गत ही माना गया है। अतः मूल रूप से प्रमाणों की संख्या केवल तीन है। इस प्रकार तीन प्रमाणों को स्वीकार कर आयुर्वेद ने स्पष्टतः सांख्य एवं योग दर्शन के मत का अनुसरण करते हुए उन्हें स्वीकार कर स्वमत का प्रतिपादन किया है। अन्य समस्त प्रमाणों का अन्तर्भाव इन्हीं तीन प्रमाणों में करते हुए आयुर्वेद ने उनकी पृथक् उपादेयता को स्वीकार नहीं किया और प्रमाण के क्षेत्र में अपनी स्वतन्त्र स्थिति स्थापित करते हुए अपना स्वतन्त्र मन्तव्य व्यक्त किया।

स्वतः प्रामाण्य और परतः प्रामाण्य

प्रमाण के द्वारा पदार्थ या वस्तु स्वरूप को जिस रूप में जाना जाता है उसका उसी रूप में प्राप्त होना अर्थात् प्रतिभात विषय का अव्यभिचारी होना प्रामाण्य कहलाता हैं। यह प्रमाण का धर्म है। इसकी उत्पत्ति उन्हीं कारणों से होती है जिन कारणों से प्रमाण उत्पन्न होता है। इसी तरह अप्रामाण्य भी अप्रमाण के कारणों से ही उत्पन्न होता है। प्रामाण्य की मर्यादा के सम्बन्ध में सभी दर्शनकारों में मतैक्य नहीं है। इसके परिणाम स्वरुप स्वतः प्रामाण्य वाद एवं परतः प्रामण्यवाद का जन्म हुआ।

इसमें स्वतः प्रामाण्यवाद मीमांसकों को अभीष्ट है। स्वतः का अर्थ है अपने आप और प्रामाण्य का अर्थ है प्रमाणता या प्रमाणित होना। स्वतः प्रामाण्य का अर्थ हुआ जो स्वतः (अपने आप) प्रमाणित हो जिसे प्रमाणित करने के लिए किसी प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं रहती है, वह अपने आप में प्रमाण भूत होता है। इस अर्थ में वेद का ग्रहण किया जाता है। मीमांसक वेद को अपौरुषेय मान कर उसे स्वतः प्रमाण कहते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि वेद, धर्म और इसके नियम उपनियम आदि का प्रति पादन करने वाले होते हैं। उनके मतानुसार वे ईश्वरकृत या ईश्वरमूलक नहीं हैं। अतः वेद स्वतः प्रमाण है या वेद की प्रमाणता स्वतः है।

इसी प्रकार आप्तवचन भी स्वतः प्रमाण माने गए हैं। क्योंकि आप्त पुरुष रज और तम दोषों से सर्वथा निर्मुक्त होते हैं। उनका ज्ञान अव्याहत होता है। यथार्थ वक्ता होने के कारण उनके वचनों को स्वतः प्रमाण माना गया है। उनके वचनों को प्रमाणित करने के लिए किसी प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं है।

इसके विपरीत नैयायिकों को परतः प्रामाण्य अभीष्ट है। क्योंकि वे वेद को ईश्वर कृत मानते हैं। दूसरों या अन्य के द्वारा रचित होने से वेद का प्रामाण्य परतः माना गया है। परतः प्रामाण्य के अनुसार किसी भी विषय या वस्तु की प्रमाणता को पृथक् से सिद्ध किया जाना आवश्यक है। परतः याने दूसरों से और प्रमाण्य याने प्रमाणित होना। अर्थात् दूसरों से प्रमाणित किया जाना परतः प्रमाण्य होता है।

वस्तुतः यदि देखा जाय तो प्रमाण्य हो या अप्रामाण्य, उसकी उत्पति पर से ही होती है। ज्ञाप्ति अभ्यास दशा में स्वतः और अनभ्यास दशा में किसी स्वतः प्रमाण भूत ज्ञानान्तर से याने परतः होती है। जैसे जिस स्थान से व्यक्ति परिचित होता है उस स्थान में स्थित जलाशय आदि में होने वाला ज्ञान या मरीचि ज्ञान अपने आप ही अपनी प्रमाणता या अप्रमाणता बतला देता है, किन्तु अपरिचित स्थान में विद्यमान जलाशय के ज्ञान की प्रमाणता पनिहारिनों के द्वारा पानी भरकर लाया जाना, मेंढकों का टर्राना या कमल की गन्ध आना आदि जल के अविनाभावी स्वतः प्रमाण भूत ज्ञानों से ही होती है। इसी प्रकार जिस वक्ता के गुण-दोषों का हमें पहले ही ज्ञान है उसके वचनों की प्रमाणता और अप्रमाणता का ज्ञान तो हमें स्वतः ही हो जाता है, किन्तु अन्य के वचनों की प्रमाणता के लिए हमें दूसरे संवाद आदि कारणों की अपेक्षा होती है।

दशम अध्याय

प्रत्यक्ष प्रमाण निरुपण

प्रत्यक्ष ज्ञान का जो करण या साधन होता है वह प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है। प्रत्यक्ष शब्द का निर्माण प्रति + अक्ष इन दो शब्दों के योग से हुआ है। उसकी व्युत्पत्ति के अनुसार "**प्रति अक्ष्णोः**" अर्थात् जो आंखों के समक्ष हो अथवा '**अक्षमक्षं प्रतीत्योत्पद्यते इति प्रत्यक्षम्**" अर्थात् चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वक् इन इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष कहलाता है। उपर्युक्त इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न हुआ ज्ञान निश्चयात्मक, निर्विवाद एवं निरपेक्ष होता है, अतः निश्चयात्मक अथवा निर्विवाद ज्ञान जिसका चक्षु आदि के द्वारा प्रत्यक्ष किया जाता है उसमें इन्द्रिय ही व्यापारवद् असाधारण कारण होती है। अतः इन्द्रिय ही प्रत्यक्ष ज्ञान का साधकतम या प्रधान कारण (करण) होती है। इन्द्रिय और मन का पारस्परिक संयोग होने से ही इन्द्रियों का व्यापार होता है। इसी भांति मानस प्रत्यक्ष के लिए आत्मा और मन का संयोग अपेक्षित है। यही प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है।

लक्षण

"प्रत्यक्षं तु खलु तद् यत् स्वयमिन्द्रियैर्मनसा चोपलभ्यते।"

—चरक संहिता, विमानस्थान ४/४

अर्थ—इन्द्रियों और मन के द्वारा स्वयं जो ज्ञान उपलब्ध होता है वह प्रत्यक्ष कहलाता है।

"अथ प्रत्यक्षं—प्रत्यक्षं नाम तद्यदात्मना चेन्द्रियैश्च स्वयमुपलभ्यते, तत्रात्म-प्रत्यक्षाः सुखदुखेच्छाद्वेषादयः, शब्दादयस्त्विन्द्रियप्रत्यक्षाः।"

—चरक संहिता, विमान स्थान ८/३९

प्रत्यक्ष वह कहलाता है जो आत्मा और इन्द्रियों के द्वारा स्वयं उपलब्ध होता है। इसमें आत्मा के द्वारा प्रत्यक्ष होने वाले सुख, दुख, इच्छा, द्वेष आदि भाव तथा इन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष होने वाले शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध भाव होते हैं।

"इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्।"

इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ (इन्द्रियों के विषयों) के सन्निकर्ष (सम्बन्ध) से जो ज्ञान होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। यह ज्ञान तात्कालिक, निश्चित, यथार्थ और संशय रहित होना चाहिए।

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात्प्रवर्तते ।
व्यक्ता तदात्वे या बुद्धि प्रत्यक्षं सा निगद्यते ।।

—चरक संहिता सूत्रस्थान ११/२०

आत्मा, इन्द्रिय, मन और इन्द्रियों के विषय इनका सम्बन्ध जब (एक विशेष क्रम से) होता है और उस काल में जो निश्चयात्मिका बुद्धि (ज्ञान) उत्पन्न होती है वही 'प्रत्यक्ष' प्रमाण कहलाता है। अर्थात् आत्मादि चतुष्टय के सन्निकर्ष से तत्काल जो यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है, वही प्रत्यक्ष है और वही प्रमाण है।

ज्ञानं यदिन्द्रियार्थानां सन्निकर्षात्प्रवर्तते ।।
प्रत्यक्षं षड्विधं तत्तु श्रोत्रजादिप्रभेदतः ।।

इन्द्रिय और इन्द्रियों के विषयों के सन्निकर्ष से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष कहलाता है और श्रोत्रज आदि भेद से वह छह प्रकार का होता है।

"प्रत्यक्षमिति यत्किञ्चिदेवार्यस्य साक्षात्कारिक ज्ञानं तदेव प्रत्यक्षम् ।"

—डल्हणाचार्य

जो कुछ विषय का साक्षात्कारिक ज्ञान है वही प्रत्यक्ष है।

"तत्र विशदज्ञानात्मकं प्रत्यक्षम् । यस्मिन् ज्ञाने ज्ञानान्तरस्य व्यवधानं न भवति, विशेषवत्तया प्रतिभासनं च भवति तत्प्रत्यक्षम् ।" **—जैन दर्शन सार**

विशद ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। जिस ज्ञान में दूसरे ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती और विशेष रूप से प्रतिभास होता है वह प्रत्यक्ष कहलाता है।

यहाँ पर आत्मा, मन, इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ इनका सन्निकर्ष आवश्यक है। जब तक इनका सन्निकर्ष नहीं होगा तब तक प्रत्यक्ष ज्ञान की उपलब्धि नहीं होगी। इन चारों द्रव्यों का संयोग एक क्रम विशेष के द्वारा होता है। अर्थात् सर्व प्रथम आत्मा का संयोग मन के साथ होता है। आत्मा संयुक्त मन का संयोग इन्द्रिय के साथ और आत्मा संयुक्त समनस्क इन्द्रिय का संयोग इन्द्रियार्थ (अपने विषय) के साथ होता है। तदनन्तर प्रत्यक्ष ज्ञान की उपलब्धि होती है। उपर्युक्त आत्मादि चतुष्टय का संयोग क्रम इतनी तीव्र गति से होता है कि सामान्यतः हमें उसकी प्रतीति नहीं हो पाती। वैसे तो इन्द्रियों का अपने विषय के साथ संयोग सदैव बना रहता है। किन्तु जब तक उस इन्द्रिय के साथ सचेतन मन का संयोग नहीं होता तब तक इन्द्रियां अपने विषय को ग्रहण करने में समर्थ नहीं होतीं। इसी तथ्य का प्रतिपादन महर्षि चरक ने निम्न प्रकार से किया है—**"मनः पुरस्सराणीन्द्रियाण्यर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति ।"—चरक संहिता, सूत्र स्थान** ६/७। अर्थात् मन से संयुक्त इन्द्रियां ही अपने विषय को ग्रहण करने में समर्थ होती हैं।

इससे यह स्पष्ट होता है कि

प्रत्यक्ष ज्ञान में कारण होता है। इसका अभिप्राय यह है कि इन्द्रिय और मन रूप साधन के द्वारा विषयों का ज्ञान आत्मा को होता है। क्योंकि पदार्थों के ज्ञान का अधिकारी केवल आत्मा ही है। मन और इन्द्रिय नहीं; ये दोनों तो साधन मात्र हैं। मन तो केवल इन्द्रियों को अपना विषय ग्रहण करने के लिए प्रेरित करता है और इन्द्रियां केवल अपने विषयों का ग्रहण मात्र करती हैं। उन विषयों का यथार्थ ज्ञान केवल आत्मा को ही होता है। इसलिए ज्ञान का अधिकारी केवल आत्मा को ही माना गया है। जैसा कि शास्त्र में प्रतिपादित है—**ज्ञानाधिकरणं ह्यात्मा ।"**

इन्द्रियों की अविमलता अथवा व्यवधान आदि अनेक कारणों से कई बार भ्रमात्मक या संशयात्मक या विपरीत मिथ्या ज्ञान भी उत्पन्न हो जाता है। जैसे-रस्सी में सर्प का ज्ञान (भ्रमात्मक ज्ञान), रेगिस्थान में मृग मरीचिका या समुद्र तट पर पड़ी हुई सीप में रजत का ज्ञान (विपरीत ज्ञान), सायंकालीन अन्धकार के कारण नातिदूरस्थ स्थाणु में पुरुष का ज्ञान (संशयात्मक ज्ञान) इत्यादि। इस प्रकार के समस्त मिथ्या ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं माना गया है। अतः उन मिथ्या ज्ञान का निवारण करने के लिए महर्षि गौतम ने प्रत्यक्ष का निम्न विशेषण विशिष्ट लक्षण बतलाया है—

"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारी व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ।"

न्याय दर्पण १-१-४

अर्थात् इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला अव्यपदेश्य, अव्यभिचारी (व्यभिचार रहित-निर्दोष) और व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) ज्ञान ही प्रत्यक्ष कहलाता है।

यहां पर यह समझ लेना चाहिये कि प्रत्येक इन्द्रिय का स्वविषय के साथ सम्बन्ध होना प्रत्यक्ष ज्ञान में विशिष्ट कारण है।

ज्ञानोत्पत्ति प्रकार

ऊपर यह स्पष्ट किया गया है कि आत्मा, इन्द्रिय, मन और इन्द्रियों के रूपादि विषयों के सम्बन्ध से तत्काल जो निश्चयात्मक ज्ञान होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। उस प्रत्यक्ष में ज्ञानोत्पत्ति कैसे होती है? इस पर आत्मा के प्रकरण में विस्तार पूर्वक प्रकाश डाला जा चुका है। (देखिये पृष्ठ ६३ पर), तथापि, संक्षेपतः यहां इतना ही बतलाना पर्याप्त होगा कि सर्वप्रथम आत्मा का मन के साथ संयोग होता है, तत्पश्चात् मन इन्द्रियों के साथ संयुक्त होता है और फिर इन्द्रियां स्वविषय के साथ संयोजित होती हैं। इसके परिणाम स्वरूप आत्मा को ज्ञान होता है। समस्त प्रकार का ज्ञान उपर्युक्त क्रम से ही होता है।

ज्ञानोत्पत्ति के उपर्युक्त क्रम में (आत्मा संयुक्त) मनोयुक्त इन्द्रियां अपने विषय को ग्रहण करती हैं। उस समय जो ज्ञान होता है वह वस्तु मात्र होता है। इसे आलोचन

निर्विकल्पक ज्ञान कहते हैं। तदनन्तर मन के द्वारा कल्पना की जाती है। अर्थात् अमुक वस्तु ऐसी है या वैसी है, हेय है या उपादेय है—इस प्रकार की कल्पना मन करता है। तत्पश्चात् उस विषय में जो निश्चयात्मिका बुद्धि उत्पन्न होती है उस निश्चयामिका बुद्धि से पुरुष बुद्धि पूर्वक कुछ कहने या करने का निश्चय करता है जो ज्ञान का परिणाम है। ज्ञान हुए बिना मनुष्य का कुछ कहने या करने में प्रवृत्त होना सम्भव नहीं है।

यहां यह भी समझ लेना चाहिए कि प्राणि की जो बुद्धि जिस इन्द्रिय में आश्रित होकर प्रवृत्त होती है वह बुद्धि या ज्ञान उसी इन्द्रिय के द्वारा निर्दिष्ट किया जाता है तथा मन से उत्पन्न बुद्धि मन के द्वारा निर्दिष्ट होती है। जैसे चक्षुओं से प्रवृत्त ज्ञान चक्षु बुद्धि या चाक्षुष ज्ञान कहलाताता है। श्रोत्रों के द्वारा प्रवृत्त बुद्धि को श्रोत्र बुद्धि या श्रोत्र ज्ञान कहते हैं। इसी प्रकार अन्य ज्ञानेन्द्रियों से प्रवृत्त ज्ञान भी जानना चाहिए।

इन्द्रियों का स्वरूप एवं महत्व

इद्रियां मानव शरीर के अत्यन्त आवश्यक एवं उपयोगी अवयुव हैं। इन्द्रियों का सम्बन्ध शरीर के साथ केवल इतना है कि वे शरीर में स्थित हैं, किन्तु इनका सम्बन्ध शरीर की अपेक्षा आत्मा से अधिक है। क्योंकि ये ही इन्द्रियां आत्मा को ज्ञान कराने में सहायक होती हैं। आत्मा को बाह्य विषयों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए मन एवं इन्द्रियों की सहायता लेना अपेक्षित रहता है। क्योंकि बिना साधन के साध्य की सिद्धि सम्भव नहीं है। इन्द्रिय रूप साधन के बिना आत्मा एकाकी रूप से विषयों का ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ है। वह इन्द्रियों की सहायता से ही विविध विषयों को ग्रहण कर उनका ज्ञान प्राप्त करता है। इसलिए इन्द्रियों को आत्मा का साधन कहा गया है।

इससे सभी प्रकार के ज्ञान में इन्द्रियों का महत्व एवं उपयोगिता सुस्पष्ट है। प्रत्यक्ष ज्ञान में तो उसका और भी अधिक महत्व है। इन्द्रियों के अभाव में प्रत्यक्ष ज्ञान का होना सर्वथा असम्भव है। यह ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि आत्मा इन्द्रिय रूप साधन के माध्यम से ही ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ है। इसीलिए यहाँ इन्द्रियों के स्वरूप पर प्रकाश डाला जा रहा है।

इन्द्रियों का श्रेणी विभाजन एवं संख्या

सामान्यतः इन्द्रियों की संख्या ग्यारह है। अपने स्वतन्त्र कर्म के अनुसार प्रत्येक इन्द्रिय पृथक् पृथक् होती है। किन्तु उन्हें मुख्य रूप से तीन श्रेणियों में रखा गया है—

१. ज्ञानेन्द्रिय
२. कर्मेन्द्रिय
३. उभयेन्द्रिय

१. ज्ञानेन्द्रिय—इनकी संख्या पांच है। यथा—१. श्रोत्र, २. त्वक्, ३. चक्षु, ४. रसना और ५. घ्राण। इन पांचों ज्ञानेन्द्रियों को बुद्धीन्द्रिय भी कहा जाता है। ये इन्द्रियां विभिन्न बाह्य विषयों को ग्रहण कर उनका ज्ञान कराने में सहायक होती हैं। किन्तु प्रत्येक इन्द्रिय का विषय नियत होने के कारण वे केवल अपने ही विषयों को ग्रहण कर उनका ज्ञान करती हैं। इन्हीं पांच इन्द्रियों के माध्यम से आत्मा को ज्ञानोपलब्धि होती है। अतः ज्ञान का साधन मुख्य रूप से ये पांच ज्ञानेन्द्रियां ही हैं।

२. कर्मेन्द्रिय—ये भी संख्या में पांच होती हैं। यथा १-वाक् २-हस्त, ३-पाद, ४-उपस्थ और ५-पायु। इन पाँच इन्द्रियों के द्वारा विभिन्न प्रकार के कर्म सम्पादित किए जाते हैं। प्रत्येक इन्द्रिय अपने अपने कर्म का साधन है। जिस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों के विषय नियत हैं उसी प्रकार कर्मेन्द्रियों के विषय (कर्म) भी नियत हैं। इन्हीं इन्द्रियों के द्वारा मनुष्य अन्यान्य चेष्टाओं को करने में समर्थ होता है।

३. **उभयेन्द्रिय**—यह संख्या में एक है। इसे मन कहा जाता है। मन को उभयेन्द्रिय माना गया है। क्योंकि यह ज्ञान कराने और कर्म करने दोनों में सहायक होता है। मन की प्रवृत्ति उभयमुख होने के कारण इसे उभयेन्द्रिय की संज्ञा दी गई है। मन की सहायता के बिना न तो ज्ञानेन्द्रियां ही अपने विषय का ग्रहण कर सकतीहैं और न ही कर्मेन्द्रियां किसी कर्म को करने में समर्थ होती हैं। मन की प्रवृत्ति ज्ञान और कर्म के अतिरिक्त नहीं है। यद्यपि उसके आधीन अनेक क्रोध, मान, माया, लोभ, शोक, काम आदि भाव होते हैं, तथापि इन्द्रियत्व की दृष्टि से वे भाव मन के विषय नहीं हैं। मन केवल ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का प्रेरक होने से उभयेन्द्रिय माना गया है। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त दसों इन्द्रियों की अपेक्षा मन में कुछ विशेषता रहती है। अतः इसे समान्य इन्द्रियों में परिगणित न कर उभयेन्द्रिय रूप से इसका अस्तित्व स्वीकार किया गया है। साथ ही, मन आत्मा को ज्ञान कराने का एक ऐसा साधन है जो अन्य इन्द्रियां नहीं बन सकती हैं। इन्द्रियां सामान्य रूप से जिन विषयों का ग्रहण करती हैं उनका ज्ञान मन के माध्यम से ही आत्मा तक पहुंचता है। अतः मन सामान्य इन्द्रियों से सर्वथा भिन्न आत्मा को ज्ञान कराने वाला एक प्रमुख साधन रूप एक स्वतन्त्र इन्द्रिय है। यह चूं कि ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों से सम्बद्ध रहता है, अतः इसे उभयेन्द्रिय माना गया है। इन्द्रियों के सम्बन्ध में महर्षि सुश्रुत का निम्न वचन दृष्टव्य है—"**तत्र पूर्वाणि पंच बुद्धीन्द्रियाणि, इतराणि च पंच कर्मेन्द्रियाणि, उभयात्मकं मनः।**"

इन्द्रियों के विषय

प्रत्येक इन्द्रिय का अपना अपना अलग विषय नियत होता है। प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय जिस पदार्थ का ज्ञान कराती है वही उसका नियत विषय होता है। श्रोत्रेन्द्रिय शब्द गुण को ग्रहण करती है और उसी का ज्ञान कराती है। अतः वही उसका नियत विषय है। इसी प्रकार त्वगिन्द्रिय का स्पर्श, चक्षु का रूप, रसना का रस और घ्राण का गन्ध नियत विषय है। इन पाँचों विषयों के अन्तर्गत ही संसार के समस्त विषय अथवा ज्ञेय पदार्थ समाविष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय अपने नियत विषय का ग्रहण करने के लिए सीमित एवं प्रतिबन्धित है।

इसी भांति कर्मेन्द्रियों का विषय कर्म करना है। प्रत्येक कर्मेन्द्रिय का विषय भी नियत होता है। अतः प्रत्येक कर्मेन्द्रिय केवल अपने नियत कर्म को करने में ही समर्थ है, अन्य को नहीं। एक कर्मेन्द्रिय अन्य कर्मेन्द्रिय के विषय (कर्म) को नहीं कर सकती। जैसे बोलने का कार्य केवल वाक् इन्द्रिय के द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है, अन्य हस्त, पाद आदि इन्द्रियों के द्वारा नहीं। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के विषयों को भी समझना चाहिए। कर्मेन्द्रियों में जो वक्तव्य अर्थात् जो कहने योग्य है वह कर्म वाक् इन्द्रिय का विषय है। मूत्र त्याग एवं मैथुन कर्म करना उपस्थ या शिश्नेन्द्रिय का विषय है तथा मल त्याग करना पायु या गुदेन्द्रिय का विषय है। इस प्रकार पाँचों ही कर्मेन्द्रियों के अपने अपने पृथक्-पृथक् विषय (कर्म) नियत हैं।

उपर्युक्त दस प्रकार के विषय पृथक् पृथक् रूप से एक एक इन्द्रिय के नियत हैं। विस्तार की दृष्टि से इन विषयों का क्षेत्र सीमित नहीं है। अतः इस दृष्टि से इन्द्रियों का विषय क्षेत्र भी सीमित नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक विषय के क्षेत्र का विस्तार इतना अधिक है कि उसे शब्दों में नहीं बाँधा जा सकता है। क्योंकि सुनने के लिए अनेक प्रकार के शब्द हैं, स्पर्श करने के लिए अनेक विषय हैं, देखने के लिए रूपवान् अनेक पदार्थ हैं, रसास्वादन करने के लिए विभिन्न रस वाले अनेक द्रव्य हैं, गन्ध विषय से युक्त अनेक द्रव्य हैं, इसी प्रकार अनेक कर्म हैं जो कर्मेन्द्रियों के द्वारा किए जाने योग्य हैं। इस प्रकार इन्द्रियों के विषयों का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है।

मन इन दसों प्रकार की इन्द्रियों के विषय में संलग्न होने का अधिकारी है। प्रत्येक विषय का ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रत्येक इन्द्रिय के साथ मन का संयोग अनिवार्य है। अन्यथा ज्ञानोपलब्धि होना संभव नहीं है। इसी प्रकार प्रत्येक कर्मेन्द्रिय के साथ मन का संयोग अपेक्षित है। अन्यथा कर्म होना संभव नहीं है।

इन्द्रियों का भौतिकत्व

सांख्य दर्शन में इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार से मानी गई है। उसके मतानु-

सार तामस् अहंकार के द्वारा तैजस् अहंकार की सहायता से ग्यारह इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। जैसे—**वैकारिकादहंकारात्तैजससहाय्यात्तल्लक्षणान्येवैकादशेन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते।"**

किन्तु आयुर्वेद में इन्द्रियों को अहंकारिक अर्थात् अहंकार से समुत्पन्न न मान कर पाञ्च भौतिक माना गया हैं। आयुर्वेद के मतानुसार इन्द्रियों की उत्पत्ति पंच महाभूतों से होती है। प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय में एक एक महाभूत की प्रधानता होती है जिससे वह इन्द्रिय अपने महाभूत के अनुसार ही विषय का ग्रहण करने में समर्थ होती है। महर्षि चरक ने स्पष्टता से इस तथ्य का प्रतिपदान किया है। जैसे—

एकैकाधिकयुक्तानि खादीनामिन्द्रियाणि तु।
पंचकर्मानुमेयानि येभ्यो बुद्धि प्रवर्तते॥

अर्थात् जिन के द्वारा बुद्धि की प्रवत्ति होती है, वे कर्म से अनुमान योग्य पांचों इन्द्रियां क्रमशः एक-एक महाभूत की अधिकता से युक्त होती हैं। अतः इन्द्रियों के विषय में आयुर्वेद में सांख्य दर्शन का अनुकरण न कर वैशेषिक दर्शन का अनुकरण किया गया है। वैशेषिक दर्शन, न्याय दर्शन और वेदान्त दर्शन के विद्वान इन्द्रियों को भौतिक ही मानते हैं। इसी आधार पर महर्षि चरक ने भी इन्द्रियों का भौतिकत्व प्रतिपादित किया है। उनके मतानुसार इन्द्रियां प्रत्यक्ष गम्य नहीं हैं। चाक्षुष आदि ज्ञान रूप अपने कर्मों से उनका अनुमान किया जाता है। जिस प्रकार छेदन भेदन आदि कर्म अपने करण या साधन के बिना नहीं हो सकते, उसी प्रकार मनुष्यों में चाक्षुष ज्ञान आदि भी करण के बिना नहीं हो सकता है। ये करण चक्षु आदि इन्द्रियाँ ही होती हैं।

चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियां पाञ्च भौतिक होती हैं अर्थात् प्रत्येक सूक्ष्म इन्द्रिय की रचना पांच महाभूतों के समवाय से हुई है। यद्यपि प्रत्येक इन्द्रिय में पाँचों महाभूत विद्यमान रहते हैं, तथापि एक-एक इन्द्रिय की रचना में एक एक महाभूत की अधिकता होती है। जैसे श्रोत्रेन्द्रिय में आकाश महाभूत, त्वगिन्द्रिय में वायु महाभूत, चक्षु इन्द्रिय में तेज महाभूत, रसना इन्द्रिय में अप् (जल) महाभूत और घ्राण इन्द्रिय में पृथ्वी महाभूत की अधिकता होती है। यही आशय महर्षि चरक के निम्न वचन से प्रकट होता—"**तत्रानुमानगम्यानां पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मकानामपि सतामिन्द्रियाणां तेजश्चक्षुषि खं श्रोत्रे क्षितिः घ्राणो आपोरसने स्पर्शनेऽनिलो विशेषेणोपपद्यते।**

महाभूतों की अधिकता के अनुसार जिस इन्द्रिय में जिस महाभूत की अधिकता होती है, उसी के अनुसार उसका व्यपदेश एवं अभिधान या नामकरण होता है। जैसे तेज की अधिकता से चक्षु को तैजस, पृथ्वी की अधिकता से घ्राण को पार्थिव, वायु की अधिकता से त्वक् को वायव्य, आकाश की अधिकता से श्रोत्र को नाभस तथा अप् (जल) की अधिकता से रसना को आप्य कहा जाता है। इसके अतिरिक्त जिस महाभूत की प्रधानता होती है वह उसी महाभूत के अनुरूप विषय को ग्रहण करने में

समर्थ होती है। जैसे श्रोत्र में आकाश महाभूत की अधिकता होने के करण श्रोत्रेन्द्रिय केवल आकाश महाभूत के प्रत्यात्मनियत गुण शब्द को ही ग्रहण करने में समर्थ होती है, अन्य का नहीं। इसी प्रकार त्वगिन्द्रिय का निर्माण (उत्पत्ति) वायु महाभूत के द्वारा होने के कारण वह केवल वायु महाभूत के प्रत्यात्मनियत गुण स्पर्श को ही ग्रहण करने में समर्थ है। चक्षु इन्द्रिय में तेज महाभूत की अभिव्यक्ति होने के कारण वह केवल तेज महाभूत के प्रत्यात्मनियत गुण रूप को ही ग्रहण कर सकता है। रसना इन्द्रिय में अप् महाभूत की प्रधानता होने से वह जल महाभूत के मुख्य गुण रस को ही ग्रहण करती है तथा पृथ्वी महाभूत से निर्मित होने वाली घ्राणेन्द्रिय केवल पृथ्वी महाभूत के मूलगुण गन्ध का ज्ञान कराने में ही समर्थ है। इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय की रचना जिस महाभूत से होती है उसी महाभूत के गुण के अनुसार वह इन्द्रिय अपने विषय का ग्रहण कर उसका ज्ञान कराती है।

महर्षि सुश्रुत ने भी इस तथ्य का स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि आयुर्वेद में इन्द्रियां और इन्द्रियों के अर्थ भौतिक ही वर्णित किए गए हैं। उन्होंने लिखा है—

"भौतिकानि चेन्द्रियाण्यायुर्वेदे वर्ण्यन्ते, तथेन्द्रियार्थाः।"

—सुश्रुत संहित/शरीस्थान १।१५

इन्द्रियों के भौतिकत्व में आयुर्वेदीय मत का समर्थन करते हुए महर्षि सुश्रुत ने निम्न कारण प्रस्तुत किए हैं—

इन्द्रियेणेन्द्रियार्थं तु स्वं स्वं गृह्णाति मानवः।
नियतं तुल्ययोनित्वान्नान्येनान्यमिति स्थितिः॥

—सुश्रुत संहिता, शारीर स्थान १/१५

मनुष्य इन्द्रिय के द्वारा अपने-अपने इन्द्रियार्थ को ही ग्रहण करता है। अर्थात् जिस इन्द्रिय का जो विषय है उस इन्द्रिय के द्वारा वह उसी विषय को ग्रहण करता है। क्योंकि इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ की तुल्य योनि होने से वे (इन्द्रियों के विषय) नियत हैं। अतः अन्य इन्द्रिय से अन्य विषय का ग्रहण नहीं किया जा सकता है—यही सिद्धान्त है।

इस श्लोक में इन्द्रियों को भौतिक मानने की स्थिति (सिद्धान्त) का वर्णन किया गया है। इस तत्व का विचार निम्न तीन तथ्यों के आधार पर किया जा सकता है—

१—सांख्य दर्शन के अनुसार पांचों इन्द्रियां अहंकारोत्पन्न हैं। एक ही कारण से उत्पन्न होने से पांचों इन्द्रियों का स्वरूप एक समान होना चाहिए। यदि यह तत्व ठीक हो तो एक इन्द्रिय से पाँचों प्रकार के इन्द्रियार्थों का ग्रहण होना चाहिए अथवा पाँचों इन्द्रियों से पांचों अर्थों का ग्रहण नियम विरहित होना चाहिए। या एकाध इन्द्रिय के न होने पर अथवा किसी एक इन्द्रिय के नष्ट हो जाने पर उसका कार्य

अन्य इन्द्रियों से होना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं होता। पांचों इन्द्रियों में अर्थ ग्रहण का नियम होता है। अतः यह कहा जा सकता है कि इन्द्रियां एक कारणोत्पन्न नहीं हैं। अर्थात् पांच प्रकार के अर्थों के लिए जैसे पांच इन्द्रियां हैं, वैसे ही पांच इन्द्रियों के उत्पादक पाँच उपादान कारण भी हैं।

२—श्रोत्र केवल शब्द को ही ग्रहण कर सकता है। शब्देतर अन्य अर्थों को ग्रहण करने में वह असमर्थ होता है। इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय के सम्बन्ध में अनुभव है। इससे यह सिद्ध होता है कि इन्द्रियों का विषय ग्रहण करने का कार्य नियम युक्त होता है। यह कार्य तब ही हो सकता है जब प्रत्येक इन्द्रिय की प्रकृति (योनि-उपादान कारण) भिन्न-भिन्न हो। इसीलिए आयुर्वेद में प्रत्येक इन्द्रिय का उपादान कारण भिन्न भिन्न याने एक एक महाभूत माना गया है।

३—यह स्पष्ट किया जा चुका है कि शब्द स्पर्श-रूप-रस-गन्ध ये क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी के गुण हैं। शब्द आकाशीय गुण है और उसका ग्रहण केवल श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा होता है। गंध पार्थिव गुण है और उसका ग्रहण केवल घ्राणेन्द्रिय के द्वारा होता है। इससे यही अनुमान होता है कि शब्द और श्रोत्र, रूप और चक्षु, रस और जिह्वा, स्पर्श और त्वचा तथा गन्ध और घ्राण ये 'तुल्य योनि' (एक ही महा भूत वाले) होते हैं।

इसके अतिरिक्त इन्द्रियों के भौतिकत्व की एक विशेषता यह होती है कि इन बुद्धीन्द्रियों के उपादान कारण महाभूत पञ्चीकृत होते हैं। जैसे घ्राणेन्द्रिय का उपादन कारण महाभूत केवल पृथ्वी न होकर पंच महाभूतों का समुदाय है, जिसमें पृथ्वी तत्व की अधिकता होती है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के विषय में भी समझना चाहिए।

पंच पंचक

सामान्यतः पांच वस्तुओं के समूह को पंचक हैं। इसे वर्ग भी कहा जाता है। एक वर्ग या पंचक एक पंचक कहलाता है। दो वर्ग या पंचक दो पंचक कहलाते हैं।

इसी प्रकार पांच वर्ग या पंचक पंचपंचक कहलाते हैं। मानव शरीर में इस पंच पंचक का सम्बन्ध शरीर में विद्यमान पांच ज्ञानेद्रियों से है। आयुर्वेद में पंचपंचक का सिद्धान्त महर्षि चरक द्वारा प्रतिपादित किया गया है। यद्यपि इसका सम्बन्ध केवल शरीर से है, किन्तु चिकित्सा की दृष्टि से, स्वास्थ्य की दृष्टि से एवं मानव शरीर में उपयोगिता की दृष्टि से आयुर्वेद में सिद्धान्त रूप में इसे स्वीकार किया गया है। चरक संहिता में इसका वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है—

"इह खलु पंचेन्द्रियाणि पंचेन्द्रियद्रव्याणि, पंचेन्द्रियाधिष्ठानानि, पंचेन्द्रियार्था: पंचेन्द्रियबुद्धयो भवन्ति ।"

—चरक संहिता, सूत्रास्थान ८/३

अर्थात् १—पांच इन्द्रियां, २—पांच इन्द्रियों के द्रव्य, ३—पांच इन्द्रियों के अधिष्ठान ४—पांच इन्द्रियों के अर्थ (विषय) और ५—पांच इन्द्रियों की बुद्धि (ज्ञान)।

इस प्रकार ज्ञानेन्द्रिय सम्बन्धी पंचपंचक होते हैं। इनका विस्तृत वर्णन निम्न प्रकार है।

१—पांच इन्द्रियां—"तत्र चक्षु घ्राण रसनं स्पर्शनमिति पंचेन्द्रियाणि ।"

—चरक संहिता, सूत्रास्थान ८।८

अर्थात् चक्षु, घ्राण, श्रोत्र, रसना औरस्पर्शन ये पांच इन्द्रियां होती हैं।

२—पांच इन्द्रिय द्रव्य—"पंचेन्द्रियद्रव्याणि- खं वायुर्ज्योतिरापो भूरिति ।"

—चरक संहिता, सूत्रस्थान ८ ९

अर्थात् ख (आकाश) वायु, ज्योति (अग्नि), अप् (जल) और भू (पृथ्वी) ये पांचों इन्द्रियों के पांच द्रव्य हैं।

३—पांच इन्द्रिय अधिष्ठान—"पंचेन्द्रियाधिष्ठानानि-अक्षिणी कर्णौ नासिके जिह्वा त्वक् चेति ।"

—चरक संहिता, सूत्रस्थान ८।१०

अर्थात् १-दोनों नेत्र, २-दोनों कान, ३-दोनों नासिका ४-जिह्वा और ५-त्वचा ये पंचेन्द्रियों के पांच अधिष्ठान (वास स्थान) हैं।

४ - पांच इन्द्रियार्थ—"पंचेन्द्रियार्थाः—शब्दस्पर्शरूपरसगंधाः ।"

—चरक संहिता, सूत्रस्थान ८/११

अर्थात् १. शब्द, २. स्पर्श, ३. रूप, ४. रस और ५. गन्ध ये पांच इन्द्रियों के पांच अर्थ (विषय) हैं।

५—पांच इन्द्रिय बुद्धि—"पंचेन्द्रियबुद्धयः—चक्षुबुद्ध्यादिकाः, ताः पुनरिन्द्रियेन्द्रियार्थसत्वात्मसन्निकर्षजाः क्षणिकाः निश्चयात्मिकाश्च।"—चरक, सूत्रस्थान ८।१२

अर्थात् चक्षु बुद्धि आदि पांच इन्द्रिय बुद्धियां होती हैं। ये बुद्धियां इन्द्रिय, इन्द्रियों के अर्थ, मन और आत्मा के सन्निकर्ष (संयोग) से उत्पन्न होती हैं। ये बुद्धियां (ज्ञान) क्षणिक और निश्चयात्मिका भेद से दो प्रकार की होती हैं।

(पांच बुद्धियों के नाम चक्षु बुद्धि, श्रोत्रबुद्धि, घ्राण बुद्धि, रसना बुद्धि और स्पर्श बुद्धि)

इन्द्रियों की वृत्तियां

इन्द्रियों का सामान्य व्यापार ही इन्द्रियवृत्ति कहलाता है। अर्थात् इन्द्रियां किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने के लिए जब अपने विषयों में प्रवृत्त होती हैं तथा अपने विषय को ग्रहण करती हैं तब वह क्रिया इन्द्रिय वृत्ति कहलाती है। जैसे चक्षु के द्वारा

रूप का, श्रोत्र के द्वारा शब्द का, त्वक् के द्वारा स्पर्श का, रसना के द्वारा रस का और घ्राण के द्वारा गन्ध का ग्रहण करना ही इन्द्रियवृत्ति कहलाता है। इसी भांति पंच कर्मेन्द्रियों की भी प्रवृत्तियां होती हैं। जैसे वागिन्द्रिय के द्वारा बोलना, हस्त के द्वारा आदान प्रदान अर्थात् ग्रहण करना, पाद के द्वारा गमन करना, उपस्थ के द्वारा मूत्र त्याग एवं मैथुन करना तथा पायु के द्वारा मल त्याग करना आदि। इस प्रकार इन्द्रियों का प्रत्यात्मनियत व्यापार इन्द्रिय वृत्ति कहलाता है। इन्द्रियों की वृत्ति का वर्णन सांख्य दर्शन में निम्न प्रकार से किया गया है—

रूपादिषु पंचानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः ।
वचनाऽऽदानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पंचानाम् ॥

त्रयोदश करण

करण का सामान्य अर्थ साधन होता है। आयुर्वेद के मतानुसार करण तेरह होते हैं। सृष्टि की उत्पत्ति में इन करणों का महत्वपूर्ण भाग होता है। ये तेरह करण मानव शरीर में विद्यमान रहते है और इनके द्वारा विभिन्न प्रकार के कार्यों का ज्ञान होता है। मानव शरीर में इनके द्वारा विभिन्न भावों की उत्पत्ति होती है। ये तेरह करण निम्न होते हैं— बुद्धि, अहंकार, मन, पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां।

इनमें बुद्धि, अहंकार और मन ये तीन अन्तःकरण कहलाते हैं। पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां ये दस बाह्य करण कहलाते हैं।

अन्तःकरण मुख्य रूप से आभ्यन्तरिक विषयों का सम्पादन करते हैं। जैसे विचार विमर्श करना, अभिमान आदि उत्पन्न करना, क्रोध, लोभ, शोक, भय, शान्ति, क्षमा, धृति, आदि भावों को उत्पन्न करना। बाह्य करण इनसे सर्वथा भिन्न होते हैं और उनकी प्रवृत्ति केवल बाह्य रूप होने के कारण ये बाह्य विषयों एवं भावों को ही ग्रहण करते हैं। इसके अतिरिक्त ये दस बाह्य करण तीन अन्तःकरणों द्वारा भोग्य होते हैं अर्थात् तीनों अन्तःकरण अपने अनुकूल बाह्य करणों का उपभोग करते हैं।

करणों में अन्तःकरण का प्राधान्य

उपर्युक्त तेरह करणों में प्रारम्भिक तीन अन्तःकरण प्रधान माने गए हैं। क्योंकि अहंकार और मन सहित बुद्धि सम्पूर्ण विषयों का ग्रहण करती है। बुद्धि का कर्म मन और अहंकार सापेक्ष होता है। मन इन्द्रियों को स्वविषय ग्रहण करने के लिए प्रेरित करता है। बुद्धि ग्रहण किए हुए उन विषयों का विचार कर निष्कर्ष निकालती है, मन और बुद्धि के इस कार्य में अहंकार सहायक होता है। इसके अतिरिक्त अहंकार स्वाधीन अहम् भाव को उत्पन्न करने में समर्थ होता है। इस प्रकार विषयों का ग्रहण करने एवं उनका निर्णय करने के लिए ये तीनों साधन महत्वपूर्ण

होते हैं। इसीलिए त्रयोदश करणों में त्रिविध अन्तःकरणों को प्रधान माना गया है। इसके अतिरिक्त दस बाह्य करण भोग्य एवं त्रिविध अन्तःकरण भोक्ता होने के कारण इनकी प्रधानता है। क्योंकि सर्वत्र भोग्य की अपेक्षा भोक्ता ही प्रधान होता है।

उपर्युक्त विविध करण स्वयं संसार के विषयों को प्रकाशित करते हैं। वे दीपक की भांति विषयों को प्रकाशमान करने वाले होते हैं। यद्यपि वे तीनों परस्पर भिन्न होते हैं, तथपि उन तीनों का संयुक्त स्वरूप विषयग्राही होता है और वे तीनों अभीष्ट अर्थ को पुरुष के लिए प्रकाशमान कर बुद्धि में स्थित या बुद्धि के माध्यम से ज्ञान कराने में समर्थ होते हैं। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार दीपक में तेल, वर्ती एवं अग्नि ये तीनों परस्पर विरुद्ध होते हुए भी इन तीनों का संयोग प्रकाशेत्पादक होता है और वह प्रकाश अन्धकार के निवारण में समर्थ होता है, उसी प्रकार अहंकार मन और बुद्धि परस्पर भिन्न होते हुए भी इनका संयोग ज्ञान रूपी प्रकाश को उत्पन्न करने वाला होता है और इससे अज्ञान रूपी अन्धकार की निवृत्ति होती है। अभिप्राय यह है कि ये तीनों ही करण विविध प्रकार के पदार्थों को प्रकाशित कर आत्मा को उनका ज्ञान कराने में सहायक होते हैं।

सांख्य दर्शन ने भी इन तीनों अन्तःकरणों को प्रधान और शेष दश बाह्य करणों को अप्रधान माना है। यही भाव निम्न कारिका से व्यक्त होता है—

सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात्
तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि ॥

अर्थात् अन्तःकरण से युक्त बुद्धि ही चूंकि सर्व विषयों को ग्रहण करती है, इसलिए तीन प्रकार के अन्तःकरण प्रधान और शेष बाह्य कारण अप्रधान होते हैं।

अन्तः करणों की वृत्तियां—

मन, बुद्धि और अहंकार इन तीन अन्तःकरणों का अपना जो सामान्य लक्षण होता है यह स्वालक्षण्य कहलाता है। इसके अनुसार प्रत्येक करण का अध्यवसाय अथवा व्यापार पृथक होता है। जैसे बुद्धि का अध्यवसाय विषयों का निर्णय करना, अहंकार का अध्यवसाय अभिमान अथवा अहम् भाव उत्पन्न करना और मन का अध्यवसाय इन्द्रियों को स्वविषय ग्रहण करने हेतु प्रेरित करना होता है। यही इनका स्वालक्षण्य कहलाता है।

इन तीनों अन्तः करणों की स्वलक्षण लक्षित वृत्ति असामान्य होती है। किन्तु इन्द्रियों के कुछ व्यापार सामान्य रूप से होते हैं। अतः इस समानता के कारण इन्द्रियों की वृत्ति सामान्य कहलाती है। इन्द्रियों की यह वृत्ति ही उनका व्यापार कहलाती है। किन्तु अन्तः करणों की वृति सामान्य न होने के कारण असामान्य

कही गई है। जैसे बुद्धि, अहंकार और मन जब किसी एक इन्द्रिय के साथ संयुक्त होते हैं तब ये चारों मिलकर अभीष्ट विषय का निश्चय करने के लिए एक रूप हो जाते हैं तब उनकी एक ही वृत्ति होती है। ऐसी स्थिति में यद्यपि चारों का स्वरुप भिन्न भिन्न होते हुए भी उस विषय को ग्रहण करने के लिए उनकी वृत्ति एक हो जाती है। जैसे रूप का निश्चय करने के लिए तीनों अन्तः करण और एक चक्षु इन्द्रिय इस प्रकार चार करणों का संयोग वस्तु स्वरूप का निश्चय करने में समर्थ होता है। इसमें अन्तःकरणों का संयोग विशेष रूप से अपेक्षित होने के कारण वह असाधारण होता है। अन्य दस करण साधारण होते हैं।

प्रत्यक्ष के भेद

आत्मा, इन्द्रिय, मन और इन्द्रियों के विषय इनके सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाली चाक्षुष बुद्धि आदि छह बुद्धियां घट-पट आदि कार्य तथा इन्द्रिय-विषयों के भेद से अनेक हो जाती हैं। तथापि वस्तुतः शरीर में इन्द्रियां पांच होती हैं। अतः उनके द्वारा होने वाला प्रत्यक्ष भी पांच ही प्रकार का होता है। इसके अतिरिक्त एक मन के द्वारा होने वाला प्रत्यक्ष भी होता है। इस प्रकार छह प्रकार का प्रत्यक्ष होता है। तथापि कार्य और इन्द्रियों के विषय की दृष्टि से संसार में जितने भी विषय हैं उतने ही प्रकार का प्रत्यक्ष माना जा सकता है। इस तरह प्रत्यक्ष के अनेक भेद हो सकते हैं। किन्तु दार्शनिकों ने मौलिक रूप से दो प्रकार का ही प्रत्यक्ष स्वीकार किया है। यथा—१. निर्विकल्पक प्रत्यक्ष और २. सविकल्पक प्रत्यक्ष।

१. निर्विकल्पक प्रत्यक्ष—जो ज्ञान नाम, जाति, गुण और क्रिया से शून्य होता है वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहलाता है। इस प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान में वस्तु का सम विभागात्मक ज्ञान नहीं होता है। केवल "यह कुछ है" इस प्रकार का ज्ञान होता है। इस प्रकार के ज्ञान में चक्षु इन्द्रिय के द्वारा देखी गई वस्तु किस आकार-प्रकार वाली, किस स्वरूप वाली, कौन सी वस्तु है? इसका कुछ ज्ञान नहीं होता। इसको निष्प्रकारक ज्ञान भी कहा गया है। यथा—"**तत्र निष्प्रकारकं ज्ञानं निर्विकल्पकम्**" अर्थात् प्रकारता से रहित ज्ञान को निर्विकल्पक ज्ञान कहते हैं। इसमें विशेष्य-विशेषण और उसके सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता। अतः इसमें एक चौथी ही विषमता रहती है। इसको न प्रमा ही कहा जा सकता है और न अप्रमा ही।

श्रीधर स्वामी की कन्दली में प्राचीन परम्परा के अनुसार निर्विकल्पक ज्ञान को प्रमा माना गया है। न्यायसिद्धान्त मुक्तावलि में भी '**भ्रमभिन्नज्ञानं प्रमा**' कह कर इसे प्रमा स्वीकार किया गया है। किन्तु श्री गंगेशोपाध्याय के मतानुसार निर्विकल्पक

वह भूतल घटाभाव युक्त है। ऐसा कहने पर जिस भूतल के साथ चक्षु का सन्निकर्ष होता है वह भूतल घटाभाव वाले विशेषण से संयुक्त है। वहाँ पर 'चक्षु संयुक्त भूतल' विशेष्य है और उनमें 'घटाभाव' उसका विशेषण है।

इस प्रकार लौकिक प्रत्यक्ष के साधक सन्निकर्ष छह प्रकार के होते हैं। ये छह भेद लौकिक प्रत्यक्ष अथवा लौकिक सन्निकर्ष के कहे जा सकते हैं।

इसके पश्चात् अलौकिक प्रत्यक्ष तीन प्रकार का होता है। यथा—१. सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति २. ज्ञान लक्षणा प्रत्यासत्ति और ३. योगज।

१. सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति—जिसके द्वारा किसी वस्तु, जाति अथवा अर्थ के एक देश का प्रत्यक्ष होने पर उस सम्पूर्ण वस्तु, सम्पूर्ण जाति अथवा सम्पूर्ण अर्थ का सामान्यतः बोध होता है उसे सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति कहते हैं। जैसे—एक 'गाय' का प्रत्यक्ष होने पर उसकी सम्पूर्ण 'गोत्व' जाति का ज्ञान सामान्यतः हो जाता है।

२. ज्ञान लक्षणा प्रत्यासत्ति—जिसके द्वारा वस्तु के साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष हुए बिना ही उस वस्तु के विषय या गुण का ज्ञान हो जाता है। अर्थात् केवल ज्ञान के आधार पर जिसके गुण का बोध हो जाता है, वह ज्ञान लक्षणा प्रत्यासत्ति कहलाता है। जैसे—बर्फ को देखने मात्र से बिना उसका स्पर्श किए हुए ही उसकी शीतलता का ज्ञान हो जाता है। इसी भांति अग्नि को देखने मात्र से ही बिना उसका स्पर्श हुए किए ही उसकी उष्णता का ज्ञान हो जाता। मिश्री को देखकर उसका जिह्वा संयोग हुए बिना ही उसकी मधुरता का ज्ञान हो जाता है।

३. योगज—यह ज्ञान केवल योगियों को ही होता है। योगीराज विशेष समाधि अथवा ज्ञानोपलब्धि के आधार पर किसी भी विषय का अबाधित सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार से उत्पन्न हुआ प्रत्यक्ष ज्ञान योगज कहलाता है। यह योगज प्रत्यक्ष सामान्यतः दो प्रकार का होता है—१. युक्त और २. युञ्जान। जैसा कि शास्त्र में प्रतिपादित है—

> **योगजो द्विविध प्रोक्तो युक्तयुञ्जानभेदतः।**
> **युक्तस्य सर्वदा भानं चिन्तासहकृतोऽपरः॥**
>
> —न्याय सिद्धान्त मुक्तावलि

१. युक्त—युक्त योगज प्रत्यक्ष वह होता है जिसमें योगियों को अपने तपोबल के द्वारा अखण्ड निर्मल ज्ञान प्राप्त होता है। वह ज्ञान सदा बना रहता है और वस्तु स्वरूप को जानने के लिए पुनः पुनः समाधि योग धारण करने की आवश्यकता नहीं रहती।

२. युञ्जान—युञ्जान योगज प्रत्यक्ष वह होता है जिसमें वस्तु स्वरूप का ज्ञान करने के लिए समाधि धारण अथवा समाधि के द्वारा विचार करना अपेक्षित रहता है। यह ज्ञान समाधि धारण करने पर अथवा समाधि के द्वारा विचार करने पर प्राप्त होता है।

इस प्रकार अनेक भेद प्रभेद युक्त प्रत्यक्ष प्रमाण होता है। प्रत्यक्ष प्रमाण के सभी भेद संक्षेपतः निम्न तालिका के द्वारा जाने जा सकते हैं—
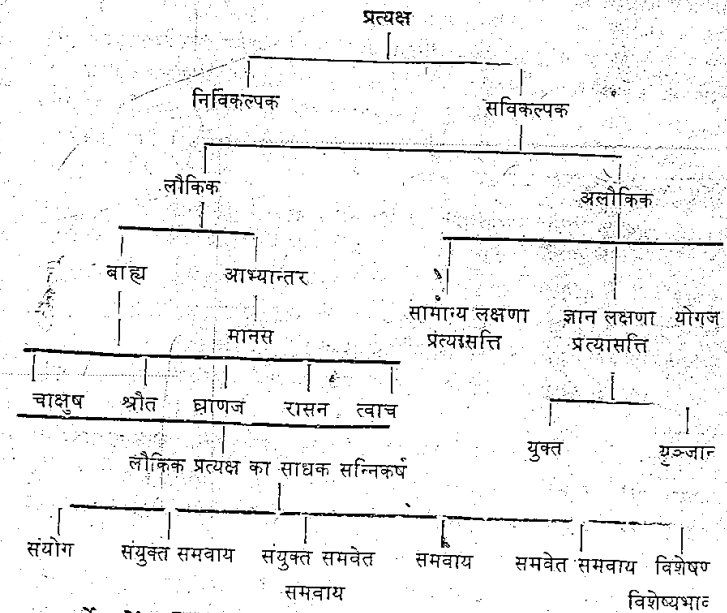
आयुर्वेद में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष का स्वरूप

आयुर्वेद चूंकि एक जीवन विज्ञान एवं चिकित्सा शास्त्र है, अतः उसमें प्रतिपादित प्रत्येक विषय उसी दृष्टिकोण की अपेक्षा रखता है। आयुर्वेद में जो इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष का विवेचन किया गया है वह दार्शनिक दृष्टिकोण की अपेक्षा से नहीं है अपितु मानव मात्र के स्वास्थ्य एवं विकार की अपेक्षा से है। आयुर्वेद में यह सन्निकर्ष इन्द्रियार्थ, **संयोग** के नाम से प्रतिपादित है। यह संयोग दो प्रकार का बतलाया गया

ज्ञान भ्रम और प्रमा दोनों से ही भिन्न और विलक्षण है। यथा—'**न प्रमा नापि भ्रमं ज्ञानं स्यान्निर्विकल्पकम्। प्रकारतादिशून्यं हि सम्बन्धानवगाहि तत्**' अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान न प्रमा है और न भ्रम (अप्रमा) है। यह प्रकारता आदि से शून्य सम्बन्ध रहित होता है। प्रमात्व और अप्रमात्व दोनों प्रकारतादि घटित ज्ञान में रहते हैं।

२. **सविकल्पक प्रत्यक्ष**—निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान के पश्चात् समविभाग एवं विशेषता युक्त जो ज्ञान होता है। वह सविकल्पक प्रत्यक्ष कहलाता है। इसमें वस्तु के स्वरूप, आकार, प्रकार, नाम, जाति, गुण, क्रिया आदि का सम्पूर्ण ज्ञान होता है। इस प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए नासा, जिह्वा, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु और मन ये छः इन्द्रियां करण मानी जाती हैं। इन छहों इन्द्रियों का घट, पट, टेबल-कुर्सी आदि विषयों के साथ सन्निकर्ष (संयोग) होने पर प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। यह सन्निकर्ष अथवा सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का होता है—१. लौकिक प्रत्यक्ष अथवा लौकिक सन्निकर्ष और २. अलौकिक प्रत्यक्ष या अलौकिक सन्निकर्ष। इनमें लौकिक प्रत्यक्ष पुनः दो प्रकार का होता है—१. बाह्य लौकिक प्रत्यक्ष और २. आभ्यन्तर लौकिक प्रत्यक्ष। इनमें प्रथम बाह्य लौकिक प्रत्यक्ष पुनः पांच प्रकार का होता है—१. चाक्षुष प्रत्यक्ष २. श्रौत प्रत्यक्ष ३. घ्राणज प्रत्यक्ष ४. रासन प्रत्यक्ष और ५. त्वाच प्रत्यक्ष। द्वितीय आभ्यन्तर लौकिक प्रत्यक्ष प्रत्येक केवल एक प्रकार का होता है। वह मानस लौकिक प्रत्यक्ष कहलाता है।

सन्निकर्ष का स्वरूप एवं भेद

आचार्यों ने सम्बन्ध को सन्निकर्ष कहा है। यथा—"**सन्निकर्षो नाम सम्बन्धः।**" आत्मा का मन से, मन का इन्द्रियों से और इन्द्रियों का अपने-अपने विषय के साथ विषयों का प्रत्यक्ष ज्ञान हेतु जो सम्बन्ध होता है वह सन्निकर्ष कहलाता है। इसे इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष भी कहते हैं। बाह्य लौकिक प्रत्यक्ष ज्ञान इसी सन्निकर्ष से होता है।

ऊपर जो छह प्रकार का लौकिक प्रत्यक्ष बतलाया गया है। इस प्रत्यक्ष का सम्बन्ध छह इन्द्रियों से है। अतः इस लौकिक प्रत्यक्ष के साधक इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष भी छह ही होते हैं। वे सन्निकर्ष निम्न लिखित हैं—

१. संयोग सन्निकर्ष २. संयुक्त समवाय सन्निकर्ष ३. संयुक्त समवेत समवाय सन्निकर्ष ४. समवाय सन्निकर्ष ५. समवेत समवाय सन्निकर्ष और ६. विशेषण विशेष्य भाव सन्निकर्ष।

उपर्युक्त छह सन्निकर्षों का वर्णन निम्न प्रकार है—

१. संयोग सन्निकर्ष—"चक्षुषा घटप्रत्यक्षजनने संयोगसन्निकर्षः"—अर्थात् चक्षु के द्वारा घट का प्रत्यक्ष ज्ञान होने में संयोग सन्निकर्ष होता है। इसमें चक्षु और घट

का जो सन्निकर्ष होता है वह संयोग मात्र होता है। चक्षु और मन ये दो इन्द्रियां रूपवान् द्रव्य का ग्रहण करती हैं, अवशिष्ट श्रोत्र, त्वक्, रसना और घ्राण ये चार इन्द्रियां द्रव्य में स्थित शब्दादि गुणों को ग्रहण करती हैं। चक्षु के द्वारा ग्राह्य विषयों के प्रति द्रव्यों में स्थित लौकिक विषयता से चक्षु का संयोग कारण होता है।

२. संयुक्त समवाय सन्निकर्ष—'घटरूपप्रत्यक्षजनने संयुक्तसमवाय सन्निकर्षः।' अर्थात् घट और उसके रूप के प्रत्यक्ष ज्ञान में संयुक्त समवाय सन्निकर्ष होता है। क्योंकि घट में रहने वाला रूप समवाय सम्बन्ध से रहता है। प्रस्तुत ज्ञान में घट के साथ चक्षु का संयोग रूप सन्निकर्ष हुआ और घट में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले रूप के साथ समवाय सन्निकर्ष हुआ। इस प्रकार यह संयुक्त समवाय सनिकर्ष कहलाता है।

३. संयुक्त समवेत समवाय सन्निकर्ष—"घटे रूपं समवेतं यत् रुपत्वस्य समवायात्। रुपत्वसामान्यप्रत्यक्षे समवेतसमवायसन्निकर्षः चक्षुसंयुक्ते।" अर्थात् घट में रूप समवेत रूप से रहता है और रूप में रूपत्व समवाय सम्बन्ध से रहता है। रुपत्व सामान्य का प्रत्यक्ष होने पर अथवा घट में स्थित रूप और रूपत्व का चक्षु के साथ संयोग होने पर संयुक्त समवेत समवाय सन्निकर्ष होता है। इसमें घट, घट में स्थित रूप और रूप में स्थित रूपत्व इन तीनों का एक साथ प्रत्यक्ष होता हैं।

४. समवाय सन्निकर्ष—"श्रोत्रेण शब्दसाक्षात्कारे समवायसन्निकर्षः। कर्णविवरवर्त्याकाशस्य श्रोत्रत्वात् शब्दस्याकाशगुणत्वात् गुणगुणिनोश्च समवायात्।" अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय के साथ शब्द का साक्षात्कार होने पर समवाय सन्निकर्ष होता है। कर्ण विवर छिद्र का विशेष आकार ही आकाश है और वह आकाशीय भाग ही श्रोत्रेन्द्रिय है। उस श्रोत्र या आकाशीय भाग के साथ ही वाद्य ध्वनि अथवा स्वर-व्यंजन आदि शब्द का सन्निकर्ष (संयोग) होता है। वह शब्द आकाश का प्रत्यात्मनियत अथवा अपृथग्भावी गुण है। वह शब्द गुण आकाश में समवाय सम्बन्ध से रहता है। इस प्रकार गुण और गुणी का समवाय सम्बन्ध होने से शब्द और श्रोत्र का भी समवाय सन्निकर्ष होता है।

५. समवेत समवाय सन्निकर्ष—"शब्दत्वसाक्षात्कारे समवेतसमवायसन्निकर्षः, श्रोत्रसमवेते शब्दे शब्दत्वस्य समवायात्।" अर्थात् श्रोत्र के साथ शब्दत्व का साक्षात्कार होने पर समवेत समवाय सन्निकर्ष होता है। क्योंकि श्रोत्र (आकाश) के साथ समवेत हुए शब्द में शब्दत्व समवाय सम्बन्ध से रहता है।

६. विशेषण विशेष्य भाव सन्निकर्ष—"अभावप्रत्यक्षे विशेषणविशेष्यभावः सन्निकर्षः, घटाभाववत् भूतलमित्यत्र चक्षुसंयुक्ते भूतले घटाभावस्य विशेषणत्वात्।" अर्थात् अभाव का प्रत्यक्ष होने पर विशेषण विशेष्य भाव सन्निकर्ष होता है। जैसे—

नेन्द्रिय का स्पर्श यदि अनुकूल रूप में है तो वह सुखात्मक वेदना है। वही स्पर्शनेन्द्रिय
का स्पर्श यदि प्रतिकूल रूप है, जैसे अत्यन्त उष्ण या शीत, अत्यन्त कठोर-कर्कश आदि
तो वह दुखात्मक वेदना होती है। इसी प्रकार मानस स्पर्श समझना चाहिये। यदि मन
का अनुकूल भावों से स्पर्श होता है तो वह सुखात्मक वेदना का प्रवर्तक है और यदि
प्रतिकूल चिन्ता भय, क्रोध आदि भावों से स्पर्श होता है तो वह दुःखात्मक वेदना का
प्रवर्तक समझना चाहिये।

महर्षि चरक ने सात्म्य वेदना (सुख) एवं असात्म्य वेदना (दुःख) के रूप में
वेदना शब्द का व्यवहार किया है। जैसे, "**वेदनानामसात्म्यानामित्येते हेतवः स्मृताः।**"
—चरक संहिता, शरीरस्थान १/१२८ अर्थात् इन्द्रियों का जो मिथ्यायोग, हीनयोग,
अतियोग होता है उसे असात्म्य वेदनाओं (दुःखों) का कारण समझना चाहिये।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि उन वेदनाओं का अधिष्ठान क्या है? अर्थात्
वह वेदना कहां रहती है? इसका उत्तर देते हुए महर्षि चरक ने कहा है—

वेदनानामधिष्ठानं मनो देहश्च सेन्द्रियः।
केशलोमनखाग्रान्तमलद्रवगुणैर्विना॥

—चरक संहिता शारीर स्थान १/१३६

अर्थात् वेदनाओं का अधिष्ठान (आश्रय) मन और सेन्द्रिय (इन्द्रिय युक्त)
शरीर है। केश, लोम, नख का अग्रभाग, अन्नमल (पुरीषादि), द्रव (स्वेद-मूत्र तथा रस-
रक्तादि) और शब्द आदि गुण को छोड़कर। अर्थात् केश, लोम आदि भाव वेदना का
अधिष्ठान नहीं हैं।

यहां सेन्द्रिय देह का अभिप्राय जीवित शरीर समझना चाहिये। जैसा कि शास्त्र
में भी प्रतिपादित है-**सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरीन्द्रियमचेतनम्।**" अर्थात् सेन्द्रिय द्रव्य चेतन
होता है और निरीन्द्रिय अचेतन। यहाँ सेन्द्रिय कहने से केश, लोम, नख आदि का
निरसन स्वतः ही हो जाता है, क्योंकि निरिन्द्रिय होने से वे अचेतन हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि वेदना सुख रूप और दुःख रूप होती है।
उस सुखात्मक एवं दुखात्मक वेदना के कारण ही मनुष्य संसार में जन्म-मरण को धारण
करता है। क्योंकि सुख और दुःख दोनों का हेतु तृष्णा होती है। वह तृष्णा इच्छा और
द्वेषात्मिका होती है। अर्थात् इच्छात्मिका तृष्णा सुख का और द्वेषात्मिका तृष्ण दुःख
का कारण होती है। वह तृष्ण शरीर और मन दोनों को प्रभावित करती है। उसी से
मनुष्य के शुभाशुभ कर्म संस्कारों की प्रवृत्ति होती है। तृष्णा के सुख-दुःख का हेतुत्व
महर्षि चरक ने निम्न प्रकार से प्रतिपादित किया है—

इच्छाद्वेषात्मिका तृष्णा सुख दुःखात् प्रवर्तते।
तृष्णा च सुखदुःखानां कारणं पुनरुच्यते॥

—चरक संहिता शारीर स्थान १/१३४

अर्थात् इच्छा और द्वेषात्मिक तृष्ण की प्रवृत्ति सुख और दुःख से होती है, पुनः
वही तृष्ण सुख और दुःख का कारण हो जाती है।

वह तृष्णा किस प्रकार शरीर और मन को प्रभावित करती है? इसका विवेचन
महर्षि चरक ने निम्न प्रकार से किया है—

उपादत्ते हि सा भावान् वेदनाश्रयसंज्ञकान्।
स्पृश्यते नानुपादाने नास्पृष्टो वेत्ति वेदनाः॥

—चरक संहिता, शारीर स्थान १/१३५

अर्थात् वह तृष्णा वेदना के आश्रय भूत शरीर और मन को दृढ़ता पूर्वक पक-
ड़ती है। उपादान के नहीं होने पर शरीर और मन का तृष्णा के द्वारा स्पर्श नहीं किया
जाता है। इस प्रकार अपृष्ट हुए उस शरीर और मन को वेदना का भी ज्ञान नहीं होता।

अभिप्राय यह है कि वेदना के अधिष्ठान भूत शरीर और मन को तृष्णा की
जकड में रहना पड़ता है। क्योंकि वही सुख-दुख रूपात्मक वेदना का कारण होती है।
किन्तु तृष्णा के अभाव में शरीर और मन का इन्द्रियों के साथ संयोग नहीं होगा।
उनके संयोग के अभाव में इन्द्रियों का भी स्वविषय संयोग नहीं होगा, अतः वेदना का
भी ज्ञान नहीं होगा।

वेदना नाश के हेतु

आयुर्वेद में मानव जीवन का चरम लक्ष्य असात्म्य वेदनाओं (दुःखों) की
आत्यन्तिक निवृत्ति माना गया है। यही आयुर्वेद दर्शन का अभीष्ट है। वेदनाओं के
कारण ही तृष्णा की प्रवृत्ति होती है जो अन्ततः सुख-दुःख का कारण बनती है। ऐसी
वेदनाओं का नाश कैसे होता है और वेदना नाश में क्या हेतु है? इसका समाधान
महर्षि चरक ने निम्न प्रकार से किया है—

योगे मोक्षे च सर्वासां वेदनानामवर्तनम्।
मोक्षे विवृत्तिर्निःशेषा योगो मोक्ष प्रवर्तकः॥

—चरक संहिता, शारीर स्थान १/१३७

अर्थात् योग और मोक्ष में समस्त वेदनाओं का नाश हो जाता है। मोक्ष में
वेदनाओं की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। योग मोक्ष का प्रवर्तक होता है।

यहां पर योग और मुक्त अवस्था में समस्त वेदनाओं की निवृत्ति (समाप्त होने)
का संकेत किया गया है। मोक्ष याने मुक्त अवस्था तो आत्मोत्कर्ष की चरम परिणति है।
अतः उसमें समस्त सांसारिक भावों की आत्यन्तिक निवृत्ति होना सर्वथा स्वाभाविक है।
योगावस्था में भी वेदनाओं का अभाव या नाश हो जाता है। वेदनाओं के नाश में भी
वही कारण होते हैं जो योग के सम्पादन में होते हैं। योग के होने में मुख्य कारण है
आत्मा में मन का स्थिर होना। अर्थात् मन की समस्त प्रवृत्तियाँ बहिर्मुख न होकर

है—सात्म्य और असात्म्य । सात्म्य इन्द्रियार्थ संयोग शरीर के लिए हितकारी होता है, जबकि असात्म्य इन्द्रियार्थ संयोग शरीर के लिए अहितकर माना गया है। यह प्रत्यक्षतः भी अनुभूत है। जब इन्द्रिय का स्व विषय के साथ ऐसा संयोग होता है जिससे ज्ञान प्राप्ति होती है तथा वह शरीर या शरीरगत किसी भी भाव विशेष के लिए अहितकर नहीं होता है तो वह **सात्म्य इन्द्रियार्थ संयोग** कहलाता है। इसके विपरीत इन्द्रिय का अपने विषय के साथ ऐसा संयोग होना जो शरीर के लिए हानिकर या अहितकर होता है **असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग** कहलाता है। यह आसात्म्येन्द्रियार्थ संयोग तीन प्रकार का होता है— अतियोग, हीनयोग या अयोग और मिथ्यायोग। इन तीनों ही आसत्म्येन्द्रियार्थ संयोग को रोग का कारण होने से अनुपशय कहा गया है, क्योंकि जो रोग का कारण होते हैं वे अहितकर होने से असात्म्य होते हैं, इसीलिए उन्हें अनुपशय कहा जाता है। असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग आयुर्वेद में निम्न प्रकार से प्रतिपादित है—

चक्षु के विषय का अतियोग, अयोग, मिथ्यायोग—अत्यन्त प्रभा (चमक) वाले दृश्य (देखे जाने योग्य) पदार्थों अर्थात् सूर्य आदि को अत्यधिक देर तक या लगातार देखना रूप का अतियोग कहलाता है। दृश्य पदार्थों का सर्वथा नहीं देखना-यह रूप का अयोग है। अतिसूक्ष्म, आंखों के अत्यन्त पास के, अति दूर के, उग्र, भयावने, अद्भुत, अप्रिय, घृणित तथा विकृत, अपवित्र रूपों का देखना मिथ्या योग है।

कान के विषय का अतियोग—अत्यन्त ऊंचे मेघगर्जन, ढोल तथा ऊँचे रोने आदि के शब्दों को अत्यधिक रूप में सुनना कान का अतियोग कहलाता है। **कान के विषय का अयोग**-शब्दों का सर्वथा नहीं सुनना कान का अयोग कहलाता है। **कान के विषय का मिथ्या योग**—कर्कश, कठोर, प्रिय वस्तु के नाश के सूचक, प्रिय पुत्र आदि के मृत्यु सूचक अथवा हानि सूचक, तिरस्कार सूचक, झिड़कना तथा डरावने आदि शब्दों को सुनना कान का मिथ्या योग कहलाता है।

नाक के विषय (गन्ध) का अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग—अत्यन्त तीक्ष्ण (मरिच आदि की), उग्र (लैवेण्डर, इत्र आदि की) एवं अभिष्यन्दि (मालकांगनी तथा हांचिया आदि की) गन्धों का अत्यधिक रूप में सूंघना नाक का अतियोग कहलाता है। सर्वथा नहीं सूंघना अयोग कहलाता है। दुर्गन्ध, अप्रिय गन्ध, अपवित्र गन्ध, क्लिन्न अर्थात् नमी के कारण सडांध होने से उत्पन्न हुई गन्ध, विषयुक्त वायु का श्वास लेना अथवा उसकी गन्ध तथा मुर्दे की गन्ध आदि गंधों का सूंघना मिथ्यायोग कहलाता है।

जिह्वा के विषय (रस) का अतियोग, अयोग, मिथ्यायोग—रसों का अत्यधिक मात्रा में स्वाद लेना जिह्वा का अतियोग होता है। सर्वथा नहीं लेना अयोग कहलाता है। अपथ्य रसों का लेना अथवा अपथ्य आहार खाना रस का मिथ्यायोग कहलाता है।

यथा-प्रकृति (लघु-गुरु) विरुद्ध आहार द्रव्यों का सेवन मिथ्या योग ही हो सकता है। सम परिमाण में मिलाए हुए शहद और घी को संयोग विरुद्ध कहते हैं। इस संयोग विरुद्ध द्रव्य के सेवन को भी मिथ्या योग ही कह सकते हैं। इसी प्रकार अन्य संस्कार आदि द्रव्यों को जान लेना चाहिये। उपर्युक्त प्रकृति विरुद्ध आदि आहार द्रव्यों के सेवन को मिथ्यायोग में ही लाया जा सकता है, क्योंकि अतियोग और वियोग के बिना ही ये दोष करने वाले हैं। अयोग में जहाँ विषय के सर्वथा ग्रहण नहीं करने का समावेश होता है वहां अल्पमात्रा में ग्रहण करने का भी।

त्वचा के विषय का अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग-अत्यन्त शीत और अत्यन्त गर्म स्पर्श से जाने जा सकने वाला स्नान, अभ्यङ्ग तथा उत्सादन (उबटन) आदि का अत्यधिक सेवन करना त्वचा का अतियोग कहलाता है। सर्वथा सेवन नहीं करना अथवा अल्पमात्रा में सेवन करना अयोग कहलाता है। स्नान आदि का तथा सर्दी गर्मी आदि भावों का जो स्पर्श द्वारा जाने जाते हैं, उन्हें यथाक्रम सेवन नहीं करना, ऊँची नीची जगह बैठना आदि, चोट लगना, अपवित्र वस्तु एवं भूतों (रोगजनक कीटाणुओं का) स्पर्श होना स्पर्शनेन्द्रिय (त्वक्) का मिथ्यायोग कहलाता है। यथाक्रम सेवन नहीं करने का अभिप्राय यह है कि गर्मी से पीड़ित का सहसा शीत जल से स्नान कर लेना इत्यादि।

वेदना का अधिष्ठान

आयुर्वेद शास्त्र में वेदना शब्द का व्यवहार व्यापक रुप से हुआ है वेदना का सामान्य अर्थ होता है कष्ट या दुःख। यह अर्थ अत्यन्त प्रचलित या लोक रूढ़ है। किन्तु वेदना का यथार्थ अभिप्राय उपर्युक्त अर्थ से सर्वथा भिन्न है। वेदना एक प्रकार की अनुभूति है जो दुःख रूप भी हो सकती है और दुःख रूप भी। आयुर्वेद शास्त्र में जब दार्शनिक दृष्टिकोण से वेदना शब्द का व्यवहार किया जाता है तो वह अनुभूति मूलक होता है। अर्थात् वेदना एक ऐसा भाव है जो मनुष्य को होने वाली अनुभूति का संकेत करता है। अनुभूति परक वेदना सुख रूप भी हो सकती है और दुःख रूप भी। इसीलिए सुख और दुःख की व्याख्या करते हुए कहा गया है—"**अनुकूलवेदनीयं सुखम्, प्रतिकूल-वेदनीयं दुःखम्**।" अर्थात् जिसकी वेदना (अनुभूति) अनुकूल होती है वह सुख होता है और जिसकी वेदना (अनुभुति) प्रतिकूल होती है वह दुःख होता है। महर्षि चरक ने भी इसी भाव में वेदना शब्द का व्यवहार किया है यथा—

स्पर्शनेन्द्रियसंस्पर्शः स्पर्शो मानस एव च।
द्विविधः सुखदुःखानां वेदनानां प्रवर्तकः॥

चरक संहिता शारीर स्थान १/१३२

अर्थात् सुख-दुःख रूप वेदनाओं का प्रवर्तक दो प्रकार का स्पर्श है—१ स्पर्शनेन्द्रिय (त्वचा) से होने वाला स्पर्श और २. मानस स्पर्श। यहाँ बाह्य विषय के ग्रहण में स्पर्श-

अन्तर्मुख हो जाती हैं तब मन स्वतः ही आत्मा में स्थिर हो जाता। ऐसी स्थिति में मन के द्वारा बाह्य जगत का कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं होता है। परिणामतः सुख और दुःख दोनों निवृत्त (समाप्त) हो जाते हैं और वेदनाओं का नाश या अभाव हो जाता है। सामान्यतः समाधि अवस्था में जब मन की वृत्तियों का निरोध हो जाता है तब मन के दोष द्वय-रज और तम का स्वयं ही मन से वियोग या अभाव हो जाता है। यही योग कहलाता है। इस योगावस्था में सुख रूप या दुःख रूप वेदना का कोई स्थान नहीं है। यद्यपि योगावस्था में भी प्रारब्ध कर्मों का भोग तो करना ही पड़ता है, किन्तु प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव होने से सुख और दुःख उभय (वेदनाओं) का भी अभाव हो जाता है।

योगावस्था में प्रारब्ध कर्मों का भोग कर लेने के अनन्तर कर्मों का क्षय हो जाने से मुक्ति हो जाती है-यह सार्वतान्त्रिक सिद्धान्त है। अतः इस मुक्तावस्था में वेदनाओं की भी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। समस्त वेदनाओं की आत्यन्तिक निवृत्ति आत्मा की विशुद्ध-निर्मल अवस्था का द्योतक है। इस अवस्था में आत्मा सांसारिक भावों से सर्वथा वियुक्त हो जाने के कारण कर्म बन्धनों से भी उसे सदा सर्वदा के लिए मुक्ति मिल जाती है और कर्म बन्धन के अभाव में पुनः उसे जन्म-मरण धारण नहीं करना पड़ता है।

इन्द्रियों की प्राप्यकारिता विचार

ऊपर जो इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष या इन्द्रियार्थ संयोग बतलाया गया है उसमें इन्द्रियों और उनके विषयों के पारस्परिक सम्पर्क की क्या प्रक्रिया है? क्या इन्द्रिय अपने अधिष्ठान से निकल कर स्वयं अपने विषय के पास जाकर उससे सम्पर्क या संयोग करती है अथवा स्वाधिष्ठान में ही स्थित रहती है और उसका विषय स्वयं इन्द्रिय में पहुंचकर उससे सम्पर्क करता है? इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम यह जान लेना आवश्यक है कि सभी पांचों इन्द्रियों का स्वरूप, स्थिति और नियति समान नहीं है। सर्व प्रथम चक्षु इन्द्रिय और चाक्षुष प्रत्यक्ष को लिया जाय। चाक्षुष ज्ञान में चक्षु इन्द्रिय का अपने विषय रूप के साथ संयोग के लिए चक्षु इन्द्रिय का विषय के पास जाकर सन्निकर्ष करना आवश्यक है। क्योंकि रूप तो अपने स्थान पर स्थित है वह किसी मनुष्य की चक्षु इन्द्रिय के पास नहीं जाता है। अतः चक्षु इन्द्रिय ही अक्षि गोलक से निकल कर ज्ञेय पदार्थ के पास जाकर उसका ग्रहण करती है। ज्ञेय वस्तु के संसर्ग से चक्षु इन्द्रिय को उस वस्तु स्वरूप का जो संस्कार प्राप्त होता है उसकी सूचना मन से संसर्ग होने पर तत्काल मन को मिलती है और मन चूंकि सदैव आत्मा से संयुक्त रहता है, अतः मन से आत्मा को प्राप्त होती है। इस प्रकार उक्त प्रक्रिया के द्वारा चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। इस चाक्षुष प्रत्यक्ष में चूंकि चक्षु इन्द्रिय स्वयं स्वविषय तक पहुंच कर उससे सम्पर्क कर वस्तु स्वरूप को ग्रहण करती है, अतः उसे **प्राप्यकारी** माना जाता है।

किन्तु, अन्य इन्द्रियों के साथ ऐसा नहीं है। श्रोत्रेन्द्रिय को लिया जाय। श्रोत्रेन्द्रिय आकाश महाभूत प्रधान है और उसका विषय है शब्द। अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय मात्र शब्द का ग्रहण करती है। शाब्दिक प्रत्यक्ष में यह पाया जाता है कि शब्द स्वयं वायु मण्डल में लहराता हुआ मनुष्य की कर्ण गुहा में पहुंचता है और वहां स्थित आकाश के सम्पर्क में आता है। क्योंकि शब्द आकाश महाभूत का प्रत्यात्मनियत गुण है। उस शब्द को कर्ण गुहा में स्थित श्रोत्रेन्द्रिय ग्रहण करती है और मन के माध्यम से उसे आत्मा तक पहुंचाती है। तब शब्द का ज्ञान या शब्द का प्रत्यक्ष होता है। इसी प्रकार घ्राणज ज्ञान की प्रक्रिया में गंध के कण वायु मण्डल में तैरते हुए मनुष्य की नासा गुहा में पहुंचते हैं जहाँ पर नासा इन्द्रिय से उनका संसर्ग होता है। तब नासा इन्द्रिय उन गंध कणों को ग्रहण कर उनका संस्कार मन में प्रदान करती है और मन आत्मा के संयोग से युक्त होने के कारण उसे उस गंध का ज्ञान कराता है।

रासन प्रत्यक्ष और त्वाच प्रत्यक्ष में भी उपर्युक्त प्रकार से इन्द्रिय अपने विषय को ग्रहण करने हेतु ज्ञेय वस्तु के पास नहीं पहुंचती है। अपितु ज्ञेय पदार्थ स्वयं ही रसना या स्पर्शनेन्द्रिय से संयोग करते हैं जिससे रसना एवं स्पर्शनेन्द्रिय ज्ञेय द्रव्य को ग्रहण कर आत्मा संयुक्त मन के माध्यम से ज्ञान कराती है। इस प्रकार रसना और स्पर्शनेन्द्रिय अपने अधिष्ठान में स्थित रह कर ज्ञेय वस्तु का ज्ञान कराती है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि केवल चक्षु इन्द्रिय ही वस्तु स्वरुप को ग्रहण करने हेतु उसके पास पहुंचती है। शेष चार इन्द्रियां अपने अधिष्ठान में ही स्थित रहकर अपने विषयों से संयोग कर उनका ग्रहण करती हैं और तत्पश्चात् उनका ज्ञान आत्मा को कराती हैं। उन चार इन्द्रियों को अपने अधिष्ठान से निकल कर बाहर नहीं जाना पड़ता है। इसीलिए कतिपय आचार्य उन चार इन्द्रियों को **प्राप्यकारी** नहीं मानते हैं, वे केवल चक्षु को ही प्राप्यकारी मानते हैं। किन्तु जयन्त भट्ट आदि कतिपय आचार्य इस मत से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि इन्द्रिय चाहे अपने अधिष्ठान में ही स्थित रहकर ज्ञेय वस्तु को ग्रहण करे या अपने अधिष्ठान से बाहर निकल कर ग्रहण करे, अपने अर्थ को तो वह ग्रहण करती ही है। अतः सभी इन्द्रियां प्राप्यकारी मानी जानी चाहिये।

विविध यन्त्रों द्वारा प्रत्यक्ष का विस्तार

पूर्व में यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि प्रत्यक्ष ज्ञानोत्पत्ति में आत्मा, मन, इन्द्रियां और उनके विषयों का संयोग ही महत्त्वपूर्ण होता है। जिन विषयों का ग्रहण इन्द्रियों के द्वारा नहीं होता है वे विषय इन्द्रियातीत होने से प्रत्यक्षगम्य नहीं माने जाते हैं। अतीत काल में प्रत्यक्ष ज्ञान की परिधि अत्यन्त सीमित थी। इसीलिए

आचार्यों ने कहा था—"**अल्पं हि प्रत्यक्षमनल्पमप्रत्यक्षम्।**" किन्तु वर्तमान आधुनिक प्रगतिशील वैज्ञानिक युग में प्रत्येक क्षेत्र में नए नए आविष्कारों के द्वारा अन्यान्य यन्त्रों का विस्तार हुआ है। इससे अनेक इन्द्रियातीत या सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषय इन्द्रियों के ज्ञान की परिधि में आ गए हैं। उन आविष्कृत विविध यन्त्रों ने प्रत्यक्ष प्रमाण के क्षेत्र की सीमा को और अधिक विस्तार दे दिया है। यही कारण है कि गत कुछ समय तक ऐसी अनेक वस्तुएं थीं जिनका ग्रहण करने में चक्षु आदि इन्द्रियां असमर्थ थीं। किन्तु आज विज्ञान ने ऐसे अनेक आविष्कार प्रस्तुत कर दिए हैं जिनसे अनेक गूढ़तम रहस्यों का ज्ञान होने लगा है। चक्षु आदि इन्द्रियाँ भी अनेक अग्राह्य वस्तुओं को यंत्रों की सहायता से ग्रहण करने में समर्थ हुई हैं। जैसे चश्मा की सहायता से दुर्बल नेत्रों को दृश्य वस्तु स्वच्छ एवं स्पष्ट दिखलाई देने लगती है। अणुवीक्षण यंत्र की सहायता से आज सूक्ष्मतम जीव जन्तुओं का अवलोकन किया जा सकता है। दूरबीन यंत्र की सहायता से दूरस्थ ऐसी वस्तुओं को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है जो दूरबीन के बिना दिखलाई नहीं पड़तीं। इससे चाक्षुष प्रत्यक्ष के क्षेत्र में अत्यधिक विस्तार हुआ है।

इसी प्रकार श्रावण प्रत्यक्ष के क्षेत्र में भी विस्तार हुआ है। श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा शब्द श्रवण की एक सीमा है। उससे अधिक दूर के या सूक्ष्म शब्दों को सुनने में श्रोत्रेन्द्रिय असमर्थ रहती है। किन्तु आधुनिक यंत्रों के द्वारा दूरस्थ एवं सूक्ष्म शब्दों को भी सुनना सम्भव हुआ है। श्रवण यंत्र के द्वारा जहाँ दुर्बल श्रोत्रेन्द्रिय शब्दों को ग्रहण करने में समर्थ हुई है वहां दूरभाष (टेलीफोन) आदि यंत्रों ने सुदूर स्थित स्थानों पर कहे गए शब्दों को ग्रहण करने का सामर्थ्य श्रोत्रेन्द्रिय को दिया है। अर्थात् दूरभाष (टेलीफोन) से देशान्तर में स्थित व्यक्तियों के शब्द सुने जा सकते हैं तथा लाऊडस्पीकर के द्वारा शब्दों और ध्वनियों का प्रसार ज़ोर से किया जा सकता है, जिसके परिणाम स्वरूप एक व्यक्ति द्वारा उच्चरित वाक्यों को हजारों मनुष्य सुन सकते हैं।

आज आतुर के शरीर में हृदय के स्फुरण का शब्द और विकृति युक्त फुफ्फुस आदि अवयवों की खरखर ध्वनि स्पष्ट रूप से स्टेथस्कोप के द्वारा सुनी जा सकती है।

इस प्रकार आधुनिक युग में आविष्कृत अनेक यन्त्रों ने इन्द्रियों के द्वारा होने वाले प्रत्यक्ष के क्षेत्र का विस्तार किया है।

प्रत्यक्ष के रहते हुए अन्य प्रमाणों की आवश्यकता

प्रत्यक्ष प्रमाण सबसे अधिक महत्वपूर्ण एवं उपयोगी है। क्योंकि इसके द्वारा उत्पन्न हुआ ज्ञान संशय आदि दोषों से रहित होता है। व्यवहार में भी प्रत्यक्ष ज्ञान अधिक प्रामाणिक एवं विश्वसनीय माना जाता है। मनुष्य को जिस विषय का साक्षात्कार

या प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है, उस विषय में उसे कोई शंका नहीं रहती। फिर वह प्रत्यक्ष किए हुए विषय का दृढ़ता के साथ समर्थन करता है। यही कारण है कि सभी दर्शनों ने एक स्वर से प्रत्यक्ष प्रमाण को अंगीकार किया है। एकमेव प्रमाण को स्वीकार करने वाले भौतिकवादी और कट्टर नास्तिक चार्वाक दर्शन ने भी प्रत्यक्ष प्रमाण का ही आश्रय लिया है। अतः प्रत्यक्ष ज्ञान एवं प्रत्यक्ष प्रमाण के सार्वभौम महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। किन्तु फिर भी प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा जिन विषयों का ज्ञान या साक्षात्कार होता है वे विषय अत्यन्त सीमित हैं। संसार के सभी विषयों का ज्ञान एक मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा सम्भव नहीं है। क्योंकि "**अल्पं हि प्रत्यक्षम् अनल्पम-प्रत्यक्षम्**"—अर्थात् प्रत्यक्ष होने वाले विषय अत्यन्त अल्प हैं और प्रत्यक्ष नहीं होने वाले विषय बहुत अधिक। अतः ऐसे बहुत से विषय हैं जो प्रत्यक्ष ज्ञान से वंचित रह जाते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रियां ही साधन होती हैं। इन्द्रियां जिन विषयों को ग्रहण करती हैं उनका तो प्रत्यक्ष हो जाता है, किन्तु इन्द्रियां जिन विषयों को ग्रहण करने में असमर्थ हैं उनका प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। भौतिक होने के कारण इन्द्रियों का विषय क्षेत्र अत्यन्त सीमित है। अतः सीमित विषय क्षेत्र के बाहर के विषयों का ग्रहण इन्द्रियों के द्वारा नहीं होने के कारण उन विषयों का ज्ञान नहीं हो पाता। इसीलिए वे विषय प्रत्यक्ष ज्ञान के बाहर हो जाते हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान के विषयातिरिक्त विषयों का क्षेत्र अत्यन्त विशाल एवं असीमित है। उन विषयों का ज्ञान भी अपेक्षित रहता है।

इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष प्रमाण केवल वर्तमान काल में स्थित पदार्थों का सीमित ज्ञान कराने में ही सहायक है। प्रत्यक्ष के द्वारा भूत और भविष्य कालीन विषयों का साक्षात्कार करना सम्भव नही है। अतः भूत और भविष्यकाल के सम्पूर्ण विषयों का प्रत्यक्ष नहीं होने के कारण वे अज्ञात रह जाते हैं। उन विषयों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रामाणान्तर अपेक्षित हैं। जो विषय प्रत्यक्ष ज्ञान की सीमा में नहीं आते हैं उनका ज्ञान किसी प्रमाण के द्वारा ही किया जायेगा, अन्यथा वे समस्त विषय अज्ञात ही रह जायेंगे और उनकी प्रामाणिकता सदैव संदिग्ध बनी रहेगी। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण के रहते हुए भी अन्य सभी विषयों के ज्ञान के लिए अन्य अनुमान आदि प्रमाण भी अपेक्षित है। अन्य प्रमाणों को स्वीकार किए बिना प्रत्यक्ष के द्वारा केवल कुछ सीमित विषयों का ज्ञान ही सम्भव हो सकेगा।

प्रत्यक्ष के बाधक

पदार्थों के सम्मुख उपस्थित रहने पर भी अनेक बार ऐसा होता है कि हमें उस वस्तु का ज्ञान नहीं हो पाता। कुछ कारण ऐसे उपन्न हो जाते हैं जो प्रत्यक्ष ज्ञान

नहीं होने देते और उसमें बाधा उत्पन्न करते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने में बाधा उत्पन्न करने के कारण ही वे प्रत्यक्ष के बाधक कहलाते हैं। महर्षि चरक ने प्रत्यक्ष ज्ञान में अवरोध उत्पन्न करने वाले उन कारणों का उल्लेख सविस्तार निम्न प्रकार से किया है—

"सतां च रूपाणामतिसन्निकर्षादतिविप्रकर्षादावरणात् करणदौर्बल्यान्मनोऽनवस्थानात् समानाभिहारादभिभवादतिसौक्ष्म्याच्च प्रत्यक्षानुपलब्धिः।"

—चरक संहिता, सूत्रस्थान ११।८

अर्थात् विषयों के विद्यमान होने पर भी कभी-कभी उनका प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है, जैसे चक्षु इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य रूपवान् वस्तुओं के विद्यमान होने पर भी १. अत्यन्त समीप होने के कारण, २. अत्यन्त दूर होने के कारण, ३. आवरण से ढक जाने के कारण, ४. इन्द्रियों की दुर्बलता के कारण, ५. मन के चंचल होने के कारण, ६. समानभिहार-एक समान कई वस्तुएं होने के कारण, ७. किसी वस्तु से अन्य वस्तु के दब जाने के कारण और ८. अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण उस वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता है। अतः जो लोग केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं वे बिना विचारे और बिना समुचित परीक्षा किए हुए ही एक मात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं। वे किसी अन्य प्रमाण को स्वीकार नहीं करते हैं।

प्रत्यक्ष ज्ञान में बाधा उत्पन्न करने वाले जो कारण ऊपर बतलाए गए हैं उन्हें निम्न उदाहरणों द्वारा समझना चाहिए—

१. **अति समीप**-वस्तु के अत्यधिक समीप होने पर उसका समुचित ज्ञान नहीं होता है। जैसे किसी पुस्तक को नेत्र के अति समीप लाया जाता है तो उसके अक्षर दिखलाई नहीं पड़ते। इसी प्रकार आंख में लगा हुआ काजल भी अति समीपता के कारण दिखलाई नहीं पड़ता है।

२. **अतिदूर**— अत्यधिक दूर होने से भी वस्तु या वस्तु स्वरूप का ज्ञान नहीं होता है। जैसे आकाश में अत्यन्त दूर उड़ता हुआ पक्षी दिखलाई नहीं पड़ता अथवा दूर रखी हुई पुस्तक के अक्षर दिखलाई नहीं पड़ते।

३. **आवरण**—किसी पदार्थ या दीवार का व्यवधान होने से वस्तु के रहते हुए भी उसका ज्ञान नहीं होता है। किसी वस्तु को कागज या कपड़े में लपेट कर रख दिया जाय तो आवरण होने के कारण उस वस्तु का ज्ञान नहीं होता है।

४. **करण दौर्बल्य**—इन्द्रियों की दुर्बलता या विकृति के कारण वे अपने विषय को ग्रहण नहीं कर पाती हैं जिससे वे विषय का समुचित ज्ञान नही करा पाती हैं। जैसे नेत्रों में रतोंध या मोतियाबिन्द आदि कोई विकृति हो जाने पर नेत्रों से दिखलाई

नहीं पड़ता है। दृष्टि की दुर्बलता से लोग पढ़ नहीं पाते हैं या उन्हें वस्तुएं स्पष्ट दिखलाई नहीं पड़तीं, जिससे उन्हें चश्मा का सहारा लेना पड़ता है।

५. **मन की चंचलता**— मन अत्यन्त चंचल होता है, जिससे वह क्षण मात्र में इतस्ततः भ्रमित हो जाता है। अपनी चंचलता के बावजूद जब वह किसी एक विषय में आसक्त होता है तो उस क्षण में उसकी प्रवृत्ति अन्यत्र नहीं होती है। जैसे काम आदि से आविष्ट पुरुष समीपस्थ वस्तु को भी नहीं देख पाता है या कक्षा में स्थित छात्र का मन अन्यत्र आसक्त होने के कारण वह बोर्ड पर लिखे गये अक्षरों को नहीं देख पाता है। इसी प्रकार जब किसी विद्यार्थी का मन कोई पुस्तक पढ़ते समय इधर-उधर चला जाता है तो उसे यह ज्ञान नहीं हो पाता कि उसने पुस्तक में क्या पढ़ा?

६. **समानाभिहार**—समान वस्तुओं के मिलने से उनका पृथक् ज्ञान नहीं होता है। जैसे गेहूं के दानों में मिलाए गए अन्य गेहूं के दाने नहीं पहचाने जा सकते।

७. **अभिभव**—एक वस्तु के द्वारा अन्य वस्तु का अभिभूत होना अभिभव कहलाता है। जैसे दिन में सूर्य के तेज से तारों का ज्ञान नहीं होता है।

८. **अतिसूक्ष्म**—जैसे अतिसूक्ष्म होने के कारण सूक्ष्म जीवाणुओं का नेत्र से ज्ञान नहीं होता है।

प्रत्यक्ष ज्ञान में बाधा उत्पन्न करने वाले चरकोक्त उपर्युक्त कारणों का उल्लेख ईश्वर कृष्ण ने भी सांख्यकारिका में किया है। यथा—

अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च ॥

इन समस्त कारणों से प्रत्यक्षोपलब्धि नहीं होने के कारण उन विषयों के ज्ञान के लिए प्रमाणान्तर अपेक्षित है। अतः प्रत्यक्ष के रहते हुए भी संसार के अन्य विषयों के ज्ञान के लिए अन्य प्रमाण भी आवश्यक हैं।

आयुर्वेद में प्रत्यक्ष प्रमाण की उपयोगिता

आयुर्वेद शास्त्र में प्रत्यक्ष प्रमाण का प्रतिपादन मात्र दार्शनिक दृष्टि से नहीं किया गया है। आतुर परीक्षा एवं रोग ज्ञान में प्रत्यक्ष की उपयोगिता एवं महत्व सुस्पष्ट है। आतुर की परीक्षा के लिए मुख्य साधन इन्द्रियां हैं। इन्द्रियों के द्वारा परीक्षा का निर्देश शास्त्रों में स्पष्टतः मिलता है। यथा—"**दर्शनस्पर्शनप्रश्नैः परीक्षेत च रोगिणम्।**"

अर्थात् (वैद्य) दर्शन, स्पर्शन और प्रश्न के द्वारा रोगी की परीक्षा करे।

यहां तीनों प्रकार की परीक्षा इन्द्रियों के द्वारा करने का निर्देश आचार्यों ने दिया

है। ये तीनों परीक्षाएं प्रत्यक्ष के अन्तर्गत ही सन्निहित हैं। इसी प्रकार अन्य परीक्षाएं भी इन्द्रियों के द्वारा करने का निर्देश मिलता है, जिससे आयुर्वेद में प्रत्यक्ष प्रमाण की उपयोगिता का आभास मिलता है। इस सम्बन्ध में चरक का निम्न वचन महत्वपूर्ण है—

"प्रत्यक्षतस्तु खलु रोगतत्वं बुभुत्सुः सर्वैरिन्द्रियैः सर्वानिन्द्रियार्थानातुरशरीरगतान् परीक्षेत्, नान्यत्र रसज्ञानात्।" — चरक संहिता, विमान स्थान ४।७

अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा रोग ज्ञान करने की इच्छा करने वाला वैद्य रस ज्ञान को छोड़ कर शेष समस्त इन्द्रियों के द्वारा रोगी के शरीर में स्थित जानने योग्य समस्त विषयों की परीक्षा करे।

इसके अनुसार रोगी के स्वर आदि की परीक्षा तथा हृदय के स्फुरण आदि का ज्ञान श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा, शरीर की आकृति, प्रमाण, वर्ण आदि की परीक्षा चक्षु के द्वारा, शरीर के ताप, नाड़ी स्फुरण आदि की परीक्षा स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा और गन्ध योग्य भावों की परीक्षा या ज्ञान घ्राणेन्द्रिय के द्वारा करना चाहिये। इन चारों इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त ज्ञान प्रत्यक्ष के अन्तर्गत आता है। प्रत्यक्ष के अभाव में शरीरगत किसी भी अवयव या भाव की परीक्षा होना सम्भव नहीं है। अतः आतुर की परीक्षा तथा अन्य प्रायोगिक ज्ञान के लिए प्रात्यक्षिक कर्माभ्यास नितान्त अपेक्षित है।

आयुर्वेद में अन्यत्र रोगी की अष्टविध परीक्षा का निर्देश दिया गया है। यथा—

रोगाक्रान्तशरीरस्य स्थानान्यष्टौ परीक्षयेत्।
नाड़ीं मूत्रं मलं जिह्वां शब्दं स्पर्शं दृगाकृती॥

अर्थात् मनुष्य के रोगाक्रान्त शरीर के निम्न आठ स्थानों (भावों) की परीक्षा करना चाहिये—१. नाड़ी, २. मूत्र, ३. मल, (पुरीष), ४. जिह्वा, ५. शब्द, ६. स्पर्श, ७. दृष्टि और ८. आकृति। इन समस्त भावों की परीक्षा इन्द्रियों के द्वारा ही सम्भव है। इन्द्रियों के द्वारा होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष के अन्तर्गत ही आता है। अतः आयुर्वेद में प्रत्यक्ष की उपयोगिता सुस्पष्ट है।

इसी प्रकार रोगी की चिकित्सा के लिए भी प्रत्यक्ष की उपयोगिता है। आयुर्वेद के अन्य विषयों जैसे अगद तन्त्र, कौमार भृत्य, प्रसूति तंत्र, रस-शास्त्र-भैषज्य कल्पना, शल्य-शालाक्य तंत्र आदि में भी प्रत्यक्ष के बिना काम चलने वाला नहीं है। अतः प्रत्यक्ष को अनिवार्य माना गया है। आयुर्वेदीय औषधि निर्माण शास्त्र की समस्त प्रक्रियाएं प्रत्यक्ष के अभाव में अपूर्ण ही रह जायेंगी।

एकादश अध्याय

अनुमान निरुपण

आयुर्वेद शास्त्र में किया गया अनुमान का विशद विवेचन एवं वर्णन इस बात का संकेत करता है कि अन्य दर्शनों की भांति आयुर्वेद में भी अनुमान का महत्व एवं उपयोगिता है। ज्ञान के जो दो मुख्य भेद किए गए हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष, उनमें परोक्ष ज्ञान में अनुमान का स्थान अग्रणी है। इसका कारण यह है कि जो विषय प्रत्यक्ष ज्ञान की परिधि में नहीं आ पाते हैं उनमें से अनेक विषयों का ज्ञान अनुमान के द्वारा किया जाता है। अनुमान के विषय में प्रायः सभी दर्शनों ने व्यापक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए उसकी उपयोगिता को स्वीकार किया है। अतः यह कहना अप्रासंगिक एवं अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं होगा कि परोक्ष ज्ञान में अनुमान का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक होने के कारण अधिकांश प्रमेय विषयों का ज्ञान अनुमान के द्वारा ही होता है। यही कारण है कि आयुर्वेद में भी अनुमान को प्रत्यक्ष के बाद प्रमुखता दी गई है।

अनुमान का स्वरूप एवं लक्षण

अनुमान शब्द का निर्माण दो शब्दों से हुआ है। यथा—अनु + मान = अनुमान। अनु का अर्थ होता है पश्चात् और मान का अर्थ होता है ज्ञान। अतः अनुमान का शब्दार्थ होता है पश्चात् या बाद में होने वाला ज्ञान। अनुमान शब्द की निरुक्ति से भी यही अर्थ ध्वनित होता है। यथा—"अनु पश्चात् मीयते ज्ञायतेऽनेनेति अनुमानम्।" अर्थात् जिसके द्वारा बाद में (प्रत्यक्ष के बाद) ज्ञान प्राप्त किया जाता है वह अनुमान कहलाता है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि लिङ्ग ग्रहण और व्याप्ति स्मरण के अनु-पश्चात् होने वाला मान-ज्ञान अनुमान कहलाता है। जैसा कि न्याय दर्शन में प्रतिपादित किया गया है—

"तल्लिङ्गि लिङ्ग पूर्वकम्।" —न्यायवार्तिक

अर्थात् लिङ्ग को देखकर लिंग का व्यभिचार रहित ज्ञान प्राप्त करना अनुमान कहलाता है। जैसे—शरीर में किसी स्थान में प्रनष्ट शल्य का ज्ञान उस स्थान पर उत्पन्न होने वाले उसके लक्षण (लिङ्ग) पाक तथा ऊष्मा आदि से किया जाता

है। जैसे प्रनष्ट शल्य वाले संदिग्ध स्थान पर चन्दन या घृत का लेप करने पर चन्दन का शुष्क हो जाना और घृत का पिघल जाना आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार से निगूढ़ वस्तु या विषय का ज्ञान प्राप्त करना अनुमान कहलाता है।

लक्षण

इसके अतिरिक्त अनुमान का सर्व सामान्य निम्न लक्षण प्रतिपादित किया गया है—

"साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम्।"

अर्थात् साधन से साध्य का ज्ञान होना अनुमान कहलाता है।

यह ज्ञान अविशद होने से परोक्ष है, किन्तु अपने विषय में अविसंवादी है तथा संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय आदि समारोपों का निराकरण करने के कारण प्रमाण है। साधन से साध्य का नियत ज्ञान अविनाभाव के बल से ही होता है। सर्व प्रथम साधन को देख कर पूर्व गृहीत अविनाभाव का स्मरण होता है, फिर जिस साधन से साध्य की व्याप्ति ग्रहण की है, उस साधन के साथ वर्तमान साधन का सादृश्य प्रत्यभिज्ञात किया जाता है, तब अनुमान के द्वारा साध्य की सिद्धि होती है। यह मानस ज्ञान है।

अनुमान के कुछ अन्य लक्षण आचार्यों ने निम्न प्रकार से प्रतिपादित किए हैं—

"वस्तु यत्परोक्षं तदनुप्रत्यक्षात् यन्मीयते ज्ञायते तदनुमानम्।"—गंगाधर

अर्थात् जो वस्तु परोक्ष में है तथा प्रत्यक्ष के पश्चात् जिसका ज्ञान किया जाता है वह अनुमान कहलाता है।

"व्याप्तिग्रहणादनु-अनन्तरं मीयते सम्यक् निश्चीयते परीक्षार्थो येन तदनुमानम्।"
—चक्रपाणि दत्त

अर्थात् व्याप्ति ग्रहण के पश्चात् परीक्ष्य विषय का ज्ञान जिसके द्वारा किया जाता है या अच्छी तरह निश्चय किया जाता है उसे अनुमान कहते हैं।

"युक्त्या कार्यकारणभावोपपत्या अविज्ञातस्याप्यार्थस्य विज्ञानमनुमानम्।"
—उपस्कार

अर्थात् कार्य कारण भाव की उपपत्ति रूप युक्ति से अविज्ञात अर्थ (अज्ञात विषय) का ज्ञान करना अनुमान कहलाता है।

"अनु पश्चादव्यभिचारिलिङ्गाल्लिङ्गी मीयते ज्ञायते येन तदनुमानम्।"
—डल्हण

अनु अर्थात् बाद में (प्रत्यक्ष ज्ञान के पश्चात्) अव्यभिचारी (व्यभिचार रहित) लिङ्ग (हेतु) से लिङ्गी (साध्य) का ज्ञान जिससे किया जाता है वह अनुमान कहलाता है।

"मितेन लिङ्गेनार्थस्य पश्चान्मानमनुमानम्।" **—वात्सायन**

अर्थात् परिमित या सीमित लिङ्ग हेतु से विषय का जो ज्ञान बाद में प्राप्त होता है वह अनुमान कहलाता है।

"लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धजत्यत्वमनुमानम् **—गंगाधर**

अर्थात् लिङ्ग (हेतु) और लिङ्गी (साध्य) के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाला ज्ञान अनुमान कहलाता है।

इसके अतिरिक्त अनुमान में तर्क एवं युक्ति की भी अपेक्षा रहती है। जैसाकि महर्षि चरक ने स्वयं कहा है—

"अनुमानं खलु तर्को युक्त्यपेक्षः।" **—चरक संहिता, विमान स्थान ४**

अर्थात् युक्ति सापेक्ष तर्क को अनुमान कहते हैं।

इसी को स्पष्ट करते हुए आचार्य चक्रपाणिदत्त ने अपना मन्तव्य निम्न प्रकार से व्यक्त किया है—**"तर्कोऽत्राप्रत्यक्षज्ञानम्। युक्तिः सम्बन्धोऽविनाभाव इत्यर्थः। तेनाविभाकजं परोक्षज्ञानमनुमानमित्यर्थः।"**

अर्थात् यहां तर्क का अर्थ अप्रत्यक्ष (परोक्ष) ज्ञान है। युक्ति का अर्थ अविनाभाव सम्बन्ध है। उससे अविनाभावज परोक्ष ज्ञान अनुमान होता है यह अर्थ है।

सामान्यत: विज्ञात अर्थ में कारण और उपपत्ति को देखकर अविज्ञात अर्थ में भी उसका अवधारण करना 'युक्ति' कहलाता है और अविज्ञात तत्व के अर्थ में कारण और उपपत्ति से तत्व ज्ञान के लिए जो 'ऊहा' होती है, उसे **तर्क** कहते हैं। युक्ति सापेक्ष तर्क अर्थात् युक्ति के द्वारा कार्य—कारण भावोपपत्ति से अविज्ञात अर्थ में ज्ञान करना, जैसे—महानस (चौका घर) में वह्नि और धूम को एक साथ देखकर उसमें कार्य-कारण भाव का ग्रहण कर किसी पर्वत पर धूम को देखकर वह्नि और धूम के कार्य-कारण भावोपपत्ति से अदृष्ट वह्नि का ज्ञान प्राप्त करना अनुमान कहलाता है।

अनुमान के एक अन्य लक्षण में अनुमिति के साधकतम करण को अनुमान कहा गया है। यथा—

"अनुमितिकरणमनुमानम्।" —तर्क संग्रह

अर्थात् अनुमति का करण (साधकतम) अनुमान कहलाता है।

अनुमिति—"**परामर्शजन्यज्ञानमनुमितिः।**" अर्थात् परामर्श जन्य ज्ञान को अनुमिति कहते हैं।

परामर्श—"**व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः।**" अर्थात् व्यप्ति के साथ पक्षधर्मता के ज्ञान को परामर्श कहते हैं।

व्याप्ति—"**यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्तिः।**" अर्थात् जहां जहां धुआँ होता है वहां वहां अग्नि होती है। इस प्रकार के साहचर्य (एक साथ रहने के) नियम को व्याप्ति कहते हैं।

पक्ष धर्मता—"**व्याप्यस्य पर्वतादिवृत्तित्वं पक्ष धर्मता।**" अर्थात् व्याप्य धूम आदि हेतु के पर्वत आदि पक्ष (साध्य स्थल) में होने को पक्षधर्मता कहते हैं।

अभिप्राय यह है कि "पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमात्" यह अनुमान तभी सम्भव है जब "जहां-जहां धूम होता है वहां-वहाँ अग्नि अवश्य रहती है" इस व्याप्ति ज्ञान के साथ पक्ष (पर्वत) में व्याप्य (धूम) की उपस्थिति दिखलाई पड़े।

चरकोक्त अनुमान का लक्षण एवं भेद

प्रत्यक्षपूर्वं त्रिविधं त्रिकालं चानुमीयते।
वह्निर्निगूढो धूमेन मैथुनं गर्भदर्शनात् ॥
एवं व्यवस्यन्त्यतीतं बीजात् फलमनागतम्।
दृष्ट्वा बीजात् फलं जातमिहैव सदृशं बुधाः ॥

—चरक संहिता, सूत्र स्थान ११/२१-२२

अर्थ—प्रत्यक्ष ज्ञान पूर्वक तीन प्रकार का तथा तीनों काल का अनुमान किया जाता है। छिपी हुई (वर्तमान) अग्नि का अनुमान धूम से और अतीत काल के मैथुन का अनुमान गर्भ को देखने से होता है। अनागत (भविष्यकालीन) फल का अनुमान बीज से किया जाता है। बीज को देखकर इस बीज के समान फल हुआ था, यह अनुमान बीज के विषय में भी विद्वान् करते हैं।

यहां यह स्पष्ट किया गया है कि अनुमान प्रत्यक्ष पूर्वक होता है। अर्थात् जिसका कभी प्रत्यक्ष हुआ हो, किन्तु वर्तमान काल में प्रत्यक्षतः उसकी उपलब्धि नहीं होती हो, उस वस्तु का ज्ञान अनुमान के द्वारा होता है। इस प्रकार अनुमेय विषय या वस्तु का पूर्व में प्रत्यक्ष किया हुआ होना आवश्यक है।

उपर्युक्त निर्वचन से अनुमान का सामान्य अर्थ यह ध्वनित होता है कि व्याप्ति के ज्ञान के अनन्तर परोक्ष विषय का जो सम्यक्तया निश्चयात्मक ज्ञान किया जाता है वह अनुमान कहलाता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि लिङ्ग परामर्श का

नाम ही अनुमान है। क्योंकि लिङ्ग परामर्श के द्वारा ही परोक्ष विषय का ज्ञान किया जाता है। व्याप्ति के बल से विषय या वस्तु का जो ज्ञापक होता है वही लिङ्ग कहलाता है। जैसे धुआँ अग्नि का लिङ्ग है। किसी स्थान पर यदि अग्नि दिखलाई नहीं पड़ती है, उसका ज्ञापक धुआं दिखलाई पड़ता है तो सहज ही यह अनुमान किया जायगा कि यहां पर अग्नि विद्यमान है। क्योंकि धुआँ अग्नि के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता। इस प्रकार अग्नि के साथ धुआँ साहचर्य नियम से रहता है। यह साहचर्य नियम ही व्याप्ति है।

यह स्पष्ट है कि व्याप्ति के बिना अनुमान होना सम्भव नहीं है और व्याप्ति का ग्रहण या ज्ञान प्रत्यक्ष से ही होता है। इसीलिए महर्षि चरक ने अनुमान का जो लक्षण प्रतिपादित किया है उसमें '**प्रत्यक्ष पूर्वक**' कहा गया है। अर्थात् जिस विषय का अनुमान किया जा रहा है या किया जाता है, पूर्व में उसका प्रत्यक्ष अनुभव होता आवश्यक है। महर्षि चरक ने तीन प्रकार का अनुमान बतलाते हुए उसके तीन उदाहरण बतलाए हैं। यह तीन प्रकार का अनुमान और उसके उदाहरण न्याय दर्शनोक्ति त्रिविध अनुमान से समानता रखता है। यथा—"**अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतो दृष्टं च।**" अर्थात् तत्पूर्वक अनुमान पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतो दृष्ट भेद से तीन प्रकार का होता है। जहां कारण से कार्य का अनुमान होता है वह पूर्ववत् कहलाता है। यही चरकोक्त '**वह्निर्निगूढो धूमेन**' है। जहां कार्य से कारण का अनुमान होता है वह शेषवत् कहलाता है। यही चरकोक्त "**मैथुनं गर्भदर्शनात्**" है। जहाँ कार्य-कारण सम्बन्ध से भिन्न लिङ्ग हो वह सामान्यतो दृष्ट कहलाता है। जैसे सूर्य से उसकी गति का अनुमान। न्यायोक्त इस त्रिविध अनुमान का विस्तृत विवेचन आगे किया जायगा।

महर्षि चरक के अनुसार अनुमान गम्य भाव तीनों कालों (वर्तमान-भूत-भविष्य) में भिन्न-भिन्न रूप से होते हैं। प्रत्यक्ष से मात्र वर्तमान काल के भावों का ही ग्रहण होता है, जबकि अनुमान से तीनों काल के भावों का ग्रहण होता है। जैसे निगूढ या परोक्ष वह्नि का धूम से (वर्तमान काल-सामान्यतो दृष्ट) अनुमान होता है। गर्भ को देखकर भूतकाल में किए गए मैथुन का अनुमान किया जाता है (भूतकाल शेषवत्)। बीज से अनागत (भविष्य कालीन) फल का अनुमान होता है (शेषवत्)। यहाँ बीज से तत्सदृश फल को उत्पन्न हुआ देखकर (कार्य-कारण रूप व्याप्ति का ग्रहण करने के अनन्तर) ही बीज से फल का निश्चय (सहकारि कारण-क्षेत्र, जल आदि होने पर) किया जाता है। इस प्रकार यह त्रिविध अनुमान होता है।

अनुमान के अन्य भेद एवं पंचावयव

अन्यत्र यह अनुमान सामान्यतः दो प्रकार का भी बतलाया गया है। यथा—१. स्वार्थानुमान और २. परार्थानुमान।

१. **स्वार्थानुमान**—अपनी अनुमिति का करण (साधकतम कारण) स्वार्थानुमान कहलाता है। इसमें अनुमान करने वाला व्यक्ति स्वयं कार्य-कारण भाव को देखकर स्वयं के ज्ञान के लिए अनुमान करता है। जैसे कोई व्यक्ति महानस (रसोईघर) में धुंए और अग्नि को साथ-साथ देखकर यह निश्चय करता है कि जहां-जहां धुआं होता है वहां-वहां अग्नि होती है—इस प्रकार के व्याप्ति ज्ञान का निश्चय करने के अनन्तर किसी पर्वत के समीप धुआं उठता हुआ देखकर पूर्व दृष्ट व्याप्ति ज्ञान का स्मरण कर यह निश्चयात्मक ज्ञान करता है कि यहां पर भी अग्नि है। इसी का नाम लिङ्ग परामर्श है। इस लिङ्ग परामर्श से ही यह ज्ञान उत्पन्न हुआ कि पर्वत पर आग है। इसे ही स्वार्थानुमान कहते हैं। यह केवल स्वयं को समझने के लिए होता है।

२. **परार्थानुमान**—यह अनुमान दूसरों को ज्ञान कराने में सहायक होता है। जब कोई व्यक्ति दूसरों को समझाने के लिए शास्त्रीय सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए लिङ्ग परामर्श के द्वारा साध्य की सिद्धि करता है तो वह परार्थानुमान कहलाता है। परार्थानुमान की सिद्धि के लिए पाँच अवयव अपेक्षित रहते हैं। उन पाँच अवयवों के बिना परार्थानुमान की सिद्धि नहीं होती है। पंचावयव वाक्य निम्न हैं—

१. **प्रतिज्ञा**—किसी साध्य या कार्य की सिद्धि के लिए सर्वप्रथम जो वाक्य प्रयुक्त किया जाता है वह प्रतिज्ञा वाक्य कहलाता है। जैसे —"यह पर्वत अग्नि वाला है।" इस प्रतिज्ञा वाक्य में अग्नि साध्य है। क्योंकि पर्वत में अग्नि की सिद्धि करना ही मुख्य प्रयोजन है।

२. **हेतु**—कारण को हेतु कहते हैं। प्रतिज्ञा वाक्य में जो साध्य होता है उसकी सिद्धि के लिए जो कारण प्रस्तुत किया जाता है वह हेतु कहलाता है। जैसे—"धुआं होने से" यह कारण उपर्युक्त प्रतिज्ञा वाक्य की साध्य 'अग्नि' की सिद्धि करने के लिए कहा गया है।

३. **उदाहरण**—साध्य की सिद्धि के लिए कारण युक्त अन्य स्थान का सादृश्य भाव से युक्त जो उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है वही उदाहरण कहलाता है। जैसे—'रसोईघर में'। उपर्युक्त प्रतिज्ञा वाक्य में कहे गए साध्य 'अग्नि' की सिद्धि के लिए यहां रसोईघर का उदाहरण दिया गया है। क्योंकि रसोईघर में धुएं के साथ अग्नि का होना निश्चित रूप से उपलब्ध होता है।

४. **उपनय**—उदाहरण के आधार पर पक्ष में भी उसी प्रकार का निष्कर्ष निकालने के लिए प्रेरित होना उपनय कहलाता है। जैसे—"उसी प्रकार यहाँ भी।"

५. **निगमन**—निष्कर्ष को ही निगमन कहते हैं। जैसे—"इसलिए यहाँ भी अग्नि है।"

इस प्रकार उपर्युक्त पांचों अवयवों के द्वारा अनुमान की सिद्धि होती है। इन पाँच अवयव वाक्यों के द्वारा जो अनुमान कराया जाता है वह परार्थानुमान होता है।

वात्सायन ने भी परार्थानुमान की सिद्धि के लिए पाँच अवयवों का उल्लेख किया है। किन्तु उनके पंचावयव पूर्वोक्त पांच अवयवों से भिन्न हैं। यथा—१. जिज्ञासा २-संशय, ३-शक्य प्राप्ति, ४-प्रयोजन और ५-संशय व्युदास। भाष्यकार के मतानुसार इनकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। क्योंकि पूर्वोक्त पांच अवयवों से भली भांति परार्थानुमान का पूर्ण ज्ञान हो जाता है और उसमें किसी प्रकार की शंका के लिए स्थान नहीं रहता। तार्किक विद्वानों के मतानुसार उपर्युक्त पांच अवयवों की संख्या को घटाकर तीन अवयवों के द्वारा भी अभीष्ट सिद्धि की जा सकती है। क्योंकि प्रतिज्ञा और निगमन में कोई मौलिक अन्तर नहीं होने से निगमन की कोई आवश्यकता या उपयोगिता नहीं रह जाती। उपनय और हेतु में भी कोई स्पष्ट अन्तर प्रतीत नहीं होता, जबकि व्याप्ति के द्वारा लक्ष्य की सिद्धि हो जाती है। अतः निगमन का अन्तर्भाव प्रतिज्ञा में तथा उदाहरण और उपनय का अन्तर्भाव व्याप्ति में कर प्रतिज्ञा, हेतु और व्याप्ति इन तीन अवयवों को ही अनुमान साधन के लिए पर्याप्त समझा जाता है। इन तीन अवयवों के द्वारा अनुमान साधन की प्रवृत्ति मुख्यतः परवर्ती नैयायिकों में पाई जाती है। भारतीय दर्शन शास्त्र में स्वमत प्रतिपादक कुछ विद्वान् एवं विचारक जैसे वेदान्ती, मीमांसक, बौद्ध तथा जैन दार्शनिक व्यवहार रूप से दो अवयवों को ही पर्याप्त समझते हैं। जैसे प्रतिज्ञा और हेतु। शेष अवयवों का अन्तर्भाव इन्हीं दो में कर लिया जाता है। किसी विशेष स्पष्टीकरण के लिए वे व्याप्ति का आश्रय ले लेते हैं।

लिङ्ग परामर्श—उपर्युक्त द्विविध स्वार्थ अनुमिति और परार्थ अनुमिति दोन में ही लिङ्ग परामर्श कारण है। बिना लिङ्ग परामर्श के अनुमान नहीं हो सकता है। जैसे जहां-जहां धुआं होता है वहां-वहां अग्नि अवश्य होती है। इस व्याप्ति ज्ञान के साथ पर्वत पर धुआं रूप पक्षधर्मता का ज्ञान अपेक्षित है। अतः व्याप्ति ज्ञान विशिष्ट पक्ष धर्मता ज्ञान अर्थात् पर्वत पर धुआं है और वह धुआं अग्नि का व्याप्य है—ऐसा ज्ञान होना चाहिये। इस ज्ञान को ही 'परामर्श' कहते हैं। इसमें धुआं लिङ्ग अथवा साधन होता है और अग्नि लिङ्गी अथवा साध्य है। अतः इसे लिङ्ग परामर्श भी कहा जाता

है। यही लिङ्ग-परामर्श अनुमिति का करण होने से अनुमान कहलाता है। यह लिङ्ग तीन प्रकार का होता है—अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी और केवल व्यतिरेकी।

हेतु तथा साध्य का साहचर्य **अन्वय** कहलाता है और इसके विपरीत अर्थात् साध्याभाव तथा हेत्वभाव का साहचर्य **व्यतिरेक** कहलाता है। अन्वय सपक्ष में रहता है और व्यतिरेक विपक्ष में। जहाँ हमें साध्य के होने का निश्चित ज्ञान है, उसे सपक्ष कहते हैं। जैसे महानस (रसोईघर)। यहां महानस में धुआँ रूप हेतु तथा अग्नि रूप साध्य इन दोनों का साहचर्य रूप अन्वय व्याप्ति का ज्ञान होता है। इसके विपरीत जहां हमें साध्य के अभाव का निश्चित ज्ञान है, उसे विपक्ष कहते हैं। जैसे जलाशय। यहां जलाशय में साध्य अग्नि का अभाव अर्थात् अग्नि का नहीं होना तथा हेतु रूप धुएं का अभाव अर्थात् धुए का नहीं होना— इन दोनों का साहचर्य रूप व्यतिरेक व्याप्ति का ज्ञान होता है।

अन्वय व्यतिरेकी— **"अन्वयेन व्यतिरेकेण व्याप्तिमदन्वयव्यतिरेकी"**— उपर्युक्त अन्वय व्याप्ति तथा व्यतिरेक व्याप्ति दोनों के दृष्टान्त जिसमें हों ऐसे लिङ्ग को अन्वय व्यतिरेकी कहते हैं। जैसे—"पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमात्" इस उदाहरण में दिया हुआ धुआं रूप हेतु (लिंग) अन्वय व्यतिरेकी है। क्योंकि जहां-जहां धुआं होता है, वहां वहां अग्नि होती है। जैसे— रसोईघर में। यहां रसोईघर में हेतु धुआं और साध्य अग्नि है-इन दोनों का साहचर्य मिलता है। यह अन्वय व्याप्ति का दृष्टान्त है। इसके विपरीत जहां-जहां अग्नि का अभाव हो वहां धुए का भी अभाव हो। जैसे-जलाशय। यहां जलाशय में साध्य अग्नि का अभाव तथा हेतु धुए का अभाव इन दोनों का साहचर्य मिलता है। इससे यह हुआ व्यतिरेक का दृष्टान्त। अतः उपर्युक्त प्रतिज्ञा वाक्य में कहा गया धुआँ रूप लिङ्ग (हेतु) अन्वय व्यतिरेकी हुआ।

केवलान्वयी—**"अन्वयमात्रव्याप्तिकं केवलान्वयी"**-तर्क संग्रह। उपर्युक्त अन्वय व्याप्ति और व्यतिरेक व्याप्ति इन दोनों में से केवल अन्वय व्याप्ति का दृष्टान्त जिसमें उपलब्ध होता हो और व्यतिरेक व्याप्ति का दृष्टान्त उपलब्ध न हो, ऐसे लिङ्ग को केवलान्वयी कहते हैं। जैसे-**घटोऽयमभिधेयः प्रमेयत्वात्**। यहां पर दिया गया प्रमेयत्व हेतु केवलान्वयी है, क्योंकि जहां-जहां प्रमेयत्व होता है, वहां-वहां अभिधेयत्व होता है। जैसे-पट। इस प्रकार सपक्ष में स्थित अन्वय व्याप्ति का दृष्टान्त तो मिलता है, किन्तु जहां-जहां साध्य अभिधेयत्व का अभाव होता है, वहां-वहां हेतु-प्रमेयत्व का अभाव होना चाहिये। विपक्ष में स्थित ऐसी व्यतिरेक व्याप्ति का दृष्टान्त नहीं मिलता। क्योंकि संसार के समस्त पदार्थ अभिधेय हैं। अतः यहां कहा गया 'प्रमेयत्व' हेतु केवलान्वयी होता है।

केवल व्यतिरेकी—**"केवलव्यतिरेकमात्रव्याप्तिकं केवलव्यतिरेकी"**-तर्क संग्रह। जहां केवल व्यतिरेक व्याप्ति का दृष्टान्त मिलता है और अन्वय व्याप्ति का दृष्टान्त नहीं मिलता, ऐसे लिङ्ग को केवल व्यतिरेकी कहते हैं। जैसे—'जीवत् शरीरं सात्मकं प्राणादिमत्वात्'। यहाँ पर दिया गया प्राणादिमत्व हेतु केवल व्यतिरेकी है। क्योंकि जो जो आत्मायुक्त नहीं होता है वह प्राणादिमान् भी नहीं होता। जैसे—घट। इस प्रकार विपक्ष में हेतु के अभाव रूप व्यतिरेक व्याप्ति का दृष्टान्त तो मिलता है, किन्तु जो प्राणादिमान् होता है वह आत्मा युक्त होता है— इस अन्वयव्याप्ति का कोई दृष्टान्त नहीं मिलता। क्योंकि प्राणादिमान् मात्र का पक्ष में समावेश होने से कोई शेष रहता ही नहीं है, जिसका सपक्ष स्थित रूप में दृष्टान्त दिया जा सके। अतः प्राणादिमत्व हेतु केवल व्यतिरेकी होता है।

न्यायोक्त अनुमान के भेद

इसी प्रकरण में पूर्व में अनुमान के न्यायोक्त भेदों की संक्षिप्त चर्चा की जा चुकी है। यहां उस पर विस्तार से प्रकाश डाला जा रहा है।

न्यायदर्शन के अनुसार अनुमान तीन प्रकार का होता है। यथा—'**अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम्-पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टं च**।"—न्या. द. १।१।५ अर्थात् उपर्युक्त दोनों (स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमान) अनुमान तीन प्रकार के होते हैं—पूर्ववत्, शेषवत् एवं सामान्यतो दृष्ट।

पूर्ववत् —'**यत्र कारणेन कार्यमनुमीमते तत्पूर्ववत्**' अर्थात् जहां कारण से कार्य का अनुमान किया जाता है, वह पूर्ववत् अनुमान होता है। जैसे—मेघ को देखकर वृष्टि का अनुमान अथवा बीज से फल का अनुमान करना। भविष्यकालीन अनुमान का भी यही उदाहरण है। पूर्ववत् का दूसरा अर्थ होता है पहले की तरह—अर्थात् जैसे पहले धुआं और अग्नि का साहचर्य देखा था उसके समान पुनः यहां धुआं देख कर अग्नि का निश्चय करना। अथवा पूर्ववत् का अभिप्राय अन्वय व्याप्ति वाला अर्थात् केवलान्वयी अनुमान।

शेषवत् —"**यत्र कार्येन कारणमनुमीयते तत् शेषवत्**" अर्थात् जहां कार्य से कारण का अनुमान किया जाता है वहां शेषवत् अनुमान होता है। जैसे गर्भ को देखकर कर मैथुन का या बीज को देखकर भूतकालीन फल का अनुमान करना। यही उदाहरण अतीतकाल के अनुमान का भी है। शेषवत् का अन्य अर्थ होता है परिशेषानुमान। जैसे शब्द गुण है तो वह किसी द्रव्य में रहना चाहिए। किन्तु पृथ्वी, जल, तेज, वायु, काल, दिशा, आत्मा और मन इन आठ द्रव्यों में से किसी में भी नहीं पाया जाता है। अतः

इन आठ द्रव्यों के अतिरिक्त किसी अन्य द्रव्य में अर्थात् नवम द्रव्य आकाश में उसे रहना चाहिए। इस प्रकार यह अनुमान शेषवत् अर्थात् परिशेषानुमान होता है। शेषवत् का तात्पर्य व्यतिरेक व्याप्ति वाला अर्थात् केवल व्यतिरेकी होता है।

सामान्यतो दृष्ट—"सामान्यतो दृष्टं कार्यकारणभिन्नलिङ्गकम्।" सामान्य लिङ्ग से अर्थात् कार्य-कारण से भिन्न अन्य किसी लिङ्ग से जो अनुमान किया जाता है वह सामान्यतो दृष्ट कहलाता है। जैसे एक स्थान पर देखे गये किसी व्यक्ति को जब दूसरे स्थान पर देखा जाता है तब उस व्यक्ति का एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंचना गतिपूर्वक ही होता है। अर्थात् गति के बिना वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं पहुंच सकता है। इसी प्रकार सूर्य की गति यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से देखने में नहीं आती है, तथापि उसका पूर्व से पश्चिम में पहुंचना गति के बिना सम्भव नहीं है। अतः उसकी भी कोई गति अवश्य होनी चाहिए। इस प्रकार जो निश्चय या अनुमान किया जाता है वह सामान्यतो दृष्ट अनुमान कहलाता है। अथवा सामान्यतो दृष्ट का अभिप्राय यह भी है कि लिङ्ग और लिङ्गी का सम्बन्ध प्रत्यक्षतः होने पर जब केवल लिङ्ग के सामान्य ज्ञान से लिङ्गी का अनुमान किया जाता है तो वह सामान्यतो दृष्ट कहलाता है। जैसे इच्छा आदि लिङ्ग के द्वारा अप्रत्यक्ष आत्मा का अनुमान करना। सामान्यतो दृष्ट के एक अन्य अभिप्राय के अनुसार अन्वय तथा व्यतिरेक व्याप्ति वाला अर्थात् अन्वय व्यतिरेकी।

प्रस्तुत अनुमान प्रमाण भूतकाल, भविष्यकाल और वर्तमान काल— इन तीनों कालों में विद्यमान पदार्थों को विषय करता है। गर्भ दर्शन से मैथुन का अनुमान भूतकालीन हुआ, बीज दर्शन से अनागत फल का अनुमान भविष्य कालीन हुआ और धूम दर्शन से अग्नि का अनुमान वर्तमान कालीन हुआ।

हेतु का स्वरूप और भेद

अनुमान प्रमाण की सिद्धि के लिए उसके साधक जिस कारण अथवा साधन की आवश्यकता रहती है वह हेतु कहलाता है। अनुमान की सिद्धि पूर्णतः हेतु पर ही निर्भर होती है। हेतु के बिना अनुमान की सिद्धि सम्भव नहीं है। यही कारण है कि अनुमान के साधन में हेतु का अति विशिष्ट महत्व है। अनुमान के साधन में जो पंचावयव अपेक्षित हैं उनमें हेतु प्रमुख है। पंचावयव के अन्तर्गत 'प्रतिज्ञा' के ज्ञान के साधन के लिए 'हेतु' की अनिवार्यता के कारण ही उसका महत्व एवं उपयोगिता है। जैसे—**"पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमात्"** यहाँ पर धूम प्रत्यक्ष हेतु है। इसी प्रकार **"अयमातुरो मन्दाग्नित्वात्"** अर्थात् मन्दाग्नि होने से यह रोगी है। यहां पर मन्दाग्नि हेतु है। महर्षि चरक ने अग्नि

(जाठराग्नि) का ज्ञान पाचन शक्ति के द्वारा और बल का ज्ञान (अनुमान) व्यायाम शक्ति के द्वारा होना बतलाया है।

आयुर्वेद शास्त्र में ऐसे अनेक भाव हैं जिनका ज्ञान हेतु की अपेक्षा रखता है। इसीलिए महर्षि चरक ने हेतु का निम्न लक्षण प्रतिपादित किया है जो सार्थक एवं समीचीन है—

"हेतुर्नामोपलब्धिकारणं, तत्प्रत्यक्षमनुमानमैतिह्यमौपम्यमिति; एभिर्हेतुभिर्यदुपलभ्यते तत्तत्वम्" —चरक संहिता, विमान स्थान, ८/३३

अर्थात् उपलब्धि (ज्ञान) का कारण हेतु होता है। वह कारण प्रत्यक्ष, अनुमान, एतिह्य और उपमान रूप होता है। इन हेतुओं से जो प्राप्त होता है वही तत्व (यथार्थ) है।

यहां पर चरक ने हेतु चार प्रकार का बतलाया है जो आयुर्वेद की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। प्रत्यक्ष हेतु का उदाहरण 'धूमात्' द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है। अनुमान हेतु भी 'मन्दाग्नि' एवं 'व्यायाम शक्ति' के द्वारा स्पष्ट किए गए हैं। इसी प्रकार ऐतिह्य और उपमान हेतु भी होते हैं। आयुर्वेद में ऐतिह्य से आप्तोपदेश, वेद आदि का ग्रहण किया गया है। यथा—**"ऐतिह्यं नामाप्तोपदेशो वेदादिः।"** (चरक संहिता, विमान स्थान ८/३४) पुनर्जन्म, मोक्ष आदि अदृष्ट भावों का ज्ञान आप्तोपदेश या वेदवाक्य आदि से होता है। अतः पुनर्जन्म, मोक्ष आदि अदृष्ट भावों के ज्ञान में ऐतिह्य कारण या हेतु है।

इसी भाँति उपमान हेतु को भी ज्ञान का कारण या साधन माना गया है। दो भिन्न पदार्थों में सादृश्य के आधार पर एक (प्रसिद्ध वस्तु) से दूसरे (अप्रसिद्ध विषय) का ज्ञान कराना उपमान होता है। जैसे दंड से दंडक रोग का, धनुष से धनुस्तम्भ रोग का ज्ञान होना। इसे यों समझा जा सकता है कि आयुर्वेद के किसी विद्यार्थी को दण्डक रोग का ज्ञान नहीं था। उसे उसके आचार्य ने बतलाया कि—**'दण्डवत्स्तब्धगात्रस्य दण्डकः।'** (च० चि० अ० २८) कालान्तर में वह एक ऐसे रोगी को देखता है जिसका शरीर दण्डवत् स्तम्भ है। तत्काल वह अनुमान लगा लेता है कि रोगी दण्डक रोग से पीड़ित है। इसी प्रकार धनुस्तम्भ व्याधि का भी अनुमान लगाया जा सकता है। इस प्रकार यह औपम्य हेतु होता है।

इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न दर्शनकारों ने भिन्न-भिन्न रूप से हेतु स्वरूप की मीमांसा की है और उसके अलग-अलग प्रकार बतलाए हैं। नैयायिक पक्षधर्मत्व सपक्षसत्व, विपक्ष व्यावृत्ति, अबाधित विषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व इस पंच रूप वाला हेतु मानते हैं। हेतु का पक्ष में रहना, समस्त सपक्षों में या किसी एक पक्ष में रहना,

किसी भी विपक्ष में नहीं पाया जाना, प्रत्यक्ष आदि से साध्य का बाधित नहीं होना और तुल्य बल वाले किसी प्रतिपक्षी हेतु का नहीं होना ये पांच बातें प्रत्येक सद्धेतु के लिए नितान्त आवश्यक है। इसका समर्थन न्यायवार्तिककार उद्योतकर ने भी किया है। नैयायिक अन्यत्र अन्वय व्यतिरेकी, केवलान्वयी और केवल व्यतिरेकी उस त्रिविध स्वरूप वाला हेतु भी मानते हैं। प्रसस्तपाद भाष्य में हेतु के त्रैरुप्य का ही प्रतिपादन किया गया है।

बौद्ध भी हेतु के त्रैरूप्य को स्वीकार करके अबाधित विषयत्व को पक्ष के लक्षण से ही अनुगत कर लेते हैं। अपने साध्य के साथ निश्चित त्रैरूप्य वाले हेतु में समान बल वाले किसी प्रतिपक्षी हेतु की सम्भावना ही नहीं की जा सकती। अत: उनकी दृष्टि में असत्पतिपक्षत्व अनावश्यक हो जाता है। इस प्रकार हेतु का त्रैरूप्य मानने वाले तीन रूपों को हेतु का अत्यन्त आवश्यक स्वरूप मानते हैं और इसी त्रिरूप हेतु को साधनाङ्ग कहते हैं और इनकी न्यूनता को असाधनाङ्ग वचन कहकर निग्रह स्थान में सम्मिलित करते हैं। इसमें पक्षधर्मत्व असिद्धत्व दोष का परिहार करने के लिए है, सपक्षसत्व विरुद्धत्व का निराकरण करने के लिए तथा विपक्ष व्यावृति अनैकान्तिक दोष की व्यावृति के लिए है।

जैन दर्शन में केवल अन्यथानुपपत्ति या अविनाभाव को ही हेतु का स्वरूप माना गया है। जिसका अविनाभाव निश्चित है उसके साध्य में प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से बाधा ही नहीं आ सकती। यदि वह बाधित है तो साध्य कदापि नहीं हो सकता। इसी प्रकार जिस हेतु का अपने साध्य के साथ समग्र अविनाभाव है उसका तुल्य बलशाली प्रतिपक्षी प्रति हेतु सम्भव ही नहीं है। अत: जैन दर्शनकारों की दृष्टि में अविनाभाव ही एक मात्र हेतु स्वरुप हो सकता है। अविनाभाव को केवल तादात्म्य और तदुत्पत्ति में ही नहीं बांधा गया है। किन्तु उसका व्यापक क्षेत्र निश्चित किया गया है। अविनाभाव सहभाव और क्रमभाव मूलक होता है। अविनाभाव के इसी व्यापक स्वरूप को आधार बनाकर जैन दर्शन में हेतु के निम्न भेद स्वीकार किये गए हैं—स्वभाव, व्यापक, कार्य कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर। सामान्यत: हेतु के दो भेद भी बतलाए गए हैं – एक उपलब्धि रूप और दूसरा अनुपलब्धि रूप।

वैशेषिक सूत्र में एक स्थान पर कार्य, कारण, संयोगी, समवायी और विरोधी इन पाँच प्रकार के लिङ्गों का निर्देश मिलता है। (देखिये ९/२/१) अन्यत्र (३-११-२३ में) अभूत-भूत का, भूत-अभूत का और भूत-भूत का इस प्रकार तीन हेतुओं का वर्णन मिलता है। बौद्ध मतानुसार स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि तीन प्रकार का हेतु होता है।

हेतु सामान्यत: दो प्रकार का होता है— सद् हेतु ओर असद् हेतु। जो हेतु देश और काल के भेद बिना साध्य के साथ पाया जाता है, साध्य के साथ अन्य कहीं प्रसिद्ध हो और साध्य के अभाव में कहीं भी प्राप्त न होता हो वह सद् हेतु कहलाता है। वस्तुत: इसी के द्वारा अनुमान की सिद्धि होती है। इसी को यथार्थ हेतु भी कहते हैं।

अहेतु, असद्हेतु या हेत्वाभास

उपर्युक्त हेतु के विपरीत जो हेतु होता है वह असद् हेतु या अहेतु कहलाता है। यह वस्तुत: हेतु न होते हुए भी हेतु के समान प्रतिभासित होता है। अत: हेतु न होते हुए भी हेतुवत् आभास होने के कारण यह हेत्वाभास भी कहलाता है। जैसा कि कहा गया है—

"हेतुवदाभासन्ते न तु वास्तविकहेतवस्ते हेत्वाभासा:। असिद्धेतव इत्यर्थ:।"

महर्षि चरक ने अहेतु का वर्णन करते हुए उसे तीन प्रकार का बतलाया है। जैसे-१-प्रकरण सम २-संशय सम और ३-वर्ण्य सम।

इनका प्रतिपादन निम्न प्रकार किया गया है—

प्रकरण सम—"तत्र प्रकरणसमो नामाहेतुर्यथा—अन्य: शरीरादात्मा नित्य इति पक्षे ब्रूयात्-यस्मादन्य: शरीरादात्मा तस्मान्नित्य:, शरीरमनित्यमतो विधर्मिणा चात्मना भवितव्यमित्येष चाहेतु:, न हि य एव पक्ष: स एव हेतु:।"

—चरक संहिता विमान स्थान ८/६४

अर्थात् प्रकरण सम अहेतु (हेत्वाभास) वह होता हैजैसे शरीर से अन्य (भिन्न) आत्मा नित्य है यह पक्ष होने पर कहे—चूँकि आत्मा शरीर से भिन्न है, अत: आत्मा नित्यहै। शरीर अनित्य है अत: आत्मा को उससे विपरीत धर्म या गुणवान होना चाहिये -यह हेत्वाभास है। यहाँ आत्मा की नित्यता पक्ष है, वह ही शरीर से भिन्नता का हेतु हो नहीं सकती। क्योंकि जो पक्ष हो वही हेतु नहीं होता है। अपनी ही स्थापना में अपनी ही कारणता सम्भव नहीं है।

प्रकरण सम के विषय में न्याय दर्शन का मत है—

"यस्मात् प्रकरणचिन्ता स एव निर्णयार्थमपदिष्ट: प्रकरणसम:।"

अर्थात् जिससे प्रकरण का विचार हो रहा हो वह निर्णय के लिए निमित्त मान लिया जाय तो वह प्रकरण सम हेत्वाभास होता है। यहां पर शरीर से भिन्न आत्मा की नित्यता का प्रकरण है। इसे (शरीर से भिन्नता) ही यदि आत्मा की नित्यता की सिद्धि में हेतु मान लिया जाय तो वह प्रकरणसम हेत्वाभास कहलायेगा।

संशय सम— संशय समो नामाहेतुर्य एव संशयहेतु: स एव संशयच्छेद हेतु: यथा—

अयमायुर्वेदैकदेशमाह किन्त्वयं चिकित्सक स्यान्नवेति संशये परो ब्रूयात्—यस्मादयमायुर्वेदैकदेशमाह तस्माच्चिकित्सकोऽयमिति न च संशयहेतु विशेषयत्येष चाहेतुः न हि य एव संशयहेतुः स एव संशयच्छेदहेतुर्भवति।"—चरक संहिता विमान स्थान, ८/६५

अर्थात् संशय सम उस हेत्वाभास को कहते हैं जो संशय का कारण हो वही संशय के नाश का कारण हो। जैसे—इसने आयुर्वेद के एक भाग को कहा है, अतः क्या यह चिकित्सक है या नहीं ? ऐसा संशय उत्पन्न होने पर दूसरा कहे कि चूँकि इसने आयुर्वेद के एक भाग को कहा है, अतः यह चिकित्सक है। इसमें संशय के नाश का हेतु भिन्न नहीं बतलाया गया है, अतः यह संशयसम अहेतु या हेत्वाभास है।

सामान्यतः जो संशय का हेतु हो वह संशय के नाश का कारण नहीं हो सकता है। न्याय दर्शन में इसे सव्यभिचार के अन्तर्गत माना गया है। न्यायभाष्य के प्रणेता मुनि वात्सायन ने इस विषय में कहा है—"**यत्र समानो धर्मः संशयकारणं हेतुत्वेनोपादीयते सः संशयसमः सव्यभिचार एव।**' अर्थात् जहाँ पर समान धर्म संशय का कारणभूत हेतुत्व रूप से ग्रहण किया जाता है वह संशयसम अहेतु है जो सव्यभिचार होता है।

उपर्युक्त वाक्य में आयुर्वेद के एक देश के कथन को चिकित्सक और अचिकित्सक में समान और संशय का कारण माना गया है। उसे ही हेतु रूप में ग्रहण करना संशय सम हेत्वाभास है। क्योंकि आयुर्वेद के एक देश का कहना—यह हेतु है और चिकित्सक होना या न होना इस संशय का कारण भी है, अतः यह अनैकान्तिक है। अनैकान्तिक होने से यह व्यभिचार युक्त है। इसीलिए न्याय दर्शन में इस हेतु को सव्यभिचार माना गया है।

वर्ण्य सम—वर्ण्यसमो नामाहेतुर्यो हेतुर्वर्ण्याविशिष्टः यथा परो ब्रूयात् अस्पर्शत्वाद् बुद्धिरनित्या शब्दवदिति, अत्र वर्ण्यः शब्दो बुद्धिरपि वर्ण्या, तदुभयवर्ण्याविशिष्टत्वाद्वर्ण्यसमोऽप्यहेतुः।" —चरक संहिता, विमान स्थान ८/६६

अर्थात् वर्ण्यसम अहेतु (हेत्वाभास) वह होता है जो हेतु वर्ण्य से भिन्न न हो। जैसे—कोई दूसरा कहे कि स्पर्श नहीं होने से बुद्धि अनित्य है, शब्द की तरह। यहाँ पर शब्द वर्ण्य (वर्णन किए जाने योग्य) है, बुद्धि भी वर्ण्य है। दोनों वर्ण्यों के अविशिष्ट होने से वर्ण्यसम अहेतु होता है।

उपर्युक्त कथन को निम्न प्रकार समझना चाहिए—बुद्धि अनित्य है-यह प्रतिज्ञा है। स्पर्श नहीं होने से—यह हेतु है। शब्द की तरह-यह दृष्टान्त है। जैसे शब्द स्पर्श रहित होने से अनित्य होता है उसी तरह बुद्धि भी स्पर्श रहित होने से अनित्य है। उदाहरण के साधर्म्य से साध्य का साधक हेतु कहलाता है और उदाहरण उसे कहते हैं जिसमें मूर्ख और विद्वान की बुद्धि एक समान हो। ऐसी बात लोक और शास्त्र दोनों में

प्रसिद्ध होती है। यहाँ बुद्धि और शब्द दोनों वर्ण्य हैं। जिस अस्पर्शत्व होने से अनित्य स्वरूप में बुद्धि साध्य है उसी प्रकार शब्द भी। सामान्यतः साध्य कभी भी दृष्टान्त नहीं होता है। उन बुद्धि और शब्द दोनों के वर्ण्य होने से तुल्य होने पर और दोनों ही स्थान पर अस्पर्शत्व के साध्य होने से 'अस्पर्शत्वात्' यह हेतु वर्ण्य सम है। अर्थात् जो हेतु वर्ण्य-साध्य के समान है वह वर्ण्य सम कहलाता है।

हेत्वाभास के सन्दर्भ में महर्षि गौतम का निम्न कथन भी महत्वपूर्ण है—

"साध्याविशिष्टः साध्यत्वात् साध्यसमः।"

अर्थात् साध्यत्व होने से साध्याविशिष्ट साध्यसम होता है।

जातियों में कहा है—

"साध्यदृष्टान्तयोः साधर्म्याद् वर्ण्यसमः।"

अर्थात् साध्य और दृष्टान्त में साधर्म्य (समानता) होने से वर्ण्यसम होता है।

ऊपर जो बुद्धि की अनित्यता को साध्य मानकर शब्द का उदाहरण दिया गया है—उसमें साध्य और दृष्टान्त दोनों में समानता है। साध्य के साधन के लिए प्रस्तुत किया गया हेतु दृष्टान्त पर भी लागू होता है। अर्थात् अनित्य बुद्धि की भाँति अनित्य शब्द का भी स्पर्श नहीं होता है। जो हेतु (अस्पर्शत्वाद्) प्रस्तुत किया गया है वह साधर्म्य वाले साध्य और दृष्टान्त दोनों में लागू होने से असिद्ध होता है। असिद्ध होने से वह अहेतु या हेत्वाभास कहलाता है। इस प्रकार वह वर्ण्य सम अहेतु होता है।

तार्किक लोगों ने सहस्राधिक हेत्वाभास माने हैं। गौतम ने पांच प्रकार के हेत्वाभास का वर्णन किया है। यथा-१-सव्यभिचार २-विरुद्ध ३-प्रकरण सम ४-साध्य सम ५-अतीत काल। न्याय दर्शन में जो पांच हेत्वाभास स्वीकृत किए गए हैं वे निम्न लिखित हैं—"**सव्यभिचारविरुद्ध सत्प्रतिपक्षासिद्धबाधिताः पंचहेत्वाभासाः।**" अर्थात् सव्यभिचार, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध और बाधित ये पांच हेत्वाभास होते हैं।

(१) **सव्यभिचार**—"**सव्यभिचारोऽनेकान्तिकः**" अर्थात् अनेकान्तिक हेतु को सव्यभिचार कहते हैं। जो हेतु सदा अपने साध्य के साथ ही न रहे वह सव्यभिचार कहलाता है। अर्थात् कभी साध्य में और कभी असाध्य में जिसकी उपलब्धि होती है, वह सव्यभिचार हेतु कहलाता है। यह सव्यभिचार हेतु तीन प्रकार का होता है—साधारण, असाधारण और अनुपसंहारी।

(i) **साधारण सव्यभिचार हेतु**—"**साध्याभाववद्वृत्तिः साधारणोऽनेकान्तिकः**"—जो हेतु साध्य के अभाव स्थान में भी उपस्थित रहता है वह साधारण सव्यभिचार हेतु कहलाता है। जैसे—पर्वतोऽयमग्निमान् प्रमेयत्वात्" अर्थात् यह पर्वत अग्निवाला है, प्रमेय होने से। यहां पर पर्वत में अग्नि की सिद्धि के लिए जो हेतु दिया गया है वह

अग्नि के अभाव स्थल जलाशय में भी विद्यमान रहता है। जबकि हेतु को केवल अपने पक्ष में ही रहना चाहिए, विपक्ष में नहीं। साधारण से अभिप्राय यह है कि प्रमेयत्व हेतु केवल अग्नि का साधक नहीं है, अपितु वह संसार के समस्त पदार्थों का साधक है। समस्त पदार्थों में सामान्यतः इस हेतु की उपलब्धि होने के कारण यह साधारण हेतु है। यह हेतु अनेक पदार्थों से संयुक्त होने के कारण अनेकान्तिक भी है। यह एक धर्मी न होकर अनेक धर्मी है। अतः यह साधारण अनेकान्तिक अथवा साधारण सव्यभिचार हेतु कहलाता है।

(ii) **असाधारण सव्यभिचार हेतु—'सर्वसपक्षविपक्षव्यावृतः पक्षमात्रवृत्ति रसाधारणः। यथा-शब्दो नित्यः शब्दत्वात्।'** वह हेतु जो किसी भी सपक्ष या विपक्ष में न रह कर केवल पक्ष में ही उपस्थित रहता हो असाधारण सव्यभिचार हेतु कहलाता है। जैसे-"शब्द नित्य है, शब्दत्व होने से।" वस्तुतः शब्दत्व केवल शब्द में ही विद्यमान रहता है। किसी नित्य या अनित्य वस्तु में नहीं। अतः शब्दत्व हेतु केवल पक्ष (शब्द) में रहने के कारण असाधारण सव्यभिचार होता है।

(iii) **अनुपसंहारी सव्यभिचार हेतु—"अन्वयव्यतिरेकदृष्टान्तरहितोऽनुपसंहारी। यथा— सर्वमनित्यम् प्रमेयत्वात्"**-अर्थात् अन्वय और व्यतिरेक के दृष्टान्त से रहित हेतु अनुपसंहारी सव्यभिचार कहलाता है। जैसे—सब कुछ अनित्य है, प्रमेय होने से। यहां पर जो हेतु दिया गया है वह 'सब कुछ' की अनित्यता सिद्ध करने के लिए है। किन्तु 'सब कुछ' पक्ष होने के कारण सपक्ष के लिए अथवा विपक्ष के लिए कुछ नहीं बचता। इससे न सपक्ष का दृष्टान्त मिलता है और न विपक्ष का। अतः यह हेतु अन्वय और व्यतिरेक के दृष्टान्त से रहित है।

(२) **विरुद्ध हेत्वाभास—"साध्याभावव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः। यथा— शब्दो नित्यः कृतकत्वात्।"** अर्थात् साध्य के अभाव से युक्त हेतु विरुद्ध कहलाता है। याने जिस हेतु के साथ उसके साध्य का अभाव रहता है वह विरुद्ध हेतु होता है। जैसे शब्द नित्य है, उत्पन होने से। यहां पर शब्द का नित्यत्व साध्य है और उसकी सिद्धि के लिए कृतकत्व (उत्पन्न होना) हेतु दिया गया है। यह हेतु साध्य के सर्वथा विपरीत है। क्योंकि जो उत्पन्न होता है वह कभी नित्य नहीं हो सकता। अतः शब्द भी उत्पन्न होने से नित्य नहीं कहला सकता।

(३) **सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास— "साध्याभावसाधकं हेत्वन्तरं यस्य सः सत्प्रतिपक्षः यथा-शब्दो नित्यः श्रवणत्वात् शब्दत्ववत्।"**— साध्य के अभाव को सिद्ध करने वाला अन्य हेतु भी जिसका विद्यमान रहता है वह सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास कहलाता है। जैसे शब्द नित्य है, श्रवणत्व होने से, शब्दत्व के समान। इस प्रतिज्ञा वचन में शब्द का नित्यत्व सिद्ध करने के लिए **"श्रवणत्वात्"** हेतु दिया गया है। किन्तु इसके विपरीत

शब्द के अनित्यत्व को सिद्ध करने वाला अन्य हेतु भी उपस्थित है। जिससे शब्द के नित्यत्व साधन में बाधा उपस्थित होती है। जैसे—**"शब्दोऽनित्यः कार्यत्वात् घटवत्।"** यहां पर 'कार्यत्वात्' इस हेतु के द्वारा शब्द की अनित्यता सिद्ध की गई है। अतः शब्द के नित्यत्व साधक के विपरीत उसका अनित्यत्व साधक हेत्वन्तर विद्यमान होने से प्रथम हेतु सत्प्रतिपक्ष कहलाता है।

४- **असिद्ध हेत्वाभास**—जो हेतु स्वयं ही सिद्ध न हो वह असिद्ध हेत्वाभास कहलाता है। वह तीन प्रकार का होता है—आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध और व्याप्यत्वासिद्ध।

[i] **आश्रयासिद्ध हेत्वाभास— "यस्य हेतोः आश्रयः पक्षः अप्रसिद्धः स हेतु आश्रयासिद्धः"**— अर्थात् इस प्रकार का हेतु जो स्वयं अपने पक्ष में रहता हुआ भी असिद्ध हो अथवा जिसका आश्रय ही स्वयं असिद्ध हो अर्थात् जिस आश्रय की कभी सिद्धि नहीं की जा सकती वह अश्रयासिद्ध हेत्वाभास कहलाता है। जैसे—**"गगनारविन्दं सुरभि, अरविन्दत्वात्, सरोजारविन्दवत्।"** यहां पर आकाश कमल की सुगन्धि को अनुमान के द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है और उसकी सिद्धि के लिए अरविन्दत्व हेतु प्रस्तुत किया गया है। किन्तु यहां पर अरविन्दत्व रूप हेतु का आश्रय आकाश कमल बतलाया गया है जो स्वयं असिद्ध है। आकाश में कभी कमल उत्पन्न नहीं होता। अतः प्रतिज्ञा वाक्य की सिद्धि के लिए प्रस्तुत किया गया हेतु आश्रयासिद्ध हेत्वाभास है। क्योंकि आश्रय भूत आकाश में अरविन्द (कमल) की सत्ता ही विद्यमान नहीं है, फिर उसकी सुगन्धि कैसे सिद्ध की जा सकती है? अतः इस प्रकार के साध्य की सिद्धि के लिए जो हेतु प्रस्तुत किया जाता है उसके द्वारा कभी भी साध्य की सिद्धि होना सम्भव नहीं होने से वह आश्रयासिद्ध हेत्वाभास कहलाता है।

[ii] **स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास-'यो हेतु आश्रये पक्षे नावगम्यते सः स्वरूपासिद्धः।'** जिस साध्य का स्वरूप ही असिद्ध रहता है उसकी सिद्धि के लिए जो हेतु दिया जाता है वह स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास कहलाता है। क्योंकि उस हेतु के द्वारा साध्य के स्वरूप की सिद्धि किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं होती। जैसे— "शब्दो नित्यश्चाक्षुषत्वात्" अर्थात् शब्द नित्य होता है, चाक्षुष होने से। यहाँ पर शब्द का नित्यत्व चाक्षुष हेतु के द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया गया है। किन्तु शब्द देखा नहीं जाता अपितु सुना जाता है। जो वस्तु देखी नहीं जा सकती उसका कोई स्वरूप भी नहीं होता। अतः स्वरूप रहित वस्तु की सिद्धि के लिए "चाक्षुषत्व" हेतु सर्वथा असिद्ध होता है। इस प्रकार का हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास कहलाता है।

एकान्तिक होना चाहिए, अनेकान्तिक नहीं। जो लिङ्ग या धर्म अपने एक ही धर्मी में (के साथ) पाया जाता है और जो एक साथ अन्य द्रव्यों में नहीं पाया जाता है वह एकान्तिक होता है। एक साथ अन्य द्रव्यों में पाया जाने वाला धर्म अनेकान्तिक होता है। जैसे चैतन्य मात्र आत्मा का धर्म है, अतः वह एकान्तिक है। इसके विपरीत रौक्ष्य, काठिन्य आदि भाव एक साथ अनेक द्रव्यों में पाए जाते हैं, अतः वे अनेकान्तिक हैं। अविनाभाव के द्वारा इस अनेकान्तिक दोष का भी निरसन होता है। अनुमान की सिद्धि में एतद्विध निर्दुष्ट व्याप्ति ही सार्थक एवं उपयोगी होती है ?

व्याप्ति के भेद—व्याप्ति दो प्रकार की होती है-अन्वय व्याप्ति और व्यतिरेक व्याप्ति।

अन्वय व्याप्ति—"**अन्वयेन समन्विता व्याप्ति अन्वय व्याप्तिः।**" अर्थात् अन्वय के साथ व्याप्ति का समन्वित होना अन्वय व्याप्ति कहलाता है। अन्वय का अर्थ है सहभाव यथा—**तत्सत्त्वे तत्सत्वमन्वयः**। अर्थात् एक होने पर दूसरे का होना। इसी प्रकार साधन के होने पर साध्य का होना। जैसे धुआं (साधन) के होने पर अग्नि साध्य का होना। इस प्रकार जहां धुआं होता है वहाँ अग्नि होती है-यह अन्वय व्याप्ति है।

व्यतिरेक व्याप्ति—"**व्यतिरेकेण समन्विता व्याप्तिः व्यतिरेक व्याप्तिः।**" अर्थात् व्यतिरेक के साथ समन्वित व्याप्ति व्यतिरेक व्याप्ति कहलाती है। अन्वय से विपरीत भाव व्यतिरेक होता है। यथा "**तदभावे तदभावो व्यतिरेकः।**" अर्थात् उसके नहीं होने पर उसका नहीं होना। तात्पर्य यह है कि साध्य के अभाव में साधन का नहीं होना। जैसे साध्य (अग्नि) के अभाव में साधन (धुआं) का नही होना। जहाँ अग्नि नहीं होती है वहां धुआं भी नहीं होता है।

दृष्टान्त

किसी विषय को समझाने के लिए तत्समान धर्मी अन्य वस्तु या विषय को प्रस्तुत किया जाना दृष्टान्त कहलाता है। इसे उदाहरण भी कहते हैं। अनुमान के प्रसंग में जो पाँच अवयव बतलाए गए हैं उनमें उदाहरण भी एक है। महर्षि चरक ने दृष्टान्त का उल्लेख चवालीस वाद मार्ग के अन्तर्गत किया है। दृष्टान्त के विषय में उनका मन्तव्य निम्न प्रकार है—

"**अथ दृष्टान्तो नाम यत्र मूर्खविदुषां बुद्धिसाम्यं यो वर्ण्यं वर्णयति। यथा अग्निरुष्णो, द्रवमुदकं, स्थिरा पृथिवी, आदित्यः प्रकाशक इति। यथा आदित्यः प्रकाशकस्तथा सांख्यवचनं प्रकाशकमिति।** —**चरक संहिता, विमान स्थान ८/३०**

अर्थात् जिसे मूर्ख और पण्डित दोनों की बुद्धि समान समान रूप से समझती है और जो वर्णन के योग्य बिषय का वर्णन करता है वह दृष्टान्त कहलाता है। जैसे अग्नि

उष्ण होती है, पानी द्रव होता है, पृथ्वी स्थिर होती है, सूर्य (पदार्थों का) प्रकाशक होता है। जिस प्रकार सूर्य पदार्थों का प्रकाशक होता है उसी प्रकार सांख्य वचन भी प्रकाशक (विषयों का प्रकाशन-स्पष्ट करने वाला) होता है।

उपर्युक्त कथन का अभिप्राय यह है कि जहां मूर्ख और विद्वानों की बुद्धि में समता होती है अर्थात् जिस विषय को एक सामान्य या मूर्ख व्यक्ति जिस रूप या जिस प्रमाण में समझता है, उसी प्रकार उसी रूप या प्रमाण में उस विषय को पण्डित भी समझता है—वह दृष्टान्त है। ऐसे विषय का कथन या उल्लेख जो मूर्ख और पण्डित दोनों के लिए समान रूप से अवबोध गम्य होता है दृष्टान्त कहलाता है। इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हुए तथा विषय को और अधिक स्पष्ट करते हुए आचार्य चक्रपाणि दत्त ने दृष्टान्त का निरूपण निम्न प्रकार से किया है—

"**लौकिकानां पण्डितानां च योऽर्थोऽविवादसिद्धः स दृष्टान्तो भवति, न पण्डितमात्रसिद्धः।**"

अर्थात् जो विषय लौकिक याने सामान्यजन और पण्डित दोनों के लिए विवाद से रहित या बिना किसी विवाद के सिद्ध हो वह दृष्टान्त होता है। ऐसा नहीं कि उसे केवल पण्डित ही समझे और साधारण जन की समझ में नहीं आवे।

उपर्युक्त का आशय यह है कि किसी गूढ़ या अगम्य विषय को समझाने के लिए किसी ऐसे विषय का कथन या प्रस्तुतिकरण जो लोक प्रसिद्ध, सरल और सुबोध हो दृष्टान्त कहलाता है। अनुमान के प्रसंग में साध्य अग्नि की सिद्धि के लिए साधर्म्य रूपेण 'रसोई घर' का और वैधर्म्य रूपेण 'जलाशय' का उदाहरण (दृष्टान्त) दिया गया है।

न्याय दर्शन में भी इसी प्रकार के भाव से संयुक्त दृष्टान्त का स्वरूप बतलाया गया है। यथा—

"**लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः।**"—**न्याय दर्पण १/२५**

अर्थात् जिस विषय में जन सामान्य और प्रमाण आदि के द्वारा अर्थ की परीक्षा करने वाले परीक्षक—विद्वज्जन दोनों की बुद्धि की समानता होती है वह दृष्टान्त होता है। याने जिस विषय को साधारण व्यक्ति और विद्वान् दोनों समझ सके वह दृष्टान्त होता है।

तर्क का स्वरूप एवं महत्व

दर्शन शास्त्र के अनुचिन्तनीय विषयों पर विचार करने तथा प्रमेय विषयों को सिद्ध करने की एक ऐसी प्रक्रिया जो विचार मन्थन एव कुशाग्र बुद्धि प्रसूत हो को तर्क कहा जाता है। अन्य विषयों की भांति तर्क एक ऐसा भाव विशेष है जो परोक्ष ज्ञान का

साधक है। अन्य दर्शनों की अपेक्षा न्याय दर्शन में तर्क को अधिक महत्व दिया गया है। न्याय दर्शन तर्क को एक कसौटी की भांति मानता है जिस पर प्रमेय को कसा जा सकता है। तर्क के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं होने से तर्क सम्बन्धी विवक्षा में पर्याप्त भिन्नता लक्षित होती है। फिर भी संक्षेप में यह माना सकता है कि तर्क एक प्रकार का ऐसा अनुमान है जो अन्य सबसे भिन्न है, क्योंकि यह किसी प्रत्यक्ष ज्ञान पर आधारित नहीं है। यह हमें परोक्ष रूप से ठीक ज्ञान की ओर ले जाता है। वात्सायन के अनुसार यह हमें निश्चयात्मक ज्ञान नहीं करा सकता, यद्यपि यह हमें इतना बतला देता है कि एक प्रस्तुत पक्ष का विपरीत असम्भव है। उद्योतकर का तर्क है कि आत्मा के विषय में तर्क हमें ऐसा कहने के योग्य नहीं बनाता कि आत्मा अनादि है, अपितु केवल इतना कहने के योग्य बनाता है कि इसे ऐसा होना चाहिये। वस्तुतः तर्क अपने आप में प्रामाणिक ज्ञान का साधन नही है, यद्यपि प्रकल्पनाओं के प्रस्तुत करने में यह मूल्यवान सिद्ध होता है। इसी सन्दर्भ में तर्क का निम्न लक्षण प्रतिपादित किया गया है—

"प्रमानुग्राहकस्तर्कः।" — **सर्वसिद्धान्तसार संग्रह ६/२५**

अर्थात् तर्क प्रमा (ज्ञान) का अनुग्राहक मात्र होता है।

अन्य आचार्य व्याप्ति के ज्ञान को तर्क मानते हैं। उनके अनुसार अविनाभाव अर्थात् साध्य के अभाव में साधन का नहीं होना और साधन के होने पर साध्य का होना इस नियम को सर्वोपसंहार रूप से ग्रहण करना तर्क है। इसे 'ऊह' भी कहते हैं। यथा—

"उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः।" —**परीक्षामुख ३/११**

अर्थात् उपलम्भ-अनुपलम्भ निमित्तक सर्वोपसंहार करने वाला व्याप्ति ज्ञान ऊह (तर्क) कहलाता है। यहां उपलम्भ और अनुपलम्भ शब्द से साध्य और साधन का दृढ़तर सद्भाव निश्चय और अभाव निश्चय लिया जाता है। वह निश्चय चाहे प्रत्यक्ष से हो या प्रत्यक्षेतर अन्य प्रमाण से। आचार्य अकलंक देव ने प्रमाण संग्रह में प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ से होने वाले सम्भावना प्रत्यय को तर्क कहा है। किन्तु प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ शब्द से उन्हें भी उक्त अभिप्राय इष्ट है। यथा—

"सम्भवप्रत्ययस्तर्कः प्रत्यक्षानुपलम्भत।" —**प्रमाण संग्रह, श्लोक १२**

मीमांसक तर्क को एक विचारात्मक व्यापार मानते हैं और उसके लिए जैमिनी सूत्र तथा शबर भाष्य आदि में 'ऊह' शब्द का प्रयोग करते हैं। किन्तु उसे परिगणित प्रमाण संख्या में सम्मिलित नहीं किया है। इससे स्पष्ट है कि उनके मत में तर्क (ऊह) स्वयं प्रमाण नहीं होकर किसी प्रमाण का मात्र सहायक हो सकता है। जैन दर्शन में अवग्रह के पश्चात् होने वाले संशय का निराकरण करके उसके एक पक्ष की प्रबल सम्भावना कराने वाला ज्ञान व्यापार 'ईहा' कहा गया है। इस ईहा में 'अवाय' जैसा पूर्ण

निश्चय तो नहीं है, किन्तु निश्चयोन्मुखता अवश्य है। इस ईहा के पर्याय रूप में ऊह और तर्क दोनों शब्दों का प्रयोग तत्वार्थभाष्य में देखा जाता है जो कि करीब-करीब नैय्यायिकों की विचार परम्परा के समीप है। तत्वार्थाधिगम भाष्य में 'ईहा' के निम्न पर्याय दिए गए हैं—

"ईहा ऊहा तर्कः परीक्षा विचारणा इत्यनर्थान्तरम्"—तत्वार्था० भा० १/१५

न्याय दर्शन में तर्क को यद्यपि १६ पदार्थों में परिगणित किया गया है, किन्तु उसे प्रमाण नहीं माना गया है। वह तत्वज्ञान के लिए उपयोगी है और प्रमाणों का अनुग्राहक है। जैसा कि प्रतिपादित किया गया है—

"तर्को न प्रमाणसंगृहीतो न प्रमाणान्तरं प्रमाणानामनुग्राहकस्तत्वज्ञानाय कल्पते।"
—न्याय भाष्य १/१/१

जयन्त भट्ट ने तर्क के विषय में अधिक स्पष्टता से लिखते हुए कहा है—

"एकपक्षानुकूलकारणदर्शनात् तस्मिन् सम्भावनाप्रत्ययो भवितव्यतावभासः तदितरपक्षशैथिल्यापादने तद् ग्राहकप्रमाणमनुगृह्य तान् सुखं प्रवर्तयन् तत्वज्ञानार्थमूहस्तहर्कः।"
—न्याय मंजरी पृ० ५८६

अर्थात् सामान्य रूप से ज्ञात पदार्थ में उत्पन्न परस्पर विरोधी दो पक्षों में एक पक्ष को शिथिल बना कर दूसरे पक्ष की अनुकुल कारणों के बल पर दृढ़ सम्भावना करना तर्क का कार्य है। यह एक पक्ष की भवितव्यता को सकारण दिखा कर उस पक्ष का निश्चय करने वाले प्रमाण का अनुग्राहक होता है।

इस प्रकार तर्क प्रमाण न होते हुए भी तत्व ज्ञान कराने वाला प्रमाण का अनुग्राहक होता है।

द्वादश अध्याय

आप्तोपदेश प्रमाण निरूपण

आयुर्वेद में महर्षि चरक द्वारा प्रतिपादित चतुर्विध प्रमाणों में आप्तोपदेश प्रमाण भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितने महत्वपूर्ण प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण हैं। आप्तोपदेश का महत्व एवं उपादेयता इसी से स्पष्ट है कि चरक ने चतुर्विध प्रमाणों में सर्व प्रथम आप्तोपदेश का ही कथन एवं प्रतिपादन किया है। जिन पदार्थों अथवा विषयों का ज्ञान प्रत्यक्ष एवं अनुमान के द्वारा प्राप्त करना सम्भव नहीं है उनके ज्ञान के लिए आप्तोपदेश प्रमाण ही सर्वाधिक उपयोगी एवं आश्रय योग्य है। अतः यह प्रमाण सभी प्रमाणों में महत्वपूर्ण है।

आयुर्वेद में आप्तोपदेश का प्राथम्य—आयुर्वेद में जहां कहीं भी पदार्थों के ज्ञान के लिए, पदार्थों की परीक्षा के लिए अथवा रोग विशेष के ज्ञान के लिए प्रमाणों की आवश्यकता प्रतीत हुई वहां प्रमाणोल्लेख करते हुए सर्व प्रथम आप्तोपदेश का ही उल्लेख किया गया है। इसका मुख्य कारण यह है कि प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण की अपेक्षा आप्तोपदेश अधिक महत्वपूर्ण एवं उपयोगी है। क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा केवल उन तथ्यों का ज्ञान उपार्जित करने का प्रयत्न किया जाता है जिनका उद्‌घाटन प्रथमतः आप्तोपदेश के द्वारा कर दिया गया है। इसीलिए महर्षि चरक ने प्रमाण गणना क्रम में प्रथमतः आप्तोपदेश का कथन किया है। यह तथ्य निम्न दो उद्धरणों से स्पष्ट है—

१. **त्रिविधं खलु रोगविशेषविज्ञानं भवति; तद्यथा-आप्तोपदेशः प्रत्यक्षमनुमानं चेति।** —चरक संहिता विमान स्थान ४।३

२. **द्विविधमेव खलु सर्वं सच्चासच्च। तस्य चतुर्विधा परीक्षा-आप्तोपदेशः प्रत्यक्षम् अनुमानं युक्तिश्चेति।** —चरक संहिता, विमान स्थान ११।१७

उपर्युक्त प्रमाण गणना क्रम में आप्तोपदेश प्रमाण का कथन प्रथम ही करने से आयुर्वेद शास्त्र में उनका प्राथम्य स्वतः ही स्पष्टतः सिद्ध हो जाता है। इसके अतिरिक्त महर्षि चरक ने स्वयं ही आप्तपदेश के ज्ञान की प्राथमिकता को महत्वपूर्ण निरुपित करते हुए सर्व प्रथम आप्तोपदेश के ज्ञानार्जन का निर्देश दिया है। यथा—

"त्रिविधे त्वस्मिन् ज्ञानसमुदाये पूर्वमाप्तोपदशाज्ज्ञानं, ततः प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परी-

क्षोपपद्यते। किं ह्यनुपदिष्टं पूर्वं यत् तत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परीक्षमाणो विद्यात्।" —चरक संहिता, विमान स्थान ४।५

अर्थात् इन तीन परीक्षाओं में सर्व प्रथम आप्तोपदेश से ही ज्ञान होता है। उसके बाद प्रत्यक्ष और अनुमान से ज्ञान होता है। यदि पहिले किसी पदार्थ का उपदेश नहीं किया जाय तो प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा किसकी परीक्षा की जायगी? इसलिए ज्ञान सम्पन्न (उपदेश प्राप्त) वैद्य के लिए प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रकार की परीक्षाएं हैं। अथवा आप्तोपदेश सहित तीन परीक्षाएं।

इससे यह स्पष्ट है कि आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष और अनुमान इन तीनों प्रमाणों में प्रथम आप्तोपदेश ही महत्वपूर्ण है। आयुर्वेद में तो आप्तोपदेश की प्राथमिकता और भी अधिक महत्वपूर्ण एवं उपयोगी है। क्योंकि आयुर्वेद का अध्ययन करने का इच्छुक छात्र जब आयुर्वेद जगत् में प्रवेश करता है तो उसे सर्वप्रथम उपदेश के द्वारा ही आयुर्वेद के सिद्धान्तों को समझाया जाता है। तत्पश्चात् आयुर्वेदाध्ययन में रत हो जाने पर गुरु ही उसे सर्व प्रथम रोगों के निदान-लक्षण आदि का उपदेश करते हैं। उसके बाद ही विद्यार्थी प्रत्यक्ष और अनुमान से उन्हें स्वयं जानने का प्रयत्न करता है। प्रथमतः यदि आप्तोपदेश न हो तो जैसे जिसने दूसरों (आप्त) के द्वारा रत्नों की परीक्षा सीखी ही नहीं है, उसके समक्ष विभिन्न रत्न रख दिए जाने पर वह उनमें भिन्नत्व को देखता हुआ भी उन्हें पहचानने की सामर्थ्य नहीं रखता। इसी भांति जिसने गुरु मुख से निदानादि को नहीं जाना है वह रोगों के कारण लक्षण आदि को देखता हुआ भी रोग आदि का निर्णय नहीं कर सकता। अतः प्रमाणों में आप्तोपदेश सर्व प्रथम एवं सर्वोपरि है।

आप्तोपदेश का लक्षण एवं आप्त का स्वरूप

आप्तोपदेश का सामान्य अर्थ होता है आप्त पुरुषों का उपदेश अथवा आप्त-वचन। जो उपदेश हमारे ऋषि महर्षियों ने जन कल्याण की भावना से प्रेरित हो कर प्राणियों के ज्ञान संवर्धनार्थ दिए हैं वे उपदेश-वाक्य हमारे पूर्वाचार्यों के द्वारा विभिन्न शास्त्रों में लिपिबद्ध करके संकलित किए गए हैं। अतः वेद वाक्य, पुराण, उपनिषद, स्मृतिग्रन्थ, धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, आयुर्वेद शास्त्र आदि में आप्त पुरुष महर्षियों का जो उपदेश उपलब्ध होता है वही आप्तोपदेश कहलाता है। महर्षि चरक आप्तोपदेश के विषय में लिखते हैं—

"आप्तोपदेशो नाम आप्तवचनम्। आप्ता ह्यवितर्कस्मृतिविभागविदो निष्प्रीत्युपतापदर्शिनश्च। तेषामेवं गुणयोगाद्यद्वचनं तत्प्रमाणम्। अप्रमाणं पुनर्मत्तोन्मत्तमूर्खवक्तदृष्टादृष्टवचनमिति।" —चरक संहिता, विमान स्थान ४।३

अर्थात् आप्त के वचनों को आप्तोपदेश कहा जाता है। आप्त पुरुष तर्क से रहित अर्थात् निश्चित ज्ञान वाले, स्मरण शक्ति सम्पन्न तथा कार्य और अकार्य के विभाग को जानने वाले होते हैं, जो किसी भी प्राणी के प्रति प्रीति और उपताप अर्थात् राग और द्वेष से रहित होते हैं-इस प्रकार के व्यक्तियों को आप्त माना जाता है। इसके विपरीत मत्त मतवाले (मद्य आदि पीने से पागल) या मूर्ख वक्ता का वचन चाहे वह दृष्ट हो अथवा अदृष्ट अर्थात् ऐहिक (इस लोक सम्बन्धी) और आमुष्मिक (परलोक सम्बन्धी) विषयों के वचनों को उन्मत्त (उन्माद रोगों से आक्रान्त-अप्रमाण) माना जाता है।

आप्त पुरुष के विषय में महर्षि चरक ने बड़ी विशदता से लिखते हुए आप्त पुरुष का अत्यन्त समीचीन लक्षण प्रतिपादित किया है। यथा—

रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये।
येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा॥
आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम्।
सत्यं, वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमः॥

—चरक संहिता, सूत्र स्थान ११/१८-१९

अर्थ— अपनी तपस्या एवं ज्ञान के बल से जो रज और तम इन दोनों दोषों से मुक्त हो गए हैं, जिन को सदा भूत-भविष्य-वर्तमान इन तीनों कालों का ज्ञान निर्बाध रूप से होता रहता है और जिनकी ज्ञान शक्ति कभी नहीं रुकती, ऐसे व्यक्तियों को आप्त, शिष्ट और विबुद्ध कहा जाता है। ऐसे आप्त पुरुषों के वचन या उपदेश संदेह रहित (सत्य) होते हैं। वे आप्त पुरुष रज और तम से शून्य होने के कारण सदा सत्य बोलते हैं। रज और तम से शून्य होने के कारण वे असत्य बोलेंगे ही क्यों?

इस प्रकार आप्त का लक्षण और उनके उपदेशों को सत्य बता कर अप्तोपदेश प्रमाण का स्पष्टीकरण किया गया है। साथ ही आप्त के दूसरे नाम शिष्ट तथा विबुद्ध भी बतलाए गए हैं। अप्तोपदेश से सभी स्मृति शास्त्र, धर्मशास्त्र, पुराणग्रन्थ एवं वेद वाक्यों का ग्रहण होता है। इनके उपदेष्टा या रचयिता कभी भी असत्य भाषण नहीं करते थे। क्योंकि उन्हें न किसी से राग था न द्वेष। जब आप्त पुरुषो का सत्य बोलना सिद्ध हो जाता है तब आप्त वचन प्रमाण माना ही जाता है।

आप्त पुरुष के विषय में वात्स्यायन ने निम्न व्याख्या प्रस्तुत की है— (१) **आप्ताः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टमर्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा"** तथा **"साक्षात्करणमर्थस्याप्तिः, तया प्रवर्तते इत्याप्तः।"** अर्थात् आप्त पुरुष विषयों का साक्षात्कार करने वाले एवं यथादृष्ट विषय को बतलाने की इच्छा से उपदेश देने वाले होते हैं। तथा "विषयों के साक्षात्कार करने का नाम आप्ति है और उस आप्ति के द्वारा जो

कर्म करने में प्रवृत्त होता है उसे 'आप्त' कहते हैं। (२) शिष्टाः—**स्वशक्तिबलेन कार्याकार्ये हिताहिते नित्यानित्ये प्रवृत्तिनिवृत्युपदेशस्य चिकीर्षया प्रयुक्तो यथार्थ शासनमर्थस्य शिष्टिः, तया प्रवर्तन्ते ये ते शिष्टाः।'** अर्थात् अपनी तपस्या, ज्ञान और शक्ति के बल से कार्य-अकार्य, हित-अहित, नित्य अनित्य इनमें क्रमशः प्रवृत्ति और निवृत्ति के उपदेश के द्वारा जो अर्थों (विषयों) के शासन करने में प्रवृत्त होते हैं, उन्हें शिष्ट कहते हैं। (३) विबुद्धाः—"**विशिष्टा यथार्थभूता बुद्धिस्तया प्रवर्तन्ते ये ते विबुद्धा**":—अर्थात् बुद्धि के द्वारा ग्राह्य विषयों का विशेष ज्ञान कर जो कर्म में प्रवृत्त होता है उसे विबुद्ध कहते हैं।

महर्षि चरक ने उपर्युक्त प्रकार से "आप्त" की जो विवेचना की है उसे उनके परवर्ती आचार्यों ने और अधिक स्पष्ट किया है। यथा—

"अवितर्केण, वितर्क-ऊहापोहात्मकं, वितर्कं बिना सदैवाविच्छेदेन युक्तज्ञानेन त्रैकालिकानां सर्वेषामेव भावानां तत्वेन स्मृत्या विभागं सदसद् रूपत्वं वदन्ति ये ते अवितर्कस्मृतिविभागविद आप्ताः। प्रीत्युपतापाभ्यां निर्गताः निष्प्रीत्युपतापाः। ये दृष्टु शीलवन्तस्तैस्त्वाप्ताः।"

—गंगाधर

अर्थात् वितर्क ऊहापोहात्मक होता है, जो वितर्क से रहित होकर सदैव अविच्छिन्न ज्ञान से तीनों कालों (वर्तमान-भूत-भविष्य) में समस्त भावों के विभाग के याने सद्रूपवत्व एवं असद् रुपवत्व को तत्व एवं स्मृति से कहते (जानते) हैं वे आप्त होते हैं। जो प्रीति और उपताप (राग-द्वेष) से रहित होते हैं तथा विश्व को देखने के लिए शीलवान् होते हैं वे आप्त कहलाते हैं।

"आप्ता हि अवितर्कः यथा तथा स्मृतीनां शास्त्राणां विभागं विध्यर्थ-वादानुवाद-वचन रूपं विन्दन्ति ये ते तथोक्ताः। न स्तः प्रीत्युपतापौ यत्र तद् तथा दृष्टु भूतानि शीलमेषां ते आप्ताः।"

—चरकोपस्कार

अर्थात् आप्त वितर्क से रहित होते हैं तथा स्मृतियों-शास्त्रों के विध्यर्थ—वादानुवाद-वचन रूप विभाग को जैसा है उसी रूप में जानते हैं। जिनको प्रीति और उपताप (राग-द्वेष) नहीं है तथा जगत् के प्राणियों को देखने के लिए जिनका शील है वे आप्त होते हैं।

अन्य शास्त्रों में भी आप्त-वाक्य प्रमाण माना गया है। अतः वहाँ पर आप्त का जो लक्षण कहा गया है और उसकी जो व्याख्या की गई है वह महर्षि चरक की उपर्युक्त व्याख्या से भिन्न नहीं है। यथा

"आप्तस्तु यथार्थवक्ता।" —तर्क संग्रह

अर्थात् आप्त पुरुष यथार्थ वक्ता होते हैं।

"आप्तस्तत्वार्थवेदिनः।" —आचार्य डल्हण

अर्थात् विभिन्न तत्वों के अर्थ को जानने वाले आप्त होते हैं।

"यथार्थदर्शी निर्दोषश्चाप्तो भवति।" —चक्रपाणि

अर्थात् वस्तुओं के यथार्थ (सही) स्वरूप को देखने वाला और निर्दोष (रज-तम दोष से रहित) आप्त होता है।

"आप्तिः रजस्तमोरूपदोषक्षयः, तद् युक्ता आप्तः।"

अर्थात् रज और तमो रूप दोष का क्षय होना आप्ति कहलाता है, उस आप्ति से युक्त जो होता है वह आप्त होता है।

स्वकर्मण्यभियुक्तो यः रागद्वेषविवर्जितः।
निर्वैरः पूजितः सद्भिराप्तो ज्ञेयः स तादृशः॥

अर्थात् जो अपने कर्म में लगे हुए हैं, राग और द्वेष से रहित हैं, जो वैर (शत्रुता) भाव से रहित हैं और सत्पुरुषों के द्वारा जो सदैव पूजित होते हैं ऐसे पुरुष को आप्त समझना चाहिये।

"आप्तश्रुतिः आप्तवचनं तु।" —सांख्य कारिका

आप्ता चासौ श्रुतिः आप्तश्रुति वेदतन्मूलकस्मृतीतिहासपुराणादिज्ञानम्। यद्वा श्रूयते या सा श्रुतिः श्रवणविषयीभूतः शब्दः आप्ता यथार्था श्रुतिः आप्तश्रुतिः आप्तवचनम्॥ (कृष्णमणि कृत संस्कृत टीका)

अर्थात् आप्त की श्रुति (शब्द) को आप्त वचन कहते हैं। आप्त और श्रुति मिलकर आप्त श्रुति कहलाती है। वेद, तन्मूलक स्मृति, इतिहास, पुराण आदि में निहित ज्ञान ही आप्त श्रुति होती है। अथवा श्रोत्रेन्द्रिय का विषय भूत शब्द जो सुना जाता है उसे श्रुति कहते हैं। आप्त की जो यथार्थ श्रुति (शब्द) है वह आप्त श्रुति होती है उसे ही आप्त वचन कहते हैं।

"आप्तस्तु यथार्थवक्ता। यो यत्रावञ्चकः स तत्राप्तः। इदं च व्यवहारापेक्षया आप्तलक्षणम्, आगमभाषया तु आप्तः प्रत्यक्षप्रमितसकलार्थत्वे सति परमहितोपदेशको निरुच्यते। परमहितं तु निश्रेयसं तदुपदेश एव अर्हतः प्राधान्येन प्रवृत्तेः। तस्यैव केवलज्ञानप्रमितसकलार्थत्वे सति परमहितोपदेशकत्वादाप्तत्वम्।" —जैन दर्शन सार

अर्थात् आप्त यथार्थ विषय का बोलने वाला होता है। जो जिस विषय में अविसंवादक है वह उस विषय में आप्त है। आप्त का यह लक्षण व्यवहार की अपेक्षा से है। आगमिक भाषा में तो प्रत्यक्ष के द्वारा समस्त पदार्थों का ज्ञान हो जाने पर अर्थात् सर्वज्ञ हो जाने पर जो परम हित (आत्म कल्याण) का उपदेष्टा होता है वह आप्त कहलाता है। परम हित मोक्ष को कहते हैं और उसके उपदेश में प्रधानतः अर्हत्

की ही प्रवृत्ति होती है। उस अर्हन्त के ही केवल ज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों का प्रत्यक्ष होने पर परम हितोपदेशक होने से आप्तत्व (आप्तपना) है।

इस प्रकार दर्शन शास्त्र में विभिन्न आचार्यों के द्वारा आप्त का जो स्वरूप प्रतिपादित किया गया है वह समान अभिप्राय का द्योतक है। ऐसे आप्त के द्वारा कहे गए वाक्य यथार्थ पर आधारित होने के कारण प्रमाण माने गए हैं। अतः आप्तवाक्य या आप्तोपदेश को प्रमाण माना जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आप्त पुरुषों के वचन संशय, विपर्यय एवं अयुक्ति पूर्ण तर्क आदि मिथ्या ज्ञान से रहित होते हैं। वे संसार से विरक्त रहते हैं और संसार से उन्हें कोई मोह, ममता, राग-द्वेष आदि भाव या क्रोध-मान-माया लोभ आदि कषाय नहीं होने से वे कभी असत्य वचन नहीं बोलते। उनका उपदेश जन सामान्य के लिए हितकारी होता है। उनके वचन कल्याणकारी एवं सत्य होने के कारण प्रामाणिक अर्थात् प्रमाण स्वरूप माने जाते हैं। आप्तपुरुष अपनी योग साधना, तपस्या एवं सात्विक विशुद्ध आचरण के द्वारा एक विशेष प्रकार के ज्ञान को प्राप्त करते हैं। वह ज्ञान अपने आपमें परिपूर्ण, दोषों से रहित, अव्याहत, बाधा रहित एवं आत्मा को आलोकित करने वाला होता है। उस अखण्ड एवं अव्याहत ज्ञान के द्वारा वे संसार में तीनों काल में होने वाली समस्त बातों का ज्ञान अविच्छिन्न रूप से कर लेते हैं। इसी ज्ञान के द्वारा वे संसार के गूढ़तम रहस्यों का भी पता लगा लेते हैं। उनका यह ज्ञान आध्यात्मिक ज्ञान कहलाता है। ऐसे विलक्षण ज्ञान से युक्त आप्त पुरुषों के वचनों या उपदेशों को जिस रूप में संकलित किया गया है वे वेदवाक्य, उपनिषद, पुराण, धर्मशास्त्र, स्मृति ग्रन्थ, संहिता ग्रन्थ कहलाते हैं। जिन ग्रन्थों में आप्त पुरुषों के वचनों को अथवा उपदेशों को संकलित करके लिपिबद्ध किया गया है उन्हीं ग्रन्थों को आज आप्तोपदेश या आप्त वाक्य कहा जाता है। आध्यात्मिक समस्याओं के समाधान के लिए प्रमाण के रूप में इन्हीं ग्रन्थों एवं शास्त्रों के वचनों को को उद्धृत किया जाता है। क्योंकि ये ही प्रामाणिक माने जाते हैं।

आगम प्रमाण

अनेक दार्शनिकों ने आप्तोपदेशात्मक होने के कारण आगम को प्रमाण माना है। आप्त पुरुषों के द्वारा जो उपदेश दिया गया है तथा उनके द्वारा अपने ज्ञान बल के आधार पर संसार के विविध विषयों का प्रतिपादन करते हुए तथ्यों की यथार्थ विवेचना स्वरूप जो कथन किया गया है उसे विभिन्न ग्रन्थों या शास्त्रों में निबद्ध किया गया है। आप्त पुरुषों के उन वचनों का निबन्धन होने के कारण उन शास्त्रों को **आगम** कहा जाता है और आप्तोपदेश की भांति उसे भी प्रमाण माना जाता है।

आगम के विषय में विभिन्न आचार्यों-शास्त्रकारों ने लगभग एक जैसा मत व्यक्त किया है। उनके मत निम्न प्रकार हैं—

"आगमयति बोधयति सूक्ष्मविप्रकृष्टानर्थानित्यागमः।" —चक्रपाणिदत्त

जो सूक्ष्म और विप्रकृष्ट विषयों का ज्ञान कराता है वह आगम कहलाता है।

अनेन आप्तवचनं निर्दोषं वाक्यं लक्ष्यते।
निर्दोषता च वेदस्यापौरुषेयत्वादेव॥ —चक्रपाणिदत्त

इससे आप्त-वचन निर्दोष वाक्य प्रतीत होते हैं और वेद की निर्दोषता अपौरुषेयत्व के कारण है।

"आप्तवचनं वेदादिकमिह वक्ष्यते।' —गंगाधर

यहाँ आप्त वचन से वेद आदि कहे जाते हैं।

"आगमो वेदः आप्तानां शास्त्रं वा।" —डल्हण

आप्त पुरुषों का ज्ञान शास्त्र में निबद्ध है वही आगम है।

सिद्धं सिद्धैः प्रमाणैस्तु हितं चात्र परत्र च।
आगमः शास्त्रमाप्तानाम्……………॥ —डल्हण

जो सिद्ध प्रमाणों से सिद्ध (प्रमाणित) है तथा इहलोक एवं परलोक दोनों में हितकर है ऐसा आप्तों का शास्त्र (जिसमें आप्त पुरुषों के वचन निबद्ध हैं ऐसा शास्त्र) आगम कहलाता है।

"आप्तवाक्यादि निबन्धनमर्थज्ञानमागमः।"

आप्त के शब्द को सुनकर या हस्त संकेत आदि को देखकर या ग्रंथ की लिपि आदि पढ़ने से जो पदार्थों का ज्ञान होता है वह आगम कहलाता है।

इस प्रकार आगम के उपर्युक्त लक्षणों से स्पष्ट है कि उनमें उल्लिखित या प्रतिपादित बातें सत्य होती हैं। असत्य एवं अनर्गल प्रलाप पूर्ण बातों से वे शून्य या रहित होते हैं। अतः वे मननीय होते हैं। उनमें आप्तजनों के वचन संकलित होने के कारण वे यथार्थ का प्रतिपादन करते हैं। अतः जिस प्रकार आप्तजन पूज्य होते हैं उसी प्रकार उनके वचनों का संकलन करने वाले आगम भी पूज्यनीय एवं श्रद्धास्पद होते हैं। यही कारण है कि कतिपय दर्शनों द्वारा आप्तवत् आगम को भी प्रमाण माना गया है।

शास्त्र का लक्षण

विभिन्न विषयों का अध्ययन जिन ग्रंथों के आधार पर किया जाता है वह शास्त्र कहलाता है। अध्ययन के योग्य अनेक विषय होते हैं। उन विषयों का क्रमवद्ध ज्ञान जिन ग्रंथों में निबद्ध किया गया है तथा विस्तार पूर्वक उन विषयों का

विवेचन एवं प्रतिपादन जिन ग्रंथों में किया गया है, जिन्हें गुरुजन पठनीय एवं शिष्यों को अध्यापन योग्य समझते हैं उन्हें शास्त्र कहा जाता है। शास्त्रों का अध्ययन करने से अध्येता शिष्य में ज्ञान की अभिवृद्धि होती है और उसे उस विषय में निपुणता प्राप्त होती है। शास्त्र ज्ञान के भण्डार एवं ज्ञान के अजस्र स्रोत होते हैं। उनका जितना अधिक मंथन किया जाय उतनी ही अधिक ज्ञान राशि मंथन कर्ता को प्राप्त होती है।

प्राचीन काल में विभिन्न विषयों को अधिकृत कर अनेक शास्त्रों की रचना की गई थी। सुविधा की दृष्टि से उन्हें १८ भागों में विभाजित किया गया था। यथा—१. शिक्षा, २. कल्प, ३. व्याकरण, ४. निरुक्त ५. ज्योतिष, ६ छन्द, ७. ऋग्वेद, ८. यजुर्वेद, ९. सामवेद, १०. अथर्ववेद, ११. मीमांसा, १२. न्याय, १३. धर्मशास्त्र १४. पुराण, १५. आयुर्वेद, १६. धनुर्वेद, १७. गन्धर्ववेद और १८. अर्थशास्त्र।

वर्तमान में यद्यपि इनमें से अनेक विषयों की उपेक्षा जा रही है और अनेक विषयों की शिक्षा का विस्तार हुआ है। क्या उन्हें भी शास्त्र की कोटि में लाया या रखा जा सकता है? यह विवाद का विषय हो सकता है। किन्तु यह तो निर्विवाद है कि प्राचीन काल में जिन विषयों को अधिकृत कर अगाध ज्ञान राशि का संचय एवं प्रतिपादन किया गया है वह उपयोगिता की दृष्टि से अत्यन्त महत्व पूर्ण है। जिन शास्त्रों में विविध विषयों के ज्ञान का संचय किया गया है ऐसे शास्त्र की प्रामाणिकता एवं उपयोगिता दर्शाने की दृष्टि से उनकी परीक्षा की जानी चाहिये। अतः शास्त्र का स्वरूप बतलाते हुए महर्षि चरक ने शास्त्र का निम्न लक्षण बतलाया है—

"तत्र यन्मन्येत सुमहद्यशस्विधीरपुरुषासेवितमर्थबहुलमाप्तजनपूजितं त्रिविध शिष्यबुद्धिहितमपगतपुनरुक्तदोषमार्षसुप्रणीतसूत्रभाष्यसङ्ग्रहक्रमं स्वाधारमनवपतितशब्दमकष्टशब्दं पुष्कलाभिधानं क्रमागतार्थमर्थतत्वनिश्चयप्रधानं सङ्गतार्थमसंकुलप्रकरणमाशु प्रबोधकं लक्षणवच्चोदाहरणवच्च तदभिप्रपद्येत शास्त्रम्। शास्त्रं ह्येवंविधममल इवादित्यस्तमो विधूय प्रकाशयति सर्वम्" —चरक संहिता, विमान स्थान ८/३

अर्थात् जो शास्त्र सुविस्तृत हो, यशस्वी एवं धीर पुरुषों के द्वारा सेवित हो याने जिसे यशस्वी और धीर पुरुष पढ़ते हों। जो अर्थ की बहुलता से युक्त हो, जो अल्पकाल में ही विषय का सम्पूर्ण ज्ञान कराने वाला हो, जो आप्तजनों के द्वारा आदर की दृष्टि से देखा जाने वाला हो, तीनों ही प्रकार के शिष्यों (प्रतिभाशाली या कुशाग्र बुद्धि, मध्यम या सामान्य बुद्धि तथा हीन या मन्द बुद्धि वाले) के लिए हितकारी हो, पुनरुक्ति दोष से रहित हो, जो आर्ष (ऋषि) प्रणीत हो तथा जिसमें सम्यक्तया प्रणीत सूत्र एवं भाष्य का संग्रह क्रमानुसार किया गया हो, जो सुदृढ़ आधार युक्त हो, जो

अशिष्ट-अश्लील-अनर्गल शब्दों से रहित, कष्टकारी (जिनका उच्चारण करने में कठिनाई होती है ऐसे) शब्दों से रहित हो (अर्थात् सुबोध एवं सुवाच्य शब्दों से युक्त हो), जिसमें बहुत कुछ प्रतिपादित किया गया हो, क्रमागत अर्थ से युक्त हो, अर्थ तत्व का निश्चय कराने में जो प्रधान हो (अर्थात् जिसके अध्ययन से अर्थ (विषय) के तत्व का निश्चयात्मक ज्ञान होता हो), जो सङ्गत अर्थ से युक्त हो, प्रकरण की संकुलता (गड़बड़ी या अव्यवस्थितता) नहीं हो, जो शीघ्र समझ में आ जाय और जो लक्षण युक्त व उदाहरण युक्त हो—ऐसे शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए। इस प्रकार का निर्मल शास्त्र उसी प्रकार समस्त विषयों का प्रकाशन करता है जिस प्रकार निर्मल सूर्य अन्धकार का नाश कर समस्त पदार्थों को प्रकाशमान करता है।

इस प्रकार यह शास्त्र का लक्षण बतलाया गया है। इस प्रकार का शास्त्र ही ग्राह्य एवं पठनीय होता है। ऐसा शास्त्र अज्ञान का नाश करता है और बुद्धि को परिमार्जित कर उसे ज्ञान सम्पन्न बनाता है।

एतिह्य प्रमाण

पौराणिक लोग स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में इसके अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। उनके मतानुसार यह प्रमाण किसी अन्य प्रमाण में समाविष्ट नहीं किया जा सकता। किन्तु प्रायः सभी दर्शनकारों ने एतिह्य प्रमाण को स्वतन्त्र रूप से न मानकर आप्तोपदेश में ही इसका समावेश का कर लिया है। क्योंकि आप्तोपदेश के द्वारा जिस विषय का ज्ञान होता है उसी का प्रतिपादन एतिह्य प्रमाण द्वारा किया जाता है। एतिह्य शब्द का शाब्दिक अर्थ भी आप्तोपदेश से मिलता हुआ है। एतिह्य शब्द का विश्लेषण करने पर इसमें तीन शब्दों का सामूहिक रूप दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार आप्तोपदेश शब्द का विश्लेषण करने पर उसमें दो शब्दों का सामूहिक रूप परिलक्षित होता है। जैसे एतिह्य शब्द की निष्पति के लिए "इति+ह+ऊचुः" अर्थात् ऐसा निश्चय पूर्वक कहा गया है।

इसी प्रकार आप्तोपदेश में 'आप्त+उपदेश' अर्थात् आप्त पुरुषों के जन कल्याणकारी सत्य वचन। इस प्रकार एतिह्य और आप्तोपदेश समानार्थवाची शब्द हैं। पौराणिक लोगों के अनुसार एतिह्य के अन्तर्गत दो प्रकार के वचन होते हैं—

१—एक तो वे वचन जो प्राचीन ऋषि महर्षियों ने स्वानुभूत सत्य ज्ञान के आधार जन सामान्य को उपदेश रूप में प्रदान किए। महर्षियों के दिव्यामृत स्वरूप उस उपदेशात्मक ज्ञान को लिपिबद्ध कर लेने के कारण वह ज्ञान आज हमारे समक्ष शास्त्र या ग्रथों के रूप में विद्यमान है। लिखित रूप में होने के कारण इसे प्रमाण माना जाता है। कुछ दर्शन ऐतिह्य को इसी आधार पर आप्तवचन या आप्तोपदेश

कहते हैं। क्योंकि केवल उन्हीं महापुरुषों या सत् पुरुषों के वाक्यों को प्रमाण माना जा सकता है जो विभिन्न विकार (क्रोध-मान-माया-लोभ आदि कषाय) एवं राग-द्वेष आदि भावों से रहित होकर जन कल्याण की भावना से प्रेरित होकर उपदेश देते हैं। इस दृष्टि से आप्तोपदेश और एतिह्य में कोई अन्तर नहीं है।

२—एतिह्य प्रमाण के अन्तर्गत दूसरे प्रकार के वे वचन आते हैं जो वंश परम्परा, वंशानुक्रम अथवा रूढ़ि परम्परा से चले आ रहे हैं। इस प्रकार एतिह्य स्वयं एक परम्परा है। हमारी बहुत सी धारणाएँ आज अतीत कालीन परम्परा एवं अन्ध विश्वासों पर आधारित हैं। पौराणिक लोग परम्परा पर आधारित एतिह्य को ज्ञान का कारण मानते हुए उसे प्रमाण मानते हैं। किन्तु इन परम्पराओं, अन्ध विश्वासों, रूढ़िगत धारणाओं एवं अप्रामाणिक वचनों पर आधारित इस प्रकार के एतिह्य को प्रमाण नहीं माना जा सकता। क्योंकि ऐसे वचनों की प्रामाणिकता संदिग्ध होने के कारण वे रूढ़ि परम्परागत वचन ग्राह्य नहीं होते हैं।

वस्तुतः एतिह्य के अन्तर्गत वंश परम्परा, वंशानुक्रम, रूढ़ि परम्परा अथवा भ्रान्तिपूर्ण धारणाओं पर आधारित एवं अतीत काल से चली आ रही बातों का समावेश नहीं करना चाहिए। क्योंकि उनकी सत्यता एवं प्रामाणिकता संदिग्ध होने के कारण वे वचन मिथ्या भी हो सकते हैं। अतः एतिह्य प्रमाण के द्वारा आप्त पुरुषों के वचनों का ग्रहण करना ही अधिक समीचीन है। आयुर्वेद में एतिह्य से आप्तोपदेश, वेद आदि का ग्रहण किया गया है। जैसा कि महर्षि चरक ने कहा है—

"एतिह्यं नामाप्तोपदेशो वेदादिः।" —**चरक संहिता, विमानस्थान ८/३४**

नैयायिकों के मतानुसार एतिह्य को स्वतन्त्र प्रमाण मानना उचित नहीं है। क्योंकि इसमें रूढ़ि परम्परा एवं भ्रान्ति पूर्ण धारणा पर आधारित शब्दों का समावेश रहता है। अतः एतिह्य एक प्रकार का शब्द है और इस प्रकार का शब्द प्रमाण नहीं है। इस दृष्टि से एतिह्य भी प्रमाण नहीं है।

निघण्टु

निघण्टु शब्द का प्रयोग वैदिक काल से ही चला आ रहा है। वर्तमान में यद्यपि निघण्टु शब्द वनौषधियों के पर्याय एवं गुण धर्म बतलाने वाले शास्त्र के अर्थ में रूढ़ हो गया है, किन्तु वैदिक काल में और तत्पश्चात् भी वेद मन्त्रों में जिन शब्दों का प्रयोग हुआ है उन शब्दों के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले तदर्थ वाची अन्य शब्दों का संग्रह जिस शास्त्र में किया गया है वह **निघण्टु** कहलाता है। जिस प्रकार वर्तमान में विभिन्न प्रकार के शब्द कोश प्रचलित हैं उसी

प्रकार प्रचीन काल में वैदिक शब्दों के पर्यायवाची शब्दों को संग्रहीत करने वाले, उन शब्दों की विशद व्याख्या प्रस्तुत करने वाले एवं उन शब्दों के विविध अर्थों का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र को निघण्टु संज्ञा से व्यवहृत किया जाता था। इसके अतिरिक्त चूंकि वेद मन्त्रों में प्रयुक्त शब्द दुरूह होते हैं अतः उन शब्दों का अर्थज्ञान कराने की दृष्टि से महर्षि यास्क के द्वारा मन्त्रों की व्याख्या समझाने के लिए निरुक्त की रचना की गई। उस निरुक्त में निघण्टु शब्द की व्याख्या निम्न प्रकार से की गई है—

ॐ समाम्नायः समाम्नातः। स व्याख्यातव्यः। तमिमं समाम्नायं निघण्टवः इत्याचक्षते। निघण्टवः कस्मात्? निगमा इमे भवन्ति। छन्दोभ्यः समाहृत्य समाम्नातास्ते निगन्तव एव सन्तो निगमनात् निघण्टव उच्यन्ते इत्यौपमन्यवः।

अर्थात् वैदिक शब्दों के समुदाय को समाम्नाय याने समाम्नात कहते हैं। जिनका सम्यक्तया मर्यादा पूर्वक ज्ञानार्जन किया जाता है उस समाम्नाय की व्याख्या की जानी चाहिये। इसी समाम्नाय को निघण्टु कहते हैं। इन्हें निघण्टु क्यों कहते हैं? क्योंकि ये निगम होते है, अर्थात् निश्चय पूर्वक शब्दों के गूढ़ अर्थों का ज्ञान कराने वाले होते हैं। वे छन्दों से ग्रहण किये गए शब्द समुदाय निश्चय पूर्वक अर्थावबोध कराने वाले होने से निगन्तु हैं और निगमन याने निष्कर्शात्मक अर्थ का ज्ञान कराने से निघण्टु कहलाते हैं- ऐसा औपमन्यव कहते हैं।

महर्षि यास्ककृत निघण्टु शब्द की उपर्युक्त व्याख्या अत्यन्त समीचीन मानी जाती है। तदनुसार निघण्टु में वैदिक शब्दों का उनके पर्याय, व्याख्या एवं अर्थ सहित संकलन कर उनका विवेचन किया जाता था। निघण्टु शब्द की उपर्युक्त व्याख्या को निम्न प्रकार से और अधिक स्पष्ट किया गया है—

"अतः इत्येवमर्थं निगमयितृत्वान्निगन्तव ऐते सम्पन्नाः सन्तोऽपि परोक्षवृत्तिना शब्देन गकार स्थाने घकारं मत्वा तकार स्थाने टकारं कृत्वा वर्ण व्यापत्यादिलक्षणम्।"

अर्थात् इस प्रकार से अर्थ का ज्ञान कराने वाला होने से ये निगन्तु सम्पन्न होते हुए भी परोक्ष वृत्ति वाले शब्द से गकार के स्थान पर घकार को मानकर और तकार के स्थान पर टकार को करके (निगन्तु-निघण्टु) शब्द का निर्माण होता है।

इसी प्रकार एक अन्य व्याख्या के अनुसार निघण्टु गूढ़ार्थ का बोध कराने वाले होते हैं। यथा—

"तमिमं समाम्नाय निघण्टव इत्याचक्षते। निश्चयेनाधिके वा गूढ़ार्था एव परिज्ञाताः सन्तो मन्त्रार्थान् गमयन्ति ज्ञापयन्ति ततो निगम संज्ञा निघण्टव एव इमे भवन्ति।"

अर्थात् इस समाम्नाय (वैदिक शब्दों के समुदाय) को निघण्टु कहा जाता है। इसके द्वारा निश्चय पूर्वक अत्यधिक गूढ़ार्थ का भी परिज्ञान होता है, अतः जो मंत्रों के अर्थों को बतलाते हैं वे निगम संज्ञा वाले निघण्टु ही होते हैं।

इस प्रकार वैदिक साहित्य (वेदों) में उल्लिखित मंत्रों के अर्थ को स्पष्ट करने वाले साहित्य या ग्रंथ को निघण्टु संज्ञा से व्यवहृत किया गया है। इससे स्पष्ट है कि निघण्टु एक प्रकार के शब्द कोष हैं जो शब्दों के अर्थ की विवेचना करते हैं और पर्यायों के द्वारा वस्तु के स्वरूप का ज्ञान कराते हैं। इन्हीं की विशद व्याख्या निरुक्त है जो छह वेदाङ्गों में अन्यतम है।

उपर्युक्त प्रकार से पर्यायों के माध्यम से द्रव्यों के सम्बन्ध में अपेक्षित जानकारी देने की परम्परा आगे भी चलती रही। शनैःशनैः निघण्टु शब्द आथर्वण सम्प्रदाय के औषधियों के गुण धर्म सम्बन्धी विवरण को बतलाने वाला माना जाने लगा और इस (द्रव्य गुण) शास्त्र का नाम निघण्टु पड़ गया तथा कालान्तर में इसी अर्थ में रूढ़ हो गया। अतः परवर्ती आचार्यों ने औषधियों के पर्याय एवं गुण धर्म की विवेचना करने वाले जिन ग्रंथों की रचना की उनका नामकरण करते समय निघण्टु शब्द भी जोड़ दिया। जैसे राजनिघण्टु, धन्वन्तरि निघण्टु, मदनपाल निघण्टु आदि। इस प्रकार वर्तमान में आयुर्वेद में निघण्टु शब्द से औषधि गुण धर्म का विवेचन करने वाला शास्त्र जिसे आज कल द्रव्यगुण विज्ञान कहा जाता है का बोध होता है।

शब्द प्रमाण

कुछ दार्शनिक विद्वान् आप्तोपदेश अथवा एतिह्य के स्थान पर शब्द को प्रमाण मानते हैं। शास्त्र-पुराण आदि के यथार्थ वचनों का समावेश न तो प्रत्यक्ष में किया जा सकता है, न अनुमान में और न ही किसी अन्य प्रमाण में। अतः शब्द एक पृथक् प्रमाण है और स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में इसका अस्तित्व है। इस तथ्य के आधार पर न्याय दर्शन में शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण स्वीकार किया गया है। किन्तु सभी प्रकार के शब्द यथार्थ ज्ञान कराने में कारण नहीं होते। अतः सभी प्रकार के शब्दों को प्रमाण नहीं माना जा सकता। न्याय सूत्र के अनुमार वे शब्द ही ग्राह्य एवं प्रमाण हैं जो आप्त पुरुषों के वाक्य या आप्तोपदेश रूप में होते हैं। यथा-**"आप्तोपदेशः शब्दः"-न्याय सूत्र।** इस दृष्टि से अन्य आचार्यों के द्वारा स्वीकृत आप्तोपदेश प्रमाण एवं न्याय दर्शनोक्त शब्द प्रमाण में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। न्याय शास्त्र के अनुसार सत्य- वचन का प्रतिपादन करने वाले आप्त पुरुषों ने अपने प्रत्यक्ष के आधार पर जो यथार्थ ज्ञान उपलब्ध किया उसे उन्होंने जन सामान्य के कल्याण के लिए उपदेश रूप में प्रसारित किया।

अतः उन्हीं के वाक्य या शब्द प्रमाणान्तर्गत समाविष्ट हैं। क्योंकि **"आप्तस्तु खलु यथार्थवक्ता"** अर्थात् यथार्थ बोलने वाला ही आप्त होता है और उसी का वचन प्रामाणिक होता है। इसका विशेष विवेचन आप्तोपदेश के प्रकरण में ऊपर किया जा चुका है।

शब्द के भेद—शब्द सामान्यतः तीन प्रकार के होते हैं। यथा-लौकिक शब्द, वैदिक शब्द और साधारण शब्द। इनमें लौकिक शब्द वे होते हैं जो लौकिक पुरुषों के द्वारा उच्चारित किए जाते हैं। यथार्थ वक्ता पुरुषों के वचन ही लौकिक शब्द कहलाते हैं। अतः आप्त पुरुष, महापुरुषों एवं सत् पुरुष के वाक्य ही लौकिक शब्द में समाविष्ट हैं। दूसरे प्रकार के वैदिक शब्द वे होते हैं जिनका उल्लेख केवल वेदों में किया गया है। अतः वेद वाक्य ही वैदिक शब्द कहलाते हैं। तीसरे प्रकार के शब्द वे होते हैं जो साधारण व्यक्तियों के द्वारा अपने दैनिक व्यवहार में प्रयोग किए जाते हैं। जनसामान्य इन शब्दों का व्यवहार करने का अधिकारी है। इन तीन प्रकार के शब्दों में न्याय दर्शन प्रारम्भिक दो शब्दों को ही प्रमाण मानता है। आप्त वाक्य एवं वेद वाक्य इन दोनों प्रकार के शब्दों में यथार्थ प्रतिपादन होने से ये प्रमाण हैं।

शब्द को प्रमाण मानने वाले दर्शनों में यद्यपि न्याय दर्शन प्रमुख है। इसके अतिरिक्त सांख्य दर्शन, योग दर्शन, मीमांसा दर्शन एवं वेदान्त दर्शन इन सभी ने इसका समर्थन किया है, किन्तु वे इस विषय में न्याय दर्शन से कुछ मत भिन्नता रखते हैं। अर्थात् उपर्युक्त चार दर्शन केवल वैदिक शब्द को ही प्रमाण मानते हैं। क्योंकि उनके मतानुसार वेद अनादि और अपौरुषेय हैं। उनकी रचना किसी पुरुष विशेष के द्वारा नहीं की गई, अपितु वे ईश्वरकृत एवं स्वयं प्रकाशित ज्ञान रूप हैं।

तर्क संग्रह के अनुसार शब्द

"आप्तवाक्यं शब्दः। आप्तस्तु यथार्थवक्ता। वाक्यं पदसमूहः, यथा गामानयेति। शक्तं पदम्। अस्मात् पदादयमर्थो बोद्धव्यः इतीश्वर संकेतः शक्तिः।" —तर्क संग्रह

अर्थात् आप्त पुरुषों के द्वारा कहे गए वाक्य को शब्द कहते हैं। यथार्थ बोलने वाले को आप्त कहते हैं। पदों का समूह वाक्य होता है। पद शक्ति से सम्पन्न या समर्थ होते हैं। इस पद से यह अर्थ समझना चाहिए—यह शक्ति होती है जो ईश्वर के संकेत (इच्छा) पर निर्भर है। अथवा ईश्वर संकेत रूप जो शक्ति होती है वही पद के अर्थ का बोध (ज्ञान) कराती है।

आचार्य चक्रपाणि दत्त आप्तोपदेश के रूप में व्यक्त शब्द को दो प्रकार का मानते हैं। यथा—आप्तोपदेशः शब्दस्तु द्विविधः—परमाप्तब्रह्मादिप्रणीतस्तथा **लौकिकाप्तप्रणीतश्च ऐतिह्यशब्देन परमाप्तप्रणीतोऽवरुद्धः लौकिकाप्तप्रणीतश्च शब्दैकदेशरूपः सत्यप्रकार—विहितो ज्ञेयः।**

अर्थात् आप्तोपदेश शब्द दो प्रकार का होता है-परमाप्त ब्रह्मा आदि के द्वारा प्रणीत और लौकिक आप्त के द्वारा प्रणीत। ऐतिह्य शब्द से परम आप्त के द्वारा प्रणीत समझना चाहिए और लौकिक आप्त के द्वारा प्रणीत को शब्द के एक देश रूप सत्य का प्रकार समझना चाहिए।

१. **परमाप्तब्रह्मादि प्रणीत**—ब्रह्मा आदि परम आप्त होते हैं। वे अलौकिक होते हैं। उनके द्वारा कहे गए वाक्य सत्य रूप होते हैं। अतः उनके द्वारा प्रणीत या उनके वाक्य जिसमें संकलित हैं ऐसे वेद आदि।

२. **लौकिकाप्त प्रणीत**—लौकिक आप्त वे होते हैं जो महर्षि चरकोक्त 'रजस्तमोभ्यां निर्मुक्ताः' इत्यादि के द्वारा प्रतिपादित हैं। इनमें ऋषि आदि आते हैं। चरक संहिता, सुश्रुत संहिता आदि लौकिकाप्त के द्वारा प्रणीत समझना चाहिए।

इस प्रकार आप्तोपदेश दो प्रकार का प्रतिपादित किया गया है।

चरकोक्त शब्द का लक्षण एवं भेद

महर्षि चरक ने शब्द का लक्षण एवं भेद निम्न प्रकार से बतलाए हैं—

"शब्दो नाम वर्णसमाम्नायः, स चतुर्विधः—दृष्टार्थश्चादृष्टार्थश्च सत्यश्चानृतश्चेति। तत्र दृष्टार्थः—त्रिभिर्हेतुभिर्दोषाः प्रकुप्यन्ति, षड्भिरुपक्रमैश्च प्रशाम्यन्ति, श्रोत्रादिसद्भावे शब्दादिग्रहणमिति; अदृष्टार्थः पुनः अस्ति प्रेत्यभावोऽस्ति मोक्ष इति; सत्यो नाम यथार्थभूतः—सन्त्यायुर्वेदोपदेशाः, सन्त्युपायाः साध्यानां सन्त्यारम्भफलानीति; सत्यविपर्ययाच्चानृतः।" **—चरक संहिता, विमान स्थान ८/४२**

अर्थात् वर्ण के समाम्नाय को शब्द कहते हैं। (चक्रपाणि के अनुसार वर्ण का मेलक वर्ण समाम्नाय कहलाता है। तदनुसार जो वर्ण का मेलक होता है वह शब्द कहलाता है।) वह शब्द चार प्रकार का होता है—१. दृष्टार्थ, २. अदृष्टार्थ, ३. सत्य, ४. अनृत (झूठ)।

दृष्टार्थ—जैसे तीन हेतुओं (असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध और परिणाम) से दोषों का प्रकोप होता है। प्रकुपित हुए वे दोष छह उपक्रमों (बृंहण, लंघन, स्नेहन, रूक्षण, स्वेदन, स्तम्भन) से शान्त होते हैं। श्रोत्र आदि इन्द्रियों के होने पर ही शब्द आदि विषयों का ग्रहण (या ज्ञान) होता है। इन वाक्यों से शब्दों के माध्यम से जो विषय बतलाए गए हैं उनका ज्ञान या अनुभव प्रत्यक्ष किया जाता है। अतः इसे दृष्टार्थ कहते हैं।

अदृष्टार्थ—पुनर्जन्म है, मोक्ष है, इन वाक्यों का अर्थ प्रत्यक्ष (दृष्ट) नहीं है, अतः यह अदृष्टार्थ होता **है।**

सत्य—जो यथार्थ भूत होता है वह सत्य कहलाता है। जैसे आयुर्वेद के उपदेश हैं, साध्य रोगों की सिद्धि के उपाय हैं, कर्मों के फल हैं इत्यादि वाक्य यथार्थ का प्रतिपादन करने से सत्य रूप हैं।

अनृत—सत्य से विपरीत अनृत (झूठ) कहलाता है।

शब्दार्थ बोधक वृत्तियाँ

हमारे द्वारा जो शब्द उच्चारित किए जाते हैं उनका अर्थ बोध जिसके द्वारा होता है वह शब्दार्थ बोधक वृत्ति कहलाती है। प्रसंगानुसार कहीं कहीं शब्द के उसी अर्थ का बोध होता है जो यथार्थ है और कहीं उससे भिन्न अर्थ का बोध होता है—यह शब्दार्थ वृत्ति पर निर्भर है। शास्त्र में शब्दार्थ को अभिव्यक्त करने वाली वृत्तियाँ चार बतलाई गई हैं। यथा—अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना और तात्पर्याख्या। इन चारों वृत्तियों को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है—

१. **अभिधा**—'अभि' पूर्वक 'धा' धातु से अभिधा शब्द निष्पन्न होता है-इसकी निरुक्ति के अनुसार "**अभिधीयते यया सा अभिधा।**" अर्थात् जिसके द्वारा सीधे रूप में कहा जाय वह अभिधा होती है। इसका भावार्थ यह है कि पद में निहित अर्थ को सीधा प्रकट करने वाली वृत्ति अभिधा कहलाती है। जैसे 'श्याम विद्यालय में पढ़ता है'। इस वाक्य से जो सीधा सादा अर्थ ध्वनित होता है वह अभिधा मूलक है। इस वाक्य से प्रकट होने वाले अर्थ में तोड़-मरोड़ की गुंजाइश नहीं है। किसी भी शब्द या वाक्य से प्रकट होने वाला मुख्यार्थ जिस शक्ति से ध्वनित होता है वह 'अभिधा' कहलाती है। काव्य प्रकाश में अभिधा का लक्षण करते हुए बतलाया गया है—

"स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते।" —**काव्य प्रकाश २.८**

अर्थात् किसी भी पद (शब्द या वाक्य) का मुख्य अर्थ जो उसके मुख्य व्यापार (गुण, जाति, द्रव्य या किसी क्रिया वाचक हो) को ध्वनित करता है अभिधा कहलाता है। अभिप्राय यह है कि जिस शक्ति के द्वारा पद (शब्द या वाक्य) का मुख्य अर्थ व्यक्त होता है उसे अभिधा कहते हैं। इसे ही वाच्यार्थ भी कहा जाता है।

अभिधा से जिन शब्दों का अर्थ ध्वनित या व्यक्त होता है वे सार्थक शब्द होते हैं जो निम्न तीन प्रकार के होते हैं। यथा—रूढ़, यौगिक और योगरूढ़। जिस शब्द की प्रकृति व्युत्पत्ति के अधीन नहीं रहती है अथवा जो शब्द व्याकरण सम्मत धातु, प्रत्यय आदि अवयव पर निर्भर नहीं रहता है वह **रूढ़** कहलाता है। जैसे चश्मा। यह एक सार्थक शब्द है, किन्तु यदि इसके तीनों अक्षरों-'च' 'श' और 'मा' को इस प्रकार अलग-अलग कर

दिया जाय तो इन पृथक्-पृथक् अक्षरों का कोई अर्थ नहीं निकलता है। अतः रूढ़ शब्द विखण्डित हो जाने पर अर्थ हीन हो जाता है। जो शब्द दो या अधिक शब्दों के योग से बनता है और प्रत्येक शब्द (पद) अपना अर्थ कायम रखता है तथा जिस शब्द की प्रवृत्ति व्युत्पत्ति के अनुसार होती है वह **यौगिक** कहलाता है। ऐसे शब्दों के खंड अपना मूल अर्थ नहीं छोड़ते हैं। जैसे विद्यालय, देवालय, राजकुमार आदि। इनमें विद्या+आलय=विद्या का स्थान, देव+आलय=देव का स्थान, राज+कुमार=राजा का पुत्र-इस प्रकार इन शब्दों में दोनों पद सार्थक होते हैं। तीसरे प्रकार के योग रूढ़ शब्द वे होते हैं जो अपना अर्थ कुछ तो अवययों पर और कुछ समुदाय पर निर्भर करते हैं। इस प्रकार के योग रूढ़ शब्द अपना सामान्य अर्थ छोड़कर विशेष अर्थ ग्रहण कर लेते हैं। जैसे 'तोयद'। इसमें तोय और द ये दो शब्द होते हैं। 'तोय' याने जल और 'द' याने देने वाला अर्थात् मेघ। ये दोनों शब्द अपने मूल अर्थ 'जल' और 'देने-वाला' छोड़कर एक विशेष अर्थ 'मेघ' के वाचक हैं। इसी प्रकार शशांक (खरगोश है अंकित जिसमें) अर्थात् चन्द्रमा। सहस्र रश्मि--सूर्य (हजारों किरणों वाला)।

२. **लक्षणा**—जिस शब्द का जो मुख्य अर्थ होता है उस मुख्यार्थ का बोध न होकर उससे सम्बद्ध अन्य अर्थ का बोध कराने वाली वृत्ति लक्षणा कहलाती है। लक्षणा के विषय में कहा गया है—

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढ़ितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया॥

—**काव्य प्रकाश २.९**

अर्थात् मुख्य अर्थ के बाधित होने पर रूढ़ि अथवा प्रयोजन के कारण जिस क्रिया के द्वारा मुख्य अर्थ से सम्बन्ध रखने वाला अन्य अर्थ लक्षित हो वह **लक्षणा** कहलाती है।

कई बार ऐसा होता है कि जब कोई शब्द या वाक्य कहा जाता है तो उसका वास्तविक अर्थ ग्रहण न करके अन्य अर्थ का ग्रहण होता है। जैसे "**गंगायां घोषः**"। इसका मुख्य अर्थ है 'गंगा में कुटी'। किन्तु यहां मुख्य अर्थ बाधित होकर गंगा के समीपवर्ती तट का बोध होता है, अर्थात् गंगा तट पर स्थित कुटी। इसी प्रकार एक मालिक ने अपने नौकर को आज्ञा दी—'जा घोड़े को पानी दिखा ला।' यहाँ इसका मुख्यार्थ घोड़े को पानी दिखाना है, किन्तु यह अर्थ ग्रहण न होकर घोड़े को पानी पिलाना है। इस प्रकार जो अन्य अर्थ ग्रहण किया गया वही लक्षणा वृत्ति है।

३. **व्यञ्जना**—शब्द की जिस वृत्ति से व्यङ्ग्यार्थ ध्वनित होता है वह व्यञ्जना कहलाती है। यह वृत्ति शब्द या वाक्य के मुख्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ को तिरोहित करती हुए व्यङ्ग रूपात्मक अन्य ही अर्थ को प्रकट करती है। जैसे किसी व्यक्ति को किसी कार्य में सफलता नहीं मिलने पर उसने कहा कि यह कार्य ठीक नहीं था इसलिए मैं

तो यह कार्य करना ही नहीं चाहता था। तब दूसरे ने उत्तर दिया-हाँ, 'अंगूर खट्टे हैं'। यहां अंगूर खट्टे हैं का व्यंगार्थ ही यही निकलता है कि उस कार्य में सफलता नहीं मिलने के कारण उस कार्य को ठीक नहीं बतलाया। जिस प्रकार लोमड़ी को अंगूर नहीं मिल पाने के कारण उसने कहा था-अंगूर खट्टे हैं। इसी प्रकार यदि किसी व्यक्ति को कहा जाय कि तू तो गधा है तो निश्चय ही यहां गधा का मुख्यार्थ ग्रहण न कर व्यंगार्थ 'मूर्ख' ग्रहण किया जायगा।

व्यंजना दो प्रकार की होती है—शाब्दी और आर्थी। जहां व्यञ्जना किसी शब्द विशेष के प्रयोग पर निर्भर करती है वहां शाब्दी व्यंजना होती है और अर्थ विशेष पर निर्भर करने वाली व्यञ्जना आर्थी व्यञ्जना कहलाती है।

तात्पर्याख्या वृत्ति—कुछ शब्द अनेक अर्थ वाले होते हैं। अनेकार्थ वाची ऐसे शब्दों का प्रयोग किए जाने पर उसका अभिप्रेतार्थ न तो अभिधावृत्ति से, न लक्षणा वृत्ति से और न व्यञ्जना वृत्ति से ग्रहण कर जिस वृत्ति से ग्रहण किया जाता है वह **तात्पर्याख्या वृत्ति** कहलाती है। जैसे आयुर्वेद में एक 'सन्धान' शब्द है जो भैषज्य कल्पना प्रकरण में एक कल्पना विशेष है (आसव या अरिष्ट निर्माण में संधान क्रिया होती है) और शल्यतन्त्र के प्रकरण में भग्न अस्थि का 'संधान' किया जाता है। यहां औषधि (आसव-अरिष्ट) निर्माण में भी 'सन्धान' शब्द का प्रयोग किया गया है और भग्न अस्थि को जोड़ने में भी 'सन्धान' शब्द का प्रयोग किया गया है। दोनों प्रकरण में सन्धान शब्द भिन्नार्थ का द्योतक है। अतः प्रकरण के अनुसार अर्थ ग्रहण करना तात्पर्याख्या वृत्ति के द्वारा होता है। इसी प्रकार 'सैन्धव' शब्द नमक और घोड़ा अर्थ वाची है, तथा 'जीवन' शब्द मानव जीवन एवं जल के अर्थ का बोधक है। किन्तु शब्द का प्रसंगानुकूल अर्थ ग्रहण करना तात्पर्याख्या वृत्ति के अधीन है।

वाक्य स्वरूप एवं वाक्यार्थ ज्ञान में हेतु

सामान्य व्यवहार में अथवा शास्त्र निर्माण में जिन वाक्यों का प्रयोग किया जाता है वे वाक्य विभिन्न शब्दों-पदों के योग से बनते हैं। उन शब्दों या पदों का निर्माण वर्ण या अक्षर समूह से होता है। तर्क संग्रह में भी पदों के समूह को वाक्य कहा गया है। यथा—"**वाक्यं पदसमूहः**, यथा गामानयेति।" यहां यह ज्ञातव्य है कि प्रत्येक पद समूह या शब्द समूह वाक्य नहीं होता है। वाक्य होने के लिए यह आवश्यक है कि उसमें पदों या शब्दों का विन्यास व्यवस्थित रूप से हो जिसके परिणाम स्वरूप उसका कुछ अर्थ निकलता हो। अतः सार्थक शब्दों से निष्पन्न सार्थक वाक्य ही वाक्य की श्रेणी में आते हैं। निरर्थक पद समूह को वाक्य नहीं माना जाता है। उन वाक्यों

के अर्थ ज्ञान के लिए इन बातों का होना आवश्यक है—आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि।

आकांक्षा—"**पदस्य पदान्तर व्यतिरेक प्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वमाकांक्षा।**"—तर्क संग्रह। अर्थात् एक पद का अन्य पद के बिना प्रयुक्त किए जाने पर अन्वय का अनुभावकत्व होना आकांक्षा होती है। जब किसी वाक्य का प्रयोग किया जाता है तो उसमें एकाधिक पद होते हैं और एक पद अन्य पदों के सहारे ही पूरा अर्थ प्रकट करने में समर्थ होता है। अतः वाक्यार्थ के बोध के लिए एक पद को अन्य पदों की सहायता लेना आवश्यक होता है। इस प्रकार की आवश्यकता या अपेक्षा ही 'आकांक्षा' कहलाती है। जैसे—आयुर्वेद एक जीवन विज्ञान है। इस वाक्य में यदि 'आयुर्वेद' इस एक पद या 'जीवन' या 'विज्ञान' या 'है' इस एक-एक पद को लिया जाय तो अभीष्ट अर्थ प्रकट नहीं होगा। अतः अभीष्ट अर्थ ज्ञान के लिए अन्य पदों की भी अपेक्षा रहती है—यही आकांक्षा है।

योग्यता—'**अर्थाबाधो योग्यता**' (तर्क संग्रह) अर्थ में बाधा का अभाव होना **योग्यता** है। वाक्य की सार्थकता के लिए यह आवश्यक है कि उसमें विद्यमान सभी पद साथ मिलकर अर्थ विशेष को उत्पन्न करें। याने वाक्य में ऐसे पद नहीं होने चाहिए जो अर्थोत्पत्ति या अर्थ ज्ञान में बाधा उत्पन्न करें—इसे **योग्यता** कहते हैं।

जैसे '**वह्निना सिञ्चति**'। अर्थात् अग्नि से सींचता है। इस वाक्य में ऐसे पद विद्यमान हैं जो परस्पर विरुद्ध हैं और विरुद्ध अर्थ को प्रकट करते हैं। क्योंकि सींचने की क्रिया जल से होती है, न कि अग्नि से। यहाँ प्रस्तुत वाक्य के अर्थ में बाधा उत्पन्न होती है—अतः यह योग्यता नहीं है। जहाँ अर्थ में बाधा उत्पन्न न हो वहां योग्यता होती है। जैसे—जलेन सिञ्चति।

सन्निधि—"**पदानामविलम्बेनोच्चारणं सन्निधिः।**" (तर्क संग्रह) अर्थात् वाक्य में प्रयुक्त पदों के उच्चारण में विलम्ब नहीं करना सन्निधि कहलाता है। जैसे 'देवदत्त प्रातःकाल भ्रमण करता है'—इस वाक्य में प्रयुक्त पदों के उच्चारण में यदि विलम्ब किया जाय याने एक-एक पद कुछ देर तक रुक-रुक कर बोला जाय तो इससे वाक्यार्थ की उपयोगिता समाप्त हो जाती है। अतः वाक्य में प्रयुक्त शब्दों को धारा प्रवाह रूप में बोलना सन्निधि कहलाता है।

इस प्रकार शब्द समूह में ज्ञान की अक्षय निधि संचित है जिसका समुचित उपयोग करने के लिए शास्त्रावगाहन आवश्यक है। आयुर्वेद में शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण न मानकर आप्तोपदेश में ही उसका समावेश कर लिया गया है। आप्तोपदेश की प्रामा-

णिकता होने पर तदन्तर्गत सन्निविष्ट शब्द की प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध हो जाती है। आयुर्वेद जैसे गम्भीर शास्त्र में प्रतिपादित विषयों के लिए आप्तोपदेश का होना नितान्त आवश्यक है। आप्तोपदेश ही विभिन्न विषयों में समुचित मार्ग दर्शन करता है। इसके द्वारा ही रोग की उत्पत्ति करने के कारण, पूर्वरूप, रोग की दारुणता, साध्यासाध्यता, यथावश्यक चिकित्सा, तदर्थ समुचित औषधि प्रयोग की मात्रा, अनुपान आदि तथा पथ्यापथ्यक का ज्ञान होता है। अतः आयुर्वेद में आप्तोपदेश को प्रमाण रूप में स्वीकार करना सर्वथा समीचीन है।

शक्तिग्रह एवं शक्तिग्राहक

प्रत्येक पद का अपना निश्चित अर्थ होता है। वह अपने उसी अर्थ को प्रकट करता है। यद्यपि प्रत्येक पद के द्वारा प्रकट किए जाने वाले अर्थ को व्यक्त करने में पद में विन्यस्त शब्द संयोग ही विशेष महत्वपूर्ण होता है, तथापि उस शब्द संयोग के द्वारा या उस शब्द संयोग के परिणाम स्वरूप पद में एक शक्ति विशेष का प्रादुर्भाव होता है जिसके बल पर पद उस विशिष्टार्थ को ध्वनित करने में समर्थ होता है। इसके अतिरिक्त पद में किया जाने वाला शब्द विन्यास भी कतिपय साधनों की अपेक्षा रखता है जिनके या जिसके अभाव में शब्द भी अपने ध्वनितार्थ को प्रकट करने में समर्थ नहीं हो पाता है। इस प्रकार पद में प्रयुक्त होने वाले शब्दों के परिणाम स्वरुप समुत्पन्न शक्ति और शब्दों के ध्वनितार्थ को प्रकट करने हेतु अपेक्षित साधन ही संयुक्त रूप से पद के विशिष्टार्थ का बोध कराने में सक्षम है। उन साधनों को **शक्तिग्रह** कहा जाता है। वे शक्तिग्रह पद और (पदगत शब्दों) को अभिसंस्कारित कर उन्हें इस योग्य बनाते हैं कि वे अपने अभीष्टार्थ को अभिव्यक्त कर सकें। वे शक्तिग्रह आठ होते हैं। जैसाकि निम्न श्लोक में प्रतिपादित है—

> **शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्यात् व्यवहारतश्च ।**
> **वाक्यस्य शेषात् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥**

अर्थात् वृद्ध (ज्ञान वृद्ध) जन व्याकरण, उपमान, कोष, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवृति (विवरण) और सिद्धपद का सान्निध्य (इस आठ प्रकार) से शक्तिग्रह को कहते हैं। इनका विवरण निम्न प्रकार है—

१. **व्याकरण**—इसके द्वारा शब्द की धातु, प्रकृति, प्रत्यय आदि का बोध होता है और तदनुसार ही शब्द संस्कारित होकर अपने शुद्ध रूप में आता है जिससे उसके अभीष्ट अर्थ का ज्ञान होता है। इसके अतिरिक्त पद की विभक्ति, सन्धि, समास आदि का यथोचित विन्यास भी व्याकरण के द्वारा ही होता है जो उसके समग्र अर्थ की अभि-

व्यक्ति में मूल कारण है। यदि पद और उससे निर्मित वाक्य का यथोचित परिसंस्कार व्याकरण के द्वारा नहीं किया जाय तो पद और वाक्य अपने अभीष्टार्थ को प्रकट नहीं कर पायेंगे। इसीलिए शक्ति ग्रह के रूप में **व्याकरण** को स्वीकृत किया गया है।

२. **उपमान**—इसके द्वारा सादृश्य ज्ञान होता है। इसका विस्तृत विवेचन उपमान प्रमाण के प्रकरण में किया गया है। यहां संक्षेप में इतना समझ लेना आवश्यक है कि एक वस्तु के ज्ञान के आधार पर तत्सदृश अन्य वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना उपमान कहलाता है। जैसे धनुष के ज्ञान के आधार पर तत्सदृश व्याधि धनुस्तम्भ एवं दण्ड के ज्ञान के आधार पर तत्सदृश व्याधि दण्डक का ज्ञान करना। अर्थात् जिस व्याधि में शरीर धनुष की भांति स्तम्भित हो जाता है वह धनुस्तम्भ एवं जिस व्याधि में शरीर दण्ड की भांति अकड़ जाता है वह दण्डक व्याधि होती है। इस प्रकार उपमान शक्तिग्रह के द्वारा समान या सदृश भाव वाले विषय का ज्ञान होता है।

३. **कोष**—जिस शास्त्र या ग्रन्थ में शब्दों के पर्याय एवं अनेकार्थ संकलित रहते हैं उसे कोष कहते हैं। यहां कोष को भी शक्तिग्रह के रूप में माना गया है। इसका कारण यह है कि वाक्य में प्रयुक्त पद (शब्द) के समुचित अर्थ का ज्ञान मात्र कोष में ही संचित है। कोष के अभाव में पद के सही अर्थ का ज्ञान होना सम्भव नहीं है। जैसे किसी वाक्य या औषध योग में 'अमृता' शब्द का प्रयोग किया गया। अमृता का सामान्य अर्थ होता है—नहीं मरने वाली। इसका तात्पर्य यह हुआ कि नहीं मरने वाली वस्तु का प्रयोग किया जाय। कोष में अमृता पर्याय गुडूची का है। अतः अमृता शब्द से यहां गुडूची ग्राह्य है। इसी प्रकार कोष के आधार पर ही औषध शास्त्र के प्रसंग में निशा से हरिद्रा और कणा से पिप्पली का ग्रहण होता है। अतः शक्तिग्रह के रूप में कोष भी महत्वपूर्ण है।

४. **आप्तवाक्य**—आप्त पुरुष के वचन को ही आप्तवाक्य कहते हैं। यद्यपि आप्तोपदेश के प्रकरण में 'आप्त' की पर्याप्त समीक्षा एवं विवेचना की गई है। किन्तु यहां शक्तिग्रह के रूप में आप्तवाक्य का अभिप्राय है भिज्ञजनों के वचन। जैसे गणित के छात्र को गणित का ज्ञान नहीं है, विज्ञान के छात्र को विज्ञान का ज्ञान नहीं होता है। जब संबंधित विषय का अध्यापक प्रत्येक शब्द को स्पष्ट करते हुए उसे समझाता है तो छात्र को उस विषय से सम्बन्धित शब्दों का स्पष्टार्थ एवं उससे विषय का ज्ञान सरलता से होता है। अतः उस छात्र के लिए उसका अध्यापक ही 'आप्त' है और उस आप्त के द्वारा कहे गए वाक्य 'आप्त वाक्य' कहलाते हैं। इसी प्रकार अनभिज्ञ बालक को उसके माता पिता के द्वारा जो शब्द बोध एवं विषय बोध कराया जाता है वह भी **आप्तवाक्य** के अन्तर्गत आता है। जैसे वह चन्द्रमा है, यह गाय है, यह घोड़ा है, इत्यादि। इस प्रकार शक्तिग्रह के रूप में 'आप्त वाक्य' के द्वारा भी पद एवं वाक्य का यथेष्ट एवं सही अर्थ ध्वनित और उसका यथार्थ बोध होता है।

५. **व्यवहार**—किसी विषय को व्यवहारिक प्रयोग के द्वारा समझाने का प्रयत्न करना **व्यवहार शक्तिग्रह** होता है। हम अपने दैनिक जीवन में जो क्रियाएं करते हैं उनके द्वारा अज्ञ व्यक्ति को जो ज्ञान होता है वह व्यवहार शक्तिग्रह कहलाता है। जैसे किसी व्यक्ति को लकड़ी का काम करता हुआ देख कर उसे बढ़ई समझना, लोहे का काम करता देख कर उसे लुहार समझना या जूता मरम्मत काम करता हुआ देखकर उसे चमार समझना व्यवहार शक्ति ग्रह के अन्तर्गत आता है। इसी प्रकार विज्ञान सम्बन्धी कार्य को प्रयोगशाला में करता हुआ देखकर उसे वैज्ञानिक एवं चिकित्सा के कार्य को करता हुआ देखकर उस चिकित्सा करने वाले को चिकित्सक समझा जाता है।

६. **वाक्यशेष**—ऐसे वाक्य का कथन करना जिसमें कोई पद नहीं कहा गया हो **वाक्यशेष** कहलातर है। इस वाक्यशेष शक्तिग्रह के द्वारा अपूर्ण वाक्य का पूर्ण एवं स्पष्ट अर्थ जाना जाता है। शास्त्र में वाक्यशेष का निम्न लक्षण प्रतिपादित किया गया है।

"येन पादेनानुक्तेन वाक्यं समाप्यते स वाक्यशेषः यथा-शिरः पाणिपादपार्श्व-**पृष्ठोदरसामित्युक्ते पुरुषग्रहणं बिनाऽपि गम्यते पुरुषस्येति।"**

-सुश्रुत संहिता, उत्तरतन्त्र ६५/१६

अर्थात् जिस अनुक्त पाद से वाक्य की समाप्ति होती है वह वाक्यशेष कह-लाता है। जैसे-शिर, हाथ, पैर, पार्श्व, पीठ, उदर, छाती इतना कहने पर 'पुरुष के' **यह** पद कहे बिना भी ये अवयव पुरुष के होते हैं-ऐसा जान लिया जाता है।

इसी प्रकार अन्यत्र भी—**"वाक्यशेषो नाम यल्लाघवार्थमाचार्येण वाक्येषु पदमकृतं गोप्यमानतया पूर्यते।"**

अर्थात् जहां पर लाघव के लिए आचार्य के द्वारा वाक्य में पद का विन्यास नहीं किया गया है और गुप्त रूप से पाद पूर्ति की गई है वह वाक्यशेष कहलाता है।

एक अन्य लक्षण के अनुसार—**"वाक्यशेषो नाम यस्मिन् वाक्ये एकदेशः शिष्यते व्याख्याकाले त्वनुच्यमानोऽप्यापतति।"**

अर्थात् वाक्यशेष वह होता है जिस वाक्य में वाक्य का एक देश (कोई पद) शेष बचा हुआ हो और उस वाक्य की व्याख्या करते समय वह अनुक्त भाग भी कहा जाता है।

वाक्य शेष के उपर्युक्त इन तीनों लक्षणों में एक समान भाव ही व्यक्त किया गया है। इसके उदाहरण निम्न प्रकार से समझना चाहिये—

चरक संहिता सूत्रस्थान अ० १६ में एक वाक्य **"प्रवृत्तिर्हेतु भावानां"** कहा गया है। जिसका सामान्य अर्थ है—भावों की उत्पत्ति में कारण। इसमें **'अस्ति'** या **'भवति'** वाक्यशेष है। यदि यहां 'अस्ति' या 'भवति' पद लगाया जाता तो पाद पूर्ति हो जाती। किन्तु यहां वाक्यशेष शक्तिग्रह के द्वारा अभीष्ट अर्थ ग्रहण कर लिया जाता

है। इसी प्रकार किसी स्थान पर जांगल या आनूप रस का विधान किया गया। वहां अनुक्त पद **'मांस'** वाक्यशेष है। अर्थात् **जांगल मांस रस'** या **'आनूप मांस रस'** यह कथन किया जाना चाहिये था। यहां पर वाक्यशेष शक्तिग्रह के द्वारा अनुक्त मांस पद का बोध कर लिया जाता है।

७. **विवृति (विवरण)**—जिस पद का अर्थ अति सामान्य है, उस अर्थ के आधार पर अन्य पद का संकेत जिस शक्तिग्रह से होता है उसे विवृति या **विवरण** कहते हैं। जैसे किसी ने पचति (पकाता है) शब्द का प्रयोग किया। इस पद का पूर्ण अर्थ है-'पाकं करोति' अर्थात् पाक करता है। यहां पर 'पचति' पद का प्रयोग पाक करने के अर्थ में होने से यह विवरण शक्तिग्रह कहलाता है।

८. **सिद्धपद का सान्निध्य**—किसी वाक्य में मुख्य पद नहीं होने पर भी उसकी पूर्णता हो, वाक्यार्थ भी स्पष्ट हो, किन्तु मुख्य पद का नहीं होना खटकने वाला न हो तो वह सिद्धपद का सन्निध्य **शक्तिग्रह** होता है। इसमें प्रसिद्ध पद के पास में होने से शक्ति ग्रह होता है। जैसे निम्न वाक्य का प्रयोग किया गया—**"सहकारे मधूनि पिबति।"** अर्थात् आम के वृक्ष पर मधु (शहद) पीता है। इस वाक्य में यह स्पष्ट नहीं है कि आम के वृक्ष पर मधु का पान कौन करता है? किन्तु यहां 'मधु' सिद्ध पद है जिससे यह आभास सहज ही मिल जाता है कि मधु का पान मधुकर (भौंरा) ही करता है। क्योंकि आम की मंजरियों में रसपान करने वाला मात्र भ्रमर ही होता है। अतः वाक्य में मधु एक ऐसा सिद्ध पद है जो वाक्य में प्रयुक्त नहीं हुए 'मधुकर' का संकेत करता है। अतः यह सिद्ध पद है।

इस प्रकार इन अष्टविध शक्ति ग्रह के द्वारा वाक्य के स्पष्ट अर्थ का प्रकाशन होता है जिससे शास्त्र में प्रतिपादित समस्त विषयों का ज्ञान होता जो संदेह एवं भ्रम दोषों से रहित होता है।

--×--

त्रयोदश अध्याय

अन्य प्रमाण निरूपण

युक्ति प्रमाण

आयुर्वेद शास्त्र में चतुर्थ प्रमाण युक्ति को माना गया है। प्रमाणों की गणना में युक्ति प्रमाण को यद्यपि उतना महत्व नहीं दिया गया है, जितना कि प्रत्यक्ष, अनुमान और अप्तोपदेश इन तीन प्रमाणों को दिया गया है। आयुर्वेद में इन तीन प्रमाणों के साथ जब अन्य प्रमाणों की आवश्यकता का अनुभव किया गया तब उस आवश्यकता के अनुसार युक्ति प्रमाण को भी कार्य साधन के लिए अंगीकार कर लिया गया है। पहले तो महर्षि चरक ने पदार्थों की चतुर्विध परीक्षा का निर्देश देते हुए स्पष्टतः वहां युक्ति को चतुर्थ प्रमाण मान कर उसका उल्लेख कर दिया। किन्तु बाद में आगे चल कर उन्होंने विमान स्थान में "अनुमानं खलु तर्को युक्त्यपेक्षः" यह अनुमान का लक्षण निरूपित करते हुए युक्ति को अनुमान प्रमाण की अनुग्राहिका मात्र स्वीकार किया है। इस आधार पर कतिपय आचार्यों का यह मत है कि युक्ति कोई स्वतन्त्र प्रमाणान्तर नहीं है। अपितु यह व्याप्ति रूप से अनुमान की सहायता मात्र करती है। अनुमान प्रमाण की अनुग्राहिका मात्र होने से युक्ति का अन्तर्भाव अनुमान में ही हो जाता है। अतः उसके स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में मानने का कोई औचित्य नहीं है और न ही इसकी कोई आवश्यकता है। किन्तु वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। युक्ति भी एक स्वतन्त्र प्रमाण है। यह अनुमान प्रमाण की अनुग्राहिका मात्र नहीं है, अपितु अनुमान के लिए उसकी अनिवार्यता बतलाने की दृष्टि से अनुमान को युक्ति की अपेक्षा (आवश्यकता) रखने वाला तर्क बतलाया गया है जिससे युक्ति का महत्व और अधिक बढ़ गया है। अतः उसके अवबोध के लिए उसका लक्षण एवं उदारहण बतलाते हुए संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत है।

युक्ति का स्वरूप एवं लक्षण

युक्ति शब्द का निर्माण 'युज्' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय लग कर हुआ है जिसका अभिप्राय योजना या विधि पूर्वक कार्य करना होता है। अर्थात्, किसी भी कार्य को ठीक

ढंग से, विधि पूर्वक या योजना के अनुसार करना युक्ति कहलाता है। जैसा कि चरक संहिता में कहा गया—'**युक्तिस्तु योजना**' और '**योजना या तु युज्यते।**'

इसके अतिरिक्त युक्ति के निम्न लक्षण द्वय द्वारा और अधिक स्पष्टता से उसके अर्थ का बोध हो जाता है—

"**विज्ञातेऽर्थे कारणोपपत्तिदर्शनात् अविज्ञातेऽपि तदवधारणं युक्तिः**"—गंगाधर। अर्थात् विज्ञात (जाने हुए) अर्थ में कारण और उपपत्ति को देखकर अविज्ञात अर्थ में उसी प्रकार कारण और उपपत्ति को समझना या लागू करना युक्ति कहलाती है। जब हम किसी जाने हुए विषय में विविध कारणों की योजना को देखकर अनजान विषय में भी उसी कारण और उपपत्ति की योजना करते हैं तो वह युक्ति कहलाता है।

महर्षि चरक ने युक्ति की समीचीन व्याख्या करते हुए उसका जो स्वरूप एवं लक्षण बतलाया है उससे आयुर्वेद में उसकी उपयोगिता का आभास सहज ही हो जाता है। उन्होंने युक्ति का निम्न लक्षण किया है—

बुद्धिः पश्यति या भावान् बहुकारणयोगजान्।
युक्तिस्त्रिकाला विज्ञेया त्रिवर्गं साध्यते यया॥

—चरक संहिता, सूत्रस्थान ११/२५

अर्थात् जो बुद्धि बहुत कारणों के योग से उत्पन्न भावों की सङ्गति (उपपत्ति) से ज्ञेय विषयों को देखती है वह बुद्धि (ज्ञान) युक्ति कहलाती है। अभिप्राय यह है कि जिन विषयों के तत्व का ज्ञान नहीं है उन विषयों का तत्व ज्ञान करने के लिए जो बुद्धि ज्ञात कारणों की उपपत्ति (संगति-योजना) के द्वारा जानती है वह युक्ति कहलाती है। अतः अनेक कारणों के योग से उत्पन्न अविज्ञात भावों को विज्ञात भावों के कार्य कारण भाव के अनुसार तथ्य को देखने वाली बुद्धि को युक्ति कहते हैं। इस युक्ति का उपयोग भूत-भविष्य-वर्तमान तीनों ही कालों ही में होता है, जिससे धर्म, अर्थ और काम इन तीन वर्गों की सिद्धि होती है।

इसकी व्याख्या आचार्य चक्रपाणि दत्त ने निम्न प्रकार से की है—

"**बहूपपत्ति-योग-ज्ञायमानानर्थान् या बुद्धिः पश्यति ऊहलक्षणा सा युक्तिरिति प्रमाणसहायीभूता।**"

अर्थात् अनेक उपपत्तियों के योग से जानने योग्य अर्थो को जो बुद्धि देखती है उस ऊह लक्षणात्मक बुद्धि को ही **युक्ति** कहते हैं।

इसी प्रकार अन्य आचार्यों ने भी युक्ति के स्वरूप का विवेचन करते हुए कहा है—

"**तद्भावभावित्वेन या तत्कार्यताप्रतीतिरियं युक्तिः।**"

—शान्त रक्षित-कमलशील

अर्थात् जहां तद् भाव से भावित होकर तत्कार्यता की प्रतीति होती है वह युक्ति कहलाती है।

यहां तद्भाव का अर्थ है—"**तयोः कारणकार्ययोः पूर्वस्य परस्मिन् हेतुः सापेक्षः भावः उत्पत्तिः।**" अर्थात् कारण और कार्य दोनों में पूर्व अर्थात् कारण का परवर्ती अर्थात् कार्य में हेतु सापेक्ष भाव होकर उत्पन्न होना। इस प्रकार के तद्भाव से भावित याने बारम्बार विज्ञातार्थ होकर किसी अविज्ञात स्थान पर तत्कार्यता याने उसी प्रकार कारण से कार्य की उत्पत्ति का होना युक्ति कहलाता है।

युक्ति के विषय में आचार्य चक्रपाणि दत्त ने अन्यत्र अपना जो मन्तव्य व्यक्त किया है वह भी माननीय है। यथा—

"**या कल्पना यौगिकी भवति सा तु युक्ति निरुच्यते। अयौगिकी तु कल्पनाऽपि सती युक्तिर्नोच्यते पुत्रोऽप्यपुत्रवत्।**"

अर्थात् जो कल्पना यौगिकी होती है वह युक्ति कहलाती है। अयौगिकी तो कल्पना होते हुए भी युक्ति नहीं कहलाती है। पुत्र भी अपुत्र भी भांति होता है।

कल्पना सामान्यतः दो प्रकार से उत्पन्न होती है – साधार और निराधार। जैसे अनेक स्थलों पर कार्य को सामने उत्पन्न हुआ देख कर कारण और कार्य ज्ञान के योग सम्बन्ध का अनुभव हो जाता है। उस योग अर्थात् कारण और कार्य जन्य अनुभव से उसी प्रकार के अन्य स्थल पर कारण-कार्य की जो कल्पना की जाती है वह यौगिकी कल्पना कहलाती है। इसी को साधार कल्पना भी कहते हैं। क्योंकि इस कल्पना का आधार पूर्ववर्त्ती पक्षों में किया गया अनुभव होता है। आचार्य चक्रपाणि के अनुसार यही यौगिकी या साधार कल्पना युक्ति होती है। इससे भिन्न जो निराधार (आधार रहित) कल्पना होती है वह अयौगिकी कल्पना कहलाती है और आचार्य चक्रपाणि की दृष्टि में वह युक्ति नहीं है। जैसे किसी व्यक्ति ने ऊंट को नहीं देखा था। एक दिन प्रातः किसी गांव के बाहर जब ग्रामीणों ने ऊँट के पांव के बड़े-बड़े निशान देखे तो वे सोच में पड़ गए कि इतना बड़ा पैर तो किसी जानवर का नहीं होता है। फिर ये किसके निशान हैं। तब दूसरे व्यक्ति ने कहा कि अपने पांव में चक्की का पाट बांध कर कहीं हिरण न कूदा हो। इस प्रकार की कल्पना निराधार अयौगिकी होती है। अतः इसे युक्ति नहीं माना जा सकता। इस प्रकार की अयौगिकी कल्पना के सन्दर्भ में चक्रपाणि द्वारा दिया गया उदाहरण सटीक है। जैसे '**पुत्रोऽप्यपुत्रवत्**' अर्थात् जिस प्रकार पुत्र भी सम्बन्ध नहीं रखने के कारण अपुत्र हो जाता है उसी प्रकार कल्पना भी सम्बन्ध नहीं रखने पर अकल्पना हो जाती है। ऐसी स्थिति में उसे युक्ति नहीं माना जाता है।

महर्षि चरक ने युक्ति का जो लक्षण प्रतिपादित किया है जैसा कि ऊपर बतलाया गया है उसे निम्न उदाहरणों के द्वारा और अधिक स्पष्ट करते हुए आयुर्वेद में उसकी उपयोगिता को प्रतिष्ठापित करने का प्रयास किया गया है। युक्ति को चरकोक्त निम्न उदाहरणों से समझा जा सकता है—

जलकर्षणबीजर्तुसंयोगात् सस्यसंभवः।
युक्तिः षड्धातुसंयोगाद् गर्भाणां संभवस्तथा॥
मथ्यमन्थनमन्थानसंयोगादग्निसंभवः।
युक्तियुक्ता चतुष्पादसंपद् व्याधिनिर्बर्हिणी॥

—चरक संहिता, सूत्रस्थान ११/२३-२४

अर्थ—जिस प्रकार जल, कर्षण, बीज और और ऋतु के संयोग से जौ, गेहूं आदि धान्यों की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार छः धातुओं (पांच महाभूत और आत्मा) के संयोग से गर्भों की उत्पत्ति हुआ करती है—यह युक्ति प्रमाण है। (क) मथ्य (मथने योग्य नीचे रखी हुई लकड़ी), (ख) मन्थन (मन्थन क्रिया अथवा 'मन्थक' पाठ होने पर मन्थन करने वाला पुरुष), (ग) मन्थान (मन्थन करने योग्य लकड़ी को जिस दूसरी लकड़ी से मथा जाता है) इन तीनों के संयोग से जिस प्रकार अग्नि की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार चिकित्सा के युक्तियुक्त चार पादों (भिषग्, द्रव्य, उपस्थाता और रोगी) के रहने पर रोगों का शमन होता है।

इस प्रकार प्रत्येक कार्य की सफलता योजना अथवा युक्ति पर निर्भर है। यदि युक्ति पूर्वक जल, कर्षण, बीज और ऋतु इनका संयोग न हो तो अनाज की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। अर्थात् ऋतु का उचित संयोग होने पर उचित रूप से खेत की जुताई करने पर विधिपूर्वक उसकी बोआई करने से और आवश्यकतानुसार उचित समय पर जल के द्वारा उसकी सिंचाई करने से अनाज उत्पन्न होता है। इन चारों में से किसी एक साधन का समुचित संयोग नहीं होने पर आनाज के उत्पन्न होने में बाधा हो सकती है। इसी प्रकार छह धातुओं (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश और आत्मा) का उचित प्रकार से संयोग होने पर ही गर्भ की उत्पत्ति सम्भव है। इन धातुओं का संयोग यदि विधि पूर्वक न हो तो गर्भ की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। यहाँ जल, कर्षण, बीज और ऋतु इनमें विज्ञात कार्य कारण भाव का ज्ञान कर अविज्ञात षड् धातु के संयोग से गर्भ की उत्पत्ति की कल्पना तथ्य रूप में की गई है। जल, कर्षण आदि का ज्ञान सामान्यतः सभी व्यक्तियों को होता है। क्योंकि यह प्रत्यक्ष है और प्रत्यक्ष होने से विज्ञात है। गर्भ की उत्पत्ति अदृश्य है। अतः विज्ञात धान्य की उत्पत्ति से अविज्ञात गर्भ की उत्पत्ति का प्रामाणिक ज्ञान युक्ति प्रमाण से किया जाता है। दूसरा दृष्टान्त भी इसी सिद्धान्त का अनुसरण करता है। प्राचीन काल में अग्नि की उत्पत्ति अरणि-मन्थन से की जाती थी। आजकल भी यज्ञों में कर्मकाण्डी लोग अरणि-मन्थन से आग उत्पन्न करते हैं। मथ्य, मन्थन और मन्थान इन तीनों के संयोग से अग्नि की उत्पत्ति प्रत्यक्ष एवं विज्ञात है। इससे अविज्ञात चिकित्सा के चतुष्पाद की सिद्धि स्वरूप रोग-विनाश होने की तथ्य पूर्ण कल्पना की जाती है।

इसमें अग्नि उत्पन्न करने वाले तीनों साधनों में से अथवा चिकित्सा के चतुष्पाद में से किसी एक का अभाव होने पर अथवा इनका उचित संयोजन नहीं होने पर कार्य की सफलता सन्दिग्ध हो जाती है। अतः अभीष्ट प्राप्ति के लिए उपर्युक्त साधनों की युक्ति युक्त संयोजना अपेक्षित रहती है।

इसी भांति प्रत्येक कार्य के लिए युक्ति की अपेक्षा रहती है। यदि उस कार्य के साधनों का संयोग या उपयोग विधि पूर्वक नहीं किया गया तो वह कार्य सफल नहीं हो सकता। इस आधार पर आयुर्वेद में चतुर्थ प्रमाण के रूप में युक्ति को स्वीकार किया गया है।

युक्ति प्रामाण्य विचार

किसी भी वैदिक या अवैदिक दर्शन ने प्रमाणों के परिगणन में युक्ति का समावेश नहीं किया है। किन्तु आयुर्वेद में इसे प्रमाण के रूप में स्वीकार कर उसकी उपयोगिता को मान्य किया गया है। महर्षि चरक ने इस बात की कोई चिन्ता नहीं की कि जब सांख्य, वैशेषिक आदि किसी अन्य दर्शन ने युक्ति को प्रमाण नहीं माना है तो आयुर्वेद में भी इसे अंगीकार नहीं किया जाय। उन्होंने आयुर्वेद में इसकी उपयोगिता एवं अनिवार्यता को देखते हुए अन्य दर्शनों का अनुसरण न कर स्वविवेक पूर्वक युक्ति को प्रमाण रूप में स्वीकार करना ही अभीष्ट समझा। उन्होंने सम्भावतः स्पष्टतः अनुभव किया कि जब तक षड्धातु संयोग की योजना नहीं होगी तब तक गर्भ की सम्भवना (उत्पत्ति) कैसे हो सकती है? इसी प्रकार युक्ति युक्त चतुष्पाद (भिषग्, द्रव्य, उपस्थाता और रोगी) के बिना रोग का नाश कैसे होगा? औषध द्रव्यों की सम्यक् योजना के अभाव में औषधि योगों का निर्माण भी कैसे सम्भव होगा? और आहार द्रव्यों के संयोजन के बिना रोगी की पथ्य व्यवस्था की कल्पना कैसे की जा सकती है? अभिप्राय यह है कि आयुर्वेद में तो पदे पदे युक्ति की उपयोगिता एवं आवश्यकता है। सम्भवतः इसीलिए महर्षि चरक ने चतुर्विध परीक्षा के अन्तर्गत युक्ति का भी परिगणन किया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि चरक के परवर्ती आचार्य चक्रपाणि दत्त को युक्ति का प्रामाण्य अभीष्ट नहीं लगा। इसीलिए उन्होंने चरक की भांति उसका प्रमाणत्व अंगीकार न कर उसे 'प्रमाण सहायीभूता' कहकर प्रमाण की सहायिका के रूप में उसे माना है। एक स्थान पर तो इससे भी आगे बढ़कर उसे अप्रमाण कहने में भी उन्हें हिचकिचाहट नहीं हुई। जैसा कि इस वचन से स्पष्ट है—"**सा च परमार्थतः अप्रमाण भूताऽपि**।" अर्थात् वह परमार्थ रूपेण अप्रमाण होते हुए भी। यद्यपि यह कथन किसी अन्य प्रसंग में है, तथापि युक्ति के प्रति उनकी भावना एवं विचार शक्ति तो स्पष्ट है। चरक संहिता में अन्यत्र भी युक्ति को स्वतन्त्र प्रमाण रूप मानने में आचार्य चक्रपाणि

दत्त का सहमति भाव नहीं है। जहाँ कहीं यदि उन्होंने कुछ कहा भी है तो सम्भवतः उनकी विवशता रही है। क्योंकि खुले हृदय से वहां भी इन्होंने युक्ति का समर्थन नहीं किया है। जैसाकि चरकोक्त परादि गुण वर्णन के प्रसंग में उनके द्वारा व्यक्त मत से इसका आभास मिलता है। चरक ने परादि चतुर्विंशति गुणों के अन्तर्गत युक्ति का भी निर्देश किया है। इस प्रसंग में उन्हें भी इसका पृथक् महत्व स्वीकार करना पड़ा।

युक्ति को प्रमाणत्वेन स्वीकार करने की दृष्टि से ही महर्षि चरक ने पुनर्जन्म की सिद्धि युक्ति प्रमाण द्वारा करने का प्रयास किया है। यह ज्ञातव्य है कि पुनर्जन्म की सिद्धि जिस प्रकार प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से की गई है उसी प्रकार युक्ति प्रमाण से भी की गई है। इस सन्दर्भ में निम्न वचन दृष्टव्य है—

'युक्तिश्चैषा षड्धातुसमुदायाद्गर्भजन्म। कर्तृकरणसंयोगात् क्रिया। कृतस्य कर्मणः फलं नाकृतस्य नाङ्कुरोत्पत्तिरबीजात् कर्मसदृशं फलम् नान्यस्माद् बीजादन्यस्योत्पत्तिरिति।'
—चरक संहिता, सूत्रस्थान ११/३२

अर्थात् पृथ्वी आदि पंच महाभूत और आत्मा इन षड् धातुओं के संयोग से गर्भ की उत्पत्ति होती है—यही युक्ति है। कर्ता और करण के संयोग से क्रिया होती है—यह भी युक्ति है। यदि कर्ता और करण (साधकतम कारण) इनमें से कोई एक न हो तो क्रिया नहीं हो सकती। यदि कर्त्ता हो और करण न हो तो क्रिया नहीं होगी और यदि कर्त्ता न हो किन्तु करण हो तो भी क्रिया नहीं होगी। जब तक कर्त्ता और करण इन दोनों का संयोग नहीं होगा तब तक क्रिया असम्भव है। मनुष्य को अपने किए हुए कर्म का फल भोगना पड़ता है, नहीं किए हुए कर्म का नहीं। बीज के बिना अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती है, कर्म के समान ही फल होता है, एक के बीज से अन्य फल की उत्पत्ति नहीं होती है। यदि बबूल का बीज बोया जाय तो उससे आम या किसी अन्य फल का उत्पन्न होना संभव नहीं है। बबूल के बीज से बबूल ही उत्पन्न होता है।

कतिपय विद्वानों का यह मत है कि महर्षि चरक ने अनुमान का यह लक्षण —"**अनुमानं खलु तर्को युक्त्यपेक्षः**" प्रतिपादित करते हुए अनुमान में ही युक्ति का अन्तर्भाव कर लिया है, अतः प्रमाणत्वेन युक्ति को पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु ऐसी बात नहीं है। क्योंकि जब चरक ने स्पष्ट रूप से चतुर्विध परीक्षा (प्रमाण) के अन्तर्गत युक्ति का उल्लेख किया है तो अनुमान में उसके अन्तर्भाव का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। इसके अतिरिक्त अनुमान के उपर्युक्त लक्षण में युक्ति की अपेक्षा रखने वाले तर्क को अनुमान बतलाया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि अनुमान में युक्ति की भी अपेक्षा रहती है। इससे अनुमान में युक्ति का महत्व एवं उपयोगिता

अधिक सार्थक रूपेण प्रतिपादित की गई है, न कि उसका अन्तर्भाव किया गया है। जैसे अनुमान के ही प्रसंग में "प्रत्यक्षपूर्वं त्रिविधं त्रिकालं चानुमीयते।" ऐसा कहा गया है जिससे यह तात्पर्य तो नहीं निकाला जा सकता कि अनुमान में प्रत्यक्ष का अन्तर्भाव कर लिया गया है। इसी प्रकार अनुमान में युक्ति की उपयोगिता प्रतिपादित की गई है न कि उनका अन्तर्भाव किया गया है। अतः युक्ति एक स्वतन्त्र प्रमाण है जो आतुर परीक्षा के लिए उपयोगी एवं महत्वपूर्ण है।

युक्ति प्रमाण का वैशिष्ट्य

युक्ति प्रमाण का वैशिष्ट्य निम्न तथ्यों के आधार पर प्रतिपादित किया जा सकता है—

(१) युक्ति प्रमाण का वैशिष्ट्य इसी से स्पष्ट है कि महर्षि चरक ने आतुर परीक्षा के लिए युक्ति को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में निरूपित किया है।

(२) यद्यपि युक्ति को योजना मानकर उसके स्वरूप का प्रतिपदान करने का प्रयास किया गया है, किन्तु इसकी गम्भीरता का आभास इससे ही मिल जाता है कि योजना करना भी एक दुरूह कार्य है। इसीलिए आचार्य प्रवर ने कहा है—**योजकस्तत्र दुर्लभः**। अतः युक्ति या योजना को इतना सरल एवं सहज नहीं मान लेना चाहिए। इससे स्पष्ट है कि युक्ति का ज्ञाता होना उतना सरल नहीं है जितना समझा जाता है। ग्रंथों का अध्ययन करके विद्वान् होना एक भिन्न बात है और युक्तिज्ञ-युक्ति का ज्ञाता होना-योजना करने की क्षमता वाला होना एक भिन्न बात है। इसीलिए युक्तिज्ञ व्यक्ति का स्थान सर्वोपरि माना गया है। जैसा कि निम्न वचन से स्पष्ट है—**तिष्ठत्युपरि युक्तिज्ञो द्रव्यज्ञानवतां सदा।**"

(३) युक्ति के प्रसंग में एक यह महत्वपूर्ण तथ्य है कि त्रिवर्ग धर्म-अर्थ-काम की सिद्धि के लिए प्रत्यक्ष आदि अन्य प्रमाणों को उपयोगी न मानकर युक्ति को ही उपयोगी माना गया है। व्यवहारिक रूप से भी यदि देखा जाय तो युक्ति के अभाव में न तो धर्म का साधन होना सम्भव है, न अर्थ प्राप्ति होना सम्भव है और न काम का होना सम्भव है।

(४) प्रत्येक प्रमाण तात्कालिक या उसी समय होता है। अनुमान कहीं प्रत्यक्ष पूर्वक होता है और कहीं युक्ति की अपेक्षा रखता है, जबकि युक्ति तीनों काल में होती है और वह प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं रखती है।

(५) जो विषय या कार्य युक्ति साध्य होता है उसे प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा सिद्ध या सम्पन्न नहीं किया जा सकता है।

(६) आयुर्वेद में युक्ति की विशेष उपयोगिता है। आतुर परीक्षा हेतु रोग के हेतु, पूर्व रूप, लक्षण एवं सम्प्राप्ति विमर्श में युक्तिज्ञ वैद्य ही सफल हो सकता है। रोग

निश्चय हो जाने पर उसकी औषध योजना भी युक्ति पर ही आधारित है। अन्यथा रोगोपशमन होना सम्भव नहीं है। उपशय-अनुपशय का ज्ञान भी युक्ति की अपेक्षा रखता है। औषध निर्माण (भैषज्य कल्पना) में द्रव्यों की योजना (द्रव्यों का मान-परिमाण आदि का समुचित ज्ञान) युक्ति पर ही आधारित है।

इस प्रकार आयुर्वेद में युक्ति का वैशिष्ट्य एवं महत्व है। इसीलिए इसे प्रमाणत्वेन प्रतिष्ठापित एवं निरूपित किया गया है।

उपमान (औपम्य) प्रमाण निरूपण

उपमिति का करण उपमान कहलाता है। किसी प्रसिद्ध वस्तु के साधर्म्य से किसी अप्रसिद्ध वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना उपमिति कहलाता है। इस उपमिति का करण (साधकतम कारण) ही उपमान कहलाता है। 'उपमान' शब्द की निष्पत्ति **"उपमीयतेऽनेनेति उपमानम्"** इस विग्रह के अनुसार होती है जिसका अर्थ होता है—उपमा, सादृश्य अथवा समानता के आधार पर जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे उपमिति कहते हैं। न्याय दर्शन में उपमिति का लक्षण निम्न प्रकार प्रतिपादित किया गया है—

"संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानमुपमितिः" अर्थात् किसी नाम के उस नाम वाली वस्तु से सम्बन्ध के ज्ञान को उपमिति कहते हैं और उपमिति का जो करण होता है वह उपमान होता है। जैसा कि प्रतिपादित किया गया है—**"उपमितिकरणमुपमानम्।"—तर्क संग्रह**

उसका कारण सादृश्य ज्ञान है। पहले सुने हुए विश्वस्त पुरुष के वाक्य के अर्थ का स्मरण भी इसमें कारण होता है। जैसे कोई व्यक्ति **'गवय'** के विषय में नहीं जानता है। उसने किसी वनवासी व्यक्ति से सुना कि जो गाय के सदृश होता है वह **'गवय'** कहलाता है। जब वह वन में गया और उसने वहाँ गाय के सदृश एक प्राणी को देखा। तब उसे पहले सुने हुए वाक्य का स्मरण हुआ कि गाय के सदृश गवय होता है। इसी आधार पर उसे पहले सुने हुए वाक्य का स्मरण हुआ कि गाय के समान होने के कारण यह गवय है। यही सादृश्य ज्ञान कहलाता है। इस सादृश्य ज्ञान के आधार पर ही उपमिति का अस्तित्व निर्भर करता है। यही सादृश्य ज्ञान उपमिति शब्द से अभिप्रेत होता है। इसका करण या साधकतम कारण ही **'उपमान'** कहलाता है।

उपमान प्रमाण के अन्य शास्त्रोक्त लक्षण भी उपर्युक्त भावार्थ का ही प्रकाशन करते हैं। यथा—**"प्रसिद्धस्य सादृश्येनाप्रसिद्धस्य प्रकाशनम् औपम्यमुपमानम्"** अर्थात् प्रसिद्ध वस्तु के सादृश्य से अप्रसिद्ध वस्तु के सादृश्य का मिलान कर उसे प्रकाशित करना औपम्य या उपमान कहलाता है।

"प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनम्।" — **न्याय दर्शन** १।१।६

अर्थात् प्रसिद्ध वस्तु के साधर्म्य से साध्य (अप्रसिद्ध वस्तु के साधर्म्य) की सिद्धि करना उपमान कहलाता है।

प्रसिद्धवस्तुसाधर्म्यादप्रसिद्धस्य साधनम् ।
उपमानमिति ख्यातं यथा गोर्गवयस्तथा ॥ —षड्दर्शन संग्रह

अर्थ—प्रसिद्ध वस्तु के साधर्म्य से अप्रसिद्ध वस्तु का साधन करना उपमान कहलाता है। जैसे गो के साधर्म्य से अप्रसिद्ध गवय का साधन करना।

आयुर्वेद सम्मत लक्षण

"प्रसिद्धसाधर्म्यात् सूक्ष्मव्यवहरितविप्रकृष्टार्थस्य साधनमुपमानम्। यथा-माषवत् मषकः, तिलमात्रस्तिलकालकः इत्यादि।" —डल्हण

अर्थात् किसी प्रसिद्ध वस्तु के साधर्म्य से सूक्ष्म (दिखाई नहीं देने वाले) व्यवहित (तिरोहित हुए), विप्रकृष्ट (अत्यन्त दूरस्थ) वस्तु या विषय का साधन करना उपमान कहलाता है। जैसे माष (उड़द) के समान होने से मषक रोग और तिल के समान होने से तिलकालक रोग होता है।

"सादृश्यमधिकृत्यान्येन प्रसिद्धेनान्यस्याप्रसिद्धस्य प्रकाशनम्।"—चरकोपस्कार

अर्थात् सादृश्य के आधार पर किसी प्रसिद्ध वस्तु से अन्य अप्रसिद्ध वस्तु का प्रकाशन (ज्ञान प्राप्त) करना उपमान कहलाता है।

"अथौपम्यम्-औपम्यं नाम तद् यदन्येनान्यस्य सादृश्यमधिकृत्य प्रकाशनम्। यथा दण्डेन दण्डकस्य, धनुषा धनुस्तम्भस्य, इष्वासेनारोग्यस्येति।"

—चरक संहिता, विमान स्थान/

अर्थात् उपमान या औपम्य उस प्रमाण को कहते हैं जिसमें किसी ज्ञात सदृश वस्तु के ज्ञान से अज्ञात सदृश वस्तु का परिचय या ज्ञान प्राप्त किया जाता है। जैसे दण्ड को देख कर दण्डक नामक व्याधि का और धनुष को देख कर धनुस्तम्भ नामक व्याधि का प्रकाशन करना तथा धनुष के कुशल चालक धनुर्धर को देखकर आरोग्यदाता वैद्य का प्रकाशन करना इत्यादि।

उपर्युक्त उदाहरण में प्रसिद्ध दण्ड को देखकर दण्ड के सादृश्य से दण्डक रोग का प्रकाशन करना तथा धनुष के सादृश्य से अप्रसिद्ध धनुस्तम्भ का प्रकाशन करना उपमान प्रमाण के द्वारा ज्ञातव्य है। जैसे किसी छात्र को अध्ययन काल में गुरु ने बतलाया कि दण्डक रोग में शरीर दण्ड के समान अकड़ जाता है, यह रोग उस विद्यार्थी के अध्ययन काल में कभी देखने में नहीं आया हो, किंतु कार्यकाल में या व्यवहार में जब वह किसी व्यक्ति के शरीर को दण्ड के समाम स्तब्ध हुआ देखता है तो उसे ज्ञात हो जाता है कि यह और ऐसा दण्डक रोग होता है। इसी प्रकार धनुष के सादृश्य से धनुस्तम्भ नामक व्याधि का, माष के सादृश्य से मस्से का, तिल के सादृश्य से तिल का, विदारी कन्द के सादृश्य से विदारी रोग का ज्ञान प्राप्त करता है। जिस प्रकार एक श्रेष्ठ अभ्यस्त धनुर्धारी अपने लक्ष्य का वेध करने में कभी असफल नहीं होता, उसी प्रकार

क्रिया कुशल वैद्य अपने कार्य में अर्थात् आरोग्य लाभ कराने में असफल नहीं होता है। यह ज्ञान अर्थात् इष्वासु के कार्यसिद्धि के सादृश्य से आरोग्य दाता वैद्य का ज्ञान प्राप्त करना उपमान प्रमाण द्वारा सम्भव है।

नैय्यायिकों द्वारा स्वीकृत यह तीसरा प्रमाण है। इसके समर्थन में वे निम्न तर्क प्रस्तुत करते हैं—

(१) प्रत्यक्ष में इसका अन्तर्भाव किया जाना सम्भव नहीं है। क्योंकि यहां केवल गाय का प्रत्यक्ष होता है, न कि गवय का। प्रथम गाय होने हर तत्सादृश्य के आधार पर गवय का ज्ञान होता है। यदि गाय का प्रत्यक्ष न हो तो गवय का ज्ञान होना सम्भव नहीं है। इस ज्ञान में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष तो होता है, किन्तु यदि सादृश्य का स्मरण न हो तो सादृश्य ज्ञान के अभाव में गवय का ज्ञान नहीं हो पायेगा। अतः यहां सादृश्य का स्मरण ही विशेष महत्वपूर्ण है वही उपमान का कारण है। यद्यपि उपमान के पूर्वार्ध में प्रत्यक्ष का होना आवश्यक है। किन्तु उसके उत्तरार्ध में जो ज्ञान अपेक्षित है वह प्रत्यक्ष के द्वारा सम्भव नहीं होने से स्वतन्त्र रूपेण उपमान प्रमाण की अपेक्षा रखता है।

(२) अनुमान में इसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। इसका कारण यह है कि अनुमान प्रत्यक्ष पूर्वक होता है। इससे अतिरिक्त अनुमान की सिद्धि के लिए व्याप्ति का ज्ञान सर्वथा अपेक्षित होता है। व्याप्ति के बिना अनुमान की सिद्धि होना सम्भव नहीं है। इसके विपरीत उपमान के लिए व्याप्ति ज्ञान की अपेक्षा नहीं रहती। क्योंकि गो एवं गवय का साहचर्य सम्बन्ध इसमें नहीं होता है। अतः अनुमान में इसका अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता।

(३) शब्दादि अन्य प्रमाण भी इतने समर्थ नहीं हैं कि वे सादृश्य ज्ञान करा सकें। जिस प्रकार और जिस रूप में उपमान के द्वारा ज्ञान होता है उस प्रकार का उस रूप में ज्ञान किसी अन्य प्रमाण के द्वारा नहीं किया जा सकने के कारण किसी अन्य प्रमाण में उसका अन्तर्भाव किया जाना सम्भव नहीं है। अतः उपमान एक स्वतन्त्र प्रमाण है।

अनेक आचार्यों एवं दर्शनों ने इसके स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया है। वैशेषिक, सांख्य, योग, बौद्ध तथा जैन दर्शन के विद्वान् इस प्रमाण को स्वतन्त्र रूपेण पृथक् प्रमाण नहीं मानते हैं। श्री दिङ्नागाचार्य ने उपमान प्रमाण को स्वतन्त्र प्रमाण न मानकर प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत ही इसका अन्तर्भाव कर लिया है। वैशेषिक दर्शन के आचार्यों ने इसे स्वतन्त्र प्रमाण न मानकर अनुमान प्रमाण में ही इसे समाविष्ट कर लिया है। कुछ आचार्यों ने उपमान को शब्द प्रमाण से भिन्न न मानकर उसी के अन्तर्गत इसके अस्तित्व को स्वीकार किया है। सांख्य दर्शन के विद्वान् उपमान का अस्तित्व शब्द पूर्वक प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं। इस प्रकार अनेक

दर्शनों ने उपमान प्रमाण को स्वतन्त्र न मानकर विभिन्न प्रमाणों में इसकी सत्ता स्वीकार की है। केवल न्याय दर्शन ही उपमान प्रमाण के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करता है। उसके मतानुसार प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा शब्द में उपमान प्रमाण का अन्तर्भाव किया जाना किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है। क्योंकि यह इन तीनों प्रमाणों से भिन्न सर्वथा स्वतन्त्र अस्तित्ववान् है। इन तीनों में से कोई भी प्रमाण उपमान के द्वारा साधित अभीष्ट की प्राप्ति करने में समर्थ नहीं है। सिद्धान्तमुक्तावलि में उन सभी मतों का खण्डन किया गया है जो उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण न मानकर किसी अन्य प्रमाण में उसका अन्तर्भाव करते हैं। न्याय दर्शन ने प्रत्यक्ष एवं अनुमान के पश्चात् इसे तीसरा प्रमाण स्वीकार किया है।

आयुर्वेद में उपमान प्रमाण की उपयोगिता

आयुर्वेद में यद्यपि मुख्यतः प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तोपदेश इन तीन प्रमाणों का ही उल्लेख मिलता है, किन्तु कहीं कहीं युक्ति और कहीं-कहीं उपमान का परिगणन भी किया गया है। इससे यह तो स्पष्ट है कि उपमान का प्रमाणत्व महर्षि चरक को भी अभीष्ट था और महर्षि सुश्रुत को भी। किन्तु उपर्युक्त त्रिविध प्रमाण की भांति उसका उतना वैशिष्ट्य नहीं है। आयुर्वेद में उपमान की उपयोगिता ऐसे रोगों का ज्ञान कराने में है जो किसी वस्तु या विषय से सादृश्य रखते हैं। इसीलिए चिकित्सा में भी उपमान की उपयोगिता असंदिग्ध रूप से स्वीकार की जा सकती है। क्योंकि आयुर्वेदीय चिकित्सा का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि समान गुण धर्म वाले द्रव्यों का सेवन करने से शरीर में समान भावों की अभिवृद्धि होती है। जैसे शरीर में मांस धातु का क्षय होने पर तत्समान गुण धर्मी पशुओं का मांस सेवन करने से उसकी पूर्ति हो जाती है। रक्त का क्षय होने पर पालक आदि द्रव्यों का सेवन करने से रक्त कणों की वृद्धि होती है। क्योंकि पालक में विद्यमान घटक द्रव्य रक्त के घटक द्रव्यों के ही समान होते हैं। समान गुण धर्म होने से पालक के घटक द्रव्य रक्तगत रक्तकणों की वृद्धि करते हैं। एतावता चिकित्सा के द्वारा क्षीण धातुओं की वृद्धि होकर क्षीणता जनित रोग का नाश होता है। अतः चिकित्सा की दृष्टि से आयुर्वेद में उपमान की उपयोगिता मानी गई है।

अर्थापत्ति प्रमाण निरुपण

आयुर्वेद में इसे अर्थप्राप्ति प्रमाण कहा गया है। महर्षि चरक ने इसका निम्न लक्षण प्रतिपादित किया है—

अर्थप्राप्तिर्नाम-यत्र केनार्थेनोक्तेनापरस्यार्थस्यानुक्तस्यार्थसिद्धिः। यथा-नायं सन्तर्पण-साध्यो व्याधिरित्युक्ते भवत्यर्थप्राप्तिरपतर्पणसाध्योऽयमिति।

—चरक संहिता, विमानस्थान ८/४८

अर्थात् अर्थप्राप्ति प्रमाण उसे कहते हैं जहां एक अर्थ के कहने से अनुक्त (अनकहे) अन्य अर्थ की सिद्धि होती है। जैसे यह व्याधि संतर्पण साध्य नहीं है, ऐसा कहने से उसके दूसरे अर्थ का बोध होता है कि यह व्याधि अपतर्पण साध्य है। इसी प्रकार 'इस रोगी को दिन में नहीं खाना चाहिए' ऐसा कहने से 'रात्रि में खाना चाहिए' इस अपर अर्थ की सिद्धि होती है।

वेदान्ती और मीमांसक लोग पांचवे प्रमाण के रूप में इसे स्वीकार करते हैं। वेदान्त और मीमांसा दर्शन में स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में इसका अस्तित्व स्वीकार किया गया है। दोनों दर्शनों के मतानुसार स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में अर्थापत्ति का ग्रहण यथार्थ ज्ञान के लिए आवश्यक है। इस प्रमाण के द्वारा हमें एक अज्ञात तथ्य के ज्ञान की उपलब्धि होती है। क्योंकि किसी कही गई बात के द्वारा उससे सम्बन्धित अनकही बात का ज्ञान कराना ही अर्थापत्ति प्रमाण का उद्देश्य है। जैसे-देवदत्त दिन में खाना नहीं खाता, फिर भी वह मोटा है। यहाँ पर अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा ज्ञात होता है कि देवदत्त यद्यपि दिन में खाना नहीं खाता है, किन्तु वह रात्रि में खाता है। क्योंकि खाना खाना अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा ही सिद्ध होता है। इसी प्रकार किसी व्यक्ति के द्वारा कहा गया कि बन्द कर दो। यहां पर जिस व्यक्ति को बन्द करने का निर्देश दिया गया है उसे यद्यपि यह नहीं कहा गया कि क्या बन्द कर दो। किन्तु फिर भी वह अनकहे दरवाजे के विषय में संकेत को समझकर दरवाजा बन्द कर देता है। उक्त व्यक्ति के लिए यहाँ पर दरवाजे का ज्ञान अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा ही सम्भव मानते हैं। एक अन्य उदाहरण के अनुसार प्रातः काल सोकर उठने पर देखा कि सारी जमीन गीली है। इस भीगी हुई जमीन को देखकर यह ज्ञान सहज ही हो गया कि रात्रि में वर्षा हुई होगी। इस ज्ञान में अर्थापत्ति प्रमाण ही कारण है। किसी व्यक्ति के घर जाकर पूछने पर पता चला कि वह घर में नहीं है। इससे सहज ही यह सोच लिया या समझ लिया जाता है कि वह कहीं बाहर गया होगा। इस प्रकार की अनेक घटनाएं प्रतिदिन हमारे दैनिक जीवन में घटित हुआ करती हैं जो अर्थापत्ति प्रमाण पर आधारित रहती हैं या जिनके विषय में अर्थापत्ति के द्वारा ज्ञान होता है।

न्याय दर्शन के अनुयायी लोग इसे स्वतन्त्र प्रमाण न मानकर अनुमान में ही इसका अन्तर्भाव कर लेते हैं। क्योंकि इसमें किसी प्रत्यक्ष किये हुए अर्थ का अनुमान उसके नित्य सम्बन्ध के द्वारा करते हैं। अतः वे इसके स्वतन्त्र अस्तित्व की आवश्यकता अनुभव नहीं करते।

अनुपलब्धि या अभाव प्रमाण

वर्तमान समय में अभीष्ट स्थान पर अभीष्ट वस्तु की उपलब्धि नहीं होना अनुपलब्धि प्रमाण कहलाता है। इसी प्रकार किसी वस्तु का निश्चित स्थान पर नहीं होना

अभाव कहलाता है। कुमारिल भट्ट के मतानुयायी मीमांसक लोग तथा वेदान्ती इसे छठे प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं। इस प्रमाण के द्वारा हमें वस्तु के अभावात्मक विषय का ज्ञान होता है। जैसे यहां पर दावात नहीं है—ऐसा कहने पर हमें दावात का अभावात्मक ज्ञान हुआ। यद्यपि दावात का अस्तित्व सर्वत्र विद्यमान है और प्रयत्न करने पर वह यहां लाई भी जा सकती है। किन्तु वर्तमान में यहां स्थित नहीं होने के कारण उसकी उपलब्धि सम्भव नहीं है। अथवा यहां पर उसका अभाव है। अतः दावात की अनुपलब्धि अथवा अभाव का ज्ञान हमें अनुपलब्धि या अभाव प्रमाण के द्वारा होता है।

मीमांसक और वेदान्ती लोग इसका स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार कर स्वतन्त्र रूप से इसे छठा प्रमाण मानते हैं। किन्तु नैयायिक लोग इसे स्वतन्त्र प्रमाण न मानकर प्रत्यक्ष में इसका अन्तर्भाव करते हैं। नैयायिकों के मतानुसार जिस इन्द्रिय के द्वारा जिस विषय का ग्रहण किया जाता है उसी इन्द्रिय के द्वारा उसके अभाव का भी ज्ञान होता है। अतः प्रस्तुत अनुपलब्धि ज्ञान अभावात्मक होने के कारण इन्द्रिय सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है और इन्द्रिय सन्निकर्ष से उत्पन्न होने के कारण यह प्रत्यक्ष में ही समाविष्ट है। क्योंकि इन्द्रिय सन्निकर्ष जन्य ज्ञान प्रत्यक्ष से व्यतिरिक्त नहीं होता है। अतः अनुपलब्धि या अभाव नामक स्वतन्त्र प्रमाण मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

अभाव पदार्थ का विस्तृत विवेचन पदार्थ प्रकरण के अन्तर्गत पृष्ठ १४८ पर किया जा चुका है। प्रमाणत्वेन इसकी कोई उपयोगिता नहीं होने से आयुर्वेद में इसे स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना गया है।

सम्भव प्रमाण

जिसके द्वारा किसी वस्तु का कथन करने पर उसके एक देश का ज्ञान न होकर उससे सम्बन्धित समस्त अवयवों का ज्ञान होता है वह सम्भव प्रमाण कहलाता है। जैसे 'चाकू' कहने पर उसमें लगे हुए लोहे के फल तथा लकड़ी के पट आदि का भी ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार 'पेन' शब्द का व्यवहार करने पर उसके साथ पेन से सम्बन्धित निब, जीभ, ट्यूब आदि सभी अवयवों का भी ज्ञान हो जाता है। इस तरह एक शब्द के द्वारा उससे अभिप्रेत द्रव्य के समस्त अवयवों का ज्ञान कराने वाला सम्भव नामक प्रमाण होता है। इस सम्भव प्रमाण को पौराणिक लोग स्वतन्त्र रूप से सातवें प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं। किन्तु अन्य विद्वान् एवं दर्शनकार इसे स्वतन्त्र प्रमाण न मानकर प्रत्यक्ष में इसका समावेश करते हैं।

आयुर्वेद में सम्भव प्रमाण की कोई उपयोगिता नहीं होने से प्रमाणत्वेन इसे परीक्षा का साधन नहीं बतलाया गया है। अतः आयुर्वेद में यह स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना गया है।

चेष्टा का प्रमाण

चेष्टा प्रमाण वह होता है जिनमें मुख की आकृति, शरीर की चेष्टाएँ अथवा मुख पर प्रकट होने वाले भावों से यथार्थ बात का ज्ञान किया जाता है। जैसे किसी व्यक्ति के क्रुद्ध या प्रसन्न होने का भाव उसके मुख पर प्रकट हो जाता है और उससे उसके क्रोधी या प्रसन्न होने के भाव का ज्ञान प्राप्त होता है। इसी प्रकार किसी के द्वारा कोई अरुचिकर अथवा कड़वी वस्तु खा लेने पर उसकी विकृत हुई मुखाकृति के द्वारा उस वस्तु के प्रति उसकी अरुचि का ज्ञान होता है। गूंगा व्यक्ति अपने शरीर (विशेषतः हाथ और मुख) की विभिन्न चेष्टाओं के द्वारा अपने मनोभावों को प्रकट करता है और उसकी चेष्टाओं के द्वारा अन्य व्यक्ति उसके अभीष्ट मनोभावों को समझ लेते हैं। इस प्रकार मुखाकृति, शरीर की चेष्टाएँ आदि के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वह चेष्टा प्रमाण कहलाता है।

तांत्रिक लोग इस प्रमाण के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं और इसे स्वतन्त्र नौवां प्रमाण मानते हैं। किन्तु सभी दर्शनों ने इसे स्वतन्त्र प्रमाण न मानकर अनुमान के अन्तर्गत इसका समावेश कर लिया है। आयुर्वेद में भी इसे प्रमाणत्वेन स्वीकार नहीं किया गया है।

परिशेष प्रमाण

परिशेष प्रमाण वह कहलाता है जिसमें विभिन्न प्रकार के पदार्थों में से अथवा किसी समूह विशेष के अन्दर से किसी एक वस्तु को छांटकर निकाल लिया जाता है। जैसे किसी भीड़ में से अपने परिचित व्यक्ति को खोज निकालना अथवा गेहूं के दानों में से मिट्टी के कणों को बीन कर निकालना इत्यादि।

इसे दसवें प्रमाण के रूप में कुछ लोग स्वीकार करते हैं। दार्शनिक विद्वज्जन इसका स्वतन्त्र अस्तित्व न मानकर इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष जन्य होने के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण में ही इसका अन्तर्भाव कर लेते हैं। आयुर्वेद में भी इसे स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना गया है।

इतिहास प्रमाण

इतिहास एक ऐसा विषय है जो अतीत काल में घटित विभिन्न घटनाओं की जानकारी प्रस्तुत करता है। इसमें महापुरुषों, ऋषियों, राजाओं एवं कीर्तिशेष विद्वान् आचार्यों व मनीषियों के जीवन से सम्बन्धित विशिष्टताओं, प्रमुख घटनाओं तथा विषय विशेष के लिए उनके योगदान एवं अवदान का विवरण संकलित रहता है। भारतीय वाङ्मय के ऐसे अनेक ग्रंथ हैं जिनमें उपर्युक्त विषय का प्रतिपादन किया गया है। ऐसे ग्रंथों में श्रीमद् बाल्मीकि रामायण, श्रीमद् भागवत, महाभारत, आदि पुराण आदि मुख्य

हैं। इतिहास ग्रंथों को अतीत कालीन घटनाओं की प्रामाणिक जानकारी का स्रोत माना जाता है। इससे देश की तत्कालीन भौगोलिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक स्थिति का आभास मिलता है। यदि तथ्यों को तोड़ मरोड़ कर स्वेच्छा पूर्वक प्रस्तुत नहीं किया जाय, घटनाक्रमों का उल्लेख प्रमाणों एवं यथार्थ बातों के आधार पर किया जाय तो इतिहास को प्रमाण मानने में आपत्ति नहीं होना चाहिये। किन्तु वस्तु-स्थिति इससे भिन्न है। अतः विद्वानों के द्वारा इसे प्रमाण की कोटि में नहीं रखा गया है।

कुछ विद्वान् इसे शब्द प्रमाण का ही अंग मान कर इसे भी प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार इतिहास में जो कुछ भी प्रतिपादित किया जाता है वह सर्वथा सत्य पर आधारित होता है। क्योंकि इतिहास शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार 'इति+ह+आस' इन तीन वर्णों से इतिहास शब्द की रचना हुई है। जिसके अनुसार इति=ऐसा, ह= निश्चय पूर्वक, आस = कहा गया है अर्थात् ऐसा निश्चय पूर्वक कहा गया है। अत यह प्रमाण है। अथवा 'इतिह' का अर्थ है पारम्परिक उपदेश। जिसमें पारम्परिक उपदेशों को कहा गया हो-संकलित किया गया हो वह इतिहास कहलाता है। ऐसे प्राचीन ग्रंथों में अतीत कालीन घटनाओं पर कथाओं के माध्यम से धर्म-अर्थ काम-मोक्ष का उपदेश दिया गया है। अतः महापुरुषों के जीवनवृत्त से सम्बन्धित घटनाओं का विवरण प्रस्तुत करने वाले ग्रंथ भी इतिहास की परिधि में आ जाते हैं। वर्तमान में इतिहास की परिभाषा में पर्याप्त अन्तर लक्षित हो रहा है। आज इतिहास में उपदेशात्मक या धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष मूलक बातों के लिए कोई स्थान नहीं है। घटनाओं पर आधारित विवरण एवं उनके आधार पर किया गया काल निर्धारण ही आज इतिहास का मुख्य प्रतिपाद्य है।

चतुर्दश अध्याय

तद्विद्य सम्भाषा

सम्भाषा का सामान्य अर्थ है पारस्परिक वार्तालाप और तद्विद्य का अर्थ है उस विषय या अपने विषय के ज्ञाता। अतः इसका सामान्य अर्थ यह हुआ कि अपने विषय का पाण्डित्य पूर्ण ज्ञान रखने वाले एक ही अधीत विद्या (शास्त्र) वाले विज्ञ जनों का ऐसा पारस्परिक आलाप या वार्तालाप जो उस विषय के सम्बन्ध में ज्ञान वृद्धि एवं शंका समाधान के लिए किया जाता है। प्राचीन काल में भिन्न-भिन्न विषयों के लिए सम्भाषा परिषद् हुआ करती थी जिसमें विद्वज्जन निर्धारित विषय पर अपने विचार व्यक्त करते हुए पारस्परिक मंत्रणा किया करते थे। वह मन्त्रणा दो विद्वानों में भी हुआ करती थी और दो से अधिक विद्वानों में भी। वर्तमान में सेमीनार, कान्फ्रेंस आदि के रूप में विभिन्न विषयों पर विचार गोष्ठियाँ आयोजित की जाती हैं जो सम्भाषा परिषद् का ही प्रतिरूप या विकसित रूप है। इसमें अन्तर यह है कि वर्तमान सेमीनार, कान्फ्रेंस आदि में वक्ताओं और श्रोताओं का समुदाय एकत्र होता है। प्राचीन काल में होने वाली तद्विद्य सम्भाषा के सम्बन्ध में महर्षि चरक ने अपेक्षित प्रकाश डाला है। वैद्य को अपने ज्ञान की वृद्धि करने हेतु अन्य वैद्य के साथ सम्भाषा करना चाहिए—इसका स्पष्ट निर्देश करते हुए वे लिखते हैं—"भिषक् भिषजा सह सम्भाषेत।" अर्थात् चिकित्सक (वैद्य) को अन्य चिकित्सक (वैद्य) के साथ सम्भाषा (वार्तालाप) करना चाहिए।

तद्विद्य सम्भाषा से लाभ

तद्विद्य सम्भाषा की क्या उपयोगिता है और उससे वैद्य को क्या लाभ होता है? इस पर भी महर्षि प्रवर ने अपेक्षित प्रकाश डाला है। यथा—

"तद्विद्यसम्भाषा हि ज्ञानाभियोगसंहर्षकरी भवति, वैशारद्यमपि चाभिनिर्वर्तयति, वचनशक्तिमपि चाधत्ते, यशश्चाभिदीपयति, पूर्वश्रुते च सन्देहवतः पुनः श्रवणात् संशयमपकर्षति, श्रुते चासन्देहवतो भूयोऽध्यवसायमभिनिर्वर्तयति, अश्रुतमपि च कश्चिदर्थं श्रोत्रविषयमापादयति, यच्चाचार्यः शिष्याय शुश्रूषवे प्रसन्नः क्रमेणोपदिशति गुह्याभिमतमर्थजातं तत्परस्परेण सह जल्पन् पिण्डेन विजिगीषुराह संहर्षात्, तस्मात्तद्विद्यसम्भाषामभिप्रशंसन्ति कुशलाः। —चरक संहिता, विमानस्थान ८।१४

अर्थात् तद्विद्य सम्भाषा ज्ञान का योग और हर्ष को करने वाली होती है, यह पाण्डित्य या चातुरी को उत्पन्न करती है, वाक् शक्ति (बोलने का सामर्थ्य) को धारण कराती है, कीर्ति को उज्वल करती है, पूर्व में पठित या सुने हुए विषय में सन्देह हो जाने पर पुनः सुनने से संशय का निराकरण करती है और जिसे पठित शास्त्र में सन्देह नहीं है उसे दृढ़ निश्चय (ज्ञान) उत्पन्न कराती है। ऐसी अनेक बातें जो पहले नहीं सुनी गई थीं या पहले जिनका ज्ञान नहीं हुआ था तद्विद्य सम्भाषा में सुनी जाती हैं और आचार्य अपनी सेवा करने वाले शिष्य को प्रसन्न होकर उसे जिन गूढ़ रहस्य वाले विषयों का क्रमशः उपदेश करता है उन्हें परस्पर वार्ता करते हुए एक ही बार में कह देता है। इसीलिए कुशल पुरुष तद्विद्य सम्भाषा की प्रशंसा करते हैं।

इस प्रकार जिस किसी भी विषय पर तद्विद्य सम्भाषा के माध्यम से विज्ञजनों द्वारा पारस्परिक मन्त्रणा एवं विचार विमर्श किया जाता है वह पारस्परिक ज्ञानाभिवृद्धि के लिए तो होता ही है, अनेक बार उससे विवादास्पद विषय में किसी निष्कर्ष पर पहुंचने या सिद्धान्त स्थिर करने में भी सहायता मिलती है। प्राचीन काल में आयुर्वेद जैसे शास्त्र के लिए आयोजित तद्विद्य सम्भाषा के द्वारा वैद्यों के ज्ञान का परिमार्जन तो होता ही था अनेक रोगों के विषय में निर्णय करने एवं उनकी चिकित्सा हेतु समुचित औषध व्यवस्था करने में भी वैद्यों को यथोचित अवसर एवं सुविधा प्राप्त होती थी। तद्विद्य सम्भाषा वैद्यों के पारस्परिक विचारों के आदान प्रदान का एक उपयुक्त माध्यम थी और इसके द्वारा वैद्यों को प्रसंगानुकूल नवीन तथ्यों की जानकारी प्राप्त होती थी, जिसका उपयोग वे रोगी को रोग मुक्त करने हेतु उनके हितार्थ किया करते थे। इसके अतिरिक्त वही सम्भाषा जब विवाद का रूप धारण कर लेती थी तो विद्वानों में अपने ज्ञान के आधार पर भीषण वाद-विवाद होता था और एक पक्ष दूसरे पक्ष को अपने ज्ञान बल से हराने का प्रयत्न करता था।

तद्विद्य सम्भाषा के भेद

उपर्युक्त तद्विद्य सम्भाषा दो प्रकार की बतलाई गई है—संधाय सम्भाषा और विगृह्य सम्भाषा। इसमें संधाय सम्भाषा को अनुलोम सम्भाषा और विगृह्य सम्भाषा को प्रतिलोम सम्भाषा भी कहा जाता है। संधाय सम्भाषा सामान्यतः वह होती है जिसमें दोनों पक्षों में संधि एवं प्रेम पूर्वक पारस्परिक विश्वास के साथ सौहार्द युक्त वार्तालाप हो। इस प्रकार की सम्भाषा में विभिन्न विषयों एवं तत्वों के विषय में यथोचित निर्णय किया जाता है। इसके विपरीत विगृह्य सम्भाषा में सभी प्रकार के उचित या अनुचित उपायों के द्वारा अपने प्रतिद्वन्द्वी या विपक्षी को परास्त करने का प्रयत्न किया जाता है। विगृह्य का तात्पर्य होता है विपरीत ग्रहण अर्थात् विपक्षी जो कुछ भी कहे

उसके विपरीत उत्तर देकर उसे पराजित करने का प्रयत्न करना। इस सम्भाषा में दोनों पक्ष एक दूसरे को पराभूत करने का प्रयत्न करते हैं।

महर्षि चरक ने उभय सम्भाषा विधियों का सविस्तार वर्णन किया है जो निम्न प्रकार है—

संधाय सम्भाषा विधि—तत्र ज्ञानविज्ञानवचनप्रतिवचनशक्तिसम्पन्नेनाकोपनेनानुपस्कृतविद्येनानसूयकेनानुनयेनानुनयकोविदेन क्लेशक्षमेण प्रियसम्भाषणेन च सह सन्धाय सम्भाषा विधीयते। तथाविधेन सह कथयन् विस्रब्धः कथयेत्, प्रच्छेदपि च विस्रब्धः, पृच्छते चास्मै विस्रब्धाय विशदमर्थं ब्रूयात्, न च निग्रहभयादुद्विजेत्, निगृह्य चैनं न हृष्येत् न च परेषु विकत्थेत्, न च मोहादेकान्तग्राही स्यात्, न चाविदितमर्थमनुवर्णयेत् सम्यक् चानुनयेनानुनयेत्, तत्र चावहितः स्यात्। इत्यनुलोम सम्भाषाविधिः।

—चरक संहिता, विमान स्थान ८/१७

अर्थात् ज्ञान, विज्ञान, वचन (प्रश्न), प्रतिवचन, (उत्तर) की शक्ति से सम्पन्न क्रोधरहित, जिसकी विद्या अनुपस्कृत हो याने उपस्कृत (दूषित) नहीं हो, अनिन्दित, विनय सम्पन्न, दूसरों को अपनी अनुनय-विनय की नीति से अपने अनुकूल कर लेने की कला को जानने वाले, कष्ट को सहन करने वाले और प्रिय-मधुर सम्भाषण करने वाले व्यक्तियों के साथ संधाय सम्भाषा की जाती है। उपर्युक्त इन गुणों से सम्पन्न विद्वान के साथ वार्तालाप करते हुए जो कुछ भी कहे विश्वास पूर्वक निडर होकर कहे, पूछना भी हो तो विश्वास पूर्वक निःसंकोच होकर पूछे। निःसंकोच एवं ऋजु भाव पूर्वक पूछने वाले व्यक्ति को स्पष्ट एवं विशद अर्थ युक्त उत्तर देवे, निग्रह के (यह मुझे पराजित कर देगा इस) भय से स्वयं को मुक्त करे अर्थात् भयभीत नहीं होवे, अपने विपक्षी (विद्वान्) को पराजित करके अत्यधिक हर्षित नहीं होवे और न ही दूसरों में इसकी चर्चा करे, मोह (अज्ञान) के वशीभूत होकर एकान्तग्राही (अपनी बात के प्रति दुराग्रही) नहीं होवे, अज्ञात विषय का कथन या वर्णन नहीं करे, उचित रूप से अनुनय के द्वारा स्वपक्ष (अपनी बात) स्वीकार करावे और अपने उस विनय गुण की संरक्षा में सावधान रहे। इस प्रकार यह अनुलोम सम्भाषा विधि है।

इस उपर्युक्त संधाय (अनुलोप) सम्भाषा विधि में जो बातें बतलाई गई हैं वह एक प्रकार से तद्विद्य संभाषा में भाग लेने वाले विद्वानों के लिए आचार संहिता है। ताकि उसमें भाग लेने वाले विद्वान अपने नैतिक दायित्व का निर्वाह करें और तत्व ग्रहण हेतु शुद्ध मन से तत्व चर्चा करते हुए सम्भाषा में प्रवृत्त हों। उपर्युक्त आचरणीय गुणों को धारण कर उनका निर्वाह करने वाले विद्वज्जन निश्चय ही किसी विवाद में नहीं पड़ते हुए किसी निष्कर्ष पर पहुंचने और अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल होते हैं। वे स्वस्थ परम्परा का निर्वाह करते हुए ऐसे उच्चादर्शों की प्रतिष्ठापना करते

हैं जो दूसरों के लिए अनुकरणीय होते हैं। इस दृष्टि से सन्धाय सम्भाषा निश्चय ही ज्ञानवर्धक एवं दुर्बोध विषयों को स्पष्ट करने में सहायक होती है।

विगृह्य सम्भाषा विधि—अत ऊर्ध्वमितरेण सह विगृह्यसंभाषायां जल्पेच्छ्रेयसा योगमात्मनः पश्यन्। प्रागेव च जल्पाज्जल्पान्तरं परावरान्तरं परिषद्विशेषांश्च सम्यक् परीक्षेत। सम्यक् परीक्षा हि बुद्धिमतां कार्यप्रवृत्तिनिवृत्तिकालौ शंसति, तस्मात् परीक्षामभिप्रशंसन्ति कुशलाः। परीक्षमाणस्तु खलु परावरान्तरमिमान् जल्पकगुणान् श्रेयस्करान् दोषवतश्च परीक्षेत् सम्यक्। तद्यथा श्रुत विज्ञानं धारणं प्रतिभानं वचन शक्तिरित्येतान् गुणवान् श्रेयस्करानाहुः, इमान् पुनर्दोषवतः तद्यथा—कोपनत्वमवैशारद्यं भीरुत्वमधारणत्वमनवहितत्वमिति। एतान् गुणान् गुरुलाघवतः परस्य चैवात्मनश्च तुलयेत्।

—चरक संहिता, विमान स्थान ८/१८

अर्थात् ज्ञानवती या मूढ़ सुहृत्परिषद् में अपने से हीन या सम पुरुष से विगृह्य सम्भाषा करना चाहिये। अथवा अवधान, श्रवण, ज्ञान, विज्ञान, धारणा शक्ति तथा वचन शक्ति से युक्त उदासीन परिषद् (ज्ञानवती उदासीन परिषद्) में जल्प करते हुए सावधान होकर पर पुरुष प्रतिवादी के श्रेष्ठ गुणों एवं दोषों के बल को जांचना चाहिए। जाँच कर जहाँ उसे अपने से श्रेष्ठ समझे उसे बीच में नहीं लाते हुए या टालते हुए उस विषय में जल्प ही नहीं करे और जहां उसे हीन समझे वहां ही उसे शीघ्र पकड़ ले। हीन पुरुषों को शीघ्र निग्रह करने (पकड़ने) में ये उपाय काम में आते हैं—यदि वह शास्त्रहीन (शास्त्र नहीं पढ़ा हुआ) है तो शास्त्र के बड़े-बड़े सूत्रों का पाठ करके उसे नीचा दिखाए। विज्ञान हीन याने शास्त्र के विशदार्थ ज्ञान से हीन हो तो दुर्बोध शब्द युक्त वाक्यों के प्रयोग से प्रतिपक्षी को नीचा दिखाए। यदि प्रतिवादी वाक्य को धारण न कर सकता हो तो वक्र एवं लम्बे-लम्बे सूत्रों से मिश्रित बड़े-बड़े वाक्य बोलकर उसे पराभूत करे। यदि प्रतिवादी प्रतिभा में हीन हो तो अनेकार्थवाची एक ही प्रकार के वचनों के द्वारा नीचा दिखाए। यदि प्रतिवादी में वचन शक्ति (बोलने की क्षमता) में हीनता हो तो व्यंग्यार्थक वाक्यों का प्रयोग कर उसे पराभूत करे। यदि अविशारद (निपुणता हीन) हो तो उसे लज्जित करके, क्रुद्ध हो जाने वाले को उत्तेजक या क्रोधोत्पादक शब्दों के द्वारा, भीरू पुरुष को भय दिखाकर, असावधान को नियमन के द्वारा—इस प्रकार इन उपायों से अपने से हीन पुरुष को पराभूत करे।

विगृह्य सम्भाषा में अत्यधिक सावधानी अपेक्षित है। क्योंकि इसमें वादी और प्रतिवादी दोनों ही अपने पराभव की स्थिति में उत्तेजित होकर कार्याकार्य का विवेक खो सकते हैं। ऐसी विषम परिस्थिति का निवारण युक्ति पूर्वक करना चाहिये! महर्षि चरक ने भी यही भाव व्यक्त करते हुए सावधान रहने का निर्देश किया है—

विगृह्य कथमेद्युक्त्या युक्तं च न निवारयेत्।
विगृह्य भाषा तीव्रं हि केषाञ्चिद् द्रोहमावहेत्॥
नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यमपि विद्यते।
कुशला नाभिनन्दन्ति कलहं समितौ सताम्॥

—चरक संहिता, विमान स्थान ८/२२-२३

अर्थात् विगृह्य सम्भाषा युक्ति पूर्वक करना चाहिये। जो युक्तियों से सिद्ध हो उसका विरोध नहीं करे। तीव्र विगृह्य सम्भाषा अनेक लोगों को द्रोह या कोप उत्पन्न कर देती है और क्रुद्ध हुए व्यक्ति के लिए अकार्य और अवाच्य कुछ नहीं रहता है। अतः पण्डित जन सज्जनों की सभा में कलह को पसन्द नहीं करते हैं।

वाद-जल्प और वितण्डा

उपर्युक्त प्रकार की सम्भाषा में विमर्श योग्य जो विषय प्रस्तुत होता है या किया जाता है तथा उस पर दोनों पक्षों के द्वारा जो प्रमाण, तर्क आदि प्रस्तुत किए जाते हैं और उन प्रमाण आदि के आधार पर जो स्वपक्ष प्रतिपादन एवं पर पक्ष का खण्डन या निराकरण किया जाता है वह वाद कहलाता है। महर्षि चरक ने वाद के विषय में कहा है—

"तत्र वादो नाम-यत् परः परेण सह शास्त्रपूर्वकं विगृह्य कथयति।"

—चरक संहिता, विमान स्थान ८/२८

अर्थात् शास्त्र पूर्वक परस्पर जो विगृह्य सम्भाषा होती है उसे वाद कहते हैं। अक्षपाद गौतम ने न्याय दर्शन में वाद का निम्न लक्षण कहा है—

"प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्ष-परिग्रहो वादः।"

अर्थात् प्रमाण एवं तर्क के द्वारा स्वपक्ष की सिद्धि एवं परपक्ष का निराकरण करते हुए इस प्रकार का कथन जो सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं हो तथा प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन इन पांच अवयवों से युक्त पक्ष और प्रतिपक्ष का ग्रहण करना वाद कहलाता है। जैसे किसी ने कहा—"अग्नि उष्ण है" यह प्रतिज्ञा वचन है। क्यों? "जलाने से"-यह हेतु है। किस तरह? 'आतप (धूप) की तरह'—यह उदाहरण या दृष्टान्त है। किस प्रकार? जैसे आतप (धूप) गरम होती है और वह जलाती है उसी प्रकार अग्नि जलाती है—यह उपनय है। 'अतएव अग्नि उष्ण है"—यह निगमन है। यह पक्ष ग्रहण सिद्धान्तों के विरुद्ध नहीं है और पांच अवयवों से युक्त है।

तत्पश्चात् प्रतिवादी भी स्वपक्ष (जो प्रतिपक्ष कहलाता है) ग्रहण करता है और पंचावयवों से युक्त निम्न प्रकार से स्वपक्ष (प्रतिपक्ष) प्रस्तुत करता है। प्रतिज्ञा-

अग्नि उष्ण नहीं है। क्यों? हेतु-रूपमात्र का लक्षण होने से। उदाहरण—जैसे वायु। उपनय—जैसे वायु का स्पर्श मात्र लक्षण है और वह अनुष्ण होता है उसी प्रकार अग्नि का रूपमात्र लक्षण है। निगमन—अतः अग्नि अनुष्ण है। यहाँ पर शब्द प्रमाण एवं तर्क के आधार पर प्रतिवादी सर्व सिद्धान्त सिद्ध अग्नि के रूप मात्र लक्षण को स्वीकार करते हुए अनुमान और तर्क के द्वारा अग्नि की अनुष्णता की स्थापना करता है। यह भी सिद्धान्त से अविरुद्ध एवं पञ्चावयव से युक्त है, अतः यह प्रतिपक्ष है।

इस प्रकार पक्ष एवं प्रतिपक्ष का ग्रहण वाद कहलाता है।

जल्प और वितण्डा

महर्षि चरक ने वाद दो प्रकार का बतलाया है। यथा—

"स वादो द्विविधः संग्रहेण जल्पो वितण्डा च। तत्र पक्षाश्रितयोर्वचनं जल्पः, जल्पविपर्ययो वितण्डा। जल्पः, यथा एकस्य पक्षः पुनर्भवोऽस्तीति, नास्तीत्यपरस्य; तौ च हेतुभिः स्वस्वपक्षं स्थापयतः परपक्षमुद्भावयतः, एष जल्पः, जल्पविपर्ययो वितण्डा। वितण्डा नाम परपक्षे दोषवचनमात्रमेव। —चरक संहिता, विमान स्थान ८/२८

अर्थात् संक्षेपतः वह वाद दो प्रकार का होता है—जल्प और वितण्डा। अपने अपने (विरुद्ध) पक्ष को लेकर वादी-प्रतिवादी का वचन जल्प कहलाता है। जल्प से विपरीत वितण्डा होती है। जैसे एक का पक्ष है—पुनर्भव होता है। दूसरे का पक्ष है-(पुनर्भव) नहीं होता है। वे दोनों (वादी-प्रतिवादी) विभिन्न हेतुओं से अपने पक्ष की स्थापना करते हैं और दूसरे पक्ष का प्रतिषेध करते हैं—यह जल्प है। जल्प से विपरीत वितण्डा होती है। दूसरे (प्रतिवादी) के पक्ष में केवल दोषों का कथन करना (दोष निकालना) वितण्डा कहलाती है।

अभिप्राय यह है कि अपने पक्ष की तो स्थापना करना और परपक्ष में केवल दोषान्वेषण करना या दोष निकालना वितण्डा होती है। न्याय दर्शन में भी कहा है—**'स एव प्रतिपक्ष स्थापनाहीनो वितण्डा'** अर्थात् उसी प्रतिपक्ष को स्थापना से हीन करना (हेतु-दृष्टान्त आदि से विहीन करना) वितण्डा कहलाता है।

निग्रहस्थान

पराजय को प्राप्त करना निग्रहस्थान कहलाता है। उपर्युक्त संधाय एवं विगृह्य सम्भाषा में जब वादी या प्रतिवादी स्वपक्ष का समर्थन या सिद्धि नहीं कर पाता है तो उसे पराजय स्वीकार करना पड़ती है—यही निग्रहस्थान है। जैसा कि महर्षि चरक प्रतिपादित किया है—**"निग्रहस्थानं नाम पराजयप्राप्तिः।"**

—चरक संहिता, विमानस्थान ८/६५

इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए आचार्य चक्रपाणिदत्त ने कहा है—

"निग्रहस्य पराजयस्य स्थानमिव स्थानं कारणमिति निग्रहस्थानम्।"

अर्थात् निग्रह का तात्पर्य है पराजय। उस पराजय के स्थान की भांति स्थान याने कारण को निग्रहस्थान कहते हैं।

न्याय दर्शन में निग्रहस्थान का निम्न लक्षण प्रतिपादित किया गया है—

विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्।" (अ० १/१९)

अर्थात् विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति को निग्रह स्थान कहते हैं।

प्रतिपत्ति कहते हैं ज्ञान को। विपरीत या निन्दित प्रतिपत्ति (ज्ञान) विप्रतिपत्ति कहलाता है और दूसरे के द्वारा सिद्ध किए गए पक्ष का खण्डन नहीं करना या पक्ष के ऊपर लगाए गए दोषों का समाधान नहीं करना अप्रतिपत्ति है। ये दोनों विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति (अर्थात् नहीं समझना या समझ कर उसकी परवाह नहीं करना) निग्रह स्थान हैं। इन्हीं दोनों कारणों से पराजय होती है।

आयुर्वेद में निम्न निग्रहस्थान बतलाए गए हैं—

तच्च त्रिरभिहितस्य वाक्यस्यापरिज्ञानं परिषदि विज्ञानवत्यां, यद्वाऽननुयोज्यस्यानुयोगोऽनुयोज्यस्याननुयोगः। प्रतिज्ञाहानिः अभ्यनुज्ञा, कालातीतवचनम्, अहेतु, न्यूनम्, अधिकं, व्यर्थम्, अनर्थकं, पुनरुक्तं, विरुद्धं, हेत्वन्तरम्, अर्थान्तरं च।"

—चरक संहिता. विमानस्थान ८/६५

अर्थात् वह निग्रहस्थान ज्ञानवती परिषद् (सभा) में तीन बार कहे गए वाक्य का ज्ञान नहीं होना अथवा अननुयोज्य (वाक्य) का अनुयोग करना या अनुयोज्य (वाक्य) का अननुयोग करना होता है। अर्थात् जहां निग्रहस्थान नहीं हो वहाँ निग्रह स्थान समझना और जहाँ निग्रहस्थान हो वहाँ निग्रह नहीं करना—ये दोनों निग्रह स्थान हैं। इसके अतिरिक्त प्रतिज्ञाहानि, अभ्यनुज्ञा, कालातीतवचन, अहेतु, न्यून, अधिक, व्यर्थ, अनर्थक, पुनरुक्त, विरुद्ध, हेत्वन्तर और अर्थान्तर ये बारह भी निग्रहस्थान होते हैं।

इस प्रकार आयुर्वेद में ये पन्द्रह निग्रहस्थान होते हैं। न्याय दर्शन में इनसे कुछ और अधिक निग्रहस्थान बतलाए गए हैं। यथा—अप्राप्तकाल, अननुभाषण, अप्रतिभा और विक्षेप। इसमें पञ्चावयव को यथा कालक्रम से नहीं कहना **"अप्राप्तकाल"** कहलाता है। विज्ञात अर्थ को परिषद या प्रतिवादी के द्वारा तीन बार बतलाए जाने पर भी नहीं कहना **अननुभाषण** कहलाता है। समय पर प्रतिवादी के प्रश्न का उत्तर नहीं सूझना **अप्रतिभा** कहलाती है। किसी कार्य के बहाने से कथा का भंग करना **विक्षेप** कहलाता है।

प्रस्तुत निग्रहस्थान में अनुयोज्य, अननुयोज्य, अनुयोग आदि कतिपय विशिष्ट शब्दों का प्रयोग किया गया है। शास्त्र में उनका जो लक्षण प्रतिपादित किया गया

है उसे यहां प्रस्तुत किया जा रहा है, ताकि उन पारिभाषिक शब्दों का भावार्थ समझने में कठिनाई न हो।

अनुयोज्य—**अनुयोज्यं नाम यद्वाक्यं वाक्यदोषयुक्तं तदनुयोज्यमुच्यते। सामान्योदाहृतेस्वर्थेषु वा विशेषग्रहणार्थं यद्वाक्यं तदनुयोज्यम्। यथा—संशोधनसाध्योऽयं व्याधिरित्युक्ते किं वमनसाध्यः ? किंवा विरेचनसाध्यः ? इत्यनुयुज्यते।**

—चरक संहिता, विमान स्थान ८/५०

अर्थात् जो वाक्य वाक्यदोष से युक्त हो वह अनुयोज्य कहलाता है। सामान्यतः कहे गए अर्थों में विशेष ज्ञान के लिए जो वाक्य (प्रश्न) कहा जाता है वह 'अनुयोज्य' कहलाता है। जैसे—यह व्याधि संशोधन साध्य है—ऐसा कहे जाने पर (विशेष ज्ञान प्राप्ति हेतु) पूछा जाता है कि क्या वमन साध्य है ? अथवा विरेचन साध्य है ? यह अनुयोजन (प्रश्न) करना पड़ता है।

अननुयोज्य—**अननुयोज्यं नामातो विपर्ययेण। यथा-अयमसाध्यः।**

—चरक संहिता, विमान स्थान ८/५१

अर्थात् अनुयोज्य से विपरीत लक्षण वाले वाक्य को अननुयोज्य कहते हैं। याने वाक्यदोष से रहित वाक्य को अननुयोज्य कहते हैं। उसमें किसी प्रकार की जिज्ञासा या आकाङ्क्षा नहीं रहती है। अथवा सामान्यतः कहा गया ऐसा वाक्य जिसमें विशेष ज्ञान के लिए किसी अन्य वाक्य के कथन की आवश्यकता न हो अननुयोज्य होता है। जैसे—यह असाध्य है।

अनुयोग—**अनुयोगो नामयत्तद्विद्यानां तद्विद्यैरेव सार्धंतन्त्रे तन्त्रैकदेशे वा प्रश्नः प्रश्नैकदेशो वा ज्ञानविज्ञानवचनप्रतिवचन परीक्षार्थमादिश्यते; नित्यः पुरुष इति प्रतिज्ञाते, यत्परः को हेतुः ? इत्याह सोऽनुयोगः।** —चरक संहिता, विमानस्थान ८/५२

अर्थात् तद्विद्य पुरुषों का तद्विद्य पुरुषों के साथ ज्ञान, विज्ञान, वचन, प्रतिवचन की परीक्षा के लिए सम्पूर्ण तन्त्र अथवा तन्त्र के एक भाग में जो सम्पूर्ण प्रश्न अथवा प्रश्न का एक भाग पूछा जाता है वह 'अनुयोग' कहलाता है। जैसे 'पुरुष नित्य है'—यह प्रतिज्ञा करने पर प्रतिवादी पूछे कि इसमें क्या हेतु है ? यह अनुयोग होता है।

अन्य निग्रहस्थानों का विवरण निम्न प्रकार है—

प्रतिज्ञाहानि—**प्रतिज्ञाहानि नाम सा पूर्वगृहीतां प्रतिज्ञां पर्यनुयुक्तः परित्यजति। यथा—प्राक्प्रतिज्ञां कृत्वा 'नित्यः पुरुषः' इति पर्यनुयुक्तस्त्वाह-अनित्य इति।**

—चरक संहिता, विमानस्थान ८/७०

अर्थात् प्रथम की गई प्रतिज्ञा को प्रत्यनुयोग होने पर त्याग देना 'प्रतिज्ञाहानि' कहलाती है। जैसे वादी ने प्रथम प्रतिज्ञा की कि 'पुरुष नित्य है' इस पर जब प्रतिवादी ने अनुयोग व प्रत्यनुयोग किया तो झट बदल जाय और कहे—'पुरुष अनित्य है। यह प्रतिज्ञा हानि है।

अभ्यनुज्ञा—**अभ्यनुज्ञा नाम य इष्टानिष्टाभ्युपगमः।**

—चरकसंहिता, विमानस्थान ८/७१

अर्थात् इष्ट एवं अनिष्ट को स्वीकार करना 'अभ्यनुज्ञा' कहलाती है। परपक्ष का दोष 'इष्ट' है, अपने पक्ष में दोष 'अनिष्ट' है। इन दोनों को मान लेना 'अभ्यनुज्ञा' है।

कालातीत वचन—**अतीतकालं नाम यत्पूर्वं वाच्यं तत्पश्चादुच्यते, तत्कालातीतत्वादग्राह्यं भवति। पूर्वं वा निग्रहप्राप्तमनिगृह्य पक्षान्तरितं पश्चान्निगृहीते तत्तस्यातीत कालत्वान्निग्रहवचनमसमर्थं भवतीति।** —चरक संहिता, विमानस्थान ८/६७

अर्थात् अतीत काल उसे कहते हैं जो पहले कहा जाना चाहिये उसे बाद में कहा जाय। वह काल के गुजर जाने से अग्राह्य होता है। इस प्रकार निग्रहस्थान में आए हुए को पहले निग्रह नहीं करके पश्चात् जब उसने दूसरे पक्ष का आश्रय ले लिया हो तब निग्रह करे तो कालातीत हो जाने से उसका वह निग्रह वचन निग्रह में असमर्थ होता है।

अहेतु—असाधक हेतु को अहेतु कहते हैं। जो वस्तुतः हेतु नहीं होता है, किन्तु हेतु की भांति प्रतीत होता है। अनुमान के प्रकरण में उसे हेत्वाभास भी कहते हैं।

न्यून—**तत्र प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानामन्यतमेनापि न्यूनं न्यूनं भवति यद्वा बहूपदिष्टहेतुकमेकेन साध्यते हेतुना तच्च न्यूनम्, एतानि ह्यन्तरेकृतोऽप्यर्थः प्रणश्येत्।**

—चरक संहिता, विमान स्थान ८/५५

अर्थात् प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन इन पांचों में से किसी एक से न्यून वाक्य 'न्यून' कहलाता है। यदि कोई ऐसा साध्य है जिसकी सिद्धि अनेक हेतुओं से होती हो, किन्तु उसे सिद्ध करने के लिए केवल एक ही हेतु प्रस्तुत किया जाए तो वह भी न्यून कहलाता है।

अधिक—**अधिकं नाम यन्न्यूनविपरीतं यद्वाऽऽयुर्वेदे भाष्यमाणे बार्हस्पत्यमौशनसमन्यद्वा यत्किञ्चिदप्रतिसम्बद्धार्थमुच्यते। यद्वा पुनः प्रतिसम्बद्धार्थमपि द्विरभिधीयते तत्पुनरुक्तादधिकम्।"**

—चरक संहिता, विमान स्थान ८/५६

अर्थात् न्यून से विपरीत अधिक होता है। जैसे— आयुर्वेद विषय पर वार्तालाप होने पर वहां पर बार्हस्पत्य, औशनस या अन्य कोई असम्बद्ध शास्त्र के विषय में कहा जायगा तो वह "अधिक" कहलायेगा। अथवा प्रकृत अर्थ से सम्बद्ध भी हो तो यदि दुबारा कहा जायगा तो वह पुनः कहे जाने के कारण "अधिक" कहलाता है।

न्यायदर्शन में—"**हेतूदाहरणाधिकम्**" अधिक का यह लक्षण किया गया है। अर्थात् किसी साध्य की सिद्धि के लिए एक ही हेतु या जितने हेतु अपेक्षित हों उससे अधिक हेतुओं या उदाहरणों का कथन 'अधिक' कहलाता है।

व्यर्थ (अपार्थक)—व्यर्थ को ही अपार्थक कहते हैं। अपार्थक का निम्न लक्षण प्रतिपादित किया गया है—"**अपार्थकं नाम यदर्थवच्च परस्परेण चायुज्यमानार्थकं, यथा—चक्रतक्रवंशवज्रनिशाकरा इति।**" —चरक संहिता, विमान स्थान ८/५७

अर्थात् जो अनेक पद या वाक्य पृथक् अर्थ युक्त होते हुए भी परस्पर जिनका अर्थ नहीं जुड़ता है उसे अपार्थक (व्यर्थ) कहते हैं। जैसे चक्र, तक्र, वंश, वज्र, निशाकर

इनमें से प्रत्येक पद का अपना-अपना अर्थ है। यदि इन्हें वाक्य के रूप में एक स्थान पर संयुक्त कर दिया जाय तो उनका कोई अर्थ नहीं निकलेगा। अतः यह अपार्थक है।

अनर्थक—अनर्थकं नाम यद्वचनमक्षरग्राममात्रमेव स्यात्पञ्चवर्गवन्न चार्थतो गृह्यते।

—चरक संहिता, विमान स्थान ८/५७

अर्थात् जो वचन कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग इन पाँच वर्गों की तरह अक्षरों का समूह मात्र ही हो और किसी अर्थ को व्यक्त नहीं करता हो वह 'अनर्थक' कहलाता है। न्यायदर्शन में भी ऐसा ही प्रतिपादित किया गया है—"**वर्णक्रमनिर्देशवन्निरर्थकम्।**"

पुनरुक्त—पुनरुक्त का लक्षण अधिक में ही कर दिया गया है। यथा—"**प्रतिसम्बाद्धार्थनपि द्विरभिधीयते तत्पुनरुक्तत्वादधिकम्।**" अर्थात् प्रकृत अर्थ से सम्बद्ध भी यदि दुबारा कहा जाता है तो वह पुनरुक्त कहलाता है। न्याय दर्शनोक्त लक्षण में भी यही भाव प्रतिपादित है। यथा—"**शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात्।**" अर्थात् अनुवाद को छोड़कर शब्द या अर्थ का बार-बार कहना पुनरुक्त कहलाता है।

ये पांच (न्यून, अधिक, अपार्थक, अनर्थक और पुनरुक्त) वाक्य दोष भी माने गए हैं।

विरुद्ध—विरुद्धं नाम यद् दृष्टान्तसिद्धान्तसमयैर्विरुद्धम्।"

—चरक संहिता, विमान स्थान ८/५८

अर्थात् जो वाक्य दृष्टान्त, सिद्धान्त और समय के विरुद्ध हो वह विरुद्ध कहलाता है। जैसे **दृष्टान्तविरुद्ध**— अग्नि उष्ण है, जैसे जल। **सिद्धान्त विरुद्ध**—भेषज किसी साध्यरोग को हरने में समर्थ नहीं है। **समय विरुद्ध**—कोई यह कहे कि चतुष्पाद भेषज नहीं है तो वह आयुर्वेदिक समय विरुद्ध होगा। यदि कोई यह कहे कि यज्ञ में पशुओं को स्पर्श करना या मारना चाहिए तो यह याज्ञिय समय विरुद्ध होगा। यदि कोई वक्ता यह कहे कि सब प्राणियों की हिंसा करना चाहिए तो यह मोक्षशास्त्रिक समय विरुद्ध होगा।

हेत्वन्तर— हेत्वन्तरं नाम प्रकृतिहेतौ वाच्ये यद्विकृतिहेतुमाह।

—चरक संहिता, विमानस्थान ८/७२

अर्थात् जिस हेतु का कथन किया जाना है उस हेतु का कथन नहीं करके अन्य हेतु का कथन करना। जैसे किसी स्थान पर प्रकृति का हेतु वाच्य हो (कहा जाना चाहिये) वहां पर यदि प्रकृति के हेतु का कथन नहीं करके विकृति के हेतु का कथन किया जाता है तो वह हेत्वन्तर कहलाता है। न्याय दर्शन में इसका थोड़ा भिन्न लक्षण कहा गया है। जैसे—"**अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरम्।**" अर्थात् सामान्यतः कहे गए हेतु का प्रतिषेध किए जाने पर उसकी विशेषता बतलाना (कहना) हेत्वन्तर कहलाता है।

अर्थान्तर —"अर्थान्तरं नाम एकस्मिन् वक्तव्ये परं यदाह, यथा ज्वरलक्षणे वाच्ये प्रमेहलक्षणमाह।"

—चरक संहिता, विमानस्थान ८/७३

कोई एक विषय का कथन करना हो, किन्तु कहा जाय दूसरा विषय तो वह अर्थान्तर कहलाता है। जैसे कहीं ज्वर के लक्षण कहने थे किन्तु प्रमेह के लक्षण कह दिए। वह अर्थान्तर होता है।

संशय

सामान्यतः अनिश्चयात्मक ज्ञान को संशय कहते हैं। इसे एक प्रकार का अयथार्थ अनुभव माना गया है जिसमें वस्तु स्वरुप का निर्णय या निश्चय नहीं हो पाता है। दर्शन शास्त्र की दृष्टि से यह यद्यपि एक मिथ्या ज्ञान है, तथापि इसका स्वरूप प्रतिपादन एवं विवेचन किया जाना इसकी उपयोगिता को दर्शाता है। क्योंकि इसके अभाव में ज्ञान का विनिश्चय होना सम्भव नहीं है। तर्क संग्रह में इसका स्वरूप निम्न प्रकार बतलाया गया है—"**एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानाधर्मवैशिष्ट्यावगाहिज्ञानं संशयः।**"

अर्थात् एक धर्मी में परस्पर विरुद्ध अनेक धर्मों के वैशिष्ट्य का अवगाहि ज्ञान होना संशय कहलाता है।

आयुर्वेद शास्त्र में भी संशय का स्वरूप एवं लक्षण प्रतिपादित किया गया है। महर्षि चरक ने संशय का उल्लेख यद्यपि ४४ वादमार्गों के अन्तर्गत किया है, किन्तु इससे उसके स्वरूप में कोई भिन्नता नहीं आई है। उन्होंने निम्न प्रकार से उसका स्वरूप बतलाया है—

"**संशयो नाम सन्देहलक्षणानुसन्दिग्धेष्वर्थेष्वनिश्चयः। यथा—दृष्टा ह्यायुष्मल्लक्षणैरुपेताश्चानुपेताश्च तथा सक्रियाश्चाक्रियाश्च पुरुषाः शीघ्रभङ्गाश्चिरजीविनश्च एतदुभय दृष्टत्वात् संशयः किमस्ति खल्वकालमृत्युरुत नास्तीति।**

—चरक संहिता, विमानस्थान ८/४३

अर्थात् सन्देह के लक्षणों से युक्त होने से सन्देह युक्त विषयों का अनिश्चित ज्ञान होना संशय कहलाता है। जैसे देखा जाता है कि एक रोगी आयु के हितकारी समस्त लक्षणों से युक्त हैं और दूसरा रोगी आयुष्य के लक्षणों से युक्त नहीं है और समुचित चिकित्सा का लाभ नहीं मिलने पर, या मिल जाने पर भी एक शीघ्र मृत्यु को प्राप्त हो जाता है और दूसरा बहुत दिनों तक जीवित रहता है। इन दोनों बातों को देखने से संशय होता है कि मनुष्यों की अकाल मृत्यु होती है या नहीं होती।

स्वशास्त्रानुसार संशय के उभय लक्षण सार्थक हैं। आयुर्वेद में आतुर, रोग और रोगी की चिकित्सा के सन्दर्भ में संशय का ज्ञान अपेक्षित है। गौतमकृत न्यायसूत्र में संशय के पाँच भेद बतलाए गए हैं। यथा—**समानधर्मोपपत्ति मूलक, अनेक धर्मोपपत्तिमूलक विप्रतिपत्तिमूलक, उपलब्ध व्यवस्थामूलक और अनुपलब्ध व्यवस्था मूलक।**

भ्रान्ति या विपर्यय

विपरीत ज्ञान को भ्रान्ति या विपर्यय माना माना गया है। यह अयथार्थ अनुभव होता है जो मिथ्या ज्ञान के अन्तर्गत आता है। जैसे रस्सी में सर्प का ज्ञान होना, रेगिस्तान में मृग मरीचिका याने जल नहीं होते हुए भी जल की प्रतीति या ज्ञान होना। संशय की भांति यह भी यद्यपि मिथ्या ज्ञान है, किन्तु दोनों में पर्याप्त भिन्नता है। संशय में अनिश्चय की स्थिति रहती है जबकि भ्रान्ति में भ्रम या विपरीत ज्ञान होता हैं। अतः दोनों में पर्याप्त भिन्नता है।

पंचदश अध्याय

सृष्टि उत्पत्ति क्रम

सृष्टि या सर्ग निरूपण

सृष्टि शब्द 'सृजि' विसर्गे धातु से बना है। "सृज्यते इति सृष्टिः" अर्थात् जिसका सृजन किया जाता है वह सृष्टि कहलाती है। सृष्टि के शाब्दिक अर्थ के अनुसार छिपे हुए पदार्थ को बाहर निकालना-यह प्रतिपादित होता है। जिस प्रकार पृथ्वी के अन्दर छिपे हुए बीज से धान्य बाहर निकलता है, उसी प्रकार इस विश्व की उत्पत्ति हुई है। सृष्टि का रहस्य अत्यन्त गूढतम है, इसका ठीक ठीक निरूपण करना बड़े-बड़े मनीषियों तथा ऋषि महर्षियों के लिए भी कठिन है।

सृष्टि विषयक वर्णन वेद, पुराण, उपनिषद्, दर्शन शास्त्र, धार्मिक ग्रन्थ एवं भारतीय साहित्य में यत्र तत्र नातिविस्तरेण छुट-पुट रूप में उपलब्ध होता है। कुछ पाश्चात्य विद्वान् एवं आधुनिक विज्ञानवादी विद्वानों ने भी विश्व सृष्टि के विषय में अपने विचार प्रकट करते हुए नवीन तथ्यों के प्रतिपादन का प्रयत्न किया है। किन्तु फिर भी सृष्टि के स्वरूप का निश्चयात्मक वर्णन सुपुष्ट प्रमाणों से युक्त कहीं भी उपलब्ध नहीं होता है। भिन्न-भिन्न वर्ग के आचार्य एवं विद्वान् इस विषय में अपना भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण रखते हैं। तथापि भारतीय दर्शन शास्त्रों में उपलब्ध होने वाले सृष्टि विषयक वर्णन के आधार पर समीक्षा करने के अनन्तर ज्ञात होता है कि सांख्य दर्शन में यह प्रमुखता से प्रतिपादित किया गया है। सांख्य दर्शन ने सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में अभूतपूर्व कल्पना की है और उससे सम्बन्धित तत्वों की विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की है।

सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में भारतीय धार्मिक ग्रन्थों में भी यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है। कुछ धार्मिक ग्रन्थ जिन पर वर्तमान व्यवहारवाद आश्रित है, वे विश्व सृष्टि की उत्पति का प्रमुख कारण परमब्रह्म परमात्मा को मानते हैं। सम्पूर्ण विश्व के अधीश्वर, परिपूर्ण, परमब्रह्म परमात्मा की चेष्टा का विकास ही यह संसार है। इस जगत् की उत्पत्ति स्थिति एवं लय के कारणभूत परमब्रह्म परमात्मा भगवान् नारायण ही हैं, जो अतीन्द्रिय, विभु, सनातन, चराचर जगत् में अव्यक्त रूप से व्याप्त परम सूक्ष्म एवं निर्विकार हैं। जिसे वेद, उपनिषद्, पुराण, स्मृतिग्रन्थ एवं धर्मशास्त्र एक स्वर से अनन्त तथा निर्विकल्पक मानते हैं। "एकोऽहं बहु स्याम्" इस पुष्पिका के

अनुसार वह ब्रह्म एक से बहुत होने की कामना से युक्त हुआ। किन्तु एकाकी रमण करने की अभिलाषा पूर्ण होना सम्भव नहीं है। अतः उसने भी अन्य के सहयोग की अपेक्षा का अनुभव किया। सत् एवं चित् स्वरूप की अभिव्यक्ति तो अकेले ही सम्भव है, किन्तु आनन्द की प्राप्ति के लिये दूसरे का सहयोग होना अनिवार्य है। इसके लिये ब्रह्मा ने सृष्टि की रचना करने का संकल्प किया और इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की रचना की। इस प्रकार परम ब्रह्म परमात्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है। परम ब्रह्म का यही स्वरूप सृष्टि के रूप में विभिन्न प्रकार से अभिव्यक्त हुआ है, जिसका प्रत्यक्ष करने में केवल योगीजन ही समर्थ हुए हैं।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार परमाणुओं के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति होती है। वैशेषिक दर्शन के प्रमुख ग्रन्थ प्रशस्तपादभाष्य में सृष्टि सम्बन्धी जो वर्णन किया गया है उसके अनुसार जब परमात्मा की सृष्टि की रचना करने की इच्छा बलवती होती है तब उसकी इच्छा से परमाणुओं में स्वतः ही क्रियाशीलता उत्पन्न हो जाती, है, जिसके परिणाम स्वरूप दो-दो परमाणुओं में परस्पर संयोग होता है, अर्थात् सजातीय दो परमाणुओं के संयोग से "द्व्यणुक" का निर्माण होता है। परमाणुओं की संख्या असंख्य होने के कारण तथा असंख्य दो-दो परमाणुओं से जन्म होने के कारण "द्व्यणुक" भी असंख्य होते हैं। उन द्व्यणुकों में पुनः क्रिया होने के कारण तीन द्व्यणुकों के संयोग से 'त्र्यणुक' या 'त्रसरेणु' का निर्माण होता है। इसी प्रकार चार-चार त्र्यणुक के संयोग "चतुरणुक" तथा पाँच चतुरणुक के संयोग से 'पंचाणुक' का निर्माण होता है। ये सभी अणुक कार्य द्रव्य होते हैं और द्व्यणुक की अपेक्षा क्रमशः स्थूल से स्थूलतर एवं व्यक्त से व्यक्ततर होते हैं। इस प्रकार पंचाणुकों के द्वारा उत्तरोत्तर स्थूल, स्थूलतर, स्थूलतम आदि तारतम्य से महाकाश, महावायु, महातेज महाजल और महापृथ्वी आदि कार्यद्रव्य उत्पन्न होते हैं। इन कार्य द्रव्यों से जगत् के अन्य सभी द्रव्य निर्मित एवं उत्पन्न होते हैं।

सृष्टि के विषय में एक अन्य विचार सरणि के अनुसार परम ब्रह्म परमात्मा ने सर्व प्रथम जल तत्व को उत्पन्न किया और उस जल में अपनी शक्ति रूप 'बीज' को स्थापित किया। यह बीज सुवर्ण के समान तथा सुवर्ण की कान्ति से युक्त एक अण्डे के रूप में परिणत हो गया। यही अण्डा 'हिरण्यगर्भ' की संज्ञा से युक्त हुआ। इस हिरण्यगर्भ (अण्ड) से चतुर्मुख ब्रह्मा उत्पन्न हुए। तत्पश्चात् उपर्युक्त अण्ड दो भागों में विभक्त हो गया। जिसके ऊर्ध्व खण्ड से 'स्वर्ग' एवं अधः खण्ड से 'पृथ्वी' की रचना हुई। मध्य भाग में समुद्र, आठों दिशाएं तथा आकाश की रचना हुई। इसी प्रकार महत्तत्व, अहंकार, मन एवं सत्व-रज-तमो गुण से युक्त समस्त पदार्थों की

रचना हुई। पुनः शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धादि विषयों को ग्रहण करने वाली पांच ज्ञानेन्द्रियों तथा विभिन्न कर्मों का सम्पादन करने वाली पांच कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति हुई। उन इन्द्रियों एवं महाभूतों के सूक्ष्मरूप तन्मात्राओं से युक्त देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि समस्त जीवों की सृष्टि हुई।

गीता में उपलब्ध होने वाले सृष्टि विषयक विवेचन के अनुसार परमात्मा के स्वेच्छा पूर्वक दो रूप हो गए—(१) वाम भाग और (२) दक्षिण भाग। भगवान् के वाम भाग से स्त्री तथा दक्षिण भाग से पुरुष की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार ये दो धाराएं चलीं और इन्हीं दो धाराओं से जरायुज, अण्डज, स्वेदज तथा उद्भिज् आदि योनियों के द्वारा जीव की अभिव्यक्ति विभिन्न रूपों में हुई। मनुष्य ही इन समस्त योनियों में प्रमुख प्राणी है।

आयुर्वेद में सृष्टि की उत्पत्ति का अनुकरण सांख्य दर्शन के आधार पर किया गया है। यथास्थल आयुर्वेद प्रणेताओं ने मत भिन्नता भी प्रकट की है। सांख्य दर्शन में सृष्टि की उत्पत्ति 'अव्यक्त' तत्व से मानी गई है। इसे 'प्रकृति' भी कहा गया है। यह दृश्यमान संसार सर्व प्रथम प्रकृति में विलीन था अथवा सभी व्यक्त तत्व अव्यक्त में एकीभूत होकर समाविष्ट थे। न तो उसका प्रत्यक्ष ही हो सकता था और न ही किन्हीं लक्षणों से उनका अनुमान किया जा सकता था। प्रकृति प्रेरक परम ब्रह्म ने स्वेच्छा से पंचभूतात्मक शरीर को धारण कर पुनः आकाशादि पंच महाभूतों सहित महदादि चतुर्विंशति तत्वों जो प्रलय काल की अवस्था में अव्यक्त में विलिन हो गए थे को स्थूल रूप में प्रकाशित किया और साथ ही स्वयं भी प्रकाशमान हुए।

आयुर्वेद चूंकि मानव जीवन से सम्बन्धित शास्त्र है, अतः उसमें ऐसे सभी विषयों का प्रतिपादन किया गया है जो जीवन विज्ञान की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। यही कारण है कि गर्भ धारण से भी पूर्व की स्थिति से लेकर मृत्यु पर्यन्त समस्त घटनाक्रम का प्रसंगोपात्त वर्णन या उल्लेख इस शास्त्र में मिलता है। इसके अतिरिक्त यह शास्त्र विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों से अनुप्राणित होने के कारण न केवल मनुष्य की अपितु सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में भी अपने स्वतन्त्र दृष्टिकोण का प्रतिपादन करता है। यही कारण है कि महर्षि सुश्रुत एवं महर्षि चरक ने इस विषय में अपने गम्भीर चिन्तन के आधार पर जो मौलिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है वह महत्वपूर्ण एवं उपयोगी है।

आयुर्वेद में सृष्टि की उत्पत्ति का जो स्वरूप निरूपित किया गया है, वह अपने आप में परिपूर्ण एवं अद्वितीय है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि आयुर्वेद ने सृष्टि के विषय में अधिक गहराई में न जाकर तथा उसकी सूक्ष्मता को ग्रहण न कर उसके सरल, स्थूल एवं बुद्धिगम्य स्वरूप का विवेचन किया है। आयुर्वेद में सृष्टि की उत्पत्ति

का मूल कारण 'अव्यक्त' माना गया है। उस अव्यक्त तत्व से अन्य व्यक्त तत्वों की उत्पत्ति एवं सृष्टि के विकास का विवेचन महर्षि चरक ने अत्यन्त सुन्दर रूप से किया है—

"सर्वभूतानां कारणमकारणं सत्वरजस्तमोलक्षणमष्टरूपमखिलस्य जगतः सम्भवहेतुरव्यक्तं नाम। तदेकं बहूनां क्षेत्रज्ञानामधिष्ठानं समुद्र इवौदकानां भावानाम्।'

—सुश्रुत संहिता, शारीरस्थान १/३

अर्थात् जो समस्त प्राणियों की उत्पत्ति का कारण है, किन्तु स्वयं अकारण है, (किसी अन्य तत्व से उत्पन्न नहीं होने के कारण स्वयं कारण रहित है) सत्व-रज़-तम इन तीन लक्षण वाला है, (महदादि तत्वों से युक्त होने के कारण) अष्टविध रूप वाला है और सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति में कारण है वह 'अव्यक्त' नामक तत्व है। वह एक अव्यक्त अनेक क्षेत्रज्ञों (पुरुष-आत्मा) का अधिष्ठान है। जिस प्रकार एक समुद्र अनेक जलचर प्राणियों का आधार (आश्रय) होता है, उसी प्रकार एक ही अव्यक्त असंख्य क्षेत्रज्ञों का आश्रय होता है।

महान् और अहंकार तत्व की उत्पत्ति

"तस्मादव्यक्तान्महानुत्पद्यते तल्लिंग एव, तल्लिंगाच्च महतस्तल्लिङ्ग एवाहंकार उत्पद्यते। स च त्रिविधो वैकारिकस्तेजसो भूतादिरिति।"

—सुश्रुत संहिता, शारीरस्थान १/४

अर्थात् उन्हीं तीन (सत्व-रज-तम) लक्षणों वाले अव्यक्त से उन्हीं तीन लक्षणों से युक्त महत् तत्व की उत्पत्ति होती है। उस महत् तत्व से उन्हीं तीन लक्षणों वाला अहंकार तत्व उत्पन्न होता है। त्रिविध (सत्व-रज-तम) लक्षणों से युक्त वह अहंकार तीन प्रकार का होता है—वैकारिक, तेजस और भूतादि।

इन्द्रियों की उत्पत्ति

"तत्र वैकारिकादहंकारात्तैजससाहाय्याच्च तल्लक्षणान्येवैकादशेन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते। तद्यथा – श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणवाग्घस्तोपस्थपायुपादमनांसीति। तत्र पूर्वाणि पंच बुद्धीन्द्रियाणि, इतराणि पंच कर्मेन्द्रियाणि, उभयात्मकं मनः।"

—सुश्रुत संहिता, शारीर स्थान १/४

अर्थात् तैजस अहंकार की सहायता से वैकारिक अहंकार से उन्हीं तीन (सत्व-रज-तम) लक्षणों वाली ग्यारह इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं। वे निम्न प्रकार हैं—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु जिह्वा, घ्राण, वाक् (वाणी), हस्त, उपस्थ (शिश्न-मूत्रेन्द्रिय), पायु (गुद-मलेन्द्रिय), पाद और मन। इनमें से पहले वाली पाँच ज्ञानेन्द्रियां, अन्य पाँच कर्मेन्द्रियां और मन उभयात्मक होता है।

पंचतन्मात्राओं एवं महाभूतों की उत्पत्ति

"भूतादेरपि तैजससहाय्यात्तल्लक्षणान्येव पंचतन्मात्राण्युपद्यन्ते । तद्यथा-शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गंधतन्मात्रमिति । तेषां विशेषाः शब्दस्पर्शरूपरसगंधाः । तेभ्यो भूतानि व्योमानिलानलजलोर्व्यः ।

—सुश्रुत संहिता, शारीर स्थान 1/4

अर्थात् तैजस अहंकार की सहायता से भूतादि अहंकार से उन्हीं तीन (सत्व-रज-तम) लक्षणों वाली पंच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं । जैसे-शब्दतन्मात्रा, स्पर्श-तन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा और गन्धतन्मात्रा । इन पन्चतन्मात्राओं के विशेष शब्द, स्पर्श रूप रस और गन्ध होते हैं । इन तन्मात्राओं से पांच महाभूत उत्पन्न होते हैं । जैसे-आकाश, वायु अग्नि, जल और पृथ्वी ।

एवमेषा तत्वचतुर्विंशतिर्व्याख्याता ।

इस प्रकार चौबीस तत्वों का वर्णन किया गया ।

इन चौबीस तत्वों के संयोग से शरीर का निर्माण होता है । इस चतुर्विंशति तत्व समुदायात्मक शरीर को क्षेत्र कहते हैं । आत्मा या पुरुष इस शरीर रूपी क्षेत्र में स्थित रहता है और वह उस क्षेत्र तथा तद्गत समस्त भावों को जानता है इसलिए उसे (आत्मा को) क्षेत्रज्ञ कहते हैं । चतुर्विंशति तत्वों के समुदाय से निर्मित शरीर जड़ एवं अचेतन होता है । उसे चेतना प्रदान करने वाला पच्चीसवां तत्व पुरुष (आत्मा) होता है । यह पुरुष सृष्टि के मूल कारण प्रकृति और महदादि कार्य रूप विकार से संयुक्त होकर चेतना प्रदान करने वाला तथा प्रवर्तकहोता है । यद्यपि प्रधान (अव्यक्त-प्रकृति) अचेतन है और अचेतन द्रव्य प्रवृत्ति नहीं करता है, तथापि जिस प्रकार नव प्रसूता माता के स्तनों में शिशु के पोषण एवं वृद्धि के लिए अचेतन दूध प्रवृत्ति करता है । उसी प्रकार अचेतन प्रधान भी पुरुष के कैवल्यार्थ अर्थात् मोक्षार्थ प्रवृत्ति करता है । महर्षि सुश्रुत ने भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है । यथा—

"तत्र सर्व एवाचेतनवर्गः पुरुषः पंचविंशतितमः कार्यकारणसंयुक्तश्चेतयिता भवति । सत्यप्यचैतन्ये प्राधानस्य पुरुषकैवल्यार्थं प्रवृत्तिमुपदिशन्ति क्षीरादींश्चात्र हेतूनुदाहरन्ति ।"

—सुश्रुत संहिता, शारीरस्थान १/८

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आयुर्वेद ने सांख्य मत के जिस सिद्धांत का अनुसरण किया है उसके अनुसार सृष्टि के आदि मूल तत्व दो हैं—प्रकृति और पुरुष । इन में भी पुरुष अपरिणामी (परिवर्तन शून्य) एवं निर्विकार है । इसके विपरीत प्रकृति परिणामी है और उसमें उत्तरोत्तर परिवर्तन होकर विकार रूप महादादि तत्वों का प्रादुर्भाव होता है । इनमें प्रकृति के नाम से जाना जाने वाला मूल तत्व अव्यक्त और उससे समुत्पन्न शेष महदादि अन्य तत्व व्यक्त होते हैं । पुरुष इन दोनों ही प्रकार के तत्वों से सर्वथा भिन्न निर्विकार रूप होता है । अव्यक्त से व्यक्त तत्वों की उत्पत्ति होने वाली क्रिया में पुरुष का कर्म केवल इतना है कि वह प्रकृति

के साथ विद्यमान रहता है । यद्यपि पुरुष का अपना कोई कार्य नहीं है । अर्थात् उससे कोई तत्व या द्रव्य उत्पन्न नहीं होता है । परन्तु प्रकृति से उत्तरोत्तर जो कार्य द्रव्य उत्पन्न होते हैं उसमें उसका सान्निध्य रहता है । पुरुष के सान्निध्य से ही प्रकृति अन्य तत्वों के उत्पादन में समर्थ होती है । इसीलिए प्रकृति को प्रसवधर्मी और पुरुष को अप्रसवधर्मी कहा गया है ।

यद्यपि प्रकृति और पुरुष में अनेक विषमताएं हैं । जैसे प्रकृति त्रिगुणात्मिका अर्थात् सत्व-रज-तम से युक्त, जड़, विषय रूपा और अचेतन होती है जबकि पुरुष इससे विपरीत त्रिगुणातीत, विवेकी, विषयी और चेतन होता है । इस प्रकार दोनों विधर्मी हैं और परस्पर अलग रह कर कुछ नहीं कर सकते हैं । एक दूसरे के संसर्ग में आने पर ही दोनों की सृष्टि की रचना में प्रवृत्ति होती है । परिणामतः सृष्टि की रचना होती है । यहां एक शंका यह उत्पन्न होती है कि जब प्रकृति और पुरुष दोनों ही स्वभावतः एक दूसरे से विपरीत या विरोधी एवं भिन्न हैं तो इनका पारस्परिक मिलन क्यों और कैसे होता है तथा ये किस प्रकार सृष्टि की रचना में प्रवृत्ति करते हैं । इसका समाधान सांख्य कारिका में निम्न प्रकार से किया गया है—

"पंग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ।" —सांख्य कारिका २१

इसके अनुसार पंग्वन्ध न्याय से दोनों (प्रकृति और पुरुष) का संयोग होकर सर्ग (सृष्टि) की उत्पत्ति या रचना होती है । सांख्योक्त पंग्वन्ध (पंगु-लंगड़ा और अंधा) न्याय निम्न प्रकार है—

किसी जंगल में एक अंधा और एक लंगड़ा रहता था । एक दिन अचानक जब उस जंगल में आग लगी तो दोनों घबड़ाए । क्योंकि अंधा देख नहीं सकता था कि वह किधर जाय और लंगड़ा भाग नहीं सकता था । अकस्मात् दोनों का मिलन हुआ । लंगड़े को अंधे ने अपने कंधों पर बैठाया और लंगड़ा अंधे को रास्ता बतलाता गया । इस प्रकार दोनों उस जंगल से बाहर निकल आए और विपत्ति से बच गए । इसी प्रकार प्रकृति और पुरुष का परस्पर संयोग सृष्टि की उत्पत्ति करता है ।

तत्व निरूपण

तत्व शब्द का सामान्य अर्थ होता है वह मूल द्रव्य जिसके द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति हुई अथवा सृष्टि की उत्पत्ति एवं विनाश के साथ जिसका घनिष्ठ सम्बन्ध है । व्याकरण के अनुसार तत्व शब्द की निष्पत्ति **'तनु विस्तारे'** धातु से हुई है । अतः तत्व के शाब्दिक अर्थ के अनुसार सम्पूर्ण संसार जिसके विस्तार से आच्छादित है अथवा सम्पूर्ण चराचर जगत् में जो व्याप्त होकर स्थित है वह तत्व कहलाता है ।

तत्व के विषय में विभिन्न दर्शनों ने अपने अपने सिद्धान्तानुसार भिन्न भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत कर भिन्न-भिन्न प्रकार से विवेचन किया है । इस विषय में दर्शन शास्त्र एक मत स्थापित नहीं कर पाए हैं । सांख्य दर्शन में तत्वों का विवेचन सुव्यव-

स्थित रूप से उपलब्ध होता है। उसके मतानुसार मूल प्रकृति **'अव्यक्त'** ही वह सर्व प्रथम तत्व है जिससे अन्य व्यक्त तत्वों एवं सृष्टि की उत्पत्ति होती है। इस सन्दर्भ में सांख्य दर्शन पच्चीस तत्वों का अनुमोदन करता है। वैशेषिक दर्शन में भी किंचित् परिवर्तन के साथ उन्हीं तत्वों को स्वीकार किया गया है। किन्तु वह तत्वों की कुल संख्या चौबीस मानता है। वेदान्त दर्शन तथा उपनिषद् कालीन दार्शनिक विद्वान् एकमात्र परम तत्व 'ब्रह्म' को ही स्वीकार करते हैं। वे ब्रह्म को [illegible] मानते हैं। ब्रह्म के अतिरिक्त समस्त जगत् मिथ्या है—"**ब्रह्म सत्यं जगन्मि[illegible]**" मीमांसा दर्शन के सूत्रकार जैमिनी का मत इस से ठीक विपरीत है। उनके मतानुसार सम्पूर्ण बाह्य जगत् सत्य है। अर्थात् जैसा वह दृष्टिगत होता है वह वैसा ही और यथार्थ रूप है। जैमिनी के मतानुसार आत्मा अनेक हैं और स्वर्ग का अस्तित्व विद्यमान है। किन्तु स्वर्ग में प्राप्त होने वाला सुख-ऐश्वर्य एवं भोगोपभोग संसार के भोगों की भाँति ही भौतिक है। वे वेदों का प्रामाण्य भी स्वीकार करते हैं। चार्वाक दर्शन में प्रत्यक्ष प्रमाण पर आधारित तत्वों की व्यवस्था अन्य दर्शनों से सर्वथा भिन्न है। वह पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार को ही जगत् के लिए उपयोगी मानता है। गीता में संसार के लिए मुख्य रूप से तीन तत्वों का ही वर्णन किया गया है। यथा-प्रकृति, पुरुष और अमृत तत्व। ये तीन तत्व ही संसार के उत्पादक एवं नियामक हैं। जैन दर्शन में जो तत्व व्यवस्था स्वीकृत की गई है वह मुख्यत: आत्मोत्कर्ष परक है। अत: आत्मा की शुद्धि एवं तदनन्तर उसकी मुक्ति के लिए ही तत्वों का विशेष महत्व है। जैन दर्शन में स्वीकृत तत्व व्यवस्था जैन दर्शन की दृष्टि से सृष्टि की उत्पत्ति में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सहायक नहीं है। उसके मतानुसार सृष्टि तो अनादि काल से इसी प्रकार चली आ रही है और अनन्त काल तक इसी प्रकार चलती रहेगी। उसका कर्त्ता या नियन्ता कोई नहीं है। जैन तत्व मीमांसा के अन्तर्गत स्वीकृत तत्वों की संख्या क्रमश: दो, पांच, सात और नौ है। दो तत्व यथा—जीव और अजीव। पांच तत्व यथा—धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल। सात तत्व यथा—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। इन सात तत्वों में पुण्य और पाप इन दो तत्वों को मिला लेने से तत्व संख्या नौ हो जाती है। तत्वों के इस संख्या विभाजन में भी सात तत्व विशेष महत्वपूर्ण हैं और इन्हीं सात तत्वों पर जैन दर्शन में विशेष जोर दिया गया है। इन तत्वों का सम्यक् श्रद्धान एवं सम्यक् ज्ञान ही मोक्ष प्राप्ति में सहायक होता है।

आयुर्वेद में जो तत्व व्यवस्था स्वीकार की गई है वह बहुत कुछ सांख्य दर्शन से समानता रखती है। कहीं कहीं उसी के अन्तर्गत वैशेषिक दर्शन के मत को भी ग्रहण कर लिया गया है। आयुर्वेद सम्मत तत्व मीमांसा प्रत्यक्षत: आयुर्वेद के मूल प्रयोजन '**स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम् आतुरस्य च विकारप्रशमनम्**" पर आधारित एवं

अनुप्राणित है और इसी उद्देश्य की पूर्ति में सहायक होती है। साँख्य दर्शन के अनुसार सृष्टि के उत्पत्तिक्रम में भाग लेने वाले पच्चीस तत्व होते हैं। इन पच्चीस तत्वों का सम्यक् ज्ञान जिसे हो जाता है वह किसी भी आश्रम का पुरुष हो, चाहे वह ब्रह्मचारी हो, चाहे सन्यासी हो, चाहे गृहस्थी हो वह (तीन प्रकार के) दुखों से अवश्य ही मुक्त हो जाता है—इसमें कोई संशय नहीं है। आचार्यों ने इसी तथ्य का प्रतिपादन निम्न श्लोक में किया है—

पंचविंशतितत्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे वसेत्।
जटी मुण्डी शिखी वाऽपि मुच्यते नाऽत्र संशयः॥

—स० शि० सं० ६/११

तत्वों का वर्गीकरण

सांख्य दर्शन में प्रतिपादित पच्चीस तत्वों को ज्ञान की सुविधा के लिए निम्न चार वर्गों में विभाजित किया गया है—

१. **प्रकृति या मूल प्रकृति**—वह तत्व जो दूसरे तत्व को उत्पन्न करने में कारण होता है, किन्तु स्वयं किसी से उत्पन्न नहीं होता। अर्थात् उसको उत्पन्न करने वाला कोई कारण नहीं होता 'प्रकृति' कहलाता है। स्वयं कारण रहित होने से उसे मूल प्रकृति' अथवा विकार रहित होने से 'अविकृति' भी कहते हैं। संख्या की दृष्टि से यह तत्व केवल एक होता है। आदि मूल तत्व अव्यक्त को ही प्रकृति या मूल कहते हैं।

२. **प्रकृति-विकृति**—जो तत्व अन्य तत्वों को उत्पन्न करता है वह प्रकृति और जो स्वयं दूसरे तत्वों से उत्पन्न होता है वह विकृति कहलाता है। अत: अन्य तत्वों को उत्पन्न करने के कारण तथा स्वयं किसी अन्य तत्व से उत्पन्न होने के कारण उसे 'प्रकृति-विकृति' कहते हैं। तत्व मीमांसा में इनकी संख्या सात है। महान्, अहंकार और पांच तन्मात्राएं—ये सात तत्व प्रकृति-विकृति कहलाते हैं।

३. **विकृति या विकार**—जो स्वयं दूसरे तत्वों से उत्पन्न होता है, किन्तु स्वयं किसी अन्य तत्व को उत्पन्न करने में असमर्थ रहता है 'विकृति' या 'विकार' कहलाता है। तत्व व्यवस्था में इनकी संख्या सोलह मानी गई है। ग्यारह इन्द्रियां और पांच महाभूत ये सोलह तत्व कार्यमात्र होने से विकार कहलाते हैं। इनसे कोई अन्य तत्व उत्पन्न नहीं होता है।

४. **न प्रकृति न विकृति**—जो न तो किसी तत्व को उत्पन्न करता है और न ही किसी अन्य तत्व से उत्पन्न होता है। किसी अन्य तत्व को उत्पन्न नहीं करने से 'न प्रकृति' और स्वयं अनुत्पन्न होने से 'न विकृति' अर्थात् न कारण और न कार्य होने से उसे 'न प्रकृति न 'विकृति' कहते हैं। यह तत्व केवल एक मात्र 'पुरुष' होता है।

साँख्य कारिका में उपर्युक्त तथ्य का प्रतिपादन निम्न प्रकार से किया गया है—

मूलप्रकृतिरविकृति/महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥

अर्थात् मूल प्रकृति (अव्यक्त) अविकृति, महदादि सात तत्व प्रकृति-विकृति, इन्द्रियादि सोलह विकार और पुरुष न प्रकृति न विकृति होता है।

प्रकृति या अव्यक्त

जो अन्य तत्वों को उत्पन्न करती है वह प्रकृति कहलाती है। यथा—"**तत्वान्तरोत्पादनत्वे प्रकृतित्वम्।**"

प्रकृति में अन्य तत्वों के उत्पादन की क्षमता रहती है। इसलिए वह कारण है। अन्य समस्त तत्व उसके कार्य हैं। समस्त तत्व उसी से उत्पन्न होने के कारण वह 'मूल प्रकृति' भी कहलाती है। वह स्वयं किसी का कार्य या विकार नहीं होने से 'अविकृति' वाचक भी होती हैं। प्रकृति शब्द की परिभाषा भी इसी अर्थ को ध्वनित करती है। यथा—"**प्रकरोतीति प्रकृतिः।**"

प्रकृति का कोई स्वरुप विद्यमान नहीं होने से अथवा उसकी कोई अवस्था नहीं होने से या वह स्वयं व्यक्त नहीं होने से उसे 'अव्यक्त' संज्ञा से भी व्यवहृत किया जाता है। प्रकृति यद्यपि संसार के समस्त पदार्थों या कार्यद्रव्यों का कारण होती है, किन्तु वह कारण होते हुए भी व्यक्त नहीं होती। इसीलिए उसे 'अव्यक्त' संज्ञा से व्यवहृत किया गया है। व्यक्त से भिन्न और विपरीत धर्मावलम्बी अव्यक्त होता है। महदादि व्यक्त तत्वों में सामान्यत: जो धर्म होते हैं वे अव्यक्त में कदापि नहीं होते-हैं। व्यक्त सदैव उत्पत्ति और विनाशशील होता है। वह अव्यापक, सक्रिय, अनेक, स्वकारणाश्रित, प्रधान का ज्ञापक, सावयव और परतन्त्र होता है। इसके विपरीत अव्यक्त सर्वथा अहेतुमत्, नित्य, व्यापक, निष्क्रिय, एक, अनाश्रित, अलिंग, अनवयव (अवयव रहित) और स्वतन्त्र होता है। अव्यक्त (प्रकृति) त्रिगुणात्मक होता है। अर्थात् अव्यक्त में सत्व, रज और तम तीन गुण विद्यमान रहते हैं। क्योंकि सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार जो गुण कारण में नहीं होते वे कार्य में भी स्वतन्त्र रुप से नहीं आ सकते। अन्तर केवल इतना होता है कि सृष्ट पदार्थों में वे गुण विषमावस्था एवं कार्यकर स्थिति में होते हैं, किन्तु अव्यक्त (प्रकृति) में वे गुण साम्यावस्था एवं अकार्यकारी स्थिति में होते हैं। इसलिए प्रकृति का निम्न लक्षण सांख्यसूत्र में प्रतिपादित किया गया है—'**सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृति**' अर्थात् सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति कहलाती है।

महत्तत्व

सृष्टि के उत्पत्ति क्रम में अव्यक्त से उत्पन्न होने वाला प्रथम व्यक्त तत्व

'महत्' होता है। इसे महान् तत्व या बुद्धि तत्व भी कहते हैं। आयुर्वेद तथा दर्शन शास्त्रों में बुद्धि तत्व का प्रचलित प्रसिद्ध सामान्य अर्थ 'ज्ञान' होता है। किन्तु प्रस्तुत प्रकरण में बुद्धि तत्व विशिष्टार्थवाची के रूप में प्रयुक्त हुआ है। कुछ आचार्यों के मतानुसार ज्ञान के बिना शब्द प्रयोग नहीं हो सकता। अतः सर्वव्यवहार शब्द प्रयोग का हेतु ज्ञान है। वह ज्ञान ही बुद्धि पदवाची है। यथा—'**व्यवहारमात्रहेतुर्ज्ञानं बुद्धिः प्रकीर्तिता**—" अर्थात् प्रत्येक व्यवहार के कारण भूत ज्ञान को बुद्धि कहते हैं। दीपिकाकार के मतानुसार अनुव्यवसायगम्य ज्ञान ही बुद्धि है। विषय का ज्ञान व्यवसाय है और व्यवसाय का ज्ञान अनुव्यवसाय है। जैसे यह घट है इस प्रकार के घट का चाक्षुष प्रत्यक्ष व्यवसाय कहलाता है और उसके अनन्तर मुझे घट का प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा है—ऐसा जो ज्ञान होता है उसको अनुव्यवसाय कहते हैं। इस अनुव्यवसाय से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे बुद्धि कहते हैं। शिवादित्य के कथनानुसार आत्मा का आश्रय करके रहा हुआ जो प्रकाश है उसका नाम बुद्धि है। साँख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति के प्रथम परिणाम महत्तत्व रूप अन्तःकरण विशेष को बुद्धि कहते हैं और निर्मल बुद्धि के विशेष परिणाम को ज्ञान कहते हैं। अर्थात बाह्य ज्ञानेन्द्रिय के द्वारा विषय देश में पहुंचकर घट, षट आदि विषय रूप में परिणत हुई बुद्धि को ज्ञान कहते हैं। स्वच्छ बुद्धि में स्थित ज्ञान से चैतन्य रूप पुरुष के भेद का ज्ञान नहीं होने से 'मैं जानता हूँ" इस प्रकार का जो अभिमान होता है उसे 'उपलब्धि' कहते हैं। किन्तु न्याय एवं वेशेषिक दर्शन में बुद्धि, उपलब्धि और ज्ञान को पर्याय रूप माना गया है। यथा-**बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्**' (न्याय सूत्र १।१।१५) यथा—"**बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानं प्रत्यय इति पर्यायाः**' (वै० सू० ८/१२०)। आयुर्वेद शास्त्र में अध्यवसायात्मिका, व्यवसायात्मिका एवं निश्चयात्मिका तत्व को बुद्धि कहा गया है तथा उसकी गणना अन्तःकरण में की गई है। अर्थात् पुरुष (आत्मा) का ज्ञान, कर्म तथा उसके फल रूप भोग (सांसारिक दुःख-सुख) और अपवर्ग (मोक्ष) जिन साधनों की सहायता से होते हैं उन्हें करण कहा जाता है। ये करण दो प्रकार के होते है—बाह्य करण और अन्तःकरण। पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां बाह्य करण कहलाते हैं। मन, बुद्धि और अहंकार ये तीन अन्तःकरण कहलाते हैं। इनमें बुद्धि का कर्म अध्यवसाय अथवा निश्चय करना है। अर्थात् मन के द्वारा विषय का ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् पुरुष जो निश्चय करता है कि यह करना चाहिए अथवा नहीं? वहां जाना चाहिए या नहीं? यह कहना चाहिए या नहीं? इत्यादि हिताहित विषय का विवेक होना ही बुद्धि है। बुद्धि के द्वारा ही मनुष्य हित का का अनुसरण और अहित का परित्याग करता है।

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि सांख्य दर्शन के मतानुसार बुद्धि तत्व प्रकृति का ही परिणाम है और यह दार्शनिक परिभाषा के अनुसार 'महत्तत्व' के नाम से व्यवहृत

होता है। प्रकृति जब पुरुष से संयुक्त होती है तो अपनी अव्यक्तावस्था एवं त्रिगुण साम्यावस्था का परित्याग कर व्यक्त एवं त्रिगुण वैषम्ययुक्त अनेक तत्वों को उत्पन्न करती है। उन व्यक्त तत्वों में प्रथम तत्व होता है—महत् या महान्। यही महत्तत्व बुद्धि तत्व भी कहलाता है। जैसा कि कहा गया है—

यदेतद् विसृतं बीजं प्रधानपुरुषात्मकम्।
महत्तत्वमिति प्रोक्तं बुद्धितत्वमिहोच्यते॥

आयुर्वेद में बुद्धि और बुद्धि के कार्य के विषय में निम्न विवरण उपलब्ध होता है—

इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि समनस्केन गृह्यते।
कल्प्यते मनसा तूर्ध्वं गुणतो दोषतोऽपि वा॥
जायते विषये तत्र या बुद्धिर्निश्चयात्मिका।
व्यवस्यति तया वक्तुं कर्तुं वा बुद्धिपूर्वकम्॥

—चरक संहिता, शारीर स्थान १/२२-२३

अर्थ—मन सहित ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा अपने-अपने विषय का ग्रहण होने के पश्चात् मन और बुद्धि का व्यापार होता है। इन्द्रियार्थ (विषय) का ग्रहण होने के अनन्तर मन के द्वारा संकल्प किया जाता है कि गृहीत विषय गुण युक्त होने से ग्राह्य है अथवा दोष युक्त होने से त्याज्य है। तत्पश्चात् उस विषय के सम्बन्ध में स्थिर निश्चय होता है-वही निश्चयात्मिका बुद्धि होती है। इसे ही अध्यवसाय भी कहते हैं।

अहंकार

प्रकृति (अव्यक्त) से उत्पन्न होने वाले व्यक्त तत्वों की परम्परा में दूसरा व्यक्त तत्व अहंकार है जो उपर्युक्त महत्तत्व से उत्पन्न होता है। महत्तत्व की भांति यह भी त्रिगुणात्मक (सत्व, रज और तम से युक्त) होता है। अहंकार में तीनों गुणों की विषम रूपा स्थिति रहती है। तीनों गुणों की वैषम्यावस्था के कारण ही अहंकार तत्व मनुष्यों में ममत्व भावना का उत्पादक होता है। सामान्यतः 'अहं' भावना को ही अहंकार कहते हैं। मनुष्यों में सामान्यतः अभिमान (स्वाभिमान) या स्वयं को दूसरों से पृथक् रखने की जो प्रवृत्ति पाई जाती है वह अहंकार जनित ही होती है। सांख्यकारिका में अहंकार का अभिप्राय अभिमान ही ग्रहण किया गया है। यथा- "अभिमानोऽहंकारः।"

संसार के विभिन्न पदार्थों में मनुष्य का जो यह भाव उत्पन्न होता है कि मैं हूँ, यह मेरा है, मैं इसका अधिकारी हूँ, मैं इससे पृथक् हूँ अथवा वह मुझ से भिन्न है इत्यादि भाव या वाक्य अहं भाव के द्योतक हैं और ये सब अहंकार से प्रेरित हैं। स्वाभिमानी व्यक्ति सदैव अपने अभिमान की रक्षा करता है और कभी भी वह परतन्त्रता स्वीकार नहीं करता। स्वतन्त्र प्रवृत्ति एवं स्वेच्छाचारी वृत्ति ही उसके स्वभाव का गुण होता है। यह अहंकार का ही परिणाम है।

आयुर्वेद सम्मत सृष्टिक्रम

आयुर्वेद के मतानुसार सृष्टि के उत्पत्ति क्रम में निम्न प्रकार से चतुर्विंशति तत्वों का संयोग होता है। यथा—

खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहंकारस्तथाष्टमः।
भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा विकाराश्चैव षोडशः॥
बुद्धीन्द्रियाणि पंचैव पंच कर्मेन्द्रियाणि च।
समनस्काश्च पञ्चार्था विकारा इति संज्ञिताः॥

—चरक संहिता, शारीरस्थान १।६३-६४

अर्थ—ख आदि अर्थात् आकाश, वायु, तेज, जल, और पृथिवी इन पांच महाभूतों के सूक्ष्म अंश (पांच तन्मात्राएं) बुद्धि (महान् या महत्तत्व), अव्यक्त (मूल प्रकृति) और अहंकार ये आठ तत्व भूत प्रकृति कहलाते हैं। विकार सोलह होते हैं—पांच ज्ञानेन्द्रियां (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण), पांच कर्मेन्द्रियां (हस्त, पाद, उपस्थ, गुद, वाक्), और मन सहित पांच अर्थ (इन्द्रियों के विषय-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) ये विकार कहलाते हैं।

जायते बुद्धिरव्यक्ताद् बुद्ध्याहमिति मन्यते।
परं खादीन्यहंकारादुत्पद्यन्ते यथाक्रमम्॥
ततःसम्पूर्ण सर्वाङ्गो जातोऽभ्युदितङ्ग उच्यते।

—चरक संहिता, शारीरस्थान १।६६-६७

अर्थात्—अव्यक्त से बुद्धि तत्व की उत्पत्ति होती है। (जिसे सुश्रुत ने महान् या महत्तत्व की संज्ञा दी है) बुद्धि तत्व से अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकार से सूक्ष्म महाभूत क्रम से उत्पन्न होते हैं। तब सम्पूर्ण अंगों की उत्पत्ति होने पर 'जातः' अर्थात् उत्पन्न हो गया—ऐसा कहा जाता है।

आयुर्वेद में पंच महाभूत से ही इन्द्रियों और तन्मात्राओं की उत्पत्ति मानी गई है। जबकि सांख्य दर्शन आदि में अहंकार से इन्द्रियों और तन्मात्राओं की तथा तन्मात्राओं से पञ्च महाभूत की उत्पत्ति मानी गई है। आयुर्वेद में पञ्च महाभूतों से इन्द्रियों की उत्पत्ति होने से इन्द्रियां भौतिक मानी गई हैं, न कि अहंकारिक। अतः आयुर्वेद सम्मत सृष्टि के उत्पत्ति क्रम में अव्यक्त से महान्-महान् से अहंकार, अहंकार से पञ्च महाभूत, पञ्च महाभूतों से ग्यारह इन्द्रियां और सूक्ष्म तन्मात्राएं उत्पन्न होती हैं।

चरकानुमत चतुर्विंशति तत्व

सृष्टि के उत्पत्तिक्रम में महर्षि चरक ने चौबीस तत्वों का ही परिगणन किया है। उन्होंने प्रकृति और पुरुष को पृथक् पृथक् न मान कर दोनों को संयुक्त रूपेण 'अव्यक्त' पद से ग्रहण किया है। वे चतुर्विंशति तत्वों की गणना निम्न प्रकार से करते हैं—

पुनश्च धातुभेदेन चतुर्विंशतिकः स्मृतः ।
मनो दशेन्द्रियाण्यर्थाः प्रकृतिश्चाष्टधातुकी ॥

—चरक संहिता, शारीरस्थान १।१७

अर्थ—धातु भेद से अर्थात् प्रकृति विकृति भेद से यह (चिकित्साधिकृत पुरुष या कर्म पुरुष) पुरुष चौबीस तत्वों का समुदाय रूप है। आयुर्वेद में चौबीस तत्वों की राशि से उत्पन्न पुरुष को "राशि पुरुष" भी कहा गया है। चौबीस तत्व निम्न हैं—मन, दश इद्रियां और पांच अर्थ ये सोलह विकार और धातुरुपा प्रकृति अर्थात् अव्यक्त, महान्, अहंकार और पच महाभूत ये आठ प्रकृतियाँ और उपयु क्त सोलह विकार मिल कर चौबीस तत्व होते हैं जो धातु पुरुष या राशि पुरुष को उत्पन्न करते हैं। यहाँ पंच महाभूतों का प्रकृति वर्ग में कथन होने से सूक्ष्म महाभूत अर्थात् पंच तन्मात्राओं का ग्रहण करना चाहिए। यहां अव्यक्त पद से प्रकृति और पुरुष का संयुक्त रूप ग्रहण करना चाहिए, तब ही पुरुष का चतुर्विंशतिकत्व सिद्ध होता है। यदि अव्यक्त का अर्थ केवल प्रकृति ही ग्रहण किया जाय तो पुरुष में पंच विंशतिकत्व आ जायगा जो आयुर्वेद शास्त्र में ग्राह्य नहीं है। अतः आयुर्वेद सम्मत तत्त्व विनिश्चय सांख्य मत से सर्वथा भिन्न है। अव्यक्त पद यहां के लिए आया है। सामान्यतः पद यहां के लिए आया है। सामान्यतः अव्यक्त पद मूल प्रकृति के लिए ही ग्राह्य है। इस के साथ विकार का भी ग्रहण किया गया है। अतः यहां पुरुषोपहित प्रकृति समझना चाहिए। क्योंकि पुरुषाधिष्ठित प्रकृति से ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है।

जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है कि सांख्य दर्शन में मुख्य रूप से पच्चीस तत्वों का ग्रहण किया गया है। इनमें प्रकृति आदि चौबीस तत्व अचेतन एवं पच्चीसवां तत्व 'पुरुष' को चेतन निरूपित किया गया है। इनमें यह पुरुष ही भोक्ता है और प्रकृति भोग्य। यदि पुरुष का ग्रहण न किया जाय तो चेतना शून्य शरीर में रोग—आरोग्य की प्रवृत्ति सम्भव नहीं है। आयुर्वेद शास्त्र का मुख्य उद्देश्य "स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम्" और "आतुरस्य विकारप्रशनम्" है। यह कार्य तब ही सम्पन्न हो सकता है जब रोगारोग्य का कोई भोक्ता हो। अतः पुरुष का ग्रहण करना अनिवार्य है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए महर्षि चरक द्वारा आयुर्वेद में प्रतिपादित चिकित्साधिकृत चतुर्विंशतिक पुरुष समीचीन एवं युक्तियुक्त है। इस तत्व समुच्चय में अव्यक्त तत्व पुरुष संयुक्त प्रकृति का द्योतक है।

व्यक्त और अव्यक्त में अन्तर एवं साम्य

सृष्टि के उत्पत्ति क्रमान्तर्गत उपर्युक्त तत्व विवेचन में मुख्य रूप से दो प्रकार के तत्वों का वर्णन दृष्टिगत हुआ। प्रथम अव्यक्त तत्व और दूसरे उससे उत्पन्न होने वाले व्यक्त तत्व। दोनों ही प्रकार के तत्वों में पाए जाने वाले कुछ धर्मों में तो असमानाता होती है और कुछ धर्मों में समानता होती हैं। इसी का दिग्दर्शन सांख्यकारिका की निम्न कारिकाओं में किया गया है—

हेतुमदनित्यमव्यापी सक्रियमनेकाश्रितं लिंगम् ।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥
त्रिगुणमविवेकी विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि ।
व्यक्तं तथा प्रधानम्··········· ········ ॥

अर्थ—हेतु वाला (उत्पद्यमान), अनित्य (विनाश शील), अव्यापी (अव्यापक), सक्रिय, अनेकों में आश्रित (अनेक स्वकारणाधीन), लिंग वाला (प्रधान का ज्ञापक) सावयव (अवयवयुक्त) और परतन्त्र (स्वकारणाधीन) तत्व को "व्यक्त" कहते हैं। इन धर्मों से विपरीत धर्मों वाला तत्व 'अव्यक्त' कहलाता है। अर्थात् अव्यक्त में व्यक्त तत्व के विपरीत निम्न धर्म होते हैं—अहेतुमत्, नित्य, व्यापक, निष्क्रिय, एक, अनाश्रित. अलिंग, निरवयव और स्वतन्त्र।

दोनों तत्वों (व्यक्त और अव्यक्त) के धर्मों में निम्न साम्य परिलक्षित होता है—दोनों ही तत्व त्रिगुणात्मक (सत्व-रज-तमो गुण वाले) होते हैं, दोनों ही तत्व अविवेकी, विषय सामान्य, अचेतन और प्रसवधर्मी होते हैं।

प्रकृति-पुरुष का साधर्म्य

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सृष्टि के उत्पत्ति क्रम में भाग लेने वाले मुख्य रूप से दो तत्व हैं—प्रकृति और पुरुष। दोनों ही तत्वों के धर्मों में कुछ समानता होती है और कुछ असमानता। प्रकृति-पुरुष के जिन धर्मों में समानता होती है वह उनका साधर्म्य होता है और जिन धर्मों में असमानता होती है वह उनका वैधर्म्य होता है। प्रकृति और पुरुष का साधर्म्य या समान धर्मत्व निम्न है—

"उभावप्यनादी उभावप्यलिंगौ उभावपि नित्यौ उभावप्यपरौ उभौ च सर्वगताविति।"

—सुश्रुत संहिता, शारीर स्थान, १/९

अर्थात् प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि (आदि रहित) और अनन्त (अन्त रहित) हैं, दोनों अलिङ्ग (लिङ्ग रहित) और नित्य (अविनाशी) होते हैं, दोनों ही अपर (इन दोनों के परे कोई पदार्थ नहीं) है और दोनों ही सर्वगत (सर्वव्यापी या विभु) हैं।

प्रकृति पुरुष का वैधर्म्य

प्रकृति और पुरुष में अनेक धर्म ऐसे होते हैं जिनमें समानता नहीं है। धर्मों की यह असमानता ही वैधर्म्य कहलाता है। इसे तत्वों की विधर्मता भी कह सकते हैं। प्रकृति पुरुष का वैधर्म्य निम्न है—

"एका तु प्रकृतिरचेतना त्रिगुणा बीजधर्मिणी प्रसवधर्मिण्यमध्यस्थधर्मिणी चेति। बहवस्तु पुरुषाश्चेतनावन्तोऽगुणा अबीजधर्माणोऽप्रसवधर्माणो मध्यस्थधर्माणश्चेति।"

—सुश्रुत संहिता, शारीरस्थान, १/९

अर्थात् प्रकृति एक और अचेतन है। वह त्रिगुणा (सत्व, रज, तम गुण वाली) बीज धर्मिणी (महदादि तत्वों को बीज रूप में धारण करने वाली) और प्रसवधर्मिणी (महदादि विकारों को उत्पन्न करने वाली) है। वह अमध्यस्थ धर्मिणी (सत्वादि गुणों के प्रभाव में आने वाली) है। इनके विपरीत पुरुष (आत्मा) अनेक, चेतन, सत्वादि गुणों से रहित, अबीजधर्मी और मध्यस्थ धर्मी है।

प्रकृति-पुरुष का साधर्म्य और वैधर्म्य निम्न वर्गीकरण के द्वारा सुगमता पूर्वक समझा जा सकता है—

साधर्म्य		वैधर्म्य	
प्रकृति	पुरुष	प्रकृति	पुरुष
अनादि	अनादि	एका	अनेक
अनन्त	अनन्त	अचेतना	चेतन
अलिंग	अलिंग	त्रिगुणा	अगुण (गुण रहित)
नित्य	नित्य	बीजधर्मिणी	अबीजधर्मी
अपर	अपर	प्रसवधर्मिणी	अप्रसवधर्मी
सर्वगत	सर्वगत	अमध्यस्थधर्मिणी	मध्यस्थधर्मी

प्रकृति-पुरुष के संयोग का कारण

सम्पूर्ण सृष्टि एक कार्य है। जहां कार्य होता है उसके मूल में कारण अवश्य होता है। सृष्टि रूप कार्य का मूल कारण है प्रकृति और पुरुष का संयोग। जब तक प्रकृति और पुरुष का संयोग नहीं होता है तब तक सृष्टि की उत्पत्ति होना सम्भव नहीं है। न तो केवल प्रकृति ही इस सृष्टि रूप कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ है और न केवल पुरुष के द्वारा ही यह कार्य होना सम्भव है। प्रकृति यद्यपि सक्रिय (क्रियावती) है, किन्तु अचेतना होने के कारण वह स्वयं इस कार्य में प्रवृत्त नहीं हो पाती है। इसी प्रकार पुरुष यद्यपि सचेतन है, किन्तु निष्क्रिय होने से उसकी भी इस कार्य में स्वतन्त्र रूपेण प्रवृत्ति होना सम्भव नहीं है। इसलिए चेतनावान् पुरुष से संयुक्त होकर ही प्रकृति अपनी क्रियाशीलता के कारण सृष्टि रूप कार्य को उत्पन्न करने में प्रवृत्त होती है, तब उससे महदादि तत्व प्रादुर्भूत होते हैं। प्रकृति स्वयं अचेतनावती या जड़ात्मिका होने से सृष्टि रूप कार्य की उत्पत्ति में कैसे प्रवृत्त होती है? इसको निम्न दृष्टान्तों के द्वारा समझा जा सकता है—

(१) दूध स्वयं जड़ एवं अचेतन है, किन्तु माता के गर्भ में जब सन्तान आती है तब से ही माता के स्तनों में दूध का संचय होने लगता है और सन्तानोत्पत्ति होने पर उसके पोषण एवं वृद्धि के लिए स्वतः ही माता के स्तनों से दूध की प्रवृत्ति होने लगती है। इसी प्रकार जड़ प्रकृति भी पुरुष से संयुक्त होकर रचना कार्य प्रारम्भ करती है।

(२) जिस प्रकार संसार को निरन्तर गतिशील बनाये रखने के लिए कालचक्र सतत रूपेण चलायमान रहता है अर्थात् वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर, बसन्त और ग्रीष्म इन ऋतुओं की प्रवृत्ति संसार के नियमित सन्तुलन के लिए स्वतः होती है, उसी प्रकार पुरुष को संसार के बन्धनों से छुटकारा दिलाने के लिए प्रकृति की स्वतः प्रवृत्ति होती है और उसके द्वारा सृष्टि चक्र अविकल रूप से चलता रहता है। इस प्रकार प्रकृति सृष्टि-रचना में स्वतः प्रवृत्त होती है।

(३) जिस प्रकार अभीष्ट सिद्धि के लिए मनुष्य विभिन्न कार्यों में स्वतः प्रवृत्ति करता है। प्रत्येक सम्भव उपाय के द्वारा अभीष्ट अर्थ प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है उसी प्रकार पुरुष के अभीष्ट साधन अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रकृति अनेक प्रकार की सृष्टि रचना में स्वतः प्रवृत्त होती है और शरीर के माध्यम से उसे मोक्ष प्राप्त कराने का प्रयत्न करती है।

(४) जिस प्रकार नर्तकी दर्शकों के लिए नृत्य गीत आदि में प्रवृत्त होती है और अपने विभिन्न प्रकार के हाव भाव के प्रदर्शन द्वारा दर्शक को अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करती है उसी प्रकार पुरुष के कैवल्य के लिए प्रकृति सृष्टि की सुन्दर रचना करने के लिए स्वतः प्रवृत्त होती है और अपने विभिन्न रूपों के द्वारा पुरुष को आकर्षित करने का प्रयत्न करती है।

इस प्रकार जब पुरुष प्रकृति की ओर आकर्षित होता है तो प्रकृति स्वयं पुरुष के साथ संयोग करती है। निष्क्रिय किन्तु सचेतन पुरुष के साथ सक्रिय जड़ात्मिका (अचेतन) प्रकृति का संयोग होने पर प्रकृति सृष्टि की रचना में प्रवृत्त होती है और स्वयं में बीज रूप से विद्यमान महान् आदि विकार तत्वों को उत्पन्न करती है। वहां प्रकृति को एक नाचने वाली सामान्य स्त्री के रूप में तथा पुरुष (आत्मा) को एक सामान्य पुरुष (मनुष्य) के रूप में समझने पर इसे भली भांति समझा जा सकता है। जिस प्रकार नाचने वाली एक सामान्य स्त्री अपने अनेक प्रकार के चित्ताकर्षक हाव भावों एवं मनमोहक नाच गानों से दर्शकों का मनोरंजन कर उन्हें मुग्ध कर देती है और उन्हें अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करती है उसी प्रकार प्रकृति भी विविध प्रकार के भोग्य विषयों के द्वारा पुरुष को लुब्ध कर अपनी ओर आकर्षित करती है। पुरुष इन सांसरिक विषयों का उपभोग कर आनन्द का अनुभव करता है

और फिर उन्हीं विषयों में रमण करता रहता है। उन विषयों की प्राप्ति नहीं होने पर वह दुःख का अनुभव करता है और उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार अहंकर से विमूढ़ होकर वह सृष्टि का कर्तृत्व अपने में ही मानने लगता है और इस मिथ्या एवं भ्रम पूर्ण प्रपंच में फंस कर पुनः पुनः नवीन शरीर धारण करता है। जब तक पुरुष अहंकार से विमूढ़ होकर प्रकृति के माया जाल में फंसा रहता है तब तक मोहवशात् उसे मुक्ति नहीं मिलती है और कर्म-बंधन के कारण वह संसार में अनन्त काल तक आवागमन करता हुआ विभिन्न योनियों में भ्रमण करता रहता है। जब पुरुष को यह ज्ञात हो जाता है कि वह तो स्वयं निर्विकार, निरहंकार, त्रिगुणातीत, अकर्त्ता और चिदानन्द स्वरुप है तथा संसार के समस्त विषय उसे भटकाने वाले और उसके लक्ष्य (मोक्ष) प्राप्ति में बाधक हैं तो वह संसार के भौतिक विषयों से विमुख होकर स्वानुभव में लीन होने का प्रयत्न करता है। तब ही उसे यह भी बोध होता है कि वह संसार से सर्वथा भिन्न स्वतन्त्र है, कर्त्री और त्रिगुणात्मिका तो प्रकृति है। प्रकृति से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार वह स्वयं को संसार एवं प्रकृति से सर्वथा भिन्न समझने लगता है। तब पुरुष स्वयं प्रकृति से विरक्त होकर आत्म स्वभाव में लीन हो जाता है। इस स्थिति में प्रकृति स्वयं पुरुष का संग छोड़ देती है। प्रकृति से रहित होकर पुरुष जब अपने समस्त कर्म बन्धनों का विच्छेद (क्षय) करके विकार रहित स्थिति को प्राप्त कर लेता है तो निर्मल, अव्याबाध एवं अक्षय ज्ञान के प्रकाश पुंज से भासमान होकर केवलत्व (मोक्ष) को प्राप्त करता है।

त्रिगुण निरूपण

सांख्य दर्शन के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति में सक्रिय रूप से भाग लेने वाले तीन गुण हैं। यथा-सत्व, रज, तम। इन तीनों गुणों की समानता ही प्रकृति कहलाती है। जब तक इन तीनों गुणों का सन्तुलन ठीक रहता है तब तक ही प्रकृति का अस्तित्व रहता है। इन तीनों में न्यूनाधिकता आ जाने अथवा सन्तुलन बिगड़ जाने से यह विकृति में परिवर्तित हो जाती है। विकृति में भी इन तीनों गुणों की व्यापकता रहती है। अतः सृष्टि के निर्माण में इनका महत्वपूर्ण योग रहता है।

सत्व, रज, तम इन तीनों के लिए गुण शब्द का व्यवहार अत्यन्त रूढ़ एवं प्रसिद्ध हो गया है। अष्टांग संग्रह के रचियिता आचार्य वाग्भट् ने भी इन्हें गुण की ही कोटि में रखकर इनके लिए महागुण शब्द का प्रयोग किया है। किन्तु वस्तुतः गुरु, लघु आदि भौतिक गुणों के समान ये गुण नहीं हैं। ये द्रव्य हैं जिनमें गुण और कर्म समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। इनके लिए गुण संज्ञा गौणी है।

संस्कृत वाङ्मय एवं विभिन्न शब्द कोशों में गुण शब्द के अनेक अर्थ बतलाए

गए हैं। उसके मुख्य अर्थों में से एक है डोरी (रज्जू) तथा दूसरा है राजा आदि के उपकरण (साधन) भूत अमात्य आदि। ये गुण (अप्रधान) होते हैं। इनके सादृश्य से सत्व आदि को भी गुण कहा जाता है। क्योंकि ये सत्व-रज-तम पुरुष को उसी प्रकार संसार के जन्म-मरण, सुख-दुःख आदि के बन्धन में बांधते हैं जैसे डोरी (रज्जू) से पशु बांधा जाता है। जिस प्रकार अमात्य (मंत्री) आदि राजा के सम्पूर्ण कार्यों को सिद्ध करते हैं उसी प्रकार सत्व-रज-तम भी पुरुष (जीवात्मा) के भोग और अपवर्ग (मोक्ष) रूप प्रयोजनों को सिद्ध करते हैं। इस सम्बन्ध में आचार्यों के निम्न मत दृष्टव्य हैं—

"सत्वादीनि द्रव्याणि, न च वैशेषिकगुणाः संयोगविभागवत्वात् लघुत्वगुरुत्व-चलत्वादिधर्मकत्वाच्च। तत्र शास्त्रे गुण शब्दः पुरुषोपकरणत्वात्।" —विज्ञानभिक्षु।

अर्थात् सत्वादि तीनों द्रव्य हैं, वैशेषिक गुण नहीं। क्योंकि ये संयोग और विभागवान् होने से तथा लघुत्व, गुरुत्व चलत्व आदि धर्म होने से ये द्रव्य हैं। शास्त्रों में सत्वादि के लिए गुण शब्द का व्यवहार इसलिए किया गया है कि ये पुरुष के उपकरण (साधन भूत) हैं। यह मत श्री विज्ञानभिक्षु का है।

"लघुत्वादिगुणयोगात् सत्वादित्रयं द्रव्यं, तत्र गुणशब्दस्तु पुरुषोपकरणत्वात्।"

—प्रसिद्ध वेदान्ती महादेवकृत वृत्ति।

अर्थात् लघुत्वादि गुणों का योग होने से सत्व आदि तीन (सत्व-रज-तम) द्रव्य हैं। ये तीनों पुरुष के उपकरण (साधन) होने से इनमें गुण शब्द का व्यवहार किया जाता है। यह मत प्रसिद्ध वेदान्ती श्री महादेव का है।

अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार द्रव्य में लघु-गुरु आदि गुण तथा विभिन्न कर्म पाए जाते हैं, उसी प्रकार सत्व-रज-तम इन तीनों में भी लघु-गुरु आदि गुण तथा प्रकाश करना, चलन आदि कर्म पाए जाते हैं, जिनका विवेचन आगे किया जायगा। अतः सत्वादि वस्तुतः गुण न होकर द्रव्य हैं।

"सत्वरजस्तमांसि द्रव्याणि, न तु गुणाः, संयोगविभागलघुत्वचलत्वगुरुत्वादि-धर्मकत्वात् गुणशब्दप्रयोगस्तु रज्जुसाम्यात् पुरुषबन्धहेतुतयोपचारिकः।"

अर्थात्— सत्व-रज-तम ये तीनों द्रव्य हैं, गुण नहीं। संयोग-विभाग, लघुत्व चलत्व-गुरुत्व आदि धर्म-गुण होने से ये तीनों द्रव्य हैं। इन में गुण शब्द का प्रयोग रज्जु साम्य के कारण पुरुष वन्ध में हेतु होने से औपचारिक है। अर्थात् जिस प्रकार रज्जु को औपचारिक रूप से गुण कहा जाता है, किन्तु वह पशु बंधन के लिए प्रयुक्त होती है। उसी प्रकार सत्व आदि भी पुरुष का बंधन करते हैं और औपचारिकतावश उन्हें गुण कहा जाता है। वस्तुतः वे गुण नहीं है। यह मत अन्य दार्शनिक विद्वान का है।

सत्व-रज-तम के लक्षण

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः ।
अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥
सत्वं लघु प्रकाशकमुपष्टम्भकं चलं च रजः ।
गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥

अर्थ—गुण अर्थात् सत्व-रज-तम ये तीनों गुण क्रमशः प्रीत्यात्मक (सुखात्मक) अप्रीत्यात्मक (दुःखात्मक) और विषादात्मक (मोहात्मक) हैं। ये क्रमशः प्रकाश, प्रवृत्ति और नियम के लिए हैं। ये अन्योन्याभिभव अर्थात् परस्पर एक दूसरे के धर्म से अभिभूत रहते हैं। ये अन्योन्याश्रय अर्थात् एक दूसरे पर आश्रित रहते हैं। ये अन्योन्य जनन अर्थात् एक दूसरे को उत्पन्न करने वाले होते हैं। ये अन्योन्यमिथुन वृत्ति वाले अर्थात् एक दूसरे से मिलकर रहने वाले हैं। ये अन्योन्यवृत्ति अर्थात् एक दूसरे में रहने वाले हैं। सत्व गुण लघु अर्थात् अंगों में लघुत्व उत्पन्न करने वाला और प्रकाश अर्थात् बुद्धि को प्रकाशित करने वाला होता है। रजो गण उपष्टम्भक अर्थात् संघर्ष या उत्तेजना पैदा करने वाला और चल अर्थात् गतिशील या गति को उत्पन्न करने वाला होता है। तमो गुण गुरु अर्थात् गुरुत्व उत्पन्न करने वाला और वरणक अर्थात् आवरण करने वाला होता है। प्रदीप के समान मिलकर ये अपने गुण प्रकट करते हैं। आयुर्वेद के अनुसार सत्व-रज-तम ये तीनों निम्न धर्म वाले होते हैं—

सत्वं प्रकाशकं विद्धि, रजश्चापि प्रवर्तकम् ।
तमो नियामकं प्रोक्तमन्योन्यमिथुनप्रियम् ॥
—काश्यप संहिता, सूत्रस्थान अ० २८

निद्राहेतुस्तमः सत्वं बोधने हेतुरुच्यते ।
—सुश्रुत संहिता, शरीरस्थान ४।३५

अर्थ—सत्व को प्रकाशक, रज को प्रवर्तक, तम को नियामक और तीनों को परस्पर मिलकर रहने वाला समझना चाहिए। तम निद्रा को उत्पन्न करने में कारण और सत्व जागृत करने में कारण समझना चाहिए।

सत्व गुण के लक्षण—

सत्व गुण का विशेष लक्षण लघुता (लाघव) है। लघुता के कारण ही द्रव्य उर्ध्वगति वाला होता है। जैसे—प्रज्वलित अग्नि की ज्वालाओं की उर्ध्वगति का कारण सत्व गुण है। सत्व गुण वाय्वात्मक होता है, अथवा वायु की लघुता का कारण सत्व गुण है। लाघव के कारण ही द्रव्यों की तिर्यक् गति होती है। जैसे— वायु की गति।

सत्व का दूसरा मुख्य लक्षण है प्रकाशकत्व। अर्थात् यह प्रकाश उत्पन्न करने वाला अथवा द्रव्यों को प्रकाशित करने वाला होता है। शरीर में स्थित रहकर सत्व गुण बुद्धि को प्रकाशित करता है। यह ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों, उभयेन्द्रिय (मन), बुद्धि और अहंकार इन तेरह करणों में परिलक्षित होता है। सत्व गुण इन तेरह करणों को प्रकाशमान करता है जिससे निर्मलज्ञान प्रस्फुटित होता है। ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और मन की संरचना में भी सत्व गुण का बाहुल्य रहता है। बुद्धि और अहंकार में भी शेष दो गुणों के साथ सत्व गुण विद्यमान रहता है। उपर्युक्त त्रयोदश करणों की अपने अपने विषयों को ग्रहण करने की प्रवृत्ति सत्व गुण के कारण होती है। सत्व गुण के इस वैशिष्ट्य या धर्म को प्रकाश या प्रकाशकत्व कहते हैं। इन्द्रियों में सत्व गुण की जितनी अधिकता होती है विषय प्रवृत्ति एवं ज्ञान ग्रहण क्षमता भी उनकी उतनी ही अधिक होती है। अपने कर्म सम्पादन में भी वे उतनी ही अधिक समर्थ होती हैं। इन्द्रियों की विषय-प्रवृत्ति, ज्ञान ग्रहण क्षमता एवं स्वकर्म सम्पादन का सामर्थ्य सत्व गुण के लघुत्व के कारण होता है। चेतन द्रव्यों में सत्व गुण की अधिकता का प्रयोजन ज्ञान का प्रकाश है।

सत्व गुण अनेक मानवीय प्रवृत्तियों एवं धार्मिक वृत्तियों का कारण होता है। सत्व गुण का परिणाम सुख होता है। सत्व गुण के उत्कर्ष (अधिकता) के कारण उत्पन्न मन की निर्मलता, शुद्ध ज्ञान, शुद्ध कर्म आदि सुख के कारण होते हैं। प्रसाद (इन्द्रियों की प्रसन्नता एवं निर्मलता), लाघव (स्फूर्ति, उत्साह), अनासक्ति (भोग-विलास के प्रति विरक्ति), प्रीति (प्रसन्नता या सौहार्द भाव), क्षमा (क्रोधाभाव) सन्तोष, अनुकम्पा सरलता, मदुता, लज्जा, विवेक आदि सद्गुण सुख के ही रूप एवं सत्व गुण के परिणाम विशेष हैं।

रजो गुण के लक्षण—

रजो गुण का विशेष लक्षण या धर्म हैं चलत्व। चलत्व का सामान्य अर्थ होता है गति शीलता अथवा प्रवृत्ति शीलता। इस चलत्व धर्म के कारण ही रजो गुण समस्त चेतन या अचेतन द्रव्यों की गति या प्रवृत्ति में कारण होता है। द्रव्यों में होने वाली गतिशीलता, प्रवृत्तिशीलता एवं क्रियाशीलता का मुख्य कारण रजो गुण है। मन का चाञ्चल्य भी रजो गुण की अधिकता का ज्ञापक है। रजो गुण की बहुलता वाले, प्रवृत्ति वाले, कम निद्रा लेने वाले, तीव्र स्वभाव वाले और जल्दी जागने वाले (श्वानिद्रः) होते हैं। रजो गुण वाले मनुष्य पैत्तिक प्रकृति वाले होते हैं, वे स्पष्ट वक्ता एवं तीखी वाणी वाले होते हैं।

यद्यपि सत्व गुण एवं तमोगुण अपने अपने विशेष कार्यों का सम्पादन करते हैं, किन्तु वे तब तक अपने कार्यों का सम्पादन नहीं कर सकते जब तक उन्हें रजोगुण प्रेरित न करे। अपने कार्यों को करने के लिए वे क्रियाशीलता रजोगुण से प्राप्त करते हैं। अतः रजो गुण ही संसार के समस्त पदार्थों को प्रेरणा प्रदान करने वाला होता है। रजो गुण का दूसरा धर्म 'उपष्टम्भक' इसी तथ्य का द्योतक है। उपष्टम्भक शब्द का अर्थ होता है—प्रवर्तक-प्रेरक-चालक।

रजो गुण का परिणाम दुःख होता है। अर्थात् मनुष्य को दुःख की अनुभूति या मन की खिन्नता का प्रतिपादक रजो गुण होता है। क्योंकि रजो गुण से प्रतिकूल वेदना होती है। मन के लिए प्रतिकूल वेदना ही दुःखजनक होती है। शोक, खेद, मान, मद-मत्सर आदि इसी दुःख के रूप हैं। अतः अन्तर्मन में उत्पन्न होने वाले ये सभी भाव रजोगुण की अधिकता को निरूपित करते हैं। इन भावों की न्यूनाधिकता रजो गुण की न्यूनाधिकता पर निर्भर है।

रजोगुण का मुख्य प्रयोजन प्रवृत्ति है। मनुष्य स्वभावतः शुभाशुभ कर्मों में प्रवृत्त होता है और उसके परिणाम स्वरूप वह शुभ या अशुभ बंध को बांधता है। शुभ या अशुभ बंध ही प्राणियों के जन्म या मरण का कारण है। संसार में पुनः पुनः जन्म धारण करने के कारण अनेक कष्ट उठाते हुए विभिन्न दुःखों को सहना पड़ता है। अतः शुभाशुभ कार्यों में प्रवृत्ति के कारण ही मनुष्य अन्त में जन्म-मरण आदि के द्वारा दुःखों से पीड़ित होता है। इसीलिए रजो गुण का परिणाम दुःख कहा गया है। रजो गुण के कारण ही संसार का यह चक्र अनादि काल से चलता आ रहा है, अनन्त काल तक चलता रहेगा और पुरुष (आत्मा) इसमें भ्रमण करता रहेगा।

इस प्रकार चलत्व (प्रवृत्ति शीलता), उपष्टम्भकत्व (प्रेरण या प्रवर्तन) और दुःख (प्रतिकूल वेदना) ये तीन लक्षण रजो गुण के निरूपित किए गए हैं।

तमो गुण के लक्षण–

तमो गुण का विशेष लक्षण है गुरुत्व। इसका अभिप्राय है गुरुता या भारीपन। यह लघुता का विरोधी गुण है। इसके कारण द्रव्यों में मन्दता, जड़ता (विषय-ग्रहण में असामर्थ्य) और निष्क्रियता होती है। यह गति एवं प्रवृत्ति में अवरोध उत्पन्न करने वाला होता है। निरोधात्मक होने के कारण यह अशुभ परिणाम कारक होता है। अचेतन द्रव्यों की रचना का मुख्य कारण उनकी तमोगुण प्रधान रचना है। चेतन द्रव्यों में भी तमो गुण की अधिकता होने पर मोह (अविद्या-अज्ञान-मिथ्या-ज्ञान), बुद्धि की अल्पता, इन्द्रियों की अपने विषयों में अल्प प्रवृत्ति एवं अल्प विषय-ग्रहण सामर्थ्य आदि विकार होते हैं। स्वाभिमान का अभाव, पराधीनता वृत्ति, भय

की भावना आदि विकृतियां भी तमोगुण जनित होती हैं। मन का गौरव भी तमोगुण जनित होता है।

तमो गुण का दूसरा लक्षण आवरण है। इसका अभिप्राय यह है कि यह अपनी गुरुता के कारण सत्व गुण और रजो गुण को सदा दबाए रखता है, उनका नियमन-नियंत्रण करता है। इस स्थिति में जब कभी तमोगुण का उत्कर्ष (आधिक्य) होता है तो रजो गुण की प्रवृत्ति शीलता मन्द हो जाती है और द्रव्य यदि चेतन (प्राणी) हो तो वह सर्वथा निष्क्रय या मन्दक्रिया हो जाता है। इसी प्रकार तमोगुण के आवरण से सत्वगुण की भी ज्ञान ग्रहण करने की शक्ति कुंठित हो जाती है और पुरुष को अज्ञान या मिथ्या ज्ञान होता है। यह बुद्धि, मन, अहंकार और इन्द्रियों को आवृत कर उन्हें स्वकार्य प्रवृत्ति से रोकता है। इस प्रकार तमो गुण सत्व और रज का नियामक है।

तमो गुण की साम्यावस्था अर्थात् सत्वगुण एवं रजो गुण के साथ समानान्तर स्थिति प्रवृत्ति परक एवं सृष्टि की उत्पादक व नियामक होती है, किन्तु तमोगुण की परिवृद्धावस्था विकृति कारक एवं अहितकारक होती है। तमोगुण शरीर के प्राकृत कार्यों में अवरोध उत्पन्न करता है। साथ ही आत्मा, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार का आवरण कर उन्हें अपने प्राकृत कार्यों से रोकता है। जिसके परिणाम स्वरूप मनुष्य में धी, धृति, स्मृति, मेधा का पर्याप्त विकास नहीं हो पाता। व्यक्ति का मानसिक विकास भी अवरुद्ध रहता है और मन का चांचल्य भाव आवृत रहने से समाप्त प्रायः हो जाता है।

तमो गुण का परिणाम अथवा तीसरा विशिष्ट लक्षण विषाद है। विषाद धर्म मोहात्मक होता है। अतः मोह के वशीभूत होकर पुरुष (आत्मा) संसार के विभिन्न द्रव्यों में अपनी प्रियता, मोह एवं ममत्व को व्यक्त करता है। यही कारण है कि वह अपनी प्रियवस्तु के नष्ट हो जाने पर दुःखी होता है। शरीर के प्रति राग (अपनेपन) की अनुभूति होने में मोह ही कारण है और मोह तमो गुण का परिणाम है। तमो गुण के कारण मनुष्य के ज्ञान केन्द्र आवृत या सुप्त रहते हैं, जिससे उसको सम्यक् ज्ञान की अनुभूति नहीं होती और वह मोह में अनुरक्त रहता हुआ अज्ञान-मिथ्याज्ञान या अविद्या का शिकार बन जाता है। तमो गुण के कारण शरीर में गुरुता की वृद्धि होती है, जिससे मनुष्य आलसी, निद्रालु, निष्क्रिय, परिश्रम करने से डरने वाला, भीरु, मन्द गति और धीरे-धीरे काम करने वाला होता है, तमो गुण के कारण मनो अवसाद बना रहता है, जिससे मनुष्य में प्रमाद, कुटिलता, धूर्तता, कृपणता आदि दुर्गुण आ जाते हैं। ये समस्त दुर्गुण मोहात्मक अथवा मोह के ही रूप हैं।

इस प्रकार तमो गुण तीन लक्षण प्रधान है। गुरुत्व, आवरण और मोह। इन

तीनों लक्षणों के द्वारा ही वह अपने सम्पूर्ण कार्यों का सम्पादन करता है और सत्व तथा रजो गुण के नियमन में समर्थ होता है।

तीनों गुणों के समान लक्षण

उपर्युक्त विवेचन द्वारा यह स्पष्ट है कि सत्व गुण सुखात्मक, रजोगुण दुःखात्मक तथा तमोगुण मोहात्मक होता है। 'सत्व' में प्रकाश का, 'रज' में प्रवृति का और 'तम' में नियमन का सामर्थ्य है। ये गुण क्रमशः प्रकाश, क्रिया और स्थितिशील है। तीनों गुणो के उपर्युक्त धर्म (लक्षण) एक दूसरे से विशिष्ट एवं भिन्न हैं। किन्तु इनमें समान धर्म भी विद्यमान हैं, जिनके कारण इनका सन्तुलन बना रहता है। जैसे इन तीनों का प्रथम समान धर्म है अन्योन्याभिभव। अर्थात् ये तीनों गुण परस्पर एक दूसरे के धर्म से अभिभूत होते रहते हैं। अथवा ये तीनों गुण अपने-अपने विरोधी स्वभाव के कारण एक दूसरे को दबाते हैं—अभिभव करते हैं। यथा—जब सत्वगुण उत्कृष्ट होता है, तब रज और तम सत्व के प्रीति और प्रकाश धर्म से अभिभूत हो जाते (दब जाते) हैं। अथवा जब सत्व गुण का उत्कर्ष (आधिक्य) होता है तब वह रजो गुण और तमो गुण को दबाकर सुख आदि के रूप में अपनी क्रिया (शान्तावृत्ति) को प्रदर्शित करता है। इसी प्रकार जब रजो गुण उत्कट होता है तब सत्व और तमो गुण रज के प्रीति और प्रवृत्ति धर्म से अभिभूत हो जाते हैं। अथवा रजोगुण का प्राबल्य होने पर वह सत्व और तमो गुण को अभिभूत करके अपने स्वरूप (घोरावृति) को प्रकाशित करता है। इसी भांति जब तमो गुण की अधिकता होती है तब तमोगुण के विषाद और स्थित्यात्मक धर्म के द्वारा सत्व और रजो गुण दब जाते हैं। इन दोनों गुणों को दबाकर तमो गुण अपनी क्रिया (मूढ़ा वृत्ति) को उत्कट करता है। किन्तु यह स्थिति उस समय होती है जब उनकी पारस्परिक शक्ति में न्यूनाधिकता हो। इसके विपरीत जब तीनों गुणों का बल समान होता है उस समय ये तीनों गुण एक दूसरे को समान भाव से दबाकर रखते हैं। परिणाम स्वरूप तीनों में से किसी की भी प्रतिरोधात्मक या अभिभवात्मक क्रिया नहीं हो पाती। यह अवस्था केवल प्रलय के समय होती है। उस समय स्थूल-सूक्ष्म, चेतन—अचेतन, समस्त कार्य द्रव्य अपने मूल कारण 'प्रकृति' में लीन हो जाते हैं। वस्तुतः सत्व-रज-तम की साम्यावस्था ही प्रकृति कहलाती है। इसके विपरीत सर्ग काल या सृष्टि की उत्पत्ति के समय जब इन तीनों गुणों का वैषम्य हो जाता है तब प्रत्येक गुण अपनी-अपनी ज्ञान, प्रवृत्ति स्थिति आदि क्रियाओं को प्रदर्शित करता है। जिससे उत्तरोत्तर कार्य द्रव्यों की उत्पत्ति होती है।

तीनों गुणों में दूसरा साम्य यह होता है कि तीनों गुण अपनी-अपनी वृत्ति

(क्रिया) का सम्पादन एक दूसरे का आश्रय लेकर अथवा एक दूसरे की सहायता से करते हैं। अर्थात् सत्व गुण की अपनी क्रिया में प्रवृत्ति रजो गुण के कारण और उसका नियमन (मर्यादा) तमोगुण के कारण होता है। इसी प्रकार रजो गुण और तमोगुण अपनी-अपनी क्रिया में सत्व गुण के प्रकाश द्वारा सहायता प्राप्त करते हैं। रजो गुण की क्रिया का सम्पादन सत्वगुण के प्रकाश और तमोगुण के नियमन की सहायता से होता है और स्वयं प्रवृत्ति के द्वारा सत्व और तम की सहायता करता है। तमो गुण को अपनी क्रिया में सत्व गुण के प्रकाश और रजो गुण की प्रवृति की सहायता प्राप्त होती है, जबकि तमो गुण स्वयं अपने नियमन धर्म के द्वारा दोनों की सहायता करता है।

तीनों गुणो में तीसरा साम्य यह है कि प्रलयावस्था में प्रकृति रूप समान द्रव्य की उत्पत्ति भी वे एक दूसरे की सहायता से करते हैं। क्योंकि तीनों गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति जनक होती है। प्रकृति के निर्माण में वे अपना सन्तुलन बनाए रखते हैं। जब तक इनका सन्तुलन बना रहता है तब तक प्रकृति स्वरूपावस्थित होती है।

तीनों गुणों का चौथा साम्य यह है कि ये प्रकृति तथा उससे उत्पन्न अव्यक्त-व्यक्त (सूक्ष्म-स्थूल), चेतन-अचेतन, स्थावर-जंगम सब द्रव्यों को उत्पन्न करते हैं और मिलित रूप से ही तीनों गुण सब द्रव्यों में सर्वदा विद्यमान रहते हैं।

ऊपर यह स्पष्ट किया जा चुका है कि तीनों गुणों की क्रियाएँ एक दूसरे की विरोधिनी-परस्पर विपरीत गामिनी या विरुद्ध गामिनी होती हैं। सत्वगुण सुखात्मक, लघुत्वात्मक, ज्ञानात्मक एवं प्रकाशात्मक होने से रजोगुण की दुःखात्मक प्रवृत्ति तथा तमोगुण की गुरुत्वात्मक, मन्द, अज्ञानात्मक, अविद्यात्मक एवं तमसात्मक प्रवृत्ति का विरोधी है। इस प्रकार तीनों गुणों की क्रिया परस्पर विपरीत एवं विरुद्ध होने पर भी वे पिण्ड और ब्रह्माण्ड के समस्त द्रव्यों के निर्माण तथा संसार के संचालन क्रम में उपर्युक्त प्रकार से सर्वदा साथ रहते हुए परस्पर सहायता करते हुए अपनी क्रिया प्रतिपादित करते हैं।

परस्पर विरुद्ध धर्मावलम्बी होते हुए भी एक साथ मिलकर रहने का तीनों गुणों का मुख्य प्रयोजन यह है कि ये तीनों गुण पुरुष के भोग और अपवर्ग (मोक्ष) के लिए विविध साधन उपस्थित करते हैं। प्रयोजन के इस एक्य के कारण तीनों गुण परस्पर सहकार से कार्य करते हैं। जैसे दीपक की वर्ति और तैल जलकर समाप्त हो जाते हैं। किन्तु वर्ति, तैल और अग्नि तीनों मिलकर दीपक रूप एक प्रयोजन को परस्पर सहकार पूर्वक सिद्ध करते हैं। यही स्थिति तीनों गुणों की भी है। एक अन्य उदाहरण के द्वारा भी इसे निम्न प्रकार से समझा जा सकता है। जैसे शरीर की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के कारणभूत वात-पित्त-कफ एक दूसरे के विरुद्ध धर्म वाले होते हैं, तथापि परस्पर विरुद्ध धर्म वाले होते हुए भी प्रयोजन के साम्य के कारण परस्पर सहकार करते हुए ही क्रिया करते है। □

षोडश अध्याय

लय और प्रलय निरूपण

सृजन से विपरीत स्थिति संहारात्मक होती है। सृजन को सृष्टि या सर्ग कहते हैं। इसके विपरीत स्थिति-संहार को लय या प्रलय कहते हैं। सृष्टि में जिस प्रकार एक एक सूक्ष्म परमाणु का संयोग होकर कार्य द्रव्य का निर्माण होता है उसी प्रकार संहार में सृष्टि के विपरीत कार्य द्रव्य के प्रत्येक परमाणु का विघटन होकर कार्य द्रव्य का विनाश हो जाता है। परमात्मा में जब सृष्टि के संहार करने की इच्छा होती है तब पृथ्वी आदि द्रव्यों के परमाणुओं में क्रियाशीलता उत्पन्न होती है जिसके परिणाम स्वरूप दो दो परमाणुओं का परस्पर विभाग हो जाता है और उन में विघटन होने लगता है। दो दो परमाणुओं का परस्पर विभाग होने से दो परमाणुओं के संयोग का नाश (विघटन) होता है। संयोग-नाश (परमाणु-विघटन) होने से द्व्यणुक रूप कार्य द्रव्य का नाश हो जाता है। इसी भाँति द्व्यणुक का नाश होने से उपर्युक्त त्र्यणुक, चतुरणुक का भी नाश होता है। त्र्यणुक, चतुरणुक आदि के नाश से महा पृथ्वी आदि समस्त कार्य द्रव्यों एवं पदार्थों का विनाश हो जाता है। संसार के समस्त पदार्थ अपने अपने मूल कारण रूप परमाणुओं में परिवर्तित हो जाते हैं, अर्थात् सबका अपने प्रकृति रूप मूल कारण में लय हो जाता है। सांख्य दर्शन में उपर्युक्त तथ्य को "**नाशकारणं लयः**" (सां. का.१।१२१) सूत्र के द्वारा स्पष्ट किया गया है। कारण में कार्य का लय (विलीन) होना ही द्रव्य का नाश कहलाता है। अर्थात् निमित्त कारण के द्वारा अतीतावस्था को प्राप्त हुए समस्त कार्य द्रव्य अपने अपने कारण में अभेद सम्बन्ध से लीन हो जाते हैं—इसी को नाश कहते हैं। यहीं लय या प्रलय कहलाता है।

आयुर्वेद शास्त्र में भी लय या प्रलय शब्द से उपर्युक्त भावार्थ ही ग्रहण किया गया है। आयुर्वेद में मुख्य रूप से मनुष्य या प्राणी के जन्म को सृष्टि और मरण को लय शब्द से अभिप्रेत किया गया है। चतुर्विंशति तत्वों के संयोग से सृजित पुरुष प्रलयकाल में शरीरारम्भक महाभूतों के कारण में विलीन हो जाता है। तब यह बुद्ध्यादिक इष्ट भावों से वियुक्त हो जाता है। यही उसका मरण कहलाता है। वस्तुतः अव्यक्त से उत्पन्न तथा व्यक्तता को प्राप्त हुए तेइस तत्व क्रमशः अपने

कारण में विलीन हो जाते हैं। इस प्रकार व्यक्त से पुनः वे अव्यक्त हो जाते हैं। यही 'लय' या 'प्रलय' कहलाता है। महर्षि चरक ने लय का वर्णन निम्न प्रकार से किया है—

पुरुषः प्रलये चेष्टैः पुनर्भावैर्वियुज्यते।
अव्यक्ताद् व्यक्ततां याति व्यक्तादव्यक्ततां पुनः।
रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चक्रवत् परिवर्तते॥
येषां द्वन्द्वे परासक्तिरहंकारपराश्च ये।
उदयप्रलयौ तेषां न तेषां ये त्वतोऽन्यथा॥

—चरकसंहिता, शारीर स्थान १।६७-६६

अर्थात् वह पुरुष प्रलय काल में पुनः अपने इष्टभाव (आठ भूत प्रकृति और सोलह विकार) से रहित हो जाता है। इस प्रकार उत्पत्तिकाल में अव्यक्त से व्यक्त होता है। प्रलय काल में व्यक्त से अव्यक्त हो जाता है। इस प्रकार पुरुष की व्यक्त से अव्यक्त और अव्यक्त से व्यक्त की परम्परा रज और तम से युक्त होने के कारण चक्र की तरह चलती रहती है। जिन मनुष्यों की रज और तम इन दोनों में अत्यन्त आसक्ति है या जो लोग अहंकार में पड़े हुए हैं, उन्हीं लोगों के लिए उदय और प्रलय है। जो लोग रज और तम से विमुक्त हैं; अहंकार से भी रहित हैं उन लोगों का उदय (जन्म) और प्रलय (मृत्यु) नहीं होता।

यहां उदय से जन्म और प्रलय से मृत्यु का ग्रहण किया गया है। जन्म और मृत्यु के कारणभूत रज और तम दोनों जब तक मन से सम्बन्धित रहते हैं तब तक ही मन उनके अनुसार बंधन में पड़ने वाला कार्य करता है और उसी के अनुसार आत्मा को कर्म का बन्धन होता है। इसी लिये यह मन जब तक रज और तम से युक्त रहता है तब तक यह पुरुष चक्र की भांति भ्रमण करता रहता है। अर्थात् संसार की विभिन्न योनियों में जन्म-मरण को धारण करता रहता है। यही पुरुष का संसरण या संसार कहलाता है।

महा प्रलय होने पर सभी वस्तुओं का प्रकृति में प्रलय हो जाता है। प्रलय काल अर्थात् मृत्यु काल में पुरुष बुद्धि इत्यादि तत्वों से अलग हो जाता है और पुनः जन्म होने पर उनसे संयोग कर लेता है। कुछ लोग इस बात को नहीं मानते हैं। महा प्रलय काल में जब संसार में कुछ नहीं रह जाता तब या मोक्ष की अवस्था में पुरुष बुद्धि आदि भावों से रहित हो जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि महा प्रलय होने पर समग्र सृष्टि अपने कारणभूत प्रकृति में विलीन हो जाती है। यही लय कहलाता है।

पुनर्जन्म

पुनर्जन्म के विषय में प्राचीन काल से दो प्रकार के मत चले आ रहे हैं। एक मत के अनुसार कुछ लोग पुनर्जन्म के विषय में पूर्ण आस्था रखते हुए उसके अस्तित्व को

स्वीकार करते हैं। इसके विपरीत मत के अनुसार कुछ अन्य लोग पुनर्जन्म को केवल कल्पना का विषय मानकर उसके अभाव का समर्थन करते हैं। भारतीय दर्शनों में केवल चार्वाक दर्शन ही पुनर्जन्म को नहीं मानता है। चार्वाक दर्शन प्रत्यक्षवादी होने से केवल प्रत्यक्ष होने वाले विषयों के अस्तित्व को ही स्वीकार करता है। पुनर्जन्म जन सामान्य के लिए प्रत्यक्ष नहीं होने के कारण चार्वाक दर्शन के अनुसार संसार में उसका कोई अस्तित्व नहीं है। इसी प्रकार आधुनिक भौतिकवादी प्रगतिशील विज्ञान भी प्रत्यक्ष नहीं होने के कारण पुनर्जन्म के सिद्धांत में विश्वास नहीं रखता है। किंतु कुछ इस प्रकार की विशिष्ट घटनाएं प्रकाश में आई हैं, जिन से पुनर्जन्म का समर्थन होता है। उन घटनाओं के कारण आधुनिक विज्ञान को भी इस दिशा में अन्वेषण कार्य करने के लिए बाध्य होना पड़ा है। इस अन्वेषण कार्य के परिणाम स्वरूप अनेक महत्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आए हैं तथा और भी महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होने की सम्भावना है।

पुनर्जन्म का सिद्धांत भारतीय दर्शन की मौलिक विशेषता है। आत्मवादी दर्शनों ने एक स्वर से इस सिद्धान्त का समर्थन किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्राणियों का शरीर भौतिक है। आत्मा इस भौतिक शरीर को चेतना प्रदान करता है। आत्मा के द्वारा प्रदत्त वह चेतना अथवा सचेतन आत्मा उस भौतिक शरीर में उसकी आयु पर्यन्त स्थित रहता है। प्राणी की आयु समाप्त हो जाने पर आत्मा उस शरीर का परित्याग कर अन्य शरीर को धारण कर लेता है और उस अन्य शरीर में भी वह उसकी आयु पर्यन्त स्थित रहता है। एक शरीर से अन्य शरीर में आत्मा का यह संसरण ही पुनर्जन्म कहलाता है। इसका अभिप्राय यह भी नहीं है कि आत्मा ने जिस शरीर का परित्याग किया है, उसी के समान पूर्ण रूप से निर्मित अन्य शरीर में प्रवेश कर वह उसको चेतना प्रदान करता है। अपितु पूर्व शरीर का परित्याग करने पश्चात् आत्मा को गर्भ शरीर में प्रविष्ट होना पड़ता है और गर्भिणी के द्वारा उसका प्रसव किए जाने बाद ही उसका जन्म माना जाता है—यही पुनर्जन्म कहलाता है। इससे एक यह तथ्य भी स्पष्ट होता है कि आत्मा के द्वारा परित्यक्त पूर्व शरीर पुनः चैतन्य को प्राप्त नहीं कर सकता और उसका विनाश हो जाता है। इस प्रकार आत्मा के द्वारा पूर्व शरीर का त्याग और नवीन शरीर को धारण करने की यह प्रक्रिया अनादिकाल से चली आ रही है और अनन्तकाल तक चलती रहेगी। भगवत् गीता में पुनर्जन्म के सिद्धान्त का अत्यन्त सुन्दर विवेचन मिलता है। यथा—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

अर्थात् जिस प्रकार मनुष्य पुराने कपड़ों को उतार कर फेंक देता है और

नवीन वस्त्र धारण कर लेता है, उसी प्रकार आत्मा भी पुराने एवं जीर्ण (आयु शेष हुए) शरीर का परित्याग कर नवीन शरीर को धारण कर लेता है।

महर्षि चरक ने तीन एषणाओं-प्राणैषणा, धनैषणा-परलोकैषणा का वर्णन करते हुए परलोकैषणा के अन्तर्गत पुनर्जन्म के विषय में विभिन्न मतभेदों का उल्लेख किया है और सभी मत मतान्तरों का युक्तियुक्त खण्डन करते हुए पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। पुनर्जन्म के विषय में प्रथम मतभेदों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि कुछ ऐसे पुरुष हैं जो नास्तिकवाद को मानने वाले हैं। वे प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं और परोक्ष होने के कारण पुनर्जन्म को नहीं मानते हैं। कुछ अन्य लोग हैं जो आस्तिक हैं। वे शास्त्र प्रमाण से पुनर्जन्म को मानते हैं। श्रुतियां भी परस्पर विरुद्ध मिलती हैं। मुख्य रूप से निम्न मत मिलते हैं जो पुनर्जन्म को न मान कर प्राणियों के जन्म में अन्य कारण मानते हैं।

प्रत्यक्ष वादी—आधुनिक विज्ञान केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है और प्राचीन दर्शनों में नास्तिकवादी चार्वाक दर्शन केवल प्रत्यक्ष से उपलब्ध वस्तुओं में ही विश्वास करता है। पुनर्जन्म प्रत्यक्षतः उपलब्ध नहीं होता है। इसी प्रकार कर्म का फल और आत्मा ये सभी अप्रत्यक्ष हैं। अतः पुनर्जन्म के ये साधक भी प्रत्यक्ष नहीं हैं। इनके अप्रत्यक्ष होने के कारण पुनर्जन्म की सिद्धि सम्भव नहीं है।

माता पितृ वादी—कुछ लोग केवल माता-पिता को ही जन्म के प्रति कारण मानते हैं। अर्थात् आत्म निरपेक्ष माता-पिता का शोणित-शुक्र जन्म के प्रति कारण है, न कि पूर्व शरीर को छोड़ कर आत्मा नवीन शरीर को धारण करता है, क्योंकि दृश्य नहीं होने से आत्मा कोई द्रव्य नहीं है।

स्वभाव वादी—कुछ लोग जन्म के प्रति स्वभाव को कारण मानते है। जैसे—

अंगप्रत्यंगनिर्वृत्तिः स्वभावादेव जयते।
सन्निवेशः शरीराणां दन्तानां पतनोद्भवौ॥

—सुश्रुत संहिता, शरीरस्थान ३/३६

शरीर के अंग-प्रत्यंगों की अभिव्यक्ति स्वभाव से ही होती है। शरीरों का सन्निवेश तथा दांतों का गिरना और पुनः उत्पन्न होना स्वभाव वश ही होता है।

तलेऽवसंभवो यश्च रोम्णामेतत्स्वभावत:

—सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थान, अ० २

अर्थात् हाथ-पैर के तलवों में रोम का उत्पन्न होना असम्भव है। यह स्वभाव से होता है।

शरीरे क्षीयमाणेऽपि वर्धेते द्वाविमौ सदा
स्वभावं प्रकृतिं कृत्वा नखकेशाविति स्थितिः॥

—सुश्रुत संहिता शरीरस्थान ४/६१

अर्थात् धातुओं के क्षीण होने पर भी नख और केश सदैव बढ़ते रहते हैं। वह प्रकृति का निर्माण स्वभाव ही करता है—यह स्थिति है।

स्वभावाल्लघवो मुद्गास्तथा लावकपिञ्जलाः ॥
स्वभावाद् गुरवो माषा वाराहमहिषादयः ॥
—सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थान अ० ६

अर्थात् मूंग, लाव और कपिंजल (लाव पक्षी और सफेद तीतर का मांस) स्वभाव से लघु होता है। माष (उड़द), वाराह (सुअर का मांस) भैंसा आदि स्वभाव से गुरु होते हैं।

ये सब स्वभाव से सृष्टि (उत्पन्न) होने के प्रमाण और उदाहरण हैं। योगवासिष्ठ में भी कहा गया है—

कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं चित्रं विचित्रं मृगपक्षिणं च।
माधुर्यमिक्षौ कटुता मरीचे स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तम् ॥

अर्थात् कांटों में नुकीलापन, पशु-पक्षियों में चित्र-विचित्रता, ईख में मधुरता और मिरच में चरपरापन कौन उत्पन्न करता है? यह सब स्वभावतः ही होता है।

अतः शरीर की उत्पत्ति के प्रति आत्मा, कर्मफल आदि कारण नहीं है, न पुनर्जन्म है, अपितु स्वभाव ही कारण है।

पर निर्माण वादी—कुछ लोग पर निर्माण को जन्म का कारण मानते हैं। पर शब्द से यहां ईश्वर का ग्रहण किया जाता है। यथा—"परः उत्कृष्टः विलक्षण-**सकलकार्यकारी पुरुषः ईश्वराख्यः**। वह ईश्वर ही जगत् को उत्पन्न करने वाला है। निम्नांकित वचन से ईश्वर ही जन्म के प्रति कारण सिद्ध होता है—"**ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।**" (इशावास्योपनिषद्)

यदृच्छा वादी—इन के सिद्धान्त के अनुसार जगत् की उत्पत्ति बिना कारण के यों ही हो जाती है। इसमें कोई भी कारण नहीं हैं। जैसे मेघ बिना आत्मा के जल की वर्षा करता है तथा भूमि आत्मा रहित अचेतन है फिर भी भूमिकम्प होता है। इन घटनाओं को उत्पन्न करने वाली जो शक्ति है उसे 'यदृच्छा' कहते है। यही जगत् की उत्पति का कारण है।

इस प्रकार प्राणियों के जन्म के प्रति कारणों का प्रतिपादन करने वाले पाँच मतों का उल्लेख मिलता है जिससे पुनर्जन्म के विषय में सन्देह होता है। महर्षि सुश्रुत ने उत्पति के लिए छः मतों का उल्लेख किया हैं। यथा—

स्वभावमीश्वरं कालं यदृच्छां नियतिं तथा।
परिणामं च मन्यन्ते प्रकृतिं पृथुदर्शिनः ॥
—सुश्रुत-संहिता, शारीर स्थान १/११

अर्थात् स्थूलदर्शी (दूरदर्शी-संकुचित विचार नहीं रखने वाले), स्वभाव (तत्तद् द्रव्य से प्रतिबद्ध सहजधर्म या गुण), ईश्वर, काल, यदृच्छा, नियति (धर्माधर्म जनित फल) और परिणाम इनको ही प्रकृति (उपादान कारण) मानते हैं।

खण्डन एवं समाधान—

उपर्युक्त मतों का अध्ययन करने के पश्चात् ज्ञात होता है कि सभी एक पक्षीय एवं दुराग्रहवृत्ति के सूचक हैं। इन में कोई भी मत ऐसा नहीं है जो पुष्ट प्रमाणों एवं समुचित तर्कों पर आधारित हो। महर्षि चरक ने इन सभी मतों का खण्डन एवं विभिन्न शंकाओं का समाधान युक्ति पूर्वक निम्न प्रकार से किया है—

१. परलोक एवं पुनर्जन्म का विचार करने के लिए आवश्यक है कि बुद्धि-मान् पुरुष सर्व प्रथम नास्तिक्यबुद्धि और विचिकित्सा (संशयबुद्धि) का परि-त्याग कर दे। यदि कोई व्यक्ति धृष्टता पूर्वक नास्तिक बन जाय और प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण को स्वीकार ही न करे तो इसका कोई उपाय नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञान करने योग्य विषय बहुत ही कम हैं और अप्रत्यक्ष वस्तुएं बहुत हैं जिन का ज्ञान अथवा उपलब्धि आगम (शास्त्र प्रमाण या आप्तोपदेश), अनुमान और युक्ति प्रमाण के द्वारा होती है। दूसरी बात यह है कि यदि केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना जाय तो यह दोष उत्पन्न हो जायगा कि जिन इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होता है अथवा प्रत्यक्ष गम्य विषयों का ग्रहण होता है वे इन्द्रियां ही स्वयं अप्रत्यक्ष हैं। इसके अतिरिक्त अनेक ऐसे कारण होते हैं जो प्रत्यक्ष ज्ञान कराने में बाधक होते हैं। इन कारणों का उल्लेख प्रत्यक्ष प्रमाण के विवेचन में विस्तार से किया गया है।

२. माता-पिता को जन्म में कारण मानने वाले पक्ष की शंका का समाधान निम्न प्रकार से किया गया है—ये श्रुतियां भी परलोक या पुनर्भव को न मानने में कारण नहीं हैं, क्योंकि युक्ति विरोध होता है। जैसे माता या पिता की आत्मा सन्तान में आती है—यदि ऐसा मान लिया जाय तो यह प्रश्न उठता है कि आत्मा का सन्तान में गमन दो प्रकार से हो सकता है—(१) एक पक्ष में पूर्ण आत्मा सन्तान में गमन कर सकती है और (२) दूसरे पक्ष में आत्मा का अवयव (हिस्सा) सन्तान में जा सकता है। पहले पक्ष के अनुसार यदि आत्मा पूर्ण रूप से सन्तान में प्रवेश करती है तो माता या पिता की मृत्यु हो जाना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं होता है। यदि यह कहा जाय कि आत्मा का अवयव (हिस्सा) सन्तान में जाता है तो यह कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि आत्मा निरवयव (अवयव रहित) एवं सूक्ष्म है।

इस मत में दूसरी आपत्ति यह है कि सृष्टि की उत्पत्ति में यदि माता पिता को कारण माना जाय तो जो चार योनियां (जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज) मानी गई हैं, वे नहीं हो पायेंगी। क्योंकि स्वेदज तथा उद्भिज प्राणियों की उत्पत्ति

माता और पिता से नहीं होती। अतः यह मानना पड़ेगा कि कर्म के वशीभूत आत्मा की प्रेरणा से माता पिता के शरीर से शोणित-शुक्र निकल कर गर्भाशय में जाकर सन्तान के शरीर का आरम्भ करते हैं। अर्थात् शरीर की उत्पत्ति कर्मानुसार होती है और कर्म जन्मान्तरीय रहता है। अतः परलोक तथा पुनर्जन्म की सिद्धि हो जाती है।

३. स्वभाव को जन्म में कारण मानने वाले पक्ष की शंका का समाधान करते हुए कहा गया है कि पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश ये पंच महाभूत और आत्मा इन षड् धातुओं के जो अपने लक्षण होते हैं, उन्हें स्वाभाविक जानना चाहिए। इन षट् धातुओं के संयोग और वियोग में कर्म ही कारण होता है। पृथिव्यादि पंच महाभूतों के अपने-अपने लक्षण इस प्रकार होते हैं—

खरद्रवचलोष्णत्वं भूजलानिलतेजसाम्।
आकाशस्याप्रतिघातो दृष्टं लिङ्गं यथाक्रमम्॥

—चरक संहिता, शारीरस्थान १/२९

आत्मा का चैतन्य होना उसका अपना लक्षण है। जैसा कि प्रतिपादित किया गया है—

निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्वभूतगुणेन्द्रियैः।
चैतन्ये कारणं ....॥ **चरक संहिता,** सूत्रस्थान १/५६

महाभूतों के उपर्युक्त जो लक्षण बतलाए गए हैं तथा आत्मा का जो चैतन्य लक्षण बतलाया गया है उनके वे अपने अपने लक्षण स्वभाव से होते हैं। किन्तु पंच महाभूत अचेतन हैं, इनमें चेतनता का प्रादुर्भाव आत्मा के संयोग से होता है जबकि आत्मा के वियोग से चेतनता का अभाव होता है। संयोग और वियोग का कोई कारण अवश्य होना चाहिए। वह कारण क्या है? इसका उत्तर यही है कि जन्मान्तरीय कर्म ही संयोग वियोग में कारण होता है। यथा—"भूतैश्चतुर्भिः" इत्यादि। यदि कर्म को कारण मान लिया जाता है तो पुनर्जन्म की सिद्धि स्वतः हो जाती है। यदि पंच महाभूत और आत्मा के संयोग और वियोग में स्वभाव को कारण मान लिया जाय तो "स्वभावो दुरतिक्रमः" के अनुसार संयोग का अभाव कभी नहीं होगा। अतः कभी वियोग भी नहीं होगा। आरम्भक कर्म के क्षय होने पर ही शरीर पात-अर्थात् वियोग होता है। कर्म संयोग और वियोग में कारण होता है। यह बात कर्म के लक्षण से स्पष्ट है। **यथा—"संयोगे च विभागे च कारणं द्रव्यमाश्रितम्"** (च० सू० अ० १) इस विवेचन से स्वभाववादी का जो यह मत है कि दो या अधिक पदार्थों के मिलने से चेतनता स्वभावतः आ जाती है, आत्मा कोई वस्तु नहीं है, उसका खण्डन हो जाता है। क्योंकि स्वभावतः संयोग और विभाग में अनिश्चितता है और जन्मान्तरीय कर्म को मानने में अनिश्चितता नहीं है।

४. पर निर्माण को जन्म में कारण मानने वाले पक्ष की शंका का समाधान करते हुए आचार्य लिखते हैं कि जो अनादि चेतना धातु (आत्मा) है उसका पर-निर्माण अर्थात् पर (दूसरे) के द्वारा निर्माण नहीं हो सकता। यदि पर शब्द से ईश्वर माना जाय तो पर निर्माण मानना अभीष्ट है। क्योंकि आत्मा अनादि है। यदि आत्मा से अतिरिक्त अन्य किसी से सृष्टि का निर्माण माना जाय तो वह आत्मा से पूर्व सिद्ध हो जाता है और आत्मा की स्थिति उसके बाद की हो जायगी। तब आत्मा सादि हो जायगा। आत्मा का अनादित्व नष्ट न हो, अतः उसकी उत्पत्ति नहीं मानी जाती है। जब इसकी उत्पत्ति ही नहीं होगी तो पर-निर्माण कैसे माना जायगा। अतः पर निर्माण पक्ष उचित नहीं है।

५. यदृच्छावादी के अनुसार स्वीकृत सिद्धान्त का निरास करते हुए महर्षि लखते हैं कि यदृच्छावाद से जिन्होंने अपनी आत्मा को उपहत (नष्ट) कर लिया है ऐसे नास्तिक लोगों के मत में परीक्षा, परीक्षा का विषय, कर्त्ता, कारण, देवता, ऋषि, सिद्ध, कर्म, कर्म का फल, आत्मा आदि कुछ भी नहीं है। इस प्रकार यदृच्छावादी नास्तिकों का यह ग्रह (आग्रह-जिद्) सभी पापों से बढ़कर महा पाप है।

अभिप्राय यह है कि उसी व्यक्ति से विवाद किया जाता है और उसी व्यक्ति की बात भी मान्य होती है जो कि एक बात पर दृढ़ रहता है तथा कर्त्ता, कारण, कार्य आदि को स्वीकार करता है। जैसे किसी व्यक्ति की व्याधि का शमन कोई औषधि सेवन करने से हो जाता है तो यदृच्छावादी कहेगा कि व्याधि का शमन यों ही हो गया। इसी प्रकार कुर्सी का निर्माण बढ़ई लकड़ी से करता है—यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। किन्तु यदृच्छावादी के मतानुसार कुर्सी का निर्माण यों ही हो जाता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष विरोधी होने से यदृच्छावादी का मत अमान्य है।

चतुर्विध प्रमाण से पुनर्जन्म की सिद्धि

प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा—प्रतिदिन नवीन प्राणियों को उत्पन्न होते हुए देखा जाता है। प्रतिदिन अनेक प्राणियों की मृत्यु भी देखी जाती है। सामान्यतः स्तनधारी प्राणियों में यह प्रक्रिया देखी जाती है कि जन्म होने के पश्चात् बालक अथवा अन्य प्राणी स्वेच्छा पूर्वक स्वतः अपनी माँ का दूध पीने लगते हैं। इसके अतिरिक्त बालक रोते हैं और कई बार उनके चेहरे पर हर्ष अथवा भय के भाव भी प्रकट होते हैं। सद्योजात बालक को स्तनपान की प्रक्रिया समझाई नहीं जाती है, अपितु पूर्व कालीन संस्कार वश वह इन प्रक्रियाओं के प्रति प्रेरित होता है। इसी प्रकार पूर्वजन्म कालीन सुखद अथवा दुःखद संस्कारों का स्मरण होने पर उसके मुखपर हर्ष और विषाद के भाव प्रकट होते हैं।

इसी प्रकार माता-पिता के गुणों के समान सन्तानों का न होना और उत्पत्ति कारण के तुल्य होने पर भी वर्ण, स्वर, आकृति, मन, बुद्धि और भाग्य में विभिन्नता होना, उत्तम और हीन कुल में जन्म होना, नौकर और मालिक होना, सुख-आयु और असुख-आयु का होना, आयु की विषमता, इस जगत् में जो कार्य किए जाते हैं उनका ही फल होना, अशिक्षित शिशु का रोना, दूध पीना, हँसना, भयभीत होना, सामुद्रिक लक्षणों का होना, कर्म की समानता होने पर भी फल में विशेषता का होना, किसी कार्य में स्मरण शक्ति का होना और किसी कार्य में स्मरण शक्ति का नहीं होना, इस जगत् में आना (जन्म लेना) और इस संसार में च्युत (मृत्यु को प्राप्त हुए) प्राणियों का जाति स्मरण होना, समान रूप से दो व्यक्तियों को देखने पर एक को प्रिय और दूसरे को अप्रिय समझना यह पुनर्जन्म में प्रत्यक्ष प्रमाण है।

इसके अतिरिक्त अनेक घटनाएँ इस प्रकार की देखने को मिलती हैं जिनके द्वारा मनुष्य को अपने पूर्व जन्म की अनेक बातों का स्मरण हो जाता है, और वह अपने पूर्व जन्म कालीन घटनाओं एवं स्थितियों का वर्णन करने लगता है। इस प्रकार की अनेक घटनाएं प्रकाश में आई हैं और प्रत्यक्ष देखने को मिलती हैं। परीक्षा करने पर वे घटनाएँ सत्य पाई गईं। अतः इन सब प्रत्यक्ष प्रमाण सम्बन्धी तथ्यों के आधार पर पुनर्जन्म की पुष्टि एवं सिद्धि होती है।

अनुमान प्रमाण द्वारा— प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर अनुमान किया जाता है कि पूर्व शरीर के द्वारा किया गया जो अपना कृत कर्म है जिसे दैव (भाग्य) कहा जाता है वह अपरिहार्य है। ऐसे आनुबन्धिक कर्म का यह फल है जो इस जन्म में भोगा जा रहा है। इस शरीर के द्वारा जो आनुबन्धिक कर्म किया जाता है उसका फल दूसरे जन्म में भोगना पड़ता है। जैसे फल से बीज का अनुमान और बीज से फल का अनुमान किया जाता है।

हमारे द्वारा किया गया कर्म सामान्यतः दो प्रकार का होता है—

(१) सामान्य कर्म (२) आनुबन्धिक कर्म।

(१) **सामान्य कर्म**—सामान्य कर्म का फल जीवित अवस्था में प्रतिदिन भोग लिया जाता है। उसके लिए कहा गया है कि स्वकृत कर्म अपरिहार्य होता है। यथा—"अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।"

(२) **आनुबन्धिक कर्म**—जो कर्म संचित होता है उसे ही भाग्य कहा जाता है। उसी कर्म के आधार पर पुनर्जन्म होता है तथा पूर्व जन्म कृत समस्त शुभ और अशुभ आनुबन्धिक कर्म का फल प्रत्येक प्राणी को भोगना पड़ता है।

इस प्रकार अनुमान के द्वारा पूर्व जन्म और पुनर्जन्म दोनों ही सिद्ध किए गये हैं।

आप्तोपदेश प्रमाण द्वारा— आप्त द्वारा प्रणीत आगम (शास्त्र) को वेद कहा जाता है। दूसरे कोई भी शास्त्र जो परीक्षकों द्वारा प्रमाणित हों, वेद के अर्थों से अविपरीत (अनुकूल) हों, शिष्ट पुरुषों के द्वारा अनुमोदित हों और लोक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर प्रवृत्त (रचे गए) हों तो ऐसे शास्त्रों को भी आप्त शास्त्र कहा जाता है। आप्त के द्वारा रचित शास्त्रों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि—दान, तपस्या, यज्ञ, सत्य बोलना, अहिंसा का भाव रखना ये अभ्युदय और निःश्रेयस (कल्याण) करने वाले होते हैं। प्रायः अभ्युदय से इहलौकिक सुखों को प्राप्त करना, ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए उन्नति प्राप्त करना और निःश्रेयस से पारलौकिक श्रेय प्राप्त करना समझा जाता है। अथवा अभ्युदय से स्वर्ग और निःश्रेयस से मोक्ष प्राप्ति का ग्रहण किया जाता है।

आप्त पुरुषों ने अपनी योग साधना एवं तपश्चरण के आधार पर जो विशिष्ट ज्ञान प्राप्त किया, जिसके द्वारा उन्हें तीनों लोक की, तीनों कालों की समस्त बातों का प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है। उसके द्वारा उन्होंने पुनर्भव, स्वर्ग, नरक, मोक्ष, आदि का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त किया। उन्होंने अपने ज्ञान के आधार पर जो प्रत्यक्ष किया उसी का उन्होंने उपदेश दिया। इस प्रकार आप्तोपदेश के द्वारा पुनर्जन्म की सिद्धि होती है।

युक्ति प्रमाण द्वारा—पुनर्जन्म की सिद्धि में युक्ति है कि जिस प्रकार छह धातुओं के समुदाय से गर्भ की उत्पत्ति होती है, कर्त्ता और कारण के संयोग से क्रिया होती है, किए हुए कर्म का फल होता है, जो कर्म नहीं किया जाता उसका फल नहीं होता है, बिना बीज के अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती है। उसी प्रकार माता के उदर में जो गर्भोत्पत्ति होती है, उसमें आत्मा कर्ता है और वह पूर्वजन्मकृत कर्मों के आधार पर विभिन्न नीच-ऊँच योनियों में गमन करता रहता है। अर्थात् प्रत्येक जीव पूर्व जन्म के शरीर के माध्यम से किए गए कर्मों के आधार पर इस जन्म में शरीर धारण करता है। इस युक्ति-प्रमाण से भी पूर्व जन्म और पुनर्जन्म इन दोनों की सिद्धि होती है।

इन चार प्रमाणों के द्वारा पुनर्जन्म स्पष्टतः सिद्ध है। आत्मा कर्म बंधन में बंधा हुआ होने के कारण पराधीन रहता है और उन कर्मों का फल भोगने के लिए पुनः पुनः उसे शरीर धारण करना पड़ता है। जब तक आत्मा स्वोपार्जित कर्म के बन्धनों से मुक्त नहीं हो जाता तब तक उसे इसी प्रकार संसार में पुनः पुनः जन्म धारण कर विभिन्न योनियों में भ्रमण करना पड़ता है। कर्म बन्धन से मुक्त होने पर उसे पुनः जन्म नहीं लेना पड़ता और वह अक्षय पद मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

मोक्ष या अपुनर्भव

जब आत्मा कर्मों के बन्धन से छुटकारा पा जाता है तब किसी भी कर्म का उपभोग करने के लिए उसे पुनः शरीर को धारण नहीं करना पड़ता है। जब वह जन्म

धारण नहीं करता है तो उसका मरण (मृत्यु) भी नहीं होता है। जन्म और मरण से रहित होने के कारण संसार परिभ्रमण की उसकी स्थिति समाप्त हो जाती है। इस प्रकार आत्मा को संसार के आवागमन रूपी बन्धन से छुटकारा मिल जाने के कारण वह मुक्त हो जाता है। इस प्रकार की मुक्ति की प्राप्ति के लिए ही आत्मा सतत प्रयत्नशील रहता है। यह मुक्ति पद अक्षय, निर्मल, अविनाशी, अखण्ड, परम अनन्त सुख कारक एवं दिव्यालोक कारक होता है। इसे ही 'मोक्ष' या अपवर्ग' कहते हैं। आत्मा की कर्मों से आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाने के कारण इसे 'निवृत्ति' भी कहते हैं। महर्षि चरक ने निवृत्ति का लक्षण निम्न प्रकार से किया है—

"निवृत्तिरपवर्गः तत् परं प्रशान्तं तदक्षरं तद् ब्रह्म, स मोक्षः"

—चरक संहिता, शारीरस्थान ५।११

अर्थात् निवृत्ति मार्ग को अपवर्ग कहते हैं, वह अपवर्ग सर्वश्रेष्ठ, अत्यन्त शान्त, अविनाशी एवं ब्रह्म स्वरूप होता है, उसे ही मोक्ष कहते हैं।

जब तक आत्मा कर्म बन्धन से युक्त रहता है तब तक वह सांसारिक मोह ममता एवं माया जाल में फँसा रहता है। इसलिए उसे पुनः पुनः जन्म धारण करना पड़ता है। यही पुनर्भव कहलाता है। किन्तु आत्मा के समस्त कर्मो का क्षय हो जाने पर उसे पुनः पुन जन्म धारण नही करना पड़ता है। पुनः जन्म धारण नही करना ही अपुनर्भव कहलाता है। यही आत्मा की मुक्तावस्था होती है और इसे ही मोक्ष, अपवर्ग, मुक्ति या निवृत्ति कहते हैं। महर्षि चरक ने मोक्ष की परिभाषा निम्न प्रकार की है—

मोक्षो रजस्तमोऽभावात् बलवत्कर्मसंक्षयात् ।
वियोगः सर्वसंयोगैरपुनर्भव उच्यते ॥

—चरक संहिता, शारीरस्थान १।१४२

अर्थात् मन से जब रज और तम का अभाव हो जाता है और बलवान कर्मों का क्षय हो जाता है तब कर्म संयोग का वियोग अर्थात् कर्म अन्य बन्धनों से वियोग हो जाता है, उसे अपुनर्भव या मोक्ष कहते हैं जिस के हो जाने पर आत्मा को पुनः शरीर या जन्म धारण नहीं करना पड़ता है।

बलवत् कर्मों का क्षय होने से मुक्ति होती है— यह सर्वतान्त्रिक सिद्धान्त है। मोक्ष का अस्तित्व स्वीकार करने वाले सभी दर्शनों ने इस तथ्य का प्रतिपादन किया है कि आत्म संसृष्ट समस्त कर्मों का क्षय होने पर ही आत्मा को मोक्षोपलब्धि होती है। किन्तु **'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि"** तथा **"प्रारब्धकर्मणो भोगादेव क्षयः"** के अनुसार भोग कर लेने पर जब प्रारब्ध बलवान् कर्म का क्षय होता है तब मुक्ति होती है। कर्म का क्षय होने पर सर्व प्रथम आत्मा ज्ञानालोक से प्रतिभासित एवं देदीप्यमान होता है। आत्मा को होने वाला एतद्विध विशिष्ट ज्ञान **केवल ज्ञान** कहलाता है। यह अपने आपमें परिपूर्ण, निर्मल एवं अखण्ड होता है। इस प्रकार का केवल ज्ञान प्राप्त

होने के बाद ही आत्मा को मोक्ष की प्राप्ति होती है। क्योंकि **"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः"** अर्थात् बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं होती है। बलवान कर्म का क्षय होने पर कर्म के अभाव में संयोग का वियोग (अभाव) स्वतः सिद्ध है। अतः मुक्त पुरुष का पुनर्जन्म नहीं होता है। इसीलिए यह अपुनर्भव या मोक्ष कहलाता है। मोक्ष में आत्मा अनन्त काल तक निवास करता है।

सांख्य दर्शन में मोक्ष विषय को अधिकृत कर विस्तृत विवेचन किया गया है। प्रकृति जिस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति में कारण है उसी प्रकार वह पुरुष (आत्मा) की मुक्ति में भी कारण है। सांख्यदर्शन के अनुसार पुरुष स्वभावतः असंग एवं मुक्त होता है, किन्तु अविवेक के कारण प्रकृति के साथ उसका संयोग निष्पन्न होता है। इस संयोग से प्रकृति के द्वारा जो दुःख उत्पन्न होता है और उसका जो प्रतिविम्ब पुरुष पर पड़ता है वही इस पुरुष का दुःख भोग संसार है। अतः सृष्टि का मूलकारण अविवेक है और दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति का साधन विवेक है। सांख्यदर्शन के अनुसार जो जीव एक बार मुक्त हो जाता है वह पुनः बन्धन में नहीं पड़ता है। इस का कारण यह है कि पुरुष यह समझने लगता है कि प्रकृति के समस्त रूपों को मैं देख चुका हूं। अतः देखी हुई वस्तु को पुनः क्या देखना ? इसलिए वह प्रकृति के दर्शन की उपेक्षा कर देता है। प्रकृति भी समझती है कि पुरुष मेरे समस्त रूपों का अवलोकन कर चुका है, अतः वह लज्जा के कारण पुनः पुरुष के सम्मुख नहीं आती है। इस प्रकार दोनों उदासीन हो जाते हैं। इस प्रकार की दोनों की अथवा दोनों में से किसी एक की उदासीनता को अपवर्ग कहते हैं। यथा—**"द्वयोरेकतरस्य वा औदासीन्यमपवर्गः।"** प्रकृति और पुरुष का परस्पर वियोग होना अथवा एकाकी होना कैवल्य या मोक्ष है। बंध और मोक्ष वस्तुतः प्रकृति के धर्म हैं, पुरुष के नहीं।

सांख्यदर्शन में किए गए विवेचन के अनुसार पुरुष न तो बंध को प्राप्त होता है और न मुक्त होता है। उसका संसरण भी नहीं होता है। प्रकृति ही अनेक आश्रयों वाली होकर बुद्धि, अहंकार, तन्मात्रा, इन्द्रियाँ और महाभूतों से बद्ध होती है, मुक्त होती है और संसार में आवागमन करती है। केवल प्रतिबिम्ब के कारण पुरुष पर बन्धन तथा मोक्ष का आरोप होता है। अतः प्रकृति ही पुरुष को बद्ध एवं मुक्त करती है। यही अभिप्राय निम्न कारिका से व्यक्त होता है—

तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥ — सांख्य कारिका ६२

पुरुष के मोक्ष प्राप्त करने का अभिप्राय यह है कि वह अपनी स्वतन्त्र असंग और केवलत्व की स्थिति को प्राप्त कर लेता है। व्यक्त-अव्यक्त तथा ज्ञ के तत्व

ज्ञान से विवेक सिद्धि होती है, जिसका फल निःशेष दुःख निवृत्ति है। उसी अवस्था से पुरुष की कृतकृत्यता है। प्रत्येक पुरुष की मुक्ति के लिए ही प्रकृति का समस्त व्यापार होता है। यथा—

प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः।" —साँख्य कारिका

साँख्यदर्शन में प्रकृति को नर्तकी एवं पुरुष को दर्शक के समान निरूपित किया गया है। अर्थात् वह प्रकृति नर्तकी के समान है जो शृंगारादि रसों से तथा रति-हास आदि भावों से रचे हुए गीत, वाद्य, नृत्य के द्वारा रंग मंच पर उपस्थित सभासदों का मनोरंजन करती है। जब इसका कर्म समाप्त हो जाता है तो वह वहां से चली जाती है। इस प्रकार पुरुष के सम्मुख स्वयं को प्रकट कर प्रकृति लौट जाती है। निम्नकारिका में यही भाव व्यक्त किया गया है—

रंगस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।
पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाश्य निवर्तते प्रकृतिः॥ —साँख्य कारिका ५९

सांख्य दर्शन में निरूपित प्रकृति इतनी सुकुमार एवं लज्जाशील है कि एक बार पुरुष के द्वारा उपभोग किए जाने पर वह दुबारा पुरुष के समक्ष उपस्थित नहीं होती है। अर्थात् विवेकशील पुरुष के प्रति प्रकृति का कोई व्यापार नहीं होता है। विवेक हो जाने से पुरुष को भी निश्चय हो जाता है कि मैं कर्त्ता नहीं हूं। यह भोग्य शरीर मेरा नहीं है। क्योंकि मैं इससे भिन्न हूं। मैं भोक्ता भी नहीं हूं। ऐसा संशय रहित पंचविंशति तत्वात्मक ज्ञान पुरुष को जब उत्पन्न होता है तो प्रकृति स्वयं पुरुष का साथ छोड़ देती है। प्रस्तुत सन्दर्भ में निम्न कारिका दृष्टव्य है—

प्रकृतेः सुकुमारतरं न किंचिदस्तीति मे मतिः।
या दृष्टाऽस्मिति न पुनर्दर्शनमुपैति पुरुषस्य॥ —साँख्य कारिका

पुनश्च—

एवं तत्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद्विशुद्धं के समुत्पद्यते ज्ञानम्॥ —साँख्य कारिका ६४

तत्व ज्ञान का उदय होने पर भी आत्मा जब तक पूर्व जन्म के संस्कार वश शरीर को धारण किए रहता है, तब तक शरीर के निर्वाह के लिए कुछ न कुछ कार्य अवश्य ही करता रहता है। किन्तु उन कार्यों के प्रति राग द्वेष का अभाव होने से तथा ज्ञानाग्नि के द्वारा दग्ध होने से वे कर्म दग्ध बीज की भाँति फल देने में असमर्थ रहते हैं। अतः वे कर्म कर्त्ता को बन्धन में नहीं डाल सकते। इस प्रकार कर्मों का क्षय करने वाला ज्ञानी जब तक शरीर धारण किए रहता है अर्थात् जीवित रहता है तब तक वह 'जीवन मुक्त' कहलाता है। किन्तु शरीर का त्याग कर देने के पश्चात् उसका निर्वाण हो जाने पर विगत देह वाला होने से 'विदेह मुक्त' कहलाता है।

सप्तदश अध्याय

कार्य कारण भाव एवं वाद निरूपण

जिस प्रकार दर्शन शास्त्र में कार्य कारण भाव का महत्व है उसी प्रकार आयुर्वेद में भी कार्य कारण सिद्धान्त को महत्व पूर्ण माना गया है। कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है। कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है। यह प्रकृति का नियम है। आयुर्वेद के अनुसार शरीर में उत्पन्न होने वाले विभिन्न रोग अन्यान्य कारण की अपेक्षा रखते हैं। रोगों को उत्पन्न करने वाले उन कारणों को आयुर्वेद में हेतु या निदान कहा गया है। जो रोग जिन हेतु या निदान का सेवन करने से उत्पन्न होता है उन हेतु या निदान के अभाव में व्याधि का उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार मिथ्या आहार विहार रूप कारण के सेवन से वातादि दोष का प्रकोप रूप कार्य उत्पन्न होता है तथा दोष प्रकोप रूप कारण से रोगोद्भव रूप कार्य उत्पन्न होता है। व्याधि का नाश या व्याधि का शमन भी कार्य है जो औषध रूप कारण के सेवन से उत्पन्न होता है। मनुष्य के शरीर का निरोग होना या आरोग्य भी एक कार्य है जो स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमों का पालन करने या समुचित औषध का सेवन करने से उत्पन्न होता है। शुक्र शोणित के संयोग से भ्रूण का निर्माण होता है। अतः शुक्र शोणित संयोग कारण और भ्रूणोत्पत्ति कार्य है। इस प्रकार आयुर्वेद में ऐसे अनेक भाव विशेष विद्यमान हैं जो कार्य कारण भाव (सिद्धान्त) की अपेक्षा रखते हैं।

कारण का स्वरूप एवं भेद

जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है। कारण के बिना कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता। अतः वह भाव विशेष जिसके अभाव में कार्य का उत्पन्न होना सम्भव नहीं है कारण कहलाता है। भिन्न भिन्न ग्रंथकारों एवं दर्शनकारों ने अपनी अपनी दृष्टि से कारण का स्वरूप प्रतिपादित किया है। यथा

"कार्योत्पादकत्वं कारणत्वम्।" —सप्तपदार्थी

अर्थात् कार्य को उत्पन्न करने वाला कारण होता।

"कार्यनियतपूर्ववर्ति कारणम्।" —तर्क संग्रह

अर्थात् नियत रूप से कार्य से पूर्व विद्यमान रहने वाला कारण होता है।

अन्यथासिद्धनियतपूर्ववृतिकारणम्।" —तर्क भाषा

अर्थात् जो अन्यथा सिद्ध हो, नियत (निश्चित) हो और पूर्ववर्ति (कार्य से पूर्व रहने वाला) हो वह कारण होता है।

अन्यथासिद्धिशून्यस्य नियता पूर्ववर्तिता।
कारणत्वं भवेत्तस्य त्रैविध्यं परिकीर्तितम् —**भाषा परिच्छेद**

अर्थात् अन्यथा सिद्धि से शून्य कार्य की नियता और पूर्ववर्तिता कारण होती है। वह (कारण) तीन प्रकार का कहा गया है।

उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कारण वह है जो बिना अपवाद के कारण से पूर्व विद्यामान रहता है और जिसकी आवश्यकता केवल मात्र सहायक के रूप में ही नहीं, अपितु कार्य की उत्पत्ति के लिए भी है। वस्तुतः यह एक घटना क्रम का पूर्ववर्ती अवयव है जो सतत रूप से अनेक अवस्थाओं में पूर्ववर्ती रहा है। किन्तु केवल पूर्ववर्ती होना ही पर्याप्त नहीं है। इसे एक ावश्यक पूर्ववर्ती होना चाहिए।

कारण सामान्यत: तीन प्रकार का माना गया है—समवायि कारण, असमवायि कारण और निमित्त कारण।

समवायि कारण— इसे उपादान कारण भी कहते हैं। यह कार्य की उत्पत्ति में प्रमुख होता है और कार्य के साथ विद्यमान रहता है। तर्क संग्रह में समवायि कारण का निम्न लक्षण प्रतिपादित किया गया है—**यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणम्।** अर्थात् जिस द्रव्य के समवाय सम्बन्ध से कार्य की उत्पत्ति होती है उसे समवायि कारण कहते है। समवायि कारण अपने उत्पन्न हुए कार्य में समवेत रूप से विद्यामान रहता है। जैसे घट का समवायि कारण मिट्टी है, कपड़े का समवायि कारण धागा या तन्तु है, कुण्डल का समवायि कारण स्वर्ण है। न्याय दर्शन के अनुसार भी कार्य का नाश उपादान कारण के विनाश से होता है। समवायि कारण का नाश होने पर ही कार्य का नाश होता है। प्रत्येक कार्य का समवायि कारण अपने कार्य में विद्यमान रहता है। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है। पट (कपड़ा) के निर्माण में तन्तु, जुलाहा, कपड़ा बुनने के उपकरण करघा तथा अन्य साधन आदि विभिन्न कारण विद्यमान रहते हैं जो संयुक्त रूप से मिल कर पर (कपड़े) का निर्माण करते हैं, किन्तु जुलाहा आदि तो पट का निर्माण करके अलग हट जाते हैं, जबकि तन्तु उसी पट में विद्यमान रहता है। उसे पट से पृथक् नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार जो कारण अपने कार्य से पृथक् नहीं होता है, कार्य के साथ ही समवेत रूप से रहता है वह **समवायि** कारण कहलाता है।

असमवायि कारण—कार्य एवं समवायि कारण का ऐसा संयोग जिसके बिना कार्य की उत्पत्ति होना सम्भव न हो **असमवायि कारण** कहलाता है। इसका लक्षण

निम्न प्रकार प्रतिपादित किया गया है -"**कार्येण कारणेन वा सहैकस्मिन्नर्थे समवेतं सत् कारणमसमवायिकारणम्।**" - तर्क संग्रह। अर्थात् जो कार्य अथवा कारण के साथ किसी विषय (कार्य) में समवेत होता हुआ कारण हो वह असमवायि कारण कहलाता है। अभिप्राय यह है कि ऐसा कारण जो स्वयं समवायि कारण न होते हुए भी कार्य अथवा समवायि कारण के साथ घनिष्ट रुपेण इस प्रकार सम्बद्ध हो कि उसके साथ समवेत होने पर ही कार्य की उत्पत्ति होती हो, अन्यथा नहीं **असमवायि कारण** कहलाता है। जैसे "तन्तुओं का पारस्परिक संयोग।" जब तक तन्तुओं का संयोजन व्यवस्थित रूप से नहीं होगा या किया जायेगा तब तक पट (कपड़े) का निर्माण होना सम्भव नहीं है। तन्तुओं का ढेर लगा देने मात्र से उन तन्तुओं से पट निर्माण रूप कार्योत्पत्ति की अपेक्षा नहीं की जा सकती है। यद्यपि तन्तुओं का यह व्यवस्थित संयोजन (संयोग) कार्य (पट निर्माण) का समवायि कारण नहीं है, तथापि उसके बिना पट का निर्माण होना सम्भव नहीं है और वह भी पट (कार्य) के साथ समवेत रहता है, अतः वह उस पट रूप कार्य का असमवायि कारण है।

निमित्त कारण— कार्य की उत्पत्ति में सहयोग करने वाले अन्य कारण जो कार्योत्पत्ति के पश्चात् कार्य से पृथक् हो जाते हैं **निमित्त कारण** कहलाते हैं। यह निमित्त कारण उपर्युक्त दोनों कारणों से भिन्न होता है। जैसा कि शास्त्र में प्रतिपादित किया किया गया है—"**तदुभयभिन्नं कारणं निमित्तकारण्।**"--तर्क संग्रह। अर्थात् उपर्युक्त दोनों से भिन्न जो कारण होता है वह निमित्त कारण कहलाता है। अभिप्राय यह है कि समवायि कारण के अतिरिक्त अन्य जो भी उपकरण एवं साधन आदि कार्य की उत्पत्ति में सहायक रूप से कारण भूत होते हैं वे सब निमित्त कारण होते हैं। कार्य उत्पादन कर्त्ता भी निमित्त कारण के अन्तर्गत ही आता है। क्योंकि वह भी कार्योत्पत्ति के अनन्तर कार्य से पृथक् हो जाता है।

इस प्रकार किसी भी कार्य की उत्पत्ति में उपर्युक्त त्रिविध कारणों की अपेक्षा रहती है, अन्यथा कार्योत्पत्ति होना सम्भव नहीं है। यही कार्य कारण भाव होता है। इसे ही अन्य आचार्य कार्य कारण सिद्धान्त भी कहते हैं। तर्क संग्रह में कार्य को प्रागभाव का प्रतियोगी माना गया है। अर्थात् कार्योत्पत्ति से पूर्व उस कार्य का अभाव रहता है-यही प्रागभाव है। कार्य उत्पन्न हो जाने पर उसका अभाव स्वतः नष्ट हो जाता है यही प्रतियोगिता है। इसीलिए कार्य को प्रागभाव का प्रतियोगी कहा गया है।

आयुर्वेद में कार्य कारण भाव

आयुर्वेद में कार्य कारण भाव का विशेष महत्व है। विभिन्न रोगों की उत्पत्ति, रोगों का नाश, आरोग्य सम्पादन आदि अनेक बातें हैं जो मात्र कार्य कारण भाव पर ही

आधारित है। जिस प्रकार संसार के अन्य कार्यों की उत्पत्ति के लिए समवायि, असमवायि और निमित्त-इन तीन प्रकार के कारणों की अपेक्षा रहती है उसी प्रकार विभिन्न रोगों की उत्पत्ति के लिए भी ये त्रिविध कारण अपेक्षित होते हैं। क्योंकि रोग भी एक कार्य है और कोई भी कार्य बिना कारण के उत्पन्न नहीं होता है। रोग की उत्पत्ति में दोष वैषम्य समवायि कारण, बाह्य आहार आचार आदि निमित्त कारण तथा विकृत दोष एवं द्रव्य का संयोग असमवायि कारण होता है। इस प्रकार रोग की उत्पत्ति में इन तीनों प्रकार के कारणों की उपस्थिति अनिवार्य है। तीनों की स्वतन्त्र सत्ता है और तीनों अन्योन्य प्रेरित हैं। ये परस्पर प्रतिद्वन्द्वी नहीं है, अतः सामान्यतः तीनों ही रोगोत्पत्ति में कारण माने जाते हैं।

आयुर्वेद में रोगोत्पादक कारण को निदान या हेतु कहा जाता है। जैसा कि आचार्यों ने कहा है '**निदानं रोगोत्पादको हेतुः।**' अन्यत्र भी '**निदानं कारणमित्युक्तमग्रे।**' इसी प्रकार रोग नाश रूप कार्य को करने में हेतु या कारण चिकित्सा है। तद्वदेव आरोग्य भी कार्य है और उसके सम्यक् अनुरक्षण में हेतु या कारण सद्वृत्त (स्वस्थवृत्त) है। आयुर्वेद के अनुसार रोग को उत्पन्न करने में जो कारण होता है उसे **निदान** कहते हैं। वह निदान चार प्रकार का होता है। यथा-सन्निकृष्ट, विप्रकृष्ट, व्यभिचारी और प्राधानिक।

सन्निकृष्ट हेतु—जैसे दिन-रात, ऋतु और भोजन इनके पृथक् पृथक् अंश दोषों को प्रकुपित करने में कारण हैं, वे दोष संचय आदि की अपेक्षा नहीं रखते। जैसे दिन और रात्रि के पूर्व भाग में कफ, मध्य भाग में पित्त और अन्त भाग में वात का प्रकोप होता है। इसी प्रकार भोजन के आदि, मध्य और अन्त में क्रमशः कफ, पित्त और वात का प्रकोप होता है।

विप्रकृष्ट हेतु—जैसे हेमन्त ऋतु में संचित श्लेष्मा वसन्त ऋतु में प्रकुपित होकर श्लैष्मिक रोगों को उत्पन्न करता है। ग्रीष्म ऋतु में संचित वात वर्षा में प्रकुपित होकर वातज रोगों को और वर्षा ऋतु में संचित पित्त शरद ऋतु में प्रकुपित होकर पैत्तिक रोगों को उत्पन्न करता है। यह दूरस्थ या विप्रकृष्ट निदान है।

व्यभिचारी हेतु— जो हेतु व्याधि को उत्पन्न करने में असमर्थ होता है उसे व्यभिचारी हेतु कहा जाता है। जैसा कि महर्षि चरक ने भी कहा है—**अवालीयांसोऽथवानुबध्नन्ति न तदा विकाराभिनिर्वृत्तिः।** (च० नि० ४/५) अर्थात् निदानादि जब निर्बल होते हैं और निर्बल होने से दूष्यों से सम्बन्ध नहीं करते तब विकारोत्पत्ति नहीं होती है।

प्राधानिक हेतु—उग्र स्वाभाव के कारण शीघ्र ही दोषों को प्रकुपित करके रोगों को उत्पन्न करने वाला हेतु प्राधानिक कहलाता है। मारक तीव्र विष इस श्रेणी

में आते हैं। विष व्यवायी आदि दस गुणों वाला होने से शरीर में शीघ्र लीन होकर विकार उत्पन्न करता है।

इन चार प्रकार के हेतुओं के अतिरिक्त पुनः तीन प्रकार का हेतु बतलाया गया है। यथा १. असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, २. प्रज्ञापराध और ३. परिणाम। इनमें श्रोत्र आदि पांच ज्ञानेन्द्रियों से शब्द आदि इन्द्रियार्थों का हीन, मिथ्या और अतियोग होना **असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग** कहलाता है। अयथार्थ ज्ञान से प्रेरित होकर कर्म करना **प्रज्ञापराध** है। धी, धृति और स्मृति के विलुप्त होने पर मनुष्य जो अशुभ कर्म करता है वह **प्रज्ञापराध** कहलाता है। विभिन्न ऋतुओं के अपने अपने स्वभाव से होने वाली शीतता, ग्रीष्म (उष्णता) एवं वर्षा का अयोग, अतियोग और मिथ्या योग होना परिणाम कहलाता है।

इसके अतिरिक्त रोगोत्पादक हेतु पुनः तीन प्रकार के बतलाए गए हैं। यथा दोष हेतु, व्याधि हेतु और उभय हेतु। दोषों का संचय, प्रकोप एवं प्रशमन करने वाले स्वभावतः उत्पन्न मधुरादि रस दोष हेतु कहलाते हैं। दोष निरपेक्ष व्याधि का उत्पादक हेतु व्याधि हेतु होता है। जैसे मृद् भक्षण से पाण्डु रोग उत्पन्न होना। विशिष्ट दोष का प्रकोपक होते हुए भी व्याधि विशेष का भी उत्पादक हेतु उभय हेतु कहलाता है।

इस प्रकार आयुर्वेद की दृष्टि से विभिन्न प्रकार के हेतुओं (करणों) से विभिन्न रोगों की उत्पत्ति होती है जिससे कार्य-कारण भाव स्पष्ट है। अर्थात् यदि कारण याने रोगोत्पादक विविध हेतु नहीं होंगे तो कार्य याने रोग उत्पन्न नहीं होगा। इसी प्रकार चतुष्पाद रूपी कारण के अभाव में रोगनाश रूपी कार्य का होना असम्भव है। अतः स्पष्ट है कि कारण के होने पर ही कार्य होता है।

दार्शनिक मनीषियों द्वारा उपर्युक्त कार्य-कारण भाव को व्यक्त करने वाले निम्न दो सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्धान्त स्वीकार किए गए हैं—सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद। ये दोनों सिद्धान्त यद्यपि एक दूसरे से सर्वथा भिन्न एवं विपरीतता युक्त हैं, फिर भी कार्य और कारण भाव का विवेक इनमें विद्यमान होने के कारण इन्हें सधर्मी माना गया है। ये दोनों सिद्धान्त यद्यपि एक दूसरे के मत का खण्डन करते हुए स्वमत का प्रतिपादन करते हैं, किन्तु कार्य की सत्ता के प्रति चूंकि दोनों मतावलम्बी समान दृष्टिकोण रखते हैं, अतः एकत्र ही दोनों का प्रतिपादन किया जा रहा है।

सत्कार्यवाद

यह सांख्य दर्शन का महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के द्वारा सांख्य दर्शन कार्य और कारण में कोई भेद नहीं मानता। कार्य और कारण में जो भेद परिलक्षित होता है वह केवल व्यवहारिक है। वस्तुतः तात्विक दृष्टि के कोई भेद नहीं है। क्योंकि

सांख्य दर्शन के मतानुसार जो कार्य उत्पन्न होता है उसका अस्तित्व उत्पन्न होने से पूर्व अपने कारण में अव्यक्त रूप से अवश्य विद्यमान रहता है। यदि उत्पद्यमान कार्य का अव्यक्त अस्तित्व अपने कारण में विद्यमान न होता तो उससे कार्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। जैसे दूध में मक्खन विद्यमान रहता है, किन्तु अव्यक्त होने से वह दिखलाई नहीं पड़ता। उसी दूध का दही जमाकर विलोने से वह प्राप्त हो जाता है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि कार्य केवल कारण की व्यक्तावस्था है और कारण केवल कार्य की अव्यक्तावस्था है। अतः कार्य और कारण में कोई मौलिक भेद नहीं है। साँख्य दर्शन का यही सिद्धान्त सत्कार्यवाद कहलाता है। इस कार्य-कारणवाद को ही आचार्यों ने परिणामवाद भी कहा है। अतः ये दोनों इसी सिद्धान्त के द्योतक नामान्तर मात्र हैं। सांख्य दर्शन ने अपने उपर्युक्त सिद्धान्त के प्रतिपादन में निम्न कारण एवं युक्तियाँ दी हैं—

असदकारणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥

— सांख्य कारिका ९

अर्थात् असद् कारण से सत्कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। उपादान ग्रहण (सत् कारण) से ही सत्कार्य की उत्पत्ति होती है। सभी प्रकार के कारणों से सभी प्रकार के कार्यों की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। शक्तिमान कारण से शक्य वस्तु की उत्पत्ति होती है, अतः कारण की सत्ता होने के सत्कार्य होता है। याने कार्य का अस्तित्व प्रकाश में आता है।

असद्कारणात्—जिस वस्तु का अस्तित्व नहीं होता है उसकी उत्पत्ति कदापि सम्भव नहीं है। क्योंकि जो वस्तु सत्तायुक्त (अस्तित्ववान्) होती है वही सत् होती है। सत्ता रहित वस्तु असत् होती है। जो वस्तु सत्ताहीन, अविद्यमान, अस्तित्वहीन या असत् होती है उससे सत् रूप कार्य की उत्पत्ति कदापि सम्भव नहीं है।

जैसे "**नासदुत्पादो नृशृंगवत्** (**सां. द. ११४**) अर्थात् जिस प्रकार मनुष्य के सिर में सींग उत्पन्न नहीं हो सकते हैं, उसी प्रकार असत्कार्य की उत्पत्ति भी सम्भव नहीं हैं। जो सत् रूप कार्य उत्पन्न होता है वह अपने उत्पादक सत् रूप कारण में पहले से विद्यमान रहता है। क्योंकि कार्य का अस्तित्व रहने पर ही कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है।

इसी प्रकार अव्यक्त से उत्पन्न होने वाले महदादि तत्व भी सत्कार्य हैं। क्योंकि वे बीज रूपेण अपने उत्पादक सत्कारण रूप अव्यक्त में विद्यमान रहते हैं। घट रूप कार्य को उत्पन्न करने में मिट्टी कारण है। इसीलिए मिट्टी से घट का निर्माण (उत्पत्ति)

होना सम्भव है। यदि मिट्टी में घट रूप कार्य का अस्तित्व नहीं होता तो उससे किसी भी प्रकार घट की उत्पत्ति नहीं हो पाती। क्योंकि असत् कारण होने से अर्थात् कारण में कार्य का अस्तित्व नहीं होने से अनेक प्रयत्न करने पर भी कार्य को उत्पन्न नहीं किया जा सकता। जैसे पत्थर से पानी उत्पन्न करना सम्भव नहीं है। क्योंकि पानी रूप कार्य का अस्तित्व पत्थर रूप कारण में विद्यमान नहीं है।

उपादान ग्रहणात्—उपादान का तात्पर्य है नियत कारण। प्रत्येक कार्य का कारण नियत होता है। उसे ही उपादान कहते हैं। उपादान अर्थात् कारण के नियत होने से ही नियत कार्य की उत्पत्ति होती है। जिस कार्य का जो उपादान (नियत कारण) है उसी कारण से वह कार्य उत्पन्न होता है। "**उपादाननियमात्**" (सां. द. ११५) अर्थात् उपादान कारण का नियम होने से असत् (अविद्यमान) कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता। सत् कारण से सत्कार्य की उत्पत्ति होना ही उपादान नियम है। जैसे दही का उपादान (नियत कारण) दूध है, वस्त्र का उपादान कारण तन्तु है, घट का उपादान कारण मिट्टी है।

सर्व सम्भवाभावात्—सभी कारणों से सभी कार्यों की उत्पत्ति होना सम्भव नहीं है, क्योंकि उचित काल एवं उपयुक्त साधन होने पर ही कारण से कार्य उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त समस्त प्रकार के कारण समस्त कार्यों को उत्पन्न करने में असमर्थ हैं—"**सर्वत्र सर्वदा सर्वासम्भवात्**" (सां. द. ११६) अर्थात् समस्त काल में प्रत्येक कारण से प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति होना असम्भव है। अतः कार्य का अस्तित्व निज सत्कारण में ही रहता है और उसी कारण से वह उत्पन्न होता है न कि अन्य कारण से। गर्भज प्राणी गर्भ से ही उत्पन्न होते हैं। स्वेदज जन्तु स्वेद से और अण्डज प्राणी अण्डे से ही उत्पन्न होते हैं। तेल तिलहन से ही निकल सकता है, मिट्टी या पत्थर से नहीं। दही दूध से ही जम सकता है, पानी या अन्य द्रव्य से नहीं।

शक्तस्य शक्यकरणात्—जिस कारण में कार्य को उत्पन्न करने का सामर्थ्य या क्षमता है वह कारण ही कार्य को उत्पन्न कर सकता है। अतः शक्ति सम्पन्न कारण से ही शक्य कार्य उत्पन्न होता है। अशक्त कारण में कार्योत्पादन का अभाव होने से उससे शक्य कार्य की उत्पत्ति होना सम्भव नहीं है। अतः कार्योत्पादन में समर्थ कारण में ही कार्य का अस्तित्व अव्यक्त रूपेण विद्यमान रहता है।

कारणभावात्—कारण भाव से अर्थात् कार्य उत्पन्न होने से पूर्व अपने कारणभाव में विद्यमान रहता है। जैसे उत्पन्न होने वाला वृक्ष अपने कारण भाव बीज रूप में अव्यक्त रूपेण विद्यमान रहता है। अतः वस्तुतः कार्य और कारण में कोई मौलिक भेद नहीं है। दोनों अभिन्न हैं। दोनों में केवल अवस्था भेद है। कार्य और कारण एक ही पदार्थ की दो अवस्था विशेष हैं। व्यक्तावस्था कार्य और अव्यक्तावस्था कारण कहलाती है।

उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि कार्य जब तक उत्पन्न नहीं होता है अथवा अपने व्यक्त स्वरूप में नहीं आता है तब तक वह अपने कारण में विद्यमान रहता है। इस दृष्टि से सांख्य दर्शन मतानुसार न तो किसी पदार्थ की उत्पत्ति होती है और न किसी पदार्थ का विनाश होता है। अपितु हमें किसी द्रव्य की उत्पत्ति का जो अनुभव होता है, वह वस्तुतः उसकी अभिव्यक्ति मात्र है। कोई अव्यक्त पदार्थ यदि अपने व्यक्त स्वरूप में आता है तो व्यवहारिक रूप से हम भले ही उसकी उत्पत्ति कहें, किन्तु यथार्थतः वह उसकी अभिव्यक्ति मात्र है। इसी प्रकार पदार्थ की व्यक्तावस्था जब अव्यक्तावस्था में परिवर्तित हो जाती है तब कहा जाता है कि पदार्थ का विनाश हो गया। किन्तु यथार्थ स्थिति यह है कि कार्य अपने कारण में तिरोहित हो जाता है। पदार्थ का स्थूलत्व अपने सूक्ष्मत्व में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार सत्कार्यवाद के सिद्धान्तानुसार न तो किसी द्रव्य की सर्वथा नवीन उत्पत्ति होती और न ही नितान्ततः उसका विनाश होता है। क्योंकि जो असत् (अस्तित्व हीन) होता है उसकी कभी उत्पत्ति नहीं हो सकती और जो सत् होता है उसका कभी विनाश नहीं होता। हमें द्रव्य का जो विनाश दिखलाई पड़ता है वह केवल उसकी-पर्याय या अवस्था का परिवर्तन मात्र है। भगवद् गीता में भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया गया है। यथा—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

अर्थात्—असत् (अस्तित्व रहित) द्रव्य का भाव (उत्पत्ति) और (अस्तित्ववान्) द्रव्य का अभाव (निवाश) कभी नहीं होता। इसी तथ्य को आगे निम्न प्रकार से स्पष्ट किया गया है—

अव्यक्ताद् व्यक्तय: सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
राज्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥

—भगवद् गीता ८/१८

अर्थात् प्रभात होने (दिन निकल आने) पर समस्त पदार्थ अव्यक्त (अस्पष्ट या अंधकारावृत) से व्यक्त (स्पष्ट या भासमान) हो जाते हैं और रात्रि होने पर पुनः उसी अव्यक्त संज्ञा (अन्धकार) में विलीन हो जाते हैं।

सांख्य कारिका की उपर्युक्त कारिका की व्याख्या करते हुए श्री वाचस्पति ने सत्कार्यवाद का समर्थन निम्न प्रकार से किया है—

एक वस्तु में उत्पत्ति तथा विनाश क्रिया की बुद्धि के व्यपदेश या समर्थन होने से एकान्तिक भेद की सिद्धि सम्भव नहीं है। जैसे यह तन्तु है, यह पट है, इस प्रकार तन्तु में पट बुद्धि के व्यपदेश का समर्थन होने से एकान्तिक भेद नहीं होता। क्योंकि एक द्रव्य में उसकी विशेष अवस्था में आविर्भाव और तिरोभाव होने से उनमें मौलिक

भेद नहीं है। जैसे कछुआ अपने अंग (सिर और ग्रीवा) को अपने शरीर में छिपा लेता है अर्थात् उसके अंगों का तिरोभाव हो जाता है। इस का अभिप्राय यह नहीं है कि उसके अंगों का विनाश हो जाता है। इसी प्रकार पुनः वह अपने तिरोभूत या छुपाए हुए अंगों को बाहर निकालता है तब अंगों का आविर्भाव हो जाता है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि वे अंग नवीन रूप से उत्पन्न हो जाते हैं। अपितु अंग तो प्रत्येक अवस्था में विद्यमान हैं, वे केवल अव्यक्त और व्यक्त होते हैं। उसी प्रकार मिट्टी का घड़ा तथा सुवर्ण के मुकट आदि का आविर्भाव उसकी उत्पत्ति का बोधक होता है और उसका निदेश अर्थात् घड़े का पुनः मिट्टी रूप में होना तथा मुकुट का पुनः स्वर्ण रूप में होना उसका विनाश या विध्वंस कहलाता है। किन्तु वस्तुतः यह उत्पत्ति और विनाश न हो कर केवल अवस्थान्तर प्राप्ति है। अतः इस व्यवस्था से असत् की उत्पत्ति और सत् विनाश सम्भव नहीं है?

जैन दर्शन में भी "**उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्**" यह सत् का लक्षण बतलाते हुए प्रत्येक द्रव्य की तीन अवस्थाओं का निरूपण किया है। तदनुसार जब मिट्टी से घट का निर्माण किया जाता है तो घटाकार की उत्पत्ति होती है, मिट्टी की आकृति का विनाश होता है-यह व्यय है। किन्तु मिट्टी दोनों ही अवस्थाओं में यथावत् रहती है। यह ध्रौव्यत्व है। इस प्रकार घट निर्माण में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्तता होने से वह सत् रूप है। इसी प्रकार स्वर्ण से जब कोई आभूषण बनाया जाता है तो आभूषण का निर्माण होना उत्पाद है, जिस आकार विशेष में स्वर्ण विद्यमान था उसका विनाश होना व्यय है। आभूषण निर्माण और उससे पूर्वकी स्थिति दोनों में स्वर्ण विद्यमान है यह ध्रौव्य है। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त होता है। कथन का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक द्रव्य अस्तित्ववान् है। जब एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य का निर्माण होता है तो प्रथम द्रव्य का विनाश और दूसरे द्रव्य की उत्पत्ति मानी जाती है, जबकि वस्तुस्थिति यह है कि न तो पूर्व द्रव्य का विनाश होता है और न ही अपर द्रव्य की उत्पति, अपितु द्रव्य की मात्र पर्याय बदलती है। जैसे मिट्टी अपनी पर्याय को छोड़कर घट पर्याय को धारण कर लेती है अथवा स्वर्ण अपनी पूर्व पर्याय का परित्याग कर कुण्डल या अन्य आभूषण की पर्याय को धारण कर लेता है।

असत्कार्यवाद

सत्कार्यवाद से विपरीत या भिन्न असत्कार्यवाद होता है। न्याय दर्शन में सत्कार्यवाद का खण्डन एवं निराकरण करते हुए असत्कार्यवाद को मान्य किया गया है। नैयायिकों के अनुसार किसी भी कार्य की उत्पत्ति से पूर्व उसकी सत्ता कारण में

नहीं रहती है। अतः सत्कार्यवादियों का यह कथन ठीक नहीं है कि कार्य अपने कारण में पहले से ही विद्यमान रहता है। वस्तुतः कोई भी कार्य अपने किसी कारण में पहले से विद्यमान नहीं रहता है, अपितु उत्पन्न होने के बाद वह प्रकट होता है। अतः वह एक सर्वथा नवीन रचना या कृति होती है और उत्पत्ति के बाद ही उसके अस्तित्व की अनुभूति होती है। नैयायिकों के मतानुसार प्रत्येक कार्य अपने उपादान कारण (समवायि या मूल करण) से सर्वथा भिन्न होता है। साथ ही उसकी उत्पत्ति या अभिव्यक्ति में अन्य कारण जैसे कर्त्ता, निमित्त कारण आदि भी अपेक्षित होते हैं। उन अन्य कारणों के अभाव में कार्य की उत्पत्ति होना सम्भव नहीं है। अतः यह मानना समीचीन नहीं है कि मूल कारण में कार्य की सत्ता पहले ही विद्यमान रहती है।

जिस स्वर्ण से कुण्डल (आभूषण) का निर्माण होता है वह स्वर्ण यद्यपि कुण्डल के निर्माण में कारण है, किन्तु स्वर्ण ही कुण्डल नहीं है। इसी प्रकार जिस मिट्टी से घड़े का निर्माण होता है वह मिट्टी यद्यपि घट रूप कार्य की उत्पत्ति में कारण है, किन्तु मिट्टी ही घड़ा नहीं है। अतः कुण्डल स्वर्ण से और घडा मिट्टी से सर्वथा भिन्न है। इस प्रकार कार्य असत् (अविद्यमान) होते हुए भी उत्पन्न होता है या उत्पन्न किया जाता है।

असत्कार्यवाद के समर्थक एवं सत्कार्यवाद के विरोधी दार्शनिकों के मतानुसार यदि कार्य को कारण से भिन्न नहीं माना जाय और यदि यह माना जाय कि उत्पन्न होने से पूर्व कार्य अपने ही कारण में अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है तो फिर उसकी उत्पत्ति के लिए निमित्त आदि कारणान्तर अपेक्षित क्यों हैं ? उसे स्वयं उत्पन्न हो जाना चाहिये था। साथ ही यदि कारण में कार्य का अस्तित्व पहले ही विद्यमान है तो एकाकार होने से दोनों को एक ही संज्ञा (नाम) से व्यवहृत किया जाना चाहिये। पृथक्-पृथक् नामकरण की आवश्यकता नहीं होना चाहिये थी। इस प्रकार दोनों में अभेद मान कर व्यवहार करना चाहिये। अर्थात् घड़े और मिट्टी को या तो घड़ा ही कहा जाना चाहिये या मिट्टी। ऐसी स्थिति में दोनों में भेद करना सम्भव नहीं होगा। किन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं है। दोनों भिन्न और पृथक् हैं। घड़ा अलग है और मिट्टी अलग है।

यदि कारण से कार्य भिन्न नही माना जाय और कारण में कार्य का अस्तित्व पहले ही स्वीकार कर लिया जाय तो दोनों से समान प्रयोजन की सिद्धि होना चाहिये। किन्तु ऐसा नहीं होता है। घड़ा पानी रखने के प्रयोजन को सिद्ध करता है जबकि मिट्टी गृह निर्माण तथा अन्य वस्तुओं के निर्माण के प्रयोजन को सिद्ध करती है। अतः दोनों में भिन्नता एवं पृथगस्तित्व स्पष्ट है। घट और मिट्टी की आकृति, स्वरूप आदि में भी भिन्नता स्पष्टतः लक्षित होती है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार मिट्टी से घट आदि का निर्माण होता है उसी प्रकार मृन्मय घट से भी अन्य वस्तुओं का निर्माण

होना चाहिये। किन्तु यह सम्भव नहीं है। अतः स्पष्ट है कि घड़ा (कार्य) और मिट्टी (कारण) भिन्न स्वरूप, भिन्न स्थिति और अस्तित्व वाले अलग-अलग द्रव्य हैं।

आयुर्वेद में असत्कार्यवाद को मान्य नहीं किया गया है। सत्कार्यवाद के अभाव में आयुर्वेद का मुख्य प्रयोजन स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षण**मातुरस्य विकारप्रशमनम्** की सिद्धि नहीं हो पाएगी। क्योंकि यह कार्य है और कारण के बिना इसका (कार्य का) होना सम्भव नहीं है। अतः आयुर्वेद में सत्कार्यवाद को ही मान्य किया गया है।

परमाणुवाद

यह वैशेषिक दर्शन सम्मत महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार संसार के समस्त द्रव्यों का कोई न कोई परिमाण अवश्य होता है। द्रव्यगत यह परिमाण चार प्रकार का हो सकता है। यथा अणुपरिमाण, महत्परिमाण, ह्रस्व परिमाण और दीर्घ परिमाण। कोई भी द्रव्य इस चतुर्विध परिमाण का अतिक्रमण नहीं कर सकता है। सामान्यतः द्रव्य उपर्युक्त परिमाण की अपेक्षा रखते हैं। अर्थात् द्रव्य एक दूसरे की अपेक्षा अणु या महत्परिमाण वाले हो सकते हैं। जैसे एक घड़ा अपने से बड़े (महत्) घड़े की अपेक्षा छोटा (अणु) है, किन्तु वही घड़ा अपने से छोटे (अणु) घड़े की अपेक्षा बड़ा (महत्) है। इस प्रकार अपेक्षा भेद से परिमाण में अन्तर हो सकता है। किन्तु प्रकृति का यह नियम है कि यदि किसी द्रव्य की निरन्तर उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाय तो किसी न किसी स्थान पर उसकी समाप्ति या विश्राम अवश्यम्भावी है। अर्थात् द्रव्य की वृद्धि की एक सीमा है जिसके आगे द्रव्य की वृद्धि नहीं होती है। वह सीमा ही परम महत् परिमाण है। जैसे-आकाश। आकाश द्रव्य समस्त द्रव्यों में महत्परिमाण वाला है। उससे अधिक महत्परिमाण किसी अन्य द्रव्य का सम्भव नहीं है। इसी प्रकार किसी द्रव्य को छोटे से छोटा किया जाय तो अन्त में उस स्थान पर जाकर रुकना पड़ेगा जहां उसका उस से अधिक छोटा आकार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार द्रव्य का सब से छोटा आकार ही अणु परिमाण कहलाता है। द्रव्य के न्यूनातिन्यून होने की अंतिम सीमा अणुपरिमाण तक है। इस से छोटा आकार उसका नहीं होने से वह **'परमाणु'** कहलाता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि जो परम अणु अर्थात् परम सूक्ष्म परिमाण वाला होता है उसे **'परमाणु'** कहते हैं। यह परमाणु निरवयव एवं अचाक्षुष होता है। अर्थात् परमाणु का पुनः विभाग नहीं होता। क्योंकि उसका अन्य अवयव नहीं होता। अन्य अवयव नहीं होने से वह एकावयवी या निरवयव है। यह इतना सूक्ष्म होता है कि चक्षुओं के द्वारा उसका ग्रहण नहीं होता है। अतः वह अचाक्षुष है। इस तथ्य का स्पष्टीकरण न्याय भाष्य में वात्सायन मुनि द्वारा निम्न प्रकार से किया गया है—

जब किसी मिट्टी के ढेले को पीसने से उसके अवयवों का विभाग हो जाता है और उक्त विभाग से अवयव उत्तरोत्तर अल्प-अल्पतर होते हुए जहाँ समाप्त हो जाते हैं अर्थात् जहां अवयवों के अल्प-अल्पतर होने का तारतम्य समाप्त हो जाता है, जिसके अनन्तर विभाग करने पर भी कोई अवयव विभक्त नहीं हो सकता वही अंतिम होने से अन्त्यावयव एवं अवयव रहित होने से निरवयव रूप हुआ परम सूक्ष्म होने के कारण 'परमाणु' कहलाता है। यही परमाणु संसार के विभिन्न द्रव्यों की इकाई माना जाता है। यह सर्वापेक्षया सूक्ष्म, इन्द्रियातीत, निरवयव और नित्य होता है। द्रव्यों के असंख्य होने के कारण तथा एक द्रव्य के असंख्य परमाणु होने के कारण ये असंख्य होते हैं।

सामान्यतः चक्षुओं के द्वारा दिखलाई देने वाला सूक्ष्मतम द्रव्य वह धूलिकण है जो खिड़की के द्वारा आने वाले प्रकाश की किरणों में उड़ता हुआ परिलक्षित होता है। उसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः यही अणु है और इससे सूक्ष्मतम अवयव या विभाग नहीं हो सकता। किन्तु वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। उसके उत्तरोत्तर विभाग किए जा सकते हैं। अब प्रश्न यह है कि विभाग कहां तक किया जा सकता है? यदि केवल कल्पना के आधार पर ही विभाग किया जाय तो विभाजन का कार्य समाप्त नहीं हो सकेगा और न ही इस विभाजन श्रृंखला का अन्त होगा। अतः यह प्रवृत्ति अनन्त तक चलती रहेगी। ऐसा होने पर अनवस्था दोष उत्पन्न होगा और अनवस्था होने पर संसार के सभी द्रव्यों को एक ही परिमाण वाला स्वीकार करना पड़ेगा। परिणामतः राई और पर्वत के परिणाम में कोई अन्तर नहीं होगा। अभिप्राय यह है कि जिस द्रव्य के आरम्भक अवयवों की संख्या अधिक होती है वह अधिक परिमाण वाला और जिस द्रव्य के आरम्भक अवयवों की संख्या अल्प होती है वह न्यून परिणाम वाला होता है-यह नियम है। इस नियम के अनुसार पर्वत और राई दोनों के परस्पर परिमाण में भेद है। क्योंकि पर्वत के आरम्भक अवयवों की संख्या अधिक और राई के आरम्भक अवयवों की संख्या न्यून होती है। इन दोनों का क्रमशः विभाग करने पर कहीं न कहीं अन्त अवश्य होगा। यदि इनके विभाग का अन्त नहीं माना जाय तो अनवस्था होगी और अनवस्था के कारण दोनों का परिमाण एक ही होना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं है। अतः दोनों के विभाग का अन्त अवश्य है। जो अंतिम अवयव होगा वही द्रव्य की इकाई है और वही परमाणु कहलाता है। इसी आधार पर विद्वानों का मत है—

जालान्तरगते भानोः यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः।
तस्य त्रिंशत्तमो भागः परमाणुरुच्यते बुधैः॥

वैशेषिक दर्शन ने इस विषय में गम्भीर चिन्तन की विलक्षण विचार धारा

प्रस्तुत की है। प्रशस्तपाद भाष्य के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति परमाणु समूह से हुई है। द्रव्य के सूक्ष्मतम अवयव की इकाई को परमाणु कहा गया है। इन परमाणुओं के संयोग से 'द्व्यणुक' का निर्माण होता है। इसे अणु भी कहते हैं। कारण, चक्षु के द्वारा इसका ग्रहण नहीं होता है। अतः परमाणु की भांति यह भी अतीन्द्रिय होता है। किन्तु कार्य होने से अणु अथवा द्व्यणुक अनित्य होता है। इसके विपरीत परमाणु नित्य होता है। तीन द्व्यणुकों के संयोग से त्र्यणुक की उत्पत्ति होती है। वह त्रसरेणु भी कहलाता है। यह महत् परिमाण वाला होता है। महत् परिमाण वाला होने से त्रसरेणु चाक्षुष अर्थात् चक्षु इन्द्रियगम्य होता है। त्रसरेणु के आगे समस्त द्रव्य चाक्षुष एवं कार्य होने से अनित्य होते हैं। संसार के समस्त द्रव्य कार्य हैं और प्रत्येक द्रव्य के आरम्भक परमाणु पृथक् हैं। पृथक् पृथक् होने से वे अनेक हैं। अतः एक ही परमाणु की कल्पना निर्मूल है। यदि एक ही परमाणु पृथ्वी आदि कार्य द्रव्यों का आरम्भक होता तो इसके नित्य होने से निरन्तर कार्य की उत्पत्ति बनी रहती और कभी भी कार्य का विनाश नहीं होता। क्योंकि निम्न दो कारणों से कार्य का विनाश होता है—(१) अवयव विभाग और (२) अवयव नाश। किन्तु परमाणु एक होने से उनका अवयव-विभाग सम्भव नहीं है और परमाणु के नित्य होने से उसका विनाश भी सम्भव नहीं है। अतः प्रत्येक कार्य द्रव्य अपने पृथक्-पृथक् परमाणुओं का समूह मात्र है। सभी कार्य द्रव्यों का परमाणु एक नहीं है। अपितु भिन्न-भिन्न और अनेक हैं।

भिन्न-भिन्न दर्शनिक विद्वानों ने अपने दृष्टिकोण एवं सिद्धान्त के अनुसार परमाणु को भिन्न-भिन्न नाम से व्यवहृत किया है। यद्यपि सामान्यतः प्रायः सभी दर्शनाचार्यों ने परमाणु के अस्तित्व को स्वीकार किया है, किन्तु उनके प्रतिपादन में मात्र संज्ञा भेद ही है, मौलिक रूप से कोई अन्तर नहीं है। यद्यपि प्रकार भेद की दृष्टि से परमाणुओं का वर्गीकरण अथवा श्रेणी विभाजन नहीं किया जा सकता है, क्योंकि कार्य द्रव्यों की अनेकता के कारण परमाणु भी अनेक हैं। किन्तु फिर भी सत्व-रज और तम भेद से परमाणु तीन प्रकार के होते हैं। इन्हीं को सांख्य दर्शन, योग दर्शन और वेदान्त दर्शन में त्रिगुण संज्ञा से व्यवहृत किया गया है। न्याय, वैशेषिक और मीमांसा दर्शन में इनकी परमाणु संज्ञा है। उपनिषदों में इनका उल्लेख लोहित, शुक्ल और कृष्ण तथा प्रकाशक, क्रिया जनक और आवरक नाम से किया गया है। इस प्रकार दार्शनिकों के मतानुसार कार्य द्रव्यों की उत्पत्ति में कारण भूत द्रव्य परमाणु ही है, किन्तु उसका नामकरण भिन्न-भिन्न है। उपादान कारणत्व की दृष्टि से कोई भिन्नता नहीं है।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार भी सृष्टि का स्वरूप परमाणमय है। किन्तु उसके

मतनुसार जिन परमाणुओं से सृष्टि की उत्पत्ति होती है वे परमाणु विभाजनशील और अनित्य हैं। भारतीय दार्शनिकों का मत इसके सर्वथा विपरीत है। न्याय और वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक महर्षि गौतम एवं कणाद के अनुसार परमाणु नित्य और अविभाजनशील होता है। आधुनिक विज्ञान सम्मत परमाणु पाञ्च भौतिक है, इसके विपरीत वैशेषिक दर्शनोक्त परमाणु महाभूतों को उत्पन्न करने वाला है। पाँच महाभूतों में से चार महाभूत अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, और वायु परमाणु रूप से और आकाश व्यापक रूप से कार्य द्रव्य की उत्पत्ति में कारण होते है। द्रव्यों का विभाजित नहीं होने वाला अंश ही परमाणु है। इसके अतिरिक्त आधुनिक विज्ञान सम्मत परमाणु स्वयं गुण रहित होते हैं और उनमें तौल, स्थान व क्रम का अन्तर होता है। किन्तु महर्षि कणाद द्वारा स्वीकृत परमाणु विशेष गुण से युक्त होता है। पाश्चात्य दर्शन शास्त्र के आचार्यों ने परमाणुओं को स्वत: गमनशील और आत्मा को भी उत्पन्न करने वाला निरूपित किया है। वे अनन्त आकाश में विचरण करते हुए परस्पर संघर्ष से सृष्टि की उत्पत्ति करने में सक्षम होते हैं। इसके विपरीत वैशेषिक दर्शन के सिद्धान्तानुसार परमाणु स्वभावत: शान्त एवं निष्पंद अवस्था में होतें हैं। उनमें स्पन्दन क्रिया अदृष्टजन्य है। अर्थात् जिस प्रकार अयष्कान्त मणि (चुम्बक विशेष) की ओर सुई की स्वाभाविक गति, वृक्षों में रस का नीचे से ऊपर की ओर चढ़ना और मन की द्रुत गति अदृप्टजन्य है। ये परमाणु महाभूत को उत्पन्न करने वाले होते हैं। आत्मा स्वयं नित्य और चेतनावान् है। अत: परमाणुओं के द्वारा आत्म तत्व की उत्पत्ति का पाश्चात्य सिद्धान्त न केवल भ्रामक अपितु निर्मूल है। इस प्रकार भारतीम दर्शन को चिन्तन धारा से अनुप्राणित परमाणु-वाद सिद्धान्त पाश्चात्य परमाणुवाद के सिद्धान्त से सर्वथा विपरीत है।

स्वभावोपरमवाद

'स्वभावोपरम' का सामान्य अर्थ होता है—कारण निरपेक्ष विनाश अर्थात् जिसके विनाश में कोई कारण न हो, अथवा स्वभावत: (अपने आप) वस्तु का विनाश होना। यथा—"**स्वाभावात् विनाशकारणनिरपेक्षात् उपरमो विनाश: स्वभावोपरम:**"। इसके अनुसार संसार के समस्त भावों का स्वभावत: उपरम (विनाश) होता है। अर्थात् विनाश का कोई कारण नहीं होता। भावों की प्रवृत्ति या वृद्धि का तो कोई कारण अवश्य होता है, किन्तु भावों के विनाश का कोई कारण नहीं होता। वह स्वभावत: स्वत: हो जाता है। यह आयुर्वेद का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। चिकित्सा की दृष्टि से यह अत्यधिक उपयोगी सिद्धान्त है। महर्षि चरक ने शरीर की धातुओं पर इस सिद्धान्त की उपयोगिता का प्रतिपादन किया है। यथा—

जायन्ते हेतुवैषम्याद्विषमा देहधातव:।
हेतुसाम्यात्समास्तेषां स्वभावोपरम: सदा ॥

—चरकसंहिता, सूत्रस्थान १६/२७

अर्थात् जिन कारणों से धातुओं की पुष्टि होती है उन कारणों में यदि विषमता आ जाती है तो शारीरिक धातुओं में भी विषमता आ जाती है। यदि कारणों में समता रहती है तो देह धातुओं में भी समता हो जाती है। इन धातुओं की शान्ति (शमन या विनाश) स्वभाव से ही होती रहती है।

आयुर्वेद के अनुसार समस्त साधन, भेषज एवं अन्य भौतिक द्रव्य क्षणभंगी हैं, फिर भी शमन होता है। उपर्युक्त श्लोक द्वारा इसी तथ्य की पुष्टि होती है। शरीर में धातुओं की वृद्धि और ह्रास सतत होता रहता है। हम जो कुछ भी आहार लेते हैं उससे रसादि सप्त धातु, वातादि दोष एवं पुरीषादि मल पुष्ट होते हैं। इसका कारण यह है कि—"**वृद्धि: समानै: सर्वेषां विपरीतैर्विपर्यय:**" के अनुसार जिस धातु के समान आहार रस होता है वह आहार रस उस धातु की वृद्धि करने वाला होता है और जिस धातु के गुणों के विपरीत आहार रस होता है वह रस उस धातु का ह्रास करने वाला होता है। इसी तथ्य का स्पष्टीकरण चरक के उपर्युक्त श्लोक में किया गया है।

यद्यपि सामान्य-विशेष सिद्धान्त के अनुसार शरीर के दोष-धातु-मल की वृद्धि और ह्रास हुआ करता है, किन्तु इन दोनों कारणों के अतिरिक्त प्रत्येक कार्य करने पर भी धातुओं का क्षय हुआ करता है, जिसकी पूर्ति आहार रस के द्वारा क्रमश: हुआ करती है। अर्थात् रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से शुक्र धातु की पुष्टि होती रहती है। आहार का सेवन करने के पश्चात् जब उसका मधुर विपाक होता है तब मधुर रस उत्पन्न होने से कफ की, अम्ल विपाक होने पर अम्ल रस की उत्पत्ति होने से पित्त की और कटु विपाक होने पर (कटु रस का निर्माण) होने से वात की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार शरीर में दोष धातु आदि का जो स्वभावत: क्षय (नाश) होता है उसकी पूर्ति आहार रस से होती रहती है। महर्षि चरक के मतानुसार भावों की प्रवृत्ति तो सहेतुक होती है, किन्तु स्वभावोपरम अहेतुक होता है। यथा—

प्रवृत्तिर्हेतुर्भावानां न निरोधेऽस्ति कारणम्।
केचित्तत्रापि मन्यन्ते हेतुं हेतोरवर्तनम् ॥

—चरक संहिता, सूत्रस्थान १६/२८

अर्थात् उत्पन्न होने वाले भावों की प्रवृत्ति (उत्पत्ति) का तो कारण होता है, किन्तु उसके निरोध (नाश) में कोई कारण नहीं होता है। कुछ लोग हेतु का नहीं होना ही नाश में कारण मानते हैं।

अभिप्राय यह है कि रस रक्तादि-धातुओं की उत्पत्ति में आहार रस आदि

कारण होते हैं। किंतु धातुओं के नाश होने में कोई कारण नहीं होता है। क्योंकि नाश स्वभावतः ही होता रहता है। इसी प्रकार आहार की विषमता से धातुओं में विषमता उत्पन्न हो जाती है। किन्तु विषमता के नाश में कोई कारण नहीं है। इस सिद्धान्त के अनुसार जो यह बतलाया गया है कि—'मधुराम्ललवणा वातं शमयन्ति' अर्थात् मधुर, अम्ल और लवण रस से वायु का शमन होता है-उसका नाश होता है। इसका अभिप्राय यह है कि मधुरादि रस अपने समान गुण वाले दोष-धातु की वृद्धि करने वाले होते हैं। ये बढ़े हुए दोष-धातु अपने से विपरीत गुण वाले दोष धातु को स्वभावः कम कर देते हैं। अतः ये रस वात शामक हैं—ऐसा कहा जाता है। मधुर, अम्ल, और लवण रस पूर्ण रूप से कफ की वृद्धि करते हैं और अम्ल-लवण रस पूर्ण रूप से पित्त की वृद्धि करते हैं। अतः इससे विपरीत गुण वाली वायु में स्वभावतः दुर्बलता आ जाती है। वायु में जब दुर्बलता आ जाती है तो स्वभावतः उसका शमन हो जाता है। इसी प्रकार अन्य दोष और धातुओं के विषय में भी समझना चाहिए कि अपने विपरीत गुण वाले दोष और धातु की वृद्धि हो जाने पर स्वभावतः उनका क्षय हो जाता है। इसीलिए उत्पत्ति में कारण माना है, विनाश में नहीं। इसी तथ्य को महर्षि चरक ने निम्न प्रकार से और भी अधिक स्पष्ट किया है। यथा—

न नाशकारणाभावाद् भावानां नाशकारणम्।
ज्ञायते नित्यगस्येव कालस्यात्ययकारणम्॥
शीघ्रगत्वाद्यथाभूतास्तथाभावो विपद्यते।
निरोधे कारणं तस्य नास्ति नैवान्यथा क्रिया॥

—चरक संहिता, सूत्रस्थान १६/३२-३३

अर्थात् नित्य चलने वाले काल के नाश के कारण की तरह, नाश के कारण का अभाव होने से उत्पन्न होने वाले भाव पदार्थों के नाश का कारण ज्ञात नहीं होता है। भाव पदार्थ जिस तरह उत्पन्न होता है उसी प्रकार शीघ्रगामी होने से नष्ट भी हो जाता है। इस तरह भाव पदार्थ के नाश में कोई कारण नहीं है और उसमें कोई संस्कार भी नहीं किया जा सकता है। अभिप्राय यह है कि जैसे नित्य शीघ्रगामी काल का नाश अज्ञात कारण से होता है उसी प्रकार भावों के विनाश का कारण भी अज्ञात है। काल निरन्तर गमनशील है, इसकी उपस्थिति में शरीर एवं संसार के सम्पूर्ण भाव भी गमनशील तथा परिवर्तनशील हैं। जो भाव नष्ट हो जाते हैं उनके स्थान पर नए भाव उसी भांति उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार भाव उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते रहते हैं। विनाश अकारण होने से इस विनाश को रोका नहीं जा सकता है तथा विनष्ट हुए द्रव्य को दूसरे रूप से परिवर्तित नहीं किया जा सकता है।

इसी प्रकार शरीर की धातुएं भी प्रतिक्षण नष्ट होती रहती हैं और रूपान्तर में परिणत होती रहती हैं। धातुओं के परिणाम और निरोध (विनाश) में कोई कारण नहीं है और इसके स्वरूप में हम कोई परिवर्तन भी नहीं कर सकते। जो वस्तु जिस समय जिस रूप में अवस्थित रहती है वह वस्तु दूसरे ही क्षण में ठीक अपने ही समान वस्तु को उत्पन्न कर तीसरे क्षण में स्वयं नष्ट हो जाती है। अर्थात् प्रथम क्षण में स्वयं उत्पन्न होती है, दूसरे क्षण में अपने समान वस्तु को उत्पन्न करती है और तीसरे क्षण में स्वयं नष्ट हो जाती है। जब वस्तु तीसरे क्षण में स्वतः नष्ट होने लगती है तो उसमें किसी कारण की अपेक्षा नहीं होती। किन्तु ये क्रियाएं इतनी तीव्र गति से सम्पन्न होती हैं कि सामान्यतः हमें इसका ज्ञान नहीं हो पाता। तात्पर्य यह कि उसकी प्रथम अवस्था के नाश में कोई कारण नहीं है और उसके विनाश में कोई भिन्न क्रिया भी नहीं होती है। इससे सिद्ध होता है कि दोषों के विषम होने पर रोगोत्पत्ति होती है। यह विषमावस्था प्रथम क्षण में उत्पन्न होती है, दूसरे क्षण में अपने समान ही विषम अवस्था को उत्पन्न कर तीसरे क्षण में स्वयं नष्ट हो जाती है। इस प्रकार पहले की विषमावस्था ज्यों की त्यों बनी रहती है। अतः उसे कम करने के लिए चिकित्सा शास्त्र की आवश्यकता होती है।

वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर संक्षेप में कहा जा सकता है कि शरीर में सदा निर्माण और उपरम (Wear and tear phenomena) का कार्य चल रहा है। Wear Phenomenon (निर्माण) में तो आहार आदि से पूर्ति होने के कारण वह सहेतुक है। किन्तु Tear Phenomenon (उपरम) सदा स्वाभाविक (Netural) गति से ही होता है और वह अहेतुक है। स्वाभावोपरमवाद वर्तमान वैज्ञानिक विचार सरणि से अत्यधिक मिलता जुलता है। प्राचीन दर्शनों में यह बौद्ध दर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है।

परिणामवाद

परिणाम का अर्थ होता है परिवर्तन होना, परिणत होना या बदल जाना। जब कोई वस्तु अपना स्वरूप परिवर्तन कर अन्य रूप धारण कर लेती है तो वह परिवर्तित रूप पूर्व वाली वस्तु का परिणाम कहलाता है। यह रूपान्तरण या विकार भी कहलाता है। जैसे दूध जब जम जाता है तो वह दही बन जाता है। अतः दही दूध का परिणाम या विकार कहलाता है। इसी प्रकार पानी जब जम जाता है तो वह ठोस रूप धारण कर बर्फ बन जाता है। पानी का यह रूपान्तरण भी परिणाम ही कहलाता है। दार्शनिकों ने इसे ही परिणामवाद की संज्ञा दी है। सांख्य दर्शन में परिणामवाद को मान्य किया गया है। इसी के आधार पर सांख्य दर्शन में सृष्टि के

उत्पत्ति क्रम की विवेचना की गई है। सांख्य दर्शन में सृष्टि की उत्पत्ति का मूल कारण 'प्रकृति' को माना गया है जिसे '**अव्यक्त**' के नाम से व्यवहृत किया गया है। यह कार्य रूपा सम्पूर्ण सृष्टि (सम्पूर्ण चराचर जगत्) उसी मूल कारण रूप प्रकृति या अव्यक्त का परिणाम है। इस प्रकार दार्शनिक दृष्टि से परिणामवाद की उपयोगिता स्वीकार की गई है।

आयुर्वेद में परिणामवाद की प्रतीति स्थान-स्थान पर होती है। हम प्रतिदिन जो आहार ग्रहण करते हैं उसका पाचन होकर वह सार और किट्ट रूप में परिवर्तित होता है। सार भाग रस कहलाता है और किट्ट भाग मल या पुरीष कहलाता है। इस प्रकार भुक्त आहार का परिणाम रस और पुरीष होता है। इसी प्रकार उस आहार रस का कुछ अंश रस धातु में, रस धातु का कुछ अंश मांस धातु में, मांस धातु का कुछ अंश मेदो धातु में, मेदो धातु का कुछ अंश अस्थि धातु में, अस्थि धातु का कुछ अंश मज्जा धातु में और मज्जा धातु का कुछ अंश शुक्र धातु में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार एक धातु की उत्तरोत्तर धातु में परिणति होना परिणामवाद की ही ज्ञापक है। महर्षि सुश्रुत ने धातुओं का उपर्युक्त परिणाम निम्न प्रकार से प्रतिपादित किया है :—

रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रजायते ।
मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्ज्ञः शुक्रस्य सम्भवः ॥
—सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थान १४/११

इसी प्रकार शरीर में जाठराग्नि के द्वारा आहार का परिपाक होने के अनन्तर जो रसोत्पत्ति होती है तथा रसों के परिपाक (परिणाम) के अन्त में जो भाव विशेष उत्पन्न होता है वह 'विपाक' कहलाता है। अतः विपाक भी रसों का परिणाम ही है। यही भाव आचार्य वाग्भट् ने निम्न प्रकार से व्यक्त किया है—

जाठरेणाग्निना योगाद्यदुदेति रसान्तरम् ।
रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृतः ॥ —अष्टांग हृदय

महर्षि चरक ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है कि रस रक्तादि धातुएं परिणाम को प्राप्त होती हैं और परिणाम को प्राप्त होने वाली उन धातुओं का अभिवहन करने वाले स्रोत होते हैं। इस प्रकार उन्हें भी परिणामवाद अभीष्ट था। इसका आभास उनके निम्न वचन से मिलता है—

स्रोतांसि खलु परिणाममापद्यमानानां धातूनामभिवाहीनि भवन्त्ययनार्थेन ।
—चरक संहिता, विमान स्थान ५/३

इस सूत्र वाक्य में प्रयुक्त '**परिणाममापद्यमानानाम्**' शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य चक्रपाणि दत्त ने निम्न प्रकार से उसे स्पष्ट किया है—

"परिणाममापद्यमानानामिति पूर्वं पूर्वरसादिरूपतापरित्यागेनोत्तरोत्तररक्तादि रूपतामापद्यमानानाम् ।"

अर्थात् परिणाम को प्राप्त होने वाली का अभिप्राय है पूर्व पूर्व रसादिरूपता का परित्याग करते हुए उत्तरोत्तर रक्तादि रूपता को प्राप्त होने वाली। तात्पर्य यह है कि रस धातु का परिणाम रक्त है, रक्त का परिणाम मांस है, मांस का परिणाम मेद है, मेद का परिणाम अस्थि, अस्थि का परिणाम मज्जा और मज्जा का परिणाम शुक्र होता है।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि आयुर्वेद में भी परिणामवाद को अंगीकार कर उसके आधार पर अनेक महत्वपूर्ण विषयों का प्रतिपादन किया गया है। इससे एक बात यह भी स्पष्ट होती है कि वह परिणाम दो प्रकार का होता है—धर्म परिणाम और लक्षण परिणाम। इसमें धर्म परिणाम वह होता है जिसमें वस्तु या परिणमन शील भाव विशेष के गुणों में परिवर्तन आ जाता है। जैसे भुक्त आहार का परिणाम रस होता है, रस का परिणाम रक्त होता है, रक्त का परिणाम मांस होता है इत्यादि। इसमें उत्तरोत्तर परिणाम को प्राप्त (परिणत) हुए भावों के रूप आकार में तो परिवर्तन होता ही है उनके गुणों में भी परिवर्तन आ जाता है। इस प्रकार यह धर्म परिणाम होता है। इसके विपरीत जहां पर केवल रूप परिवर्तन होता है, गुण में कोई परिवर्तन नहीं होता वह लक्षण परिणाम होता है। जैसे दूध का परिणाम मलाई होता है। इसमें वस्तुतः दूध के गुणों में परिवर्तन नहीं होता है उसका मात्र रूप ही परिवर्तित होता है। यह लक्षण परिणाम होता है।

प्रकृति और काल के प्रभाववश मनुष्य के शरीर में भी परिवर्तन होता रहता है जो वयः परिणाम है। महर्षि सुश्रुत ने इस प्रकार के परिवर्तन एवं परिणामजन्य प्रभाव को निम्न प्रकार से व्यक्त किया है—"**बालानामपि वयः परिणामाच्छुक्रप्रादुर्भावो भवति**"—सु० सू० १४। अर्थात् बालकों में वय के परिणाम (पूर्व वय का त्याग और उत्तर वय की प्राप्ति) से शुक्र का प्रादुर्भाव होता है।

इस प्रकार परिणाम संज्ञक यह कारण अत्यन्त व्यापक, उपादेय एवं ज्ञेय है। यही कारण है कि आयुर्वेद में परिणामवाद के आधार पर अनेक महत्वपूर्ण सिद्धान्तों एवं विषयों का प्रतिपादन एवं विवेचन किया गया है।

विवर्तवाद

विवर्त का सामान्य अर्थ होता है भ्रम या भ्रान्ति। यह मिथ्या ज्ञान होता है। विवर्त की शाब्दिक व्याख्या के अनुसार "**विरुद्धं वर्तनं व्यवहारः इति विवर्तः।**"

अर्थात् विरुद्ध (विपरीत या मिथ्या) व्यवहार (प्रतीति या आभास) जिसमें हो वह विवर्त कहलाता है। किसी वस्तु में यथार्थ प्रतीति न होकर भ्रम मूलक मिथ्या या विपरीत प्रतीति होना **विवर्तवाद** है। जब हम किसी वस्तु को उसके वास्तविक रूप में न जान कर किसी अन्य वस्तु के रूप में जानते या समझते हैं तो वह विवर्त कहलाता है। जैसे थोड़ी दूर पर पड़ी हुई रस्सी को सर्प समझ कर डर जाना। यहां पर रस्सी में सर्प का मिथ्या ज्ञान हुआ। इसी प्रकार सायं काल के झुरमुट में किंचित् दूरस्थ स्थाणु (ठूंठ) को देखकर उसे पुरुषाकृति समझना विपरीत या मिथ्या ज्ञान के कारण विवर्तवाद है।

विवर्तवाद का समर्थन एवं प्रतिपादन शाङ्कर वेदान्त के द्वारा किया गया है। आचार्य शंकर की मान्यता है कि विवर्तवाद के अनुसार वस्तुतः कारण अपने कार्य रूप में परिवर्तित नहीं होता है, जैसा कि परिणामवाद में होता है, अपितु कारण में मात्र कार्य की प्रतीति होने लगती है। इसमें रस्सी बदल कर सर्प नहीं बन जाती है या स्थाणु बदल कर पुरुष नहीं हो जाता है अपितु रस्सी में सर्प का और स्थाणु में पुरुषाकृति का आभास होने लगता है। इस प्रकार वस्तु स्वरूप का परिवर्तन हुए बिना उसमें होने वाला विपरीत या मिथ्या ज्ञान "अतात्विक अन्यथा प्रतीति" होता है। इसे ही विवर्तवाद की संज्ञा दी गई है। इसमें सत्य और यथार्थ का अभाव रहता है। परिणामवाद की भांति वस्तु स्वरूप में परिवर्तन नहीं होता है। कार्य या कारण अपने मौलिक स्वरूप में ही विद्यमान रहता है। अतः यह अतात्विक अन्यथा प्रतीति होता है।

वेदान्तवादी दार्शनिक "**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या**" का उद्घोष करते हुए सम्पूर्ण चराचर विश्व को मिथ्या मानते हैं। उनके अनुसार जगत् में मात्र ब्रह्म ही सत्य है शेष समस्त पदार्थ मिथ्या हैं। अतः सम्पूर्ण जगत् और उसमें विद्यमान समस्त पदार्थ मिथ्या होने से वितर्त रूप हैं। ब्रह्म कारण है और जगत् उसका कार्य है। इस प्रकार कार्य रूप यह सम्पूर्ण जगत् कारण रूप ब्रह्म का विवर्त है। वेदान्त दर्शन में इस तथ्य का प्रतिपादन निम्न प्रकार से किया गया है—

ब्रह्मैव सज्जगदिदं तु विवर्तरूपम्।
मायेशशक्तिरखिलं जगदातनोति॥

अर्थात् ब्रह्म ही सत् (सत्य) है और यह संसार विवर्त रूप है। माया की शक्ति के कारण यह सम्पूर्ण जगत् सत् स्वरूप प्रतिभासित (प्रतीत) होता है।

आयुर्वेद शास्त्र में विवर्तवाद कहीं भी परिलक्षित नहीं होता है। अतः स्पष्ट है कि आयुर्वेद के मनीषियों को विवर्तवाद अभीष्ट नहीं है। किसी भी प्रसंग में उन्होंने

इसका समर्थन नहीं किया है। मिथ्या ज्ञान होने से सम्भवतः आयुर्वेद में इसकी कोई उपयोगिता एवं सार्थकता नहीं है। अन्य दर्शन शास्त्रों में भी इसे स्वीकार नहीं किया गया है।

क्षणभंगुरवाद

इस सिद्धान्त के अनुसार संसार में कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है। प्रत्येक भाव की एक क्षण में उत्पत्ति दूसरे क्षण में स्थिति और तीसरे क्षण में विनाश हो जाता है। इस प्रकार संसार का प्रत्येक द्रव्य या भाव प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है। यह बौद्धों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त है। इसके अनुसार बौद्ध प्रतिक्षण नया उत्पाद मानते हैं। उनकी दृष्टि में पूर्व एवं उत्तर के साथ वर्तमान का कोई सम्बन्ध नहीं है। जिस काल में जो जहां है वह वहीं और उसी काल में नष्ट हो जाता है। सदृशता ही कार्य-कारण भाव आदि व्यवहारों की नियामिका है। वस्तुतः दो क्षणों का परस्पर कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार बौद्धों की दृष्टि में प्रत्येक द्रव्य की सत्ता क्षणिक होती है। यही बौद्धों का क्षणभंगुरवाद है। इसे असत्कार्यवाद की संज्ञा भी दी गई है।

क्षणभंगुरवाद बौद्ध दर्शन का सबसे बड़ा और प्रमुख सिद्धान्त है। इस वाद के अनुसार विश्व में कुछ भी स्थिर नहीं है। चारों ओर परिवर्तन ही परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है हमें अपने शरीर पर ही विश्वास नहीं है, क्योंकि इस मानव देह और मानव जीवन का ही कोई ठिकाना नहीं है। बौद्ध दर्शन में भावनाओं के कारण ही क्षणभंगुरवाद का आविर्भाव हुआ है। वैसे तो प्रत्येक दर्शन ही भंग (नाश) को मानता है, किन्तु बौद्ध दर्शन की यह विशेषता है कि उसने जिस भंग को अपनाया है, उसके अनुसार कोई भी वस्तु एक क्षण से अधिक स्थिर नहीं रह पाती है, अगले (दूसरे) ही क्षण वह वही या उसी रूप में नहीं रहती है, अपितु परिवर्तित या दूसरी हो जाती है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु का प्रत्येक क्षण में स्वाभाविक विनाश होता रहता है।

बौद्ध दर्शन में तर्क के आधार पर क्षणिकत्व की सिद्धि इस प्रकार की गई है—"**सर्वं क्षणिकं सत्वात्**" अर्थात् समस्त पदार्थ क्षणिक हैं सत् होने से। सत् वह है जो अर्थ क्रिया (कुछ काम) करे। जैसा कि कहा गया है—'**अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वाद् वस्तुनः।**' न्यायबिन्दु पृ० १७। इसके अनुसार इस ढंग की अनेक व्याप्तियां बनी हुई हैं कि जो-जो सत् है वे सभी क्षणिक हैं, अर्थात् नित्य नहीं हैं अथवा जो-जो सत् है वह सभी प्रकार से एक-दूसरे से भिन्न और विलक्षण है। अर्थात् कोई भी किसी के सदृश नहीं है। उससे अतिरिक्त अन्य स्थानों में सतपने का व्याघात हो जाने से अर्थ क्रिया की क्षति है। सम्पूर्ण सत् पदार्थ एक ही क्षण में सर्वांशतः या समूल विनाश को प्राप्त

हो जाने वाले स्वभाववान् हैं। अर्थात् प्रतिक्षण विनाश होना उनका स्वभाव है। अभिप्राय यह है कि एक क्षण में ही उत्पन्न होकर आत्मलाभ करते हुए द्वितीय क्षण में बिना कारण ही ध्वंस को प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार प्रतिक्षण नवीन-नवीन उत्पन्न हो रहे पदार्थ सभी प्रकार से परस्पर में भिन्न एवं विलक्षण होते हैं। कोई किसी के सदृश या समान नहीं होता है। बौद्धों के इस सिद्धान्त के अनुसार सूर्य, चन्द्रमा, आत्मा, सर्वज्ञ, प्रत्यक्ष, परमात्मा आदि पदार्थों के भी उत्तरोत्तर होने वाले असंख्य परिणाम सदृश नहीं, भिन्न होते हैं।

बौद्ध दर्शन की मान्यता है कि नित्य वस्तु में अर्थ क्रिया नहीं हो सकती। क्योंकि नित्य वस्तु न तो युगपद् अर्थक्रिया करती है और न क्रम से। नित्य वस्तु यदि युगपत् अर्थक्रिया करती है तो संसार के समस्त पदार्थों को एक साथ एक समय में ही उत्पन्न हो जाना चाहिये और ऐसा होने पर आगे के समय में नित्य वस्तु को कुछ भी काम करने को शेष नहीं बचेगा। अतः वह अर्थ क्रिया के अभाव में अवस्तु हो जायेगी। इस प्रकार नित्य में युगपत् अर्थक्रिया नहीं बनती है। नित्य वस्तु क्रम से भी अर्थ क्रिया नहीं कर सकती तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सहकारी कारण उसमें कुछ विशेषता उत्पन्न करते हैं या नहीं ? यदि सहकारी कारण नित्य में भी कुछ विशेषता उत्पन्न करते हैं तो वह नित्य नहीं रह सकती और यदि सहकारी कारण नित्य में कुछ भी विशेषता उत्पन्न नहीं करते हैं तो सहकारी कारणों के मिलने पर भी वह पहले की तरह कार्य नहीं कर सकेगी। दूसरी बात यह भी है कि नित्य स्वयं समर्थ है, अतः उसे सहकारी कारणों की कोई अपेक्षा नहीं होगी, फिर क्यों न वह एक समय में ही समस्त कार्य कर देगी। इस प्रकार नित्य पदार्थ में न तो युगपद् ही अर्थक्रिया हो सकती है और न क्रम से। अर्थक्रिया के अभाव में वह सत् भी नहीं कहला सकता। इसलिए जो सत् है वह नियम से क्षणिक है। क्षणिक ही अर्थक्रिया कर सकता है। यही क्षणभंगुरवाद है।

क्षणभंग के कारण ही बौद्ध दर्शन पदार्थों के विनाश को निर्हेतुक मानता है। विनाश प्रत्येक क्षण में स्वयं होता है, किसी दूसरे के द्वारा नहीं। दण्ड के द्वारा (डण्डा मारने से) घट का जो बिनाश होता हुआ देखा जाता है, वह घट का विनाश नहीं, अपितु कपाल की उत्पत्ति है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन क्षणभंगवाद के आधार पर प्रतिक्षण वस्तु की नवीन उत्पत्ति मानता है।

पीलू पाक—पिठर पाक

पीलू पाक एवं पिठर पाक ये दो सिद्धान्त क्रमशः वैशेषिक एवं न्याय दर्शन

द्वारा प्रतिपादित किए गए हैं। इन दोनों सिद्धान्तों का सम्बन्ध मुख्यतः पाक क्रिया से है जिसके द्वारा द्रव्यगत परिवर्तन होता है। द्रव्य के रूप, रस, गन्ध में जो परिवर्तन होता है उसका मूल कारण तेज (अग्नि) का संयोग माना गया है। जैसे आम जब कच्चा होता है तो रूप में वह हरा, रस में अम्लीय और तदनुरूप गंध वाला होता है। वही आम तेज संयोग वशात् पक जाने पर पीत वर्ण, मधुर रस और तदनुरूप गंध वाला हो जाता है। आम के इस रूप परिवर्तन में पाक क्रिया ही मूल कारण है जो तेज संयोगजनित होती है।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार तेज संयोग के कारण होने वाली पाक क्रिया के परिणाम स्वरूप द्रव्य में जो परिवर्तन होता है वह मूलतः द्रव्यगत परमाणुओं में होता है न कि सम्पूर्ण द्रव्य में। वैशेषिक दर्शन चूंकि प्रत्येक द्रव्य को परमाणुओं का समुदाय मानता है, अतः द्रव्य में दिखलाई पड़ने वाला परिवर्तन भी उसके मतानुसार परमाणु निष्ठ होता है। जब कच्चे घड़े को आग पर चढ़ाया जाता है तो पुराना घड़ा नष्ट हो जाता है। इसका कारण यह है कि घड़े का अग्नि के साथ संयोग होने से एक प्रकार का अभिघात या नोदन होता है जिससे घड़े में विघटन होता है। इस विघटन से घड़े के परमाणुओं के घटारम्भक संयोग का नाश होता है और संयोग नाश होने से घट द्रव्य का नाश होता है, अर्थात् वह परमाणुओं के रूप में परिवर्तित हो जाता है। अग्नि का ताप लगने से परमाणुओं में लाल रंग उत्पन्न होता है और विघटित परमाणु पुनः संघटित-संयुक्त होकर एक नवीन घड़े को उत्पन्न करते हैं। इस मत के अनुसार पहले समस्त इकाई का परमाणुओं के रूप में विघटन होता है और फिर उसके पश्चात् उन परमाणुओं का पुनः संघटन होकर नए सिरे से एक नवीन इकाई का निर्माण होता है।

इसी प्रकार जब रोटी का पाक जनित रूपान्तर होता है तो प्रथम उसके परमाणुओं में विघटन की क्रिया होती है, पश्चात् परमाणु पाक होकर उनमें रूपान्तर हो जाता है और उन पाक को प्राप्त हुए उन परमाणुओं से पुनः रोटी का निर्माण होता है। वैशेषिक मतानुसार घट का विस्खलन और पुनर्निर्माण इतनी शीघ्र गति से होता है कि इन दोनों क्रियाओं के मध्य काल का ज्ञान नहीं हो पाता। इस प्रकार यह एक जटिल प्रक्रिया है जो चक्षुगम्य या चक्षु का विषय नहीं है, क्योंकि यह अत्यन्त द्रुत गति से केवल नौ क्षणों के ये व्यवधान में सम्पन्न हो जाती है।

नैय्यायिकों को वैशेषिक दर्शन का उपर्युक्त सिद्धान्त उपयुक्त प्रतीत नहीं होता, अतः वे इससे सहमत नहीं हैं। वे परमाणु पाक की अपेक्षा सम्पूर्ण पिण्डपाक को मानते हैं। उनके मतानुसार यदि द्रव्य के प्रत्येक अवयव (परमाणु) का पाक माना जाय जिससे पूर्व द्रव्य का नाश और पुनः उसी द्रव्य की (नवीन) उत्पत्ति मानी जाय

तो ऐसा मानने में गौरव होगा। क्योंकि नवीन द्रव्य की उत्पत्ति में कारणान्तर भी स्वीकार करना पड़ेगा। अतः उनके मतानुसार घटादि अवयवी द्रव्य में सूक्ष्म छिद्र होने से अग्नि के सूक्ष्मावयव उनमें प्रविष्ट होकर सम्पूर्ण द्रव्य (घट) का पाक करते हैं। इस परिपाक के परिणाम स्वरूप सम्पूर्ण द्रव्य के रूप-रंग-रस-गुण आदि में परिवर्तन आ जाता है। इस मतानुसार न तो द्रव्य का नाश होता है और न उसकी नवीन उत्पत्ति होती है। इस प्रकार यह पिठरपाक कहलाता है। नैय्यायिक इसी पिठर पाक की पुष्टि करते हैं जो युक्तियुक्त प्रतीत होता है। इससे यह भी स्पष्ट है कि इन्द्रिय गम्य पदार्थों पर ताप का असर होता है जो यह दर्शाता है कि वे सर्वथा ठोस नहीं अपितु सछिद्र होते हैं।

नैय्यायिक लोग वैशेषिक की पीलूपाक प्रकल्पना पर इस आधार पर आपत्ति उठाते हैं कि यदि पहला घड़ा नष्ट हो गया और उसके स्थान पर सर्वथा नवीन घड़ा उत्पन्न हुआ तो दूसरे घड़े को वही पुराना घड़ा कैसे कहा जा सकता है? और दोनों घड़ों को एक ही कैसे माना जा सकता है? हम यह कैसे कह सकते हैं कि हम उसी पुराने घड़े को देखते हैं जिसे पहले देखते थे, भेद केवल रंग का है। इसके अतिरिक्त ऐसा प्रतीत होता है कि वैशेषिक के मत में पृथ्वी के परमाणुओं का गुण और गंध भी अनित्य है, जबकि वस्तुतः ऐसा नहीं है। कच्चे घड़े और पक्के घड़े में केवल पाक-जनित रूपान्तर होता है, न कि पूर्वघट का विनाश और नवीन घट की उत्पत्ति। यही कारण है कि नैय्यायिक सम्मत सिद्धान्त में हमें **'सैवायं घटः'** इत्याकारक **प्रत्यभिज्ञा** बनी रहती है। यही प्रत्यभिज्ञा इस सिद्धान्त के प्रतिपादन में प्रमाण है।

अनेकान्तवाद

एकान्त से भिन्न या विपरीत अनेकान्त है। एकान्त में एक ही पक्ष का कथन या प्रतिपापादन होता है, जबकि अनेकान्त में अन्य पक्ष का भी प्रतिपादन किया जाता है। एकान्त के अनुसार जो कथन किया जाता है उसमें "यह बात ऐसी ही है" इसका प्रतिपादन किया जाता है, जबकि अनेकान्त के अनुसार "ही" के स्थान पर 'भी" शब्द को विलेष महत्व दिया जाता है। अर्थात् यह बात ऐसी ही है कहने की अपेक्षा "यह बात ऐसी भी है"—इस प्रकार कहा जाता है। अनेकान्त में एक ओर जहां पक्ष विशेष या दृष्टिकोण का एक पहलु है वहीं दूसरी ओर दूसरा पक्ष यह पहलू भी कहा जाता है। अतः उसमें दृष्टिकोण की व्यापकता विद्यमान रहती है। अनेकान्त में दूसरा पक्ष भी उतना ही महत्वपूर्ण होता है जितना पहला पक्ष। अतः यह समानता के दृष्टिकोण पर आधारित है। यही कारण है कि शास्त्र में एक स्थान पर जो बात कही गई है, अन्य स्थान पर वही बात अन्यथा रूप में या भिन्न प्रकार से कही जा सकती है।

इसका कारण वहां प्रसंग या विषय की भिन्नता है। इसीलिए उसमें व्यापकता का दृष्टिकोण रहता है। दृष्टिकोण की व्यापकता उदारता की सूचक होती है, जिससे दूसरे के मत को समझने में सहायता मिलती है। अनेकान्त के कारण विरोधभाव और विग्रह की स्थिति उत्पन्न नहीं हो पाती और वातावरण में सौम्यता बनी रहती है।

अनेकान्त का अर्थ सामान्यतः इस प्रकार से किया जा सकता है—**न एकान्तः इति अनेकान्तः"** अर्थात् जिसमें एकान्त (एक पक्ष का प्रतिपादन) न हो या जो एकान्त से विपरीत हो वह अनेकान्त है। इसी प्रकार अन्य व्याख्या के अनुसार "**अनेके अन्ताः धर्माः यस्मिन् सोऽनेकान्तः**" अर्थात् जिसमें अनेक अन्त यानी धर्म हों वह अनेकान्त है। धर्म शब्द यहां स्वभाववाची है। कहीं-कहीं यह गुण के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। यही कारण है कि वस्तु के लिए सामान्यतः कहा जाता है कि वह अनेक या भिन्न गुण-धर्म वाली है। जैसे आयुर्वेद के अनुसार वायु में रूक्ष, शीत, लघु, सूक्ष्म, चल, विशद, खर आदि अन्यान्य गुण धर्म पाए जाते हैं। पित्त में उष्णता, तीक्ष्णता, द्रवता, स्नेह, अम्लता, सर, कटु आदि गुण पाए जाते हैं और श्लेष्मा में शैत्य, श्वैत्य, स्निग्धता, गुरुता, श्लक्ष्णता आदि गुण पाए जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि वस्तु या द्रव्य अनेक गुण-धर्मात्मक है।

अनेकान्त में आग्रह के लिए कोई स्थान नहीं है। आग्रह ही दृष्टिकोण को संकुचित या एकपक्षीय बनाता है। किसी भी वस्तु के विषय में आग्रह-पूर्वक जब कहा जाता है तो उससे वस्तु स्वरूप का वास्तविक प्रतिपादन नहीं हो पाता। यही कारण है कि वस्तु को जैसा समझा जाता है वह केवल वैसी ही नहीं है, उससे भिन्न कुछ अन्य स्वरूप भी उसका है, जिसे जानना या समझना आवश्यक है। जैसे "देवदत्त अमुक लड़के का पिता है" जब यह कहा जाता है तो वस्तुतः पुत्र की अपेक्षा से वह पिता है, अतः यह ठीक है। किन्तु वह देवदत्त केवल पिता ही नहीं है, अपितु वह अपने पिता की अपेक्षा से पुत्र भी है और अपनी बहिन की अपेक्षा से भाई तथा मामा की अपेक्षा से भान्जा भी है। इस प्रकार वह एक ही देवदत्त अनेक धर्मात्मक है। इसका स्वरूप अथवा वह वस्तुस्थिति अनेकान्त के द्वारा भली-भाँति समझी जा सकती है।

आयुर्वेद-शास्त्र में भी अनेकान्त का आश्रय लिया गया है और उसके आधार पर वस्तु स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है-यह अनेक उद्धरणों से सुस्पष्ट है। आयुर्वेद में जहां अनेकान्त के आधार पर विभिन्न विषयों का प्रतिपादन एवं गम्भीर विषयों का विवेचन किया गया है, वहां तन्त्रयुक्ति प्रकरण के अन्तर्गत उसका परिगणन कर उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को भी स्वीकार किया गया है। आयुर्वेद-शास्त्र में कुल ३६ तन्त्र युक्तियां प्रतिपादित की गई हैं, जिनमें अनेकान्त भी एक तन्त्रयुक्ति है। आयुर्वेद शास्त्रकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से अनेकान्त की व्याख्या की है, जो अपने-अपने

दृष्टिकोण से उपयुक्त है। सर्वप्रथम आचार्य चक्रपाणि दत्त द्वारा विहित व्याख्या का अनुशीलन करते हैं जो निम्न प्रकार है—

"अनेकान्तो नाम अन्यतरपक्षानवधारणं यथा—ये ह्यातुरा: भेषजादृते म्रियन्ते न च ते सर्व एव भेषजोपपन्ना: समुत्तिष्ठेरन्।"

—चरक संहिता, सिद्धिस्थान १२/४३ पर चक्रपाणि टीका

अर्थात् दूसरे पक्षों का अनवधारण करना अनेकान्त कहलाता है। जैसे—जो रोगी
केवल भेषज के बिना मर जाते हैं, वे सभी रोगी भेषज से युक्त होने पर ठीक नहीं होते।
यहां पर केवल एक पक्ष का ही कथन महर्षि द्वारा नहीं गया है, अपितु अन्य पक्ष
का समर्थन भी किया है। जो रोगी पूर्ण चिकित्सा नहीं मिल पाने के कारण मर जाते
हैं, वे सभी रोगी पूर्ण चिकित्सा मिलने पर ठीक हो ही जाते हैं, यह आवश्यक नहीं है।
अर्थात् उनमें से भी कुछ रोगी पूर्ण चिकित्सा मिलने पर भी मर जाते हैं—यह आशय
है। यहाँ पर महर्षि ने अपनी बात कहने के लिए अनेकान्त का आश्रय लिया है। इसी
को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि सभी व्याधियां उपाय-साध्य नहीं होती
हैं। जो रोग उपाय (चिकित्सा) से साध्य हैं, वे बिना उपाय (चिकित्सा) के अच्छे भी
नहीं होते। असाध्य व्याधियों के लिए षोडशकल भेषज (चिकित्सा) का विधान भी
नहीं है, क्योंकि विद्वान् और ज्ञान सम्पन्न वैद्य भी मरणोन्मुख रोगियों को अच्छा करने
में समर्थ नहीं होते।

अनेकान्त को महर्षि सुश्रुत ने कुछ दूसरे ढंग से प्रस्तुत किया है, जो भिन्न आशय का द्योतक है। जैसे—

"क्वचित्तथा क्वाचिदन्यथेति य: सोऽनेकान्त: यथा—केचिदाचार्या: ब्रुवते द्रव्यं प्रधानं, केचिद् रसं, केचिद् वीर्यं, केचिद् विपाकमिति।"

—सुश्रुत संहिता, उत्तरतन्त्र ६५/२४

अर्थात् कहीं ऐसा और कहीं अन्यथा (दूसरा), इस प्रकार जो कथन किया जाता है, वह अनेकान्त है। जैसे—कुछ आचार्य द्रव्य को प्रधान बतलाते हैं, कुछ रस को, कोई वीर्य को प्रधान मानते हैं तो कोई विपाक को।

यहां जो उदाहरण दिया गया है वह समन्वय एवं व्यापक दृष्टिकोण का प्रति-
पादक है। आयुर्वेद-शास्त्र में सामान्यत: द्रव्य, रस, गुण, वीर्य, विपाक और प्रभाव में
द्रव्य को प्रधान माना गया है, किन्तु पृथक् पृथक् रस, गुण, वीर्य, विपाक और प्रभाव को
प्रधान मानने वाले आचार्यों के मतों को भी समादृत किया गया है जो अनेकान्त पर
आधारित है। इसमें यद्यपि कुछ विरोधाभास प्रतीत होता है, किन्तु वस्तुत: वह विरोध या
विरोधाभास न होकर दृष्टिकोण की उदारता और व्यापकता है जो समन्वय मूलक है।

महर्षि चरक ने केवल तंत्रयुक्ति के रूप में ही अनेकान्त को नहीं अपनाया है, अपितु सिद्धान्त रूप में भी उसका प्रतिपादन किया है। तद् विषयक अनेक उद्धरण चरक संहिता में उपलब्ध होते हैं। उन्होंने विभिन्न पक्षों के एकान्तिक दुराग्रह की निन्दा करते हुए एक स्थान पर कहा है—

तथर्षीणां विवदतामुवाचेदं पुनर्वसु:।
मैवं वोचत तत्वं हि दुष्प्रापं पक्षसंश्रयात्॥
वादान् सप्रतिवादान् हि वदन्तो निश्चितानिव।
पक्षान्तं नैव गच्छन्ति तिलपीडकवद्गतौ॥
मुक्त्वैवं वादसंघट्टमध्यात्मनुचिन्त्यताम्।
नाविधूते तम:स्कन्धे ज्ञेये ज्ञानं प्रवर्तते॥

—चरक संहिता, सूत्रस्थान २५/२६-२८

अर्थात् इस प्रकार परस्पर विवाद करते हुए ऋषियों के वचन सुनकर पुनर्वसु ने कहा कि आप लोग ऐसा नहीं कहें। क्योंकि अपने-अपने पक्षों का आश्रय लेकर विवाद करने से तत्व को प्राप्त करना दुष्कर होता है। अर्थात् सिद्धांत का निर्णय नहीं हो पाता। वाद (उत्तर) और प्रतिवाद (प्रत्युत्तर) को निश्चित सिद्धांत की तरह कहते हुए किसी एक पक्ष के अन्त तक नहीं पहुंचा जा सकता है। जैसे तेल पेरने वाला बैल एक निश्चित घेरे में घूमता हुआ जहाँ से आरम्भ करता है, पुन: वहीं पहुंच जाता है। उसी प्रकार एक पक्ष का आग्रहपूर्वक आश्रय करने वाला वाद-विवाद करता हुआ अन्य पक्ष के खण्डन और स्वपक्ष के मण्डन पूर्वक पुन: उसी बिंदु पर आ जाता है, जहां से उसने आरम्भ किया था। अत: वाद-विवाद की प्रक्रिया को छोड़कर अध्यात्म (यथार्थ तत्व) का चिन्तन करना चाहिए। क्योंकि जब तक अज्ञान रूपी तम का नाश नहीं होता है, तब तक ज्ञेय (जानने योग्य) विषय में ज्ञान नहीं होता है।

अनेकान्त प्रतिपादन की दृष्टि से पुनर्वसु आत्रेय का उपर्युक्त कथन विशेष महत्वपूर्ण है। एकान्तवादियों के द्वारा स्वरूप प्रतिपादन हेतु किए गए प्रयास की तुलना उन्होंने तेल पेरने वाले मनुष्य से की है, जो निरन्तर एक निश्चित दायरे में घूमता हुआ एक ही बिन्दु पर पुन: आ जाता है और अन्य बातें उसके लिए महत्वहीन एवं नि:सार होती हैं। पुनर्वसु आत्रेय ने अपने दृष्टिकोण को व्यापक बनाते हुए इस तथ्य का प्रतिपादन किया है कि जब किसी वस्तु या विषय विशेष के अन्वेषण एवं लक्ष्य प्राप्ति हेतु प्रवृत्ति की जाती है तो आग्रह पूर्वक स्वपक्ष या अपनी बात दूसरों पर नहीं लादी जानी चाहिये। यदि ऐसा किया जाता है तो इससे न तो वस्तु स्वरूप की मर्यादा की प्रतीति होना सम्भव है और न ही उससे लक्ष्य प्राप्ति की जा सकती है। एकान्त सदैव मत-भेदों को बढ़ाता है जबकि अनेकान्त उन्हें दूर कर सार्वभौम सत्य का प्रतिपादन करता

है। एकान्त-एकांगी होता है, अतः उससे वस्तु का एक पक्ष ही उद्भासित होता है और सत्य की पूर्णता उसे विवृत नहीं कर पाती है। सत्य की अपूर्णता वस्तु के यथार्थ स्वरूप के प्रतिपादन में बाधक होती है और कई बार उससे भ्रामक बातें ही प्रचारित की जाती हैं, किन्तु अनेकान्त के द्वारा ऐसा नहीं होता।

यह निर्विवाद और असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि महत्वपूर्ण विषयों के प्रतिपादन में आयुर्वेद-शास्त्र में स्थान-स्थान पर अनेकान्त का आश्रय लिया गया है। जैसे वस्तुस्थिति से अनभिज्ञ कतिपय दुराग्रही एवं एकान्तवादी लोगों का यह दृढ़ मत है कि विष का प्रयोग सर्वथा जीवन का हरण करता है। तीक्ष्ण विष के प्रयोग से तो मनुष्य का प्राणान्त अवश्यम्भावी है। किन्तु वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। इसी तथ्य को जब अनेकान्त के परिप्रेक्ष्य में देखा गया तो महर्षि अग्निवेश को कुछ और ही अनुभव हुआ। उन्होंने तीक्ष्ण विष के विषय में स्वानुभूत तथ्य का विवेचन इस प्रकार से किया है—

योगादपि विषं तीक्ष्णमुत्तमं भेषजं भवेत्।
भेषजं चापि दुर्युक्तं तीक्ष्णं सम्पद्यते विषम्॥
तस्मान्न भिषजा युक्तं युक्तिबाह्येन भेषजम्।
धीमता किंचिदादेयं जीवितारोग्यकांक्षिणा॥

—चरक संहिता, सूत्रस्थान १/१२६-२८

अर्थात् विधि पूर्वक सेवन (प्रयोग) करने से तीक्ष्ण विष भी उत्तम औषधि हो जाता है और अविधि पूर्वक प्रयोग की गई श्रेष्ठ औषधि भी तीक्ष्ण विष बन जाती है। इसलिए जीवन और आरोग्य की इच्छा रखने वाले बुद्धिमान मनुष्य के द्वारा युक्ति बाह्य (युक्ति पूर्वक प्रयोग नहीं करने वाले) वैद्य से कोई भी औषधि नहीं लेना चाहिये।

यहाँ पर अपेक्षा पूर्वक विष का विषत्व और भेषजत्व प्रतिपादित किया गया है। साथ ही युक्ति पूर्वक प्रयोग की अपेक्षा से औषधि का भेषजत्व और विषत्व बतलाया गया है। इस प्रकार का प्रतिपादन अनेकान्त का आश्रय लिये बिना सम्भव नहीं है। क्योंकि युक्ति की अपेक्षा से ही भेषज श्रेष्ठ औषध हो सकता है। यदि युक्ति की पेक्षा न रखी जाय तो वही भेषज रोगी का प्राणहरण कर सकती है। जैसा कि आजकल प्रायः देखा जाता है कि स्टेप्टोमाइसिन पेनिसिलिन के इंजेक्शन के प्रयोग में बरती गई जरा सी असावधानी रोगी का प्राणान्त कर देती है। यही इंजेक्शन अच्छी तरह विचार कर विधि पूर्वक प्रयोग किए जाने पर जीवनदायी बन जाता है। इसी प्रकार यदि किसी मनुष्य को संखिया, कुचला, धत्तूर आदि विषवर्गीय किसी द्रव्य का सेवन बिना संस्कार किए ऐसे ही करा दिया जाय तो निश्चय ही वह काल का ग्रास बन सकता है, किन्तु वही विष जब शुद्ध और संस्कारित करके मात्रा पूर्वक औषध रूप में प्रयुक्त किया

जाता है तो अनेक भीषण व्याधियों का नाश उसके द्वारा किया जाता है। आधुनिक वैज्ञानिक परीक्षणों ने आमवात (गठियावाय) की व्याधि में विधि पूर्वक उचित मात्रा में सर्प विष का प्रयोग उपयोगी एवं लाभप्रद सिद्ध किया है। इस प्रकार विषत्व की अपेक्षा से वह विष है, किन्तु भेषजत्व की अपेक्षा से वही तीक्ष्ण विष जीवनदायी श्रेष्ठ औषधि है।

इस प्रकार आयुर्वेद-शास्त्र में ऐसे अनेक प्रकरण एवं उद्धरण विद्यमान हैं जो अनेकान्त का आश्रय लेकर प्रतिपादित किए गए हैं। इससे न केवल उस विषय की दुरूहता की समाप्ति हुई है, अपितु अनेक शंकाओं का अनायास ही निरसन हो गया है। अतः यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि ऐसा करने से आयुर्वेद शास्त्र के दृष्टिकोण में पर्याप्त व्यापकता आई है और वह पूर्ण उदारतावादी कहलाने का अधिकारी है। जीवन विज्ञान के संदर्भ में मानव-प्रकृति एवं आरोग्य मूलक सिद्धान्तों का प्रतिपादन आयुर्वेद-शास्त्र की अपनी मौलिक विशेषता है। उसमें यदि संकुचित दृष्टिकोण एवं दुराग्रहों का आश्रय लिया जाता तो निश्चय ही आयुर्वेद-शास्त्र की शाश्वतता और लोकोपकारी भावना का लोप हो जाता, किन्तु ऐसा नहीं है। इस दिशा में पर्याप्त अध्ययन, मनन और अनुचिन्तन के द्वारा अनुसन्धान अपेक्षित है। अनेकान्त ने आयुर्वेद को कितना सहिष्णु और व्यापक दृष्टिकोण वाला बनाया है। इसका सहज आभास उन स्थानों से मिलता है जहाँ अन्य ऋषियों के भिन्न दृष्टिकोण मूलक वचनों को भी समादृत किया गया है। अतः गम्भीर विमर्श पूर्वक इस दिशा में पर्याप्त अध्ययन, मनन और अनुचिन्तन के द्वारा अनुसंधान अपेक्षित है।

अष्टादश अध्याय

तन्त्रयुक्ति विज्ञानीय

तन्त्रस्य युक्तिरिति तन्त्रयुक्तिः । तन्त्र कहते हैं शास्त्र को और युक्ति का अर्थ है योजना । अतः शास्त्र की योजना को तन्त्रयुक्ति कहते हैं । शास्त्र को अथवा शास्त्र में निहित विषय या गूढार्थ को प्रतिपादित के करने लिए जो योजना ग्रंथकर्त्ता के द्वारा की जाती है वह तन्त्रयुक्ति कहलाती है । जैसे किसी भी शास्त्र या ग्रन्थ के निर्माण में व्याकरण, छन्द आदि की अपेक्षा रहती है और उस शास्त्र को समझने के लिए व्याकरण, छन्द आदि का ज्ञान अपेक्षित होता है तद्वैव शास्त्र में विशिष्ट रूप से कतिपय विषयों की योज्ना इस प्रकार की जाती है कि उसका ज्ञान शब्द विशेष के विशिष्टार्थ से ही होना सम्भव है । तन्त्रयुक्ति को आचार्य डल्हण ने निम्न प्रकार से स्पष्ट किया है—**"त्रायते शरीरमनेनेति तन्त्र शास्त्रं चिकित्सा च, तस्य युक्तयो योजनास्तन्त्रयुक्तयः।"** अर्थात् इससे शरीर की रक्षा होती है अतः यह तन्त्र है, यही शास्त्र है, चिकित्सा भी यही है । उसकी युक्ति याने योजना को तन्त्रयुक्ति कहते है । आचार्य के इस स्पष्टीकरण से तन्त्र का अभिप्रेतार्थ चिकित्सा या चिकित्सा शास्त्र ध्वनित होता है जो आयुर्वेद के प्रसंग में समीचीन है । क्योंकि शरीर की रक्षा के लिए चिकित्सा की योजना ही अपेक्षित रहती है ।

हमारे देश में प्राचीनकाल में जितने भी ग्रन्थों या शास्त्रों का निर्माण हुआ है उनकी यह परम्परा रही है कि उनमें अनेक बातें सूत्र रूप में प्रतिपादित की गई हैं ; कुछ का संकेत मात्र कर दिया है, कुछ गूढ़ भाषा में प्रतिपादित हैं और कुछ घुमा-फिराकर कही गयी हैं तो कुछ के लिए अलंकारिक भाषा एवं शब्द विन्यास का प्रयोग किया गया है । कुछ बातें प्रकारान्तर से कही गई हैं तो कई बातें ऐसी हैं जिनका शब्दार्थ कुछ और है जबकि भाव कुछ और है । ऐसे सभी स्थलों को समझने और उनका सम्यग् ज्ञान प्राप्त करने के लिए आचार्यों ने जो शास्त्र योजना की है उसका आश्रय लेना अनिवार्य है— यह शास्त्र योजना ही तन्त्रयुक्ति है ।

आयुर्वेद के चरक संहिता, सुश्रुत संहिता आदि ग्रन्थ भी उसी परम्परा की देन हैं । अतः इन ग्रंथों में उसकी रचना शैली एवं परम्परा का निर्वाह किया गया है । यही कारण है कि इन ग्रंथों में विभिन्न स्थानों पर जो अस्पष्ट या गूढ़ विषय प्रतिपादित हैं

उनके सम्यक् ज्ञान के लिए शास्त्र में तन्त्रयुक्तियों को प्रतिपादित किया गया है । उन तन्त्र-युक्तियों को पढ़कर, समझकर ही शास्त्र की योजना करनी चाहिये । जब तक उन तन्त्रयुक्तियों को नहीं समझा जायगा तब तक शास्त्र का ज्ञान एवं चिकित्सा के रहस्य को प्राप्त करना सम्भव नहीं है । इस सन्दर्भ में शास्त्र का निम्न का वचन महत्वपूर्ण है—

अमन्त्रमक्षरं नास्ति नास्ति द्रव्यमनौषधम् ।
अयोग्यः पुरुषो नास्ति योजकस्तत्र दुर्लभः ॥

अर्थात् ऐसा कोई अक्षर नहीं है जो अमन्त्र हो (सभी अक्षर मन्त्र हैं), ऐसा कोई द्रव्य नहीं है जो अनौषध हो (समस्त द्रव्य औषध रूप हैं), अयोग्य पुरुष भी कोई नहीं है (सभी योग्य हैं), किन्तु विधिवत् योजना करने वाला दुर्लभ है ।

तन्त्रयुक्ति की उपयोगिता

शास्त्र में आए हुए पदों के अर्थ का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए तन्त्रयुक्ति का आश्रय लेना अनिवार्य है । एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, किन्तु प्रसंगोपात्त अर्थ का ग्रहण करना ही शास्त्र ज्ञान की दृष्टि से अपेक्षित रहता है । उसके लिए तन्त्रयुक्ति मार्ग निर्देश करती है । आयुर्वेद शास्त्र में विशेषतः पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है । उनका अर्थ शास्त्र के अनुसार करना अभीष्ट रहता है । जैसे आयुर्वेद में त्रिफला (तीन फल) से हरड़, बहेड़ा, आंवला ही अभिप्रेत है । अन्य तीन फल नहीं । निशा जिसका अर्थ रात्रि है शब्द से हल्दी का ग्रहण किया जाता है । इन सब बातों के ज्ञान के लिए तन्त्रयुक्ति का ज्ञान आवश्यक है । इसके अतिरिक्त महर्षि चरक ने तन्त्रयुक्ति के ज्ञान की उपयोगिता निम्न प्रकार से बतलाई है —

एकस्मिन्नपि यस्येह शास्त्रे लब्धास्पदा मतिः ।
स शास्त्रमन्यदप्याशु युक्तिज्ञत्वात् प्रबुध्यते ॥
अधीयानोऽपि शास्त्राणि तन्त्रयुक्त्या विना भिषक् ।
नाधिगच्छति शास्त्रार्थानर्थान् भाग्यक्षये यथा ॥

अर्थात् जिसकी बुद्धि ने एक शास्त्र का भी सम्यक्तया ज्ञान प्राप्त कर लिया है, तन्त्रयुक्ति का जानने वाला वह युक्तिज्ञ अन्य शास्त्र को भी शीघ्र जान लेता है । शास्त्रों का अध्ययन कर लेने वाला भिषक् तन्त्रयुक्ति के बिना शास्त्र के अर्थ को उसी प्रकार नहीं ग्रहण कर पाता है जिस प्रकार भाग्य का क्षय होने पर मनुष्य धन को प्राप्त नहीं कर पाता है ।

अभिप्राय यह है कि शास्त्र के परिपूर्ण सम्यग्ज्ञान के लिए तन्त्रयुक्तियों का ज्ञान होना आवश्यक है । अन्यथा युक्ति ज्ञान के अभाव में दुर्युक्त अच्छी भेषज भी हानि या अनर्थकारी हो सकती है, जैसा कि महर्षि चरक ने कहा है —

योगादपि विषं तीक्ष्णमुत्तमं भेषजं भवेत् ।
भेषजञ्वापि दुर्युक्तं तीक्ष्णं सम्पद्यते विषम् ॥

अर्थात् विधिपूर्वक सेवन (प्रयोग) करने से तीक्ष्ण विष भी उत्तम भेषज हो जाती है और अविधिपूर्वक प्रयोग की गई श्रेष्ठ औषधि भी तीक्ष्ण विष बन जाती है।

इससे स्पष्ट है कि युक्तिज्ञ वैद्य ही भेषज का समुचित प्रयोग करने एवं चिकित्सा के अभीष्ट फल को प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है। अतः तन्त्रयुक्तियों का ज्ञान प्राप्त करना वैद्य के लिए आवश्यक है।

तन्त्रयुक्ति का प्रयोजन

तन्त्रयुक्तियों के प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि मिथ्यावादी लोगों के द्वारा असंगत तर्कों के आधार जिन बातों का प्रतिपादन एवं समर्थन किया जाता है उनका निरसन युक्तियुक्त तर्कपूर्ण कथन के आधार पर करना तन्त्रयुक्ति के ज्ञान से ही सम्भव हैं। महर्षि सुश्रुत ने सुन्दर ढंग से इसका प्रतिपादन निम्न प्रकार से किया है—

असद्वादिप्रयुक्तानां वाक्यानां प्रतिषेधनम् ।
स्ववाक्यसिद्धिरपि क्रियते तन्त्रयुक्तितः ॥
व्यक्ता नोक्ताश्च ये ह्यर्था लीना ये चाप्यनिर्मलाः ॥
लेशोक्ता ये च केचित् स्युस्तेषाञ्चापि प्रसाधनम् ॥
यथाऽम्बुजवनस्यार्कः प्रदीपो वेश्मनो यथा ।
प्रबोधस्य प्रकाशार्थस्तथा तन्त्रस्य युक्तयः ॥

—सुश्रुत संहिता, उत्तरतंत्र ६५/४

अर्थात् तन्त्रयुक्तियों के द्वारा असद्वादियों (मिथ्यावादियों) के द्वारा प्रयुक्त किए गए वाक्यों का प्रतिषेध और अपने वाक्य (कथन) सिद्धि की जाती है। वाक्यों या शास्त्र में जो अर्थ ठीक से व्यक्त हुए नहीं होते हैं, कहे गए नहीं होते हैं, लीन (गूढ़ या छिपे हुए) होते हैं, अनिर्मल (अस्पष्ट) होते हैं या संक्षिप्त रूप में कहे गए होते हैं उन सबका साधन तन्त्रयुक्ति के द्वारा होता है। जिस प्रकार कमलों के वन को सूर्य और घर को प्रदीप प्रकाशित करता है उसी प्रकार तन्त्रयुक्तियां ज्ञान अर्थात् शास्त्र के अर्थ को प्रकाशित करती हैं।

तन्त्र युक्तियों को संख्या

महर्षि चरक ने छत्तीस तन्त्रयुक्तियों का निर्देश किया है जबकि महर्षि सुश्रुत के द्वारा बत्तीस तन्त्रयुक्तियाँ ही मानी गई हैं। भट्टार हरिश्चन्द्र ने चालीस तन्त्रयुक्तियों का परिगणन किया है और कौटिल्यीय अर्थशास्त्र में बत्तीस तन्त्रयुक्तियों का उल्लेख

मिलता है। तन्त्रयुक्तियों की संख्या के विषय में आचार्यों में मतभेद का कारण सम्भवतः यह है कि स्वशास्त्र प्रयोजन के लिए जिस आचार्य को जितनी तन्त्रयुक्तियां अभीष्ट प्रतीत हुई उतनी ही तन्त्रयुक्तियों का प्रतिपादन उसने अपने शास्त्र में किया।

महर्षि सुश्रुत ने जिन बत्तीस तन्त्रयुक्तियों का उल्लेख अपने शास्त्र में किया है वे निम्न हैं :—

१. अधिकरण, २. योग, ३. पदार्थ, ४. हेत्वर्थ, ५. उद्देश, ६. निर्देश, ७. उपदेश, ८. अपदेश, ९. प्रदेश, १०. अतिदेश, ११. अपवर्ग, १२. वाक्यशेष, १३. अर्थापत्ति, १४. विपर्यय, १५. प्रसंग, १६. एकान्त, १७. अनेकान्त, १८. पूर्वपक्ष, १९. निर्णय, २०. अनुमत, २१. विधान, २२. अनागतावेक्षण, २३. अतिक्रान्तावेक्षण, २४. संशय, २५. व्याख्यान, २६. स्वसंज्ञा, २७. निर्वचन, २८. निदर्शन, २९. नियोग, ३०. विकल्प, ३१. समुच्चय, ३२. ऊह्य।

महर्षि चरक ने उपर्युक्त ३२ तन्त्रयुक्तियों के अतिरिक्त निम्न चार तन्त्रयुक्तियां और बतलाई हैं जिससे उनके द्वारा कथित युक्तियां छत्तीस हो गई हैं :— प्रयोजन, प्रत्युत्सार. उद्धार और सम्भव।

भट्टार हरिश्चन्द्र द्वारा सम्मत तन्त्रयुक्तियाँ चालीस हैं। उन्होंने उपर्युक्त तन्त्रयुक्तियों के अतिरिक्त इन चार और तन्त्रयुक्तियों का उल्लेख किया है :– परिप्रश्न, व्याकरण, व्युत्क्रान्ताभिधान और हेतु। चरक के अनुसार इन चारों तन्त्रयुक्तियों का समावेश उपर्युक्त तन्त्रयुक्तियों में ही हो जाता है। जैसे—परिप्रश्न का उद्देश में, व्याकरण का व्याख्यान में, व्युत्क्रान्ताभिधान का निर्देश में तथा हेतु का विवेचन शास्त्र में प्रतिपादित प्रत्यक्ष-अनुमान आदि प्रमाण के वर्णन के समय किया गया है। अतः ये चार युक्तियाँ पृथक् से मानना आवश्यक नहीं है।

उपर्युक्त तन्त्रयुक्तियों का विवरण निम्न प्रकार है :—

१. अधिकरण—**तत्र यमर्थमधिकृत्योच्यते तदधिकरणम्। यथा-रसं दोषं वा।** अर्थात् जिस विषय को अधिकृत करके उसका वर्णन या विवेचन किया जाता है अथवा जिस विषय को अधिकार रूप में कहा जाय उसे अधिकरण कहते हैं। जैसे रस या दोष। रस को अधिकृत करके सम्पूर्ण चिकित्सा का निर्देश किया गया है। दोष को प्रधान मानकर समस्त रोगों की उत्पत्ति मानी गई है। रस के बिना चिकित्सा सम्भव नहीं है और दोष के बिना रोगों की उत्पत्ति सम्भव नहीं है।

२. योग—"**येन वाक्यं युज्यते सः योगः।**" अर्थात् वाक्य या पदों का एकत्र होना जिससे अर्थ ज्ञान होता है योग कहलाता है। आचार्य चक्रपाणिदत्त ने योग को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है—"**योगो नाम योजना व्यस्तानां पदानामेकीकरणम्।**"

योग का अर्थ है योजना अर्थात् किसी वाक्य या श्लोक में बिखरे हुए पदों को व्यवस्थित-एकीकृत करना । उदाहरणार्थ—

प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि; तत्र प्रतिज्ञा मातृजश्चायं गर्भः, हेतुः-मातरमन्तरेण गर्भानुपपत्तेः, दृष्टान्तः-कूटागारः-उपनयः यथा नानाद्रव्यसमुदायात् कूटागारस्तथा गर्भनिर्वर्तनम्, तस्मान्मातृजश्चायमित्येषां प्रतिज्ञायोगः ।। अर्थात् प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन । प्रतिज्ञा—यह गर्भ मातृज है, हेतु—माता के बिना गर्भ की अनुपपत्ति होने से, दृष्टान्त—जैसे कूटागार, उपनय-जैसे विभिन्न द्रव्यों के समूह से कूटागार का निर्माण होता है, उसी प्रकार गर्भ का निर्माण होता है निगमन-अतः गर्भ मातृज होता है— इस प्रकार यह प्रतिज्ञा योग है ।

३. पदार्थ— **योऽर्थोऽभिहितः सूत्रे पदे वा स पदार्थः, पदस्य पदयोः पदानां वाऽर्थः पदार्थः, अपरिमिताश्च पदार्थाः ।** —चक्रपाणिदत्त

अर्थात् किसी सूत्र या पद में जो अर्थ अभिहित होता है वह पदार्थ कहलाता है । एक पद का, दो पदों का अथवा अनेक पदों का जो अर्थ होता है वह पदार्थ कहलाता है । पदार्थ अपरिमित होते हैं । एक पद के अनेक अर्थ भी होते हैं । अतः प्रसंगानुसार पद के अर्थ को ग्रहण करना चाहिए ।

इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए आचार्य चक्रपाणिदत्त लिखते हैं :—

"तत्र द्रव्यमिति पदेन खादयश्चेतना षष्टा उच्यन्ते, पदयोरर्थो नाम यथा आयुषो वेद इति पदयोरायुर्बोधकं तन्त्रमित्यर्थः । एवं पदानामप्यर्थ उदाहार्यः ।"

अर्थात् 'द्रव्य' इस पद से आकाशादि पञ्च महाभूत और छठी चेतना धातु कहलाती है । दो पदों का अर्थ जैसे आयुषो वेद (आयु का ज्ञान) इन दो पदों से आयु का ज्ञान कराने वाला तन्त्र (शास्त्र) अर्थात् आयुर्वेद । इसी प्रकार अनेक पदों के अर्थ के उदाहरण भी समझने चाहिए ।

४. हेत्वर्थ—**हेत्वर्थो नाम यदन्यत्राभिहितमन्यत्रोपपद्यते, यथा-समानगुणाभ्यासो हि धातूनां वृद्धिकारणम् (च० सू० १२/५) इति वातमधिकृत्योक्तं तत्र वातस्येति वक्तव्ये यदयं समानशब्दः धातूनामिति करोति तेन यथा वायोस्तथा रसादीनामपि समानगुणाभ्यासो वृद्धिकारणमिति गम्यते ।** —चक्रपाणि दत्त

अर्थात् हेत्वर्थ उसे कहते हैं जो किसी प्रकरण में कही गई बात अन्य प्रकरण में भी लागू हो । जैसे समान गुण वाले द्रव्य का सेवन धातुओं की वृद्धि का कारण होता है । यह कथन यद्यपि वात को अधिकृत करके कहा गया गया था जिसका अभिप्राय था कि वायु के समान गुण धर्म वाले द्रव्यों का सेवन करने से वायु की वृद्धि होती है, इससे जैसे वायु के विषय में कहा गया है वैसे ही रसादि के भी समान गुणाभ्यास से वह रसादि धातु की भी वृद्धि का कारण होता है ।

५. उद्देश—**उद्देशो नाम संक्षेपाभिधानं, यथा-हेतुलिङ्गौषधज्ञानम् (च० सू० १) अनेन सर्वायुर्वेदाभिधेयोद्देशः ।** —चक्रपाणि दत्त

अर्थात् संक्षेप में कहना उद्देश कहलाता है । जैसे चरक संहिता, सूत्रस्थान अध्याय १ में हेतु-लिङ्ग-औषध का ज्ञान प्रतिपादित किया गया है । इससे सम्पूर्ण आयुर्वेद ही अभिधेय है—यह उद्देश है ।

महर्षि सुश्रुत ने इसका निम्न लक्षण बतलाया है—**"समासवचनमुद्देशः । यथा-शल्यमिति ।"** (सुश्रुत संहिता, उत्तर तन्त्र ६५।६) ।

अर्थात् संक्षिप्त वचन उद्देश कहलाता है, जैसे शल्य । शरीर को पीड़ा पहुंचाने वाली वस्तु को संक्षेपतः शल्य कहा गया है ।

६. निर्देश—**निर्देशो नाम संख्येयोक्तस्य विवरणं; यथा—हेतुलिङ्गौषधस्य पुनः प्रपञ्चनं "सर्वदा सर्वभावानां" इत्यादिना "इत्युक्तं कारणं" (च० सू० अ० १) इत्यन्तेन कारणप्रपञ्चनमित्यादि ।** —चक्रपाणि दत्त

अर्थात् संख्येय रूप में कहे हुए विषय का विस्तारपूर्वक कथन करना निर्देश कहलाता है । जैसे हेतु-लिङ्ग-औषध का पुनः 'सर्वदा सर्वभावानां' इत्यादि से लेकर 'इत्युक्तं कारणं' पर्यन्त विस्तार पूर्वक कथन किया गया है ।

महर्षि सुश्रुत ने भी निर्देश के विषय में यही भाव व्यक्त किया है । यथा—**विस्तरवचनं निर्देशः यथा-शारीरमागन्तुकञ्चेति ।** सु० सं० उ० तं० ६५।१०

अर्थात् विस्तार पूर्वक कहना निर्देश कहलाता है । जैसे शारीर और आगन्तुक । ऊपर संक्षेप में कहे हुए शल्य के दो भेद करते हुए उसे शारीर और आगन्तुक बतलाया गया है ।

७. उपदेश—उपदेशो नामाप्तानुशासनं; यथा—स्नेहमग्रे प्रयुञ्जीत ततः स्वेदमनन्तरम् ।" —चक्रपाणि दत्त

अर्थात् आप्त के अनुशासन (आदेश) को उपदेश कहते हैं । जैसे चरक संहिता सूत्रस्थान अ० १३ में निर्दिष्ट है कि प्रथम स्नेह का प्रयोग करें, तत्पश्चात् स्वेदन का ।

महर्षि सुश्रुत द्वारा कथित लक्षण के अनुसार - **एवमित्युपदेशः । यथा-तथा न जागृयाद्रात्रौ दिवास्वप्नञ्च वर्जयेदिति ।"** अर्थात् ऐसा करना चाहिये (या ऐसा नहीं करना चाहिए) यह उपदेश है । जैसे रात्रि में जागरण नहीं करना चाहिए और दिवा स्वप्न (दिन में शयन करना) वर्जित करना चाहिये ।

८. अपदेश—**अपदेशो नाम यत्प्रतिज्ञातार्थसाधनाय हेतुवचनं; यथा—"वाताज्जलं जलाद्देशं देशात् कालं स्वभावतः । विद्याद्दुष्परिहार्यत्वादित्यादि", तत्र प्रतिज्ञातार्थस्य हेतुवचनं-दुष्परिहार्यत्वादिति ।** —आचार्य चक्रपाणिदत्त

अर्थात् प्रतिज्ञात विषय के साधन (सिद्धि) के लिए जो हेतु रूप वचन कहा जाता है वह अपदेश कहलाता है। जैसे वायु से जल, जल से देश और देश से काले स्वभावतः दुष्परिहार्य होने से भारी समझना चाहिये। यहां प्रतिज्ञात विषय की सिद्धि के लिए हेतु वचन दुष्परिहार्य दिया गया।

महर्षि सुश्रुत ने अपदेश का कथन इस प्रकार से किया है—"**अनेन कारणेनेत्यपदेशः यथोपदिश्यते मधुरः श्लेष्माणमभिवर्द्धयतीति।**"—सुश्रुतसंहिता, उत्तर-तन्त्र ६५।१२

अर्थात् "इस कारण से" ऐसा कहना अपदेश कहलाता है। जैसा कि उपदेश किया गया है—मधुर श्लेष्मा की वृद्धि करता है। (मधुर होने से श्लेष्मा की वृद्धि होती है)

९. प्रदेश—**प्रदेशो नाम यद्बहुत्वादर्थस्य कात्स्र्न्येनाभिधातुमशक्यमेकदेशेनाभिधीयते; यथा—अन्नपानैकदेशोऽयमुक्तः प्रायोपयोगिकः।** —चक्रपाणि दत्त

अर्थात् विषय की बहुलता (अधिकता) के कारण जिसे समग्र रूप से कहना अशक्य हो उसका एक देश से कथन करना प्रदेश कहलाता है। जैसे प्रायः अधिकतर उपयोग में आने वाले अन्न (आहार) और पान (अनुपान) के एक देश का यहां उपदेश किया गया है।

महर्षि सुश्रुत ने प्रदेश का लक्षण इस प्रकार बतलाया है—"**प्रकृतस्यातिक्रान्तेन साधन प्रदेशः। यथा—देवदत्तस्यानेन शल्यमुद्धृतं तस्माद् यज्ञदत्तस्याप्युद्धरिष्यति।**

अर्थात् प्रकृत अर्थ की अतिक्रान्त (अतीत अर्थ) से सिद्धि करना प्रदेश कहलाता है। जैसे इससे देवदत्त का शल्य निकाला गया था, अतः यह यज्ञदत्त का भी निकालेगा।

१०. अतिदेश—**अतिदेशो नाम यत्किञ्चिदेव प्रकाश्यार्थमनुक्तार्थसाधनायैव एवममन्यदपि प्रत्येतव्यमिति परिभाष्यते। यथा-"यच्चान्यदपि किञ्चित् स्यादनुक्तमपि पूजितम्। वृत्तं तदपि चात्रेयः सदैवाम्यनुमन्यते" इति।** —चक्रपाणि दत्त

अर्थात् अनुक्त विषय के साधन के लिए जिस किसी भी विषय को प्रकाशित करके अन्यत्र तद्वदेव प्रयत्न करना चाहिए—ऐसा जहां परिभाषित किया जाता है वह अतिदेश कहलाता है। जैसे—इस आयुर्वेद शास्त्र में जिन सद्वृत्तों का वर्णन नहीं है, किन्तु जो अन्यत्र वर्णित हों उन सद्वृत्तों का पालन करना भी आत्रेय द्वारा सम्मत है।

महर्षि सुश्रुत ने कुछ भिन्न रूप में अतिदेश का लक्षण बतलाया है जो इस प्रकार है—"**प्रकृतस्यानागतस्य साधनमतिदेशः। यथा—अनेनास्य वायुरुर्ध्वमुत्तिष्ठते तेनोदावर्ती स्यादिति।**" —सुश्रुत संहिता, उत्तरतन्त्र ६५।१४

अर्थात् प्रकृत विषय से अनागत (भावी) विषय का साधन करना अतिदेश होता है। जैसे इस रोगी की वायु ऊर्ध्व गति कर रही है, अतः यह उदावर्त रोग से पीड़ित होगा।

११. अपवर्ग—**अपवर्गो नाम साकल्येनोद्दिष्टस्यैकदेशापकर्षणं; यथा— न पर्युषितान्नमाददीतान्यत्र मांसहरितशुष्कशाकफलभक्ष्येभ्यः।** —चक्रपाणिदत्त

अर्थात् सम्पूर्ण रूप से कहे गए किसी विषय में से उसके एक देश को निकाल देना अपकर्षण कहलाता है। जैसे बासा अन्न ग्रहण नहीं करना चाहिये, मांस, हरित और शुष्क शाक एवं फल को छोड़ कर।

महर्षि सुश्रुत ने इसी बात को संक्षेप में कहते हुए अपवर्ग का निम्न लक्षण बतलाया है—"**अभिव्याप्यापकर्षणमपवर्गः। यथा—अस्वेद्या विषोपसृष्टा अन्यत्र कीटविषादिति।**" अर्थात् सामान्य वचन के द्वारा किसी विषय को अभिव्याप्त करके उसमें से अंश विशेष को पृथक् करना अपवर्ग कहलाता है। जैसे विष से आक्रान्त रोगी अस्वेद्य (स्वेदन के अयोग्य) होते हैं, कीट विष से पीड़ित को छोड़कर।

१२. वाक्यशेष—**वाक्यशेषो नाम यल्लाघवार्थमाचार्येणवाक्येषु पदमकृतं गम्यमानतया पूर्यते; यथा—"प्रवृत्तिर्हेतु भावानां।" इत्यत्र 'अस्ति' इति पदं पूर्यते, तथा जाङ्गलजैः रसैः इत्यत्र मांस शब्दः पूर्यते। वाक्येषु चैत एव पदाः शेषाः क्रियन्ते, येऽनिवेशिता अपि प्रतीयन्ते।**" —चक्रपाणि दत्त

अर्थात् आचार्य के द्वारा लाघवार्थ वाक्यों में जो पद निवेश नहीं किया जाता है किन्तु गम्यमान पूर्वक वह पूरित किया जाता है उसे **वाक्यशेष** कहते हैं। जैसे, 'भावों की प्रवृत्ति में हेतु' इत्यादि वाक्य में 'अस्ति' (है) यह पद पूरित किया जाता है। इसी प्रकार 'जांगल रस' इस वाक्य में 'मांस' पद पूरित करना होता है (जांगल पशु पक्षियों का मांस रस)। वाक्यों में ऐसे ही पद शेष रखे जाते हैं जो उनमें निवेशित (प्रविष्ट) हुए बिना भी उनका भाव प्रतीत कराते हैं।

इसी आशय का लक्षण महर्षि सुश्रुत ने भी बतलाया है जो इस प्रकार है—"**येन पदेनानुक्तेन वाक्यं समाप्यते स वाक्यशेषः। यथा-शिरःपाणिपादपार्श्वपृष्ठोदरोरसामित्युक्ते पुरुषग्रहणं बिनाऽपि गम्यते पुरुषस्येति।**" —सु० उ० ६५/१६

अर्थात् जिस अनुक्त पद से वाक्य समाप्त होता है वह वाक्यशेष कहलाता है। जैसे शिर, हाथ, पैर, पार्श्व, पृष्ठ, उदर, उर कहने पर पुरुष शब्द का ग्रहण किए बिना भी यह [illegible]न लिया जाता है कि ये (अंग) पुरुष के होते हैं।

१३. अर्थापत्ति—**अर्थापत्तिर्नाम यदकीर्तितमर्थादापद्यते सार्थापत्तिः। यथा-नक्तं दधिभोजननिषेधः, अर्थाद्दिवा भुञ्जीतेत्यापद्यते।**" —चक्रपाणिदत्त

अर्थात् जिससे अकथित विषय का ग्रहण होता है वह अर्थापत्ति कहलाता है। जैसे—रात्रि में दही खाने का निषेध है, अर्थात् दिन में खाए-यह अर्थ निकलता है।

महर्षि सुश्रुत ने भी अर्थापत्ति का उपर्युक्त लक्षण ही कहा है। इसके लिए उन्होंने

यह उदाहरण दिया है—"**ओदनं भोज्यं इत्युक्तेऽर्थादापन्नं भवति नायं पिपासुर्यवागूमिति।**

अर्थात् भात खाना चाहिए – ऐसा कहने पर अर्थापत्ति से यह भाव निकलता है कि यह यवागू पीने का इच्छुक नहीं है।

१४. **विपर्यय-विपर्ययो नाम अपकृष्टात् प्रतीपोदाहरणं; यथा-निदानोक्तान्यस्य नोपशेरते विपरीतानि चोपशेरते।** —**चक्रपाणि दत्त**

अर्थात् अपकृष्ट से प्रतीप का उदाहरण विपर्यय होता है। जैसे निदान में कहा हुआ आहार इसे अनुकूल नहीं होता है, विपरीत आहार अनुकूल होता है।

सुश्रुत ने विपर्यय का यह लक्षण बतलाया है—"**यद् यत्राभिहितं तस्य प्रतिलोम्यं विपर्ययः। यथा-कृशाल्पप्राणभीरवो दुश्चिकित्स्या इत्युक्ते विपरीतं गृह्यतेदृढादयः सुचिकित्स्या इति।**

अर्थात् जो जहां कहा गया है उससे प्रतिलोम (उल्टा होना) विपर्यय होता है। जैसे कृश, अल्प प्राण और भीरू दुश्चिकित्स्य होते हैं; ऐसा कहने पर उससे विपरीत का ग्रहण होता है कि दृढ़ आदि सुचिकित्स्य होते हैं।

१५. **प्रसंग – प्रसंगो नाम पूर्वाभिहितस्यार्थस्य प्रकरणागतत्वादिना पुनरभिधानं यथा-तत्रातिप्रभावतां दृश्यानामतिदर्शनमतियोगः"** एवमाद्य भिधाय, पुनः "अत्युग्रशब्दश्रवणाच्छ्रवणात् सर्वशो न च" इत्यादिना पूर्वोक्त एवार्थोऽभिधीयते।" —**चक्रपाणि दत्त**

अर्थात् पूर्व में कहे गए विषय का प्रकरण आदि उपस्थित होने पर पुनः कहना प्रसंग कहलाता है। जैसे अति प्रभा वाले दृश्य द्रव्यों को देखना अतियोग कहलाता है, ऐसा पहले कह कर पुनः 'अत्यन्त उग्र शब्दों का श्रवण करने अथवा शब्दों का बिल्कुल भी श्रवण नहीं करने से' इत्यादि के द्वारा पूर्वोक्त का ही कथन किया गया है।

महर्षि सुश्रुत ने प्रसंग का विवेचन करते हुए लिखा है—**प्रकरणान्तरेण समापनं प्रसंगः। यद्वा प्रकरणान्तरितो योऽर्थोऽसकृदुक्तः समाप्यते स प्रसंगः। यथा-पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुषस्तस्मिन् क्रिया सोऽधिष्ठानमिति वेदोत्पत्तावभिधाय भूतविद्यायां पुनरुक्तं यतोऽभिहितं पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इति स खल्वेष कर्मपुरुषश्चिकित्सायामधिकृतः।** —**सुश्रुत संहिता, उत्तरतन्त्र ६५/१९**

अर्थात् दूसरे प्रकरण से विषय की समाप्ति करना प्रसंग कहलाता है। अथवा प्रकरणान्तरित जो विषय पुनः कहा जाकर समाप्त किया जाता है वह प्रसंग है। जैसे पञ्च महाभूत और आत्मा इनका समवाय ही पुरुष कहलाता है, उसी में चिकित्सा हो सकती है और वही अधिष्ठान है-ऐसा वेदोत्पति अध्याय में कहकर पुनः भूतविद्या प्रकरण में कहना कि क्योंकि पञ्च महाभूत और आत्मा का समवाय पुरुष कहा गया है, अतः वही कर्म पुरुष चिकित्सा के लिए अधिकृत है।

१६. **एकान्त—एकान्तो नाम यदवधारणेनोच्यते; यथा निजः शरीरदोषोत्थः। त्रिवृद्विरेचयतीत्यादि।** —**चक्रपाणिदत्त**

अर्थात् जो अवधारण से (निश्चय पूर्वक) कहा जाता है उसे एकान्त कहते हैं। जैसे—शरीर दोष से समुत्पन्न हुआ निज होता है, निशोथ विरेचन करता है इत्यादि।

महर्षि सुश्रुत ने भी ऐसा ही लक्षण प्रतिपादित किया है। उनके अनुसार-**सर्वत्र यदवधारणेनोच्यते स एकान्तः। यथा-त्रिवृत् विरेचयति, मदनफलं वामयत्येव।**

१७. अनेकान्त – **अनेकान्तो नाम अन्यतरपक्षानवधारणं, यथा—ये ह्यातुराः केवलाद् भेषजादृते म्रियन्ते न च ते सर्व एव भेषजोपपन्ना समुत्तिष्ठेरन्।** —**चक्रपाणिदत्त**

अर्थात् अन्यतर (किसी) पक्ष का अनवधारण (निश्चय पूर्वक कथन नहीं किया जाना)। जैसे जो रोगी केवल भेषज के अभाव में मर जाते हैं वे सभी औषध प्राप्त होने पर स्वस्थ नहीं हो जाते हैं।

महर्षि सुश्रुत के द्वारा प्रतिपादित लक्षण के अनुसार-**क्वचित्तथा क्वचिदन्यथेति यः सोऽनेकान्तः। यथा—केचिदाचार्या ब्रुवते द्रव्यं प्रधानं केचिद्रसं केचिद्वीर्यं केचिद्विपाकमिति।**

अर्थात् कहीं वैसा और कहीं ऐसा कहना अनेकान्त है। जैसे कोई आचार्य कहते हैं कि द्रव्य प्रधान है, कोई रस को, कोई वीर्य को और कोई विपाक को प्रधान मानते हैं।

१८. पूर्वपक्ष—**पूर्वपक्षो नाम प्रतिज्ञातार्थसंदूषकं वाक्यं; यथा—"मत्स्यान्न पयसाऽभ्यवहरेत्" इति प्रतिज्ञातस्यार्थस्य "सर्वानेव मत्स्यान्न पयसाऽभ्यवहरेदन्यत्र चिलचिमात्।"**

अर्थात् प्रतिज्ञात विषय को दूषित करने वाला वाक्य पूर्वपक्ष कहलाता है। जैसे मछलियों का सेवन दूध के साथ नहीं करे, इस प्रकार का प्रतिज्ञात विषय "सभी मछलियों का सेवन दूध के साथ न करे, चिलचिम (एक विशेष प्रकार की मछली) को छोड़कर-इस वाक्य से दूषित होता है।

महर्षि सुश्रुत ने इससे भिन्न लक्षण बतलाया है जो इस प्रकार है – "**आक्षेपपूर्वकः प्रश्नः पूर्वपक्षः। यथा-कथं वातनिमित्ताश्चत्वारः प्रमेहा असाध्या भवन्तीति।"**

अर्थात् आक्षेपपूर्वक प्रश्न करना पूर्वपक्ष होता है। जैसे वात से समुत्पन्न चार प्रमेह असाध्य कैसे होते हैं ?

१९. निर्णय—**निर्णयो नाम विचारितस्यार्थस्यव्यवस्थापनं यथा-चतुष्पाद भेषजत्वादि विचारं कृत्वाऽभिधीयते—'यदुक्तं षोडशकलं पूर्वाध्याये भेषजं तद्युक्ति युक्तमलमारोग्याय।**

अर्थात् विचारित विषय की व्यवस्था करना निर्णय होता है। जैसे चतुष्पाद

भेषजत्व आदि का विचार करके कहा गया है-पूर्व अध्याय में जो षोऽशकल भेषज बतलाई गई है उसका यदि युक्तियुक्त प्रयोग किया जाय तो वह आरोग्यदायक होती है।

महर्षि सुश्रुत पूर्वपक्ष के उत्तर को ही निर्णय मानते हैं। जैसा कि उन्होंने कहा है—**तस्योत्तरं निर्णयः। यथा—शरीरं प्रपीड्य पश्चादधो गत्वा वसामेदोमज्जानुविद्धं मूत्रं विसृजति वातः, एवमसाध्या वातजा इति। यथा चोक्तम्—**

कृत्स्नं शरीरं निष्पीड्य मेदोमज्जावसायुतः।
अधः प्रकुप्यते वायुस्तेनासाध्यास्तु वातजाः॥

—सुश्रुत संहिता, उत्तर तन्त्र ६५/२३

उस पूर्वपक्ष का उत्तर ही निर्णय होता है। जैसे—वायु शरीर को पीड़ित कर के पश्चात् नीचे की ओर जाकर वसा मेद-मज्जा से अनुविद्ध मूत्र का त्याग करता है, इसलिए वातज प्रमेह असाध्य होते हैं। जैसा कि कहा गया है—

सम्पूर्ण शरीर को पीड़ित करके मेद, मज्जा और वसा से युक्त वायु अधः भाग में प्रकुपित होता है, इसलिए वातज प्रमेह असाध्य होते हैं।

२०. अनुमत—**अनुमतं नाम एकीयमतस्यानिवारणेनानुमननं; यथा—"गर्भशल्यस्य जरायुः प्रपातनं कर्म संशमनमित्येके" इत्याद्येकीयमतं प्रतिपाद्याप्रतिषेधादनुमन्यते।**

अर्थात् एकीयमत (किसी आचार्य के मत) का निवारण नहीं करना याने उसे मान लेना अनुमत कहलाता है। जैसे—गर्भ शल्य की जरायु का गिरा देना—यह कर्म संशमन है—इस प्रकार यह किसी का (एकीय) मत है। एतद्विध एकीय मत का प्रतिपादन करके उसका प्रतिषेध नहीं करते हुए उसे मान लिया जाता है।

यही भाव व्यक्त करते हुए महर्षि सुश्रुत ने अनुमत का प्रतिपादन इस प्रकार किया है—**"परमतमप्रतिसिद्धमनुमतम्। यथा—अन्यो ब्रूयात् सप्त रसा इति तच्चाप्रतिषेधादनुमन्यते कथंचिदिति।"** —सुश्रुत संहिता, उत्तर तंत्र ६५/२४

अथात् दूसरे के मत का प्रतिषेध नहीं करते हुए कथंचिद् रूप से उसे मान लिया जाता है।

२१. विधान—**विधानं नाम यत्सूत्रकारश्च विधाय वर्णयति, यथा—मलायनानि बाध्यन्ते दुष्टैर्मात्राधिकैर्मलैः इत्यत्र दुष्टि शब्देन मलानां हीनत्वमधिकत्वमाचार्यग्रहीतमाचार्यो वर्णयति-मलवृद्धि गुरुतया लाघवान्मलसंक्षयम्। मलायनानां बुध्येत संगोत्सर्गादतीव च" इति; केचित्तु प्रकरणानुपूर्व्याऽर्थाभिधानं विधानमाहुः। यथा—रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणामुत्पादक्रमानुरोधेनाभिधानम्।** —चक्रपाणिदत्त

अर्थात् सूत्रकार विधान करके जिसका वर्णन करता है। जैसे—"अधिक मात्रा में दूषित हुए मलों के द्वारा मल के मार्ग-स्रोतस् बाधित होते हैं?" यहां पर दुष्टि शब्द से

मलों का हीनत्व एवं अधिकत्व आचार्य द्वारा ग्रहण किया गया है। आचार्य उसीका वर्णन करते हैं—गुरुता के कारण मल की वृद्धि और लाघव से मल का संक्षय (हानि) होता है। इसे मलवह स्रोतस् के संग (अवरोध) अथवा अति सर्ग (अधिक प्रवृत्ति) से जानना चाहिए। कुछ आचार्य प्रकरण के आनुपूर्वी से (क्रमानुसार) विषय के प्रतिपादन को विधान कहते हैं। जैसे—रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र की उत्पत्ति क्रम पूर्वक होती है।

यहां आचार्य चक्रपाणि दत्त ने जो एकीय मत प्रतिपादित किया है वह महर्षि सुश्रुत के मत के समान ही है। सुश्रुत ने विधान को इस प्रकार निरूपित किया है—**"प्रकरणानुपूर्व्याभिहितं विधानम्। यथा-सक्थिमर्माण्येकादश प्रकरणानुपूर्व्याभिहितानि।"**

अर्थात् प्रकरण के आनुपूर्वी (क्रमानुसार) कहना विधान कहलाता है। जैसे ग्यारह सक्थि मर्म प्रकरण के अनुसार कहे गए हैं।

२२. अनागतावेक्षण—**अनागतावेक्षणं नाम यदनागतं विधिं प्रमाणीकृत्यार्थसाधनं; यथा—'अथवा तिक्तसर्पिषः' इत्याद्यनागतावेक्षणेनोच्यते।** —चक्रपाणि दत्त

अर्थात् अनागत विधि प्रमाणीकृत करके विषय की सिद्धि करना 'अनागतावेक्षण है। जैसे—'अथवा तिक्त घृत का' इत्यादि अनागतावेक्षण के द्वारा कहा जाता है।

महर्षि सुश्रुत ने इसे और अधिक स्पष्टता से प्रतिपादित किया है। यथा—**"एवं वक्ष्यतीत्यनागतावेक्षणम्। यथा—श्लोकस्थाने ब्रूयाच्चिकित्सितेषु वक्ष्यामीति।"**

अर्थात् आगे कहा जायगा—ऐसा कहना अनागतावेक्षण है। जैसे सूत्रस्थान में (ग्रंथकर्त्ता) कहे कि इसे चिकित्सा स्थान में कहा जायगा।

२३. अतीतावेक्षण—**अतीतावेक्षणं नाम यदतीतमेवोच्यते; यथा-सा कुटी तच्च शयनं ज्वरं संशमयत्यपि" इत्यत्र स्वेदाध्याये विहितकुट्यादिकमतीतमवेक्षते।** अर्थात् विगत विषय का कथन करना अतीतावेक्षण कहलाता है। जैसे—वह कुटी और वह शयन ज्वर का संशमन करता है—यहां पर स्वेदाध्याय में विहित कुटी आदि को अतीत कहा जाता है।

महर्षि सुश्रुत ने इसे **अतिक्रान्तावेक्षण** कहा है। इसका लक्षण उन्होंने इस प्रकार बतलाया है—**यत्पूर्वमुक्तं तदतिक्रान्तावेक्षणम्। यथा—चिकित्सतेषु ब्रूयात् श्लोकस्थाने यदीरितम्।** —सुश्रुत संहिता, उत्तर तन्त्र ६५/३१

अर्थात् पहले जो विषय कह दिया गया है वह अतिक्रान्तावेक्षण कहलाता है। जैसे—चिकित्सा स्थान में कहा जाय कि सूत्रस्थान में जो कहा गया है।

२४. संशयो नाम—**विशेषाकांक्षानिर्धारितोभयविषयज्ञानं; यथा—'मातरं पितरं चैके मन्यन्ते जन्म कारणम्। स्वभावं परनिर्माणं यदृच्छां चापरे जनाः॥'**

अर्थात् विशेष आकांक्षा पूर्वक निर्धारित दोनों विषयों का ज्ञान करना संशय कहलाता है। जैसे कोई लोग माता पिता को जन्म का कारण मानते हैं और अन्य लोग स्वभाव, पर निर्माण, यदृच्छा को मानते हैं, इत्यादि कथन के द्वारा संशय कहा गया।

महर्षि सुश्रुत के अनुसार—**उभयहेतुदर्शनं संशयः । यथा—तलहृदयाभिघातः प्राणहरः, पाणिपादच्छेदनमप्राणहरमिति ।** —सुश्रुत संहिता, उत्तर तंत्र ६५/३२

अर्थात् दोनों प्रकार के हेतुओं का दिखाई देना संशय कहलाता है। जैसे तल-हृदय का अभिघात प्राणहर होता है, किन्तु हाथ, पैर का कट जाना प्राणहर नहीं है।

२५. **व्याख्यान—व्याख्यानं नाम यत्सर्वबुद्ध्यविषयं व्याक्रियते; यथा—"प्रथमे मासि सम्मूर्च्छितः सर्वधातुकलुषीकृतः खेटभूतो भवत्यव्यक्तविग्रह" इत्यादिनाऽस्मदाद्यविदितार्थव्याकरणम् ।** —चक्रपाणिदत्त

अर्थात् समस्त जनों की बुद्धि के अगम्य विषय को विशेष रूप से स्पष्ट करना व्याख्यान कहलाता है। जैसे प्रथम माह में सर्वधातुओं का सम्मिश्रण स्वरूप संकलित रूप बनकर कफ धातु का स्वरूप धारण कर अव्यक्त शरीर वाला होता है—इत्यादि के द्वारा अविदित विषय वाले हम लोगों के लिए स्पष्ट किया गया।

महर्षि सुश्रुत ने भी इसी से समानता रखने वाला लक्षण प्रतिपादित किया है। यथा—**तन्त्रेऽतिशयोपवर्णनं व्याख्यानम् । यथा—इह पञ्चविंशतिकः पुरुषो व्याख्यायते । अन्येष्वायुर्वेद तन्त्रेषु भूतादिप्रभृत्यारम्य चिन्ता ।** सु० सं० उ० ६५/३३

अर्थात् शास्त्र में किसी विषय का अतिशय (विस्तार पूर्वक) वर्णन करना व्याख्यान कहलाता है। जैसे—यहाँ पच्चीस तत्वात्मक पुरुष की व्याख्या की जाती है, अन्य आयुर्वेद ग्रंथों में पञ्चमहाभूत आदि से आरम्भ करके पुरुष की उत्पति के विषय में कहा गया है।

२६. **स्वसंज्ञा—स्वसंज्ञा नाम या तन्त्रकारैर्व्यवहारार्थं संज्ञा क्रियते । यथा—जेन्ताक होलाकादिका संज्ञा ।** —चक्रपाणिदत्त

अर्थात् तन्त्रकारों के द्वारा व्यवहारार्थ जो संज्ञा विहित की जाती है उसे संज्ञा कहते हैं। जैसे—जेन्ताक, होलाक आदि।

महर्षि सुश्रुत ने स्वसंज्ञा का लक्षण कुछ भिन्न प्रकार से बतलाया है जो इस प्रकार है—**अन्यशास्त्रासामान्या स्वसंज्ञा । यथा— मिथुनमिति मधुसर्पिषोर्ग्रहणम्, लोके प्रसिद्धमुदाहरणं वा ।** —सुश्रुत संहिता, उत्तर तन्त्र ६५/३४

अर्थात् किसी विषय का इस प्रकार का नामकरण जो अन्य शास्त्र से असामान्य (विशिष्ट) हो स्वसंज्ञा कहलाता है। जैसे—'मिथुन' शब्द से मधु-घृत का ग्रहण किया जाता है, अथवा लोक में प्रसिद्ध इसी भांति अन्य उदाहरण।

२७. **निर्वचन—निर्वचनं नाम पण्डितबुद्धिगम्यो दृष्टान्तः, यथा—ज्ञायते नित्यगस्येव कालस्यात्ययकारणम् ।** —चक्रपाणि दत्त

अर्थात् विद्वान के बुद्धिगम्य जो दृष्टान्त होता है उसे निर्वचन कहते हैं। जैसे नित्य चलने वाले काल के नाश का कारण ज्ञात नहीं होता है। (पुनर्वसु आत्रेय ने

स्वभावोपरमवाद के सन्दर्भ में यह उदाहरण देकर अपने शिष्यों को समझाया है। अतः यह विद्वद्बुद्धिगम्य दृष्टान्त है।)

महर्षि सुश्रुत ने कुछ भिन्न प्रकार से निर्वचन का प्रतिपादन किया है। जैसे—**"निश्चितं वचनं निर्वचनम् । यथा—आयुर्विद्यतेऽस्मिन्ननेन वाऽऽयुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः ।"**

अर्थात् निश्चित वचन को निर्वचन कहते हैं। जैसे—इसमें आयु विद्यमान है या इससे आयु प्राप्त होती है, अतः यह आयुर्वेद है।

२८. **निदर्शन—निदर्शनं नाम मूर्खविदुषां बुद्धिसाम्यविषयो दृष्टान्तः, यथा—विज्ञातममृतं यथा ।** अर्थात् ऐसा दृष्टान्त प्रस्तुत करना जो मूर्ख (अल्प बुद्धि) और विद्वान् सभी के लिए समान रूप से बुद्धिगम्य हो वह निदर्शन कहलाता है। जैसे विज्ञात (जानी पहचानी) औषधि उसी प्रकार होती है जिस प्रकार अमृत होता है।

महर्षि सुश्रुत निदर्शन की व्याख्या करते हुए कहते हैं—**"दृष्टान्तव्यक्तिनिदर्शनम् । यथा—अग्निर्वायुना सहितः कोष्ठे वृद्धिं गच्छति तथा वातपित्तकफदुष्टो व्रण इति ।"**

अर्थात् दृष्टान्त के द्वारा विषय को व्यक्त (स्पष्ट) करना निदर्शन कहलाता है। जैसे—जिस प्रकार अग्नि वायु के साथ कोष्ठ में वृद्धि को प्राप्त होता है उसी प्रकार वात-पित्त-कफ से दूषित हुआ व्रण वृद्धि को प्राप्त होता है।

आचार्य चक्रपाणिदत्त ने निर्वचन और निदर्शन में निर्वचन को विशेष (महत्त्वपूर्ण) माना है। वे कहते हैं—निदर्शननिर्वचनयोरयं विशेषः—यन्निदर्शनं मूर्खविदुषां बुद्धिसामान्यविषयं, निर्वचनं तु पण्डितबुद्धिवेद्यमेव, किंवा निर्वचनं निरुक्तिः, यथा-विविधं सर्पति यतो विसर्पस्तेन संज्ञितः। अर्थात् निदर्शन और निर्वचन में यह (निर्वचन) विशेष है। क्योंकि निदर्शन तो मूर्ख और विद्वान् दोनों की बुद्धि के लिए सामान्य विषय का प्रतिपादन करता है, जबकि निर्वचन पण्डित बुद्धि द्वारा ज्ञेय विषय को ही ज्ञापित करता है। अथवा निर्वचन को निरुक्ति भी कहते हैं, जैसे—विविध प्रकार से यह विसर्पणशील होता (फैलता) है, अतः इसे विसर्प कहते हैं।

२९. **नियोग—नियोगो नाम अवश्यानुष्ठेयतया विधानं; यथा—न त्वया स्वेदमूर्च्छापरीतेनापि पिण्डिकैषा विमोक्तव्या ।** —आचार्य चक्रपाणिदत्त

अर्थात् आवश्यक रूप से करने योग्य कार्य को करना नियोग कहलाता है। जैसे स्वेद और मूर्च्छा से युक्त होने पर भी तुम्हारे द्वारा यह चबूतरा नहीं छोड़ा जाना चाहिए।

महर्षि सुश्रुत भी नियोग के विषय में ऐसा ही मत व्यक्त करते हुए कहते हैं—**'इदमेव कर्त्तव्यमिति नियोगः । यथा—पथ्यमेव भोक्तव्यमिति ।'** —सु० सं० उ० तं०

अर्थात् ऐसा ही करना चाहिये—यह नियोग है। जैसे पथ्य ही खाना चाहिए।

३०. **समुच्चय—समुच्चयो नाम यदिदं चेदं चेति कृत्वा विधीयते ; यथा—वर्णश्च स्वरश्च** अर्थात् यह और यह इस प्रकार करके कहना समुच्चय है। जैसे—वर्ण स्वर आदि। महर्षि सुश्रुत को भी समुच्चय से ऐसा ही भाव अभीष्ट है। वे कहते हैं—**"इदञ्चेदञ्चेति समुच्चयः। यथा—मांसवर्गे एणहरिणादयो लावतित्तिरिसारङ्गाश्च प्रधानानीति।"**

अर्थात् यह और यह इस प्रकार से कहना समुच्चय है। जैसे मांस वर्ग में एण, हरिण आदि, लाव, तित्तिर और सारङ्ग प्रधान है।

३१. **विकल्प—विकल्पः पाक्षिकाभिधानं; यथा—सारोदकं वाऽथ कुशोदकं वा।**

अर्थात् किसी विषय का पाक्षिक (आधा या आंशिक कथन करना)। जैसे—सारोदक अथवा कुशोदक।

विकल्प के विषय में महर्षि सुश्रुत का भी ऐसा ही अभिमत है। वे कहते हैं—**इदं वेदं वेति विकल्पः। यथा—रसौदनः सघृता यवागूर्वा।**

अर्थात् यह अथवा यह इस प्रकार कहना विकल्प है। जैसे—रसौदन (मांस रस एवं भात) अथवा घी के साथ यवागू।

३२. **ऊह्य—ऊह्यं नाम यदनिबद्धं ग्रंथे प्रज्ञया तर्कत्वेनोपदिश्यते। यथा—परिसंख्यातमपि यद्यद्द्रव्यमयौगिकं मन्येत तत्तदपकर्षयेत्।** —चक्रपाणि दत्त

अर्थात् ग्रन्थ में जो प्रतिपादित नहीं है उसे प्रज्ञा और तर्क के आधार उपदिष्ट करना ऊह्य कहलाता है। जैसे—परिगणित किया हुआ भी जो-जो द्रव्य अयौगिक माना जाए उसे कम कर दे (निकाल दें)।

महर्षि सुश्रुत ने ऊह्य का जो लक्षण बतलाया है वह इस प्रकार है—**यदनिर्दिष्टं बुद्ध्यावगम्यते तदूह्यम्। यथा—अभिहितमन्नपानविधौ चतुर्विधञ्चान्नमुपदिश्यते—भक्ष्यं भोज्यं लेह्यं पेयमिति, एवं चतुर्विधे वक्तव्ये द्विविधमभिहितम्।**

अर्थात् जो अनिर्दिष्ट विषय बुद्धि से जाना जाता है वह ऊह्य कहलाता है। जैसे—अन्नपानविधि में कहा गया है—चार प्रकार का अन्न बतलाया जाता है—भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, पेय। इस प्रकार चतुर्विध कहने पर द्विविध का भी कथन हो जाता है।

३३. **प्रयोजन—प्रयोजनं नाम यदर्थं कामयमानः प्रवर्तते। यथा—धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्।** —चक्रपाणि दत्त

अर्थात् जिस विषय की अभिलाषा रखते हुए कर्त्ता प्रवृत्त होता है उसे प्रयोजन कहते हैं। जैसे इस तन्त्र (ग्रन्थ-चरक संहिता) का प्रयोजन धातु साम्य हेतु क्रिया-चिकित्सा करना है।

महर्षि सुश्रुत ने इस प्रयोजन नामक तन्त्रयुक्ति को नहीं माना है।

३४. **प्रत्युत्सार—प्रत्युत्सारो नाम उपपत्त्या परमतनिवारणं; यथा—वार्योविद प्राह "रसजानि तु भूतानि व्याधयश्च पृथग्विधाः इत्यादि। हिरण्याक्षो निषेधयति न ह्यात्मा रसजः स्मृतः इत्यादि।** —चक्रपाणि दत्त

अर्थात् युक्ति एवं तर्क से अन्य आचार्य के मत का निवारण करना प्रत्युत्सार कहलाता है। जैसे वार्योविद का मत है कि समस्त प्राणी रसज (रस से समुत्पन्न) हैं और विभिन्न प्रकार की व्याधियां भी रसज है। हिरण्याक्ष उसका निषेध करते हुए कहते हैं—आत्मा रसज नहीं है।

३५. **उद्धार—उद्धारो नाम परपक्षदूषणं कृत्वा स्वपक्षोद्धरणं; यथा—"येषामेव हि भावानां संपत् संजनयेन्नरम्। तेषामेव हि भावानां विपत् व्याधीनुदरीयेत् इत्यादिना स्वपक्षोद्धरणम्।** —**चक्रपाणिदत्त**

अर्थात् दूसरों के पक्ष (कथन) को दूषित करके अपने पक्ष का समर्थन करना उद्धार कहलाता है। जैसे—जिन भावों की प्रशस्तता (गुणवत्ता) मनुष्य को उत्पन्न करती है उन्हीं भावों की विपत् (अप्रशस्तता-वैषम्य) व्याधियों को उत्पन्न करती है। इत्यादि के द्वारा अपने पक्ष का समर्थन करना।

महर्षि सुश्रुत ने उद्धार का परिगणन नहीं किया है।

३६. **सम्भव—सम्भवो नाम यद्यस्मिन्नुपपद्यते स तस्य सम्भवः; यथा—मुखे पिप्लुव्यंगनीलिकादयः सम्भवन्तीति।** —आचार्य चक्रपाणि दत्त

अर्थात् जो जिसमें उत्पन्न होता है (अन्यत्र नहीं) वह उसका सम्भव है। जैसे मुख पर पिप्लु, व्यंग, नीलिका आदि की उत्पत्ति। अभिप्राय यह है कि पिप्लु आदि रोग मुख पर ही उत्पन्न होते हैं, अन्यत्र नहीं।

इस प्रकार छत्तीस तन्त्रयुक्तियाँ होती हैं। भट्टार हरिश्चन्द्र ने चार अन्य तन्त्रयुक्तियाँ और मानी हैं। यथा—परिप्रश्न व्याकरण, व्युत्क्रान्ताभिधान और हेतु। चरक संहिता में इनका कथन नहीं किया गया है, अतः उपर्युक्त में ही इनका अन्तर्भाव हो जाता है। जैसे परिप्रश्न का उद्देश में और व्याकरण का व्याख्यान में अन्तर्भाव हो जाता है। व्युत्क्रान्ताभिधान निदेश का ही भेद है, अतः वह उसी में अन्तर्भूत है। हेतु शब्द से जो प्रत्यक्ष आदि प्रमाण कहे गए हैं उनका हेतु में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

एकोनविंशः अध्याय

व्याख्या, कल्पना, ताच्छील्य, अर्थाश्रय एवं तन्त्रदोष

पूर्वोक्त तन्त्रयुक्तियों के अतिरिक्त कुछ अन्य बातें और हैं जिनका ज्ञान शास्त्र को समझने के लिए आवश्यक है। इनका वर्णन या उल्लेख भी प्रायः तन्त्र के अन्त में किया जाता है। किन्तु वर्तमान में उपलब्ध किसी भी ग्रंथ या शास्त्र में इनका प्रतिपादन नहीं मिलता है। आचार्य चक्रपाणि दत्त ने तन्त्रयुक्ति के प्रकरण में कहा है कि पन्द्रह प्रकार की व्याख्या, सात प्रकार की कल्पना, इक्कीस अर्थाश्रय, सत्रह ताच्छील्य और चौदह तन्त्रदोष बतलाए गए हैं जिनका वर्णन आगे उत्तरतन्त्र में किया हुआ होने से यहाँ (सिद्धिस्थान में) नहीं किया गया है। इससे ऐसा लगता है कि चरक संहिता में उत्तरतन्त्र भी पूर्व में विद्यमान रहा होगा। सुश्रुत संहिता एवं अष्टांग हृदय में भी इन व्याख्या आदि का कोई विवरण या उल्लेख नहीं मिलता है। अष्टांग हृदय के यशस्वी टीकाकार आचार्य अरुणदत्त ने अपनी सर्वाङ्ग सुन्दरा व्याख्या में विस्तार से इन पर प्रकाश डाला है। भट्टार हरिश्चन्द्र ने भी अपनी चरकन्यास टीका में उन सभी का प्रतिपादन सुन्दर ढंग से विस्तारपूर्वक किया।

पंचदशविध व्याख्या

व्याख्या का सामान्य अर्थ होता है किसी पद या वाक्य या अंश या प्रकरण या अध्याय या शास्त्र की विशिष्ट विवेचना पूर्वक आख्या करना अथवा उसका अर्थ स्पष्ट करना। जैसा कि व्याख्या शब्द के विश्लेषण से स्पष्ट है जो निम्न प्रकार है—वि + आ + ख्या इति व्याख्या—विशेषण आ समन्तात् ख्यापयतीति व्याख्या। जो कथित अंश के अर्थ को स्पष्ट करे उसे व्याख्या कहते हैं। व्याख्या के द्वारा शास्त्र के गूढ़, अस्पष्ट एवं लीन भाव (अर्थ) को स्पष्ट किया जाता है। व्याख्या के द्वारा अल्पमति भी शास्त्र के रहस्य को समझने में समर्थ हो जाता है। अतः व्याख्या वही श्रेष्ठ एवं सार्थक मानी जानी है जो अध्येता के लिए सरल, सुबोध एवं शास्त्र के गूढ़ार्थ को स्पष्ट करने में समर्थ हो। व्याख्या संक्षिप्त भी हो सकती है और विस्तृत भी। यह तो व्याख्येय अंश पर निर्भर करता है। व्याख्या के माध्यम से व्याख्याकार अपने दृष्टिकोण का भी प्रतिपादन करता है। ग्रंथ में जो बातें अति संक्षेप या सूत्र रूप में कही गई हैं, व्याख्याकार उन्हें विवेचित कर विस्तार पूर्वक कहता है। व्याख्या में इस बात का पर्याप्त ध्यान रखा जाता है कि व्याख्या के दौरान ग्रंथकर्त्ता के द्वारा कथित मूल भाव खण्डित या विलुप्त न हो।

आचार्यों के अनुसार व्याख्या पन्द्रह होती हैं जो निम्न प्रकार हैं—

व्याख्या तु पंचदशविधा तां व्याकरिष्यामः। तद्यथा-पिण्डपदपदार्थाधिकरण-प्रकरणार्थकृच्छ्रफलकठन्यासप्रयोजनानुलोमप्रतिलोमसूत्रसमध्वजाख्या।"

व्याख्या पन्द्रह प्रकार की बतलाई गई है—१. पिण्ड व्याख्या, २. पदव्याख्या, ३. पदार्थ व्याख्या, ४. अधिकरण व्याख्या, ५. प्रकरण व्याख्या, ६. अर्थ व्याख्या, ७. कृच्छ्र व्याख्या, ८. फलव्याख्या, ९. कठव्याख्या, १०. न्यासव्याख्या, ११. प्रयोजन व्याख्या, १२. अनुलोम व्याख्या, १३. प्रतिलोम व्याख्या, १४. सूत्रसम व्याख्या, १५. ध्वज व्याख्या।

१. पिण्डव्याख्या—पिण्डव्याख्या नाम या संक्षेपतः तंत्राध्यायचतुष्कप्रकरण सूत्राणां अन्वाख्या। यथा—निमित्तैरित्यनेन सूत्रेण कृत्स्नमरिष्टस्थानं समासतः उपसंगृहीतम् तथा "यदा ह्येते त्रयो निदानादिविशेषाः विपर्यये विपरीताः इति सर्व-विकारविघातभावाभाव प्रति विशेषाभिनिर्वृत्तिहेतुर्भवत्युक्तः।"

पिण्डव्याख्या उसे कहते हैं जो संक्षेप से तंत्र, अध्याय, चतुष्क, प्रकरण तथा सूत्र के विषयों का निर्देश करे। जैसे—निमित्तों से इत्यादि सूत्र के द्वारा सम्पूर्ण अरिष्टस्थान संक्षेपतः निर्दिष्ट किया गया है, तथा जब ये तीन निदानादि विशेष होते हैं इससे विपरीत होने पर विपरीत होते हैं। इस प्रकार ये समस्त विकारों की अनुत्पत्ति और सब रोगों की उत्पत्ति को भिन्न-भिन्न विशेषताओं में उत्पत्ति स्वरूप कारण कहे गए हैं।

इसके अतिरिक्त, तन्त्र आदि पदों की निरुक्ति भी पिण्डव्याख्या के ही अन्तर्गत आती है। यथा—

"निरुक्तं तन्त्रणात्तन्त्रं स्थानमर्थप्रतिष्ठया।
अधिकृत्यार्थमध्यायनामसंज्ञा प्रतिष्ठिता॥"

२. पदव्याख्या—पदव्याख्या नाम यत् पदानां परस्परतो विच्छेद कृत्वोच्चारणम्। यथा—अधि + आयः = अध्यायः, वि + आ + ख्या = व्याख्या।

पद के अवयवों का परस्पर विच्छेद कर जो स्पष्टीकरण किया जाता है वह पदव्याख्या कहलाती है। यथा—अधि + आय = अध्यायः, वि + आ + ख्या = व्याख्या।

३. पदार्थव्याख्या—"पदार्थव्याख्या नामामीषामेव पदानामर्थवद्भावविवरणम्। यथाऽस्मिन्नेव सूत्रे अथ शब्दो मंगलाधिकारः।

अर्थात् इन्हीं पदों का जब अर्थ सहित भाव बतलाया जाता है तब वह पदार्थ व्याख्या कहलाती है। जैसे—अथ शब्द का मंगल अर्थ में प्रयोग।

४. अधिकरण व्याख्या—अधिकरणव्याख्या नाम यद् वस्तु प्रकृतमपेक्ष्य तदनुषंगेण व्याख्यानमारभते। यथा निन्दितवस्त्वधिकारानुषंगेणातिस्थूलकृशयोर्हेतुलक्षणचिकित्साः व्याख्याताः—अशेषेण प्रवृत्त इत्येवम् इति।"

अर्थात् जब प्रकृत वस्तु का आधार लेकर अनुषंगतः उसका व्याख्यान किया

जाता है तब वह अधिकरण व्याख्या कहलाती है। जैसे—अष्टौ निन्दितीय प्रकरण में अनुषंगतः स्थूल और कृश के हेतु, लक्षण और चिकित्सा का विवरण किया गया। उसी प्रकार वातकलाकलीय में वात के अतिरिक्त अन्य विषयों का प्रतिपादन किया गया और नक्षत्रग्रहादि-विकृति के प्रकरण में भेषजोद्धरण का उपदेश किया गया।

५. प्रकरणव्याख्या—**प्रकरणव्याख्या नाम एकस्मिन्नर्थे सूत्रे वा प्रकृतेनाप्रकृतम् साध्यते। यथा चत्वारः कर्णरोगा इत्यारम्य यावच्चत्वारो मूर्च्छाया व्याख्याताः अत्र समानदोषतया समानसंख्यानाच्च व्याख्या एवं प्रकृतेरप्रकृतिः साध्यते।"**

अर्थात् किसी अर्थ या सूत्र में प्रकृत वस्तु से अप्रकृत वस्तु का व्याख्यान करना प्रकरणव्याख्या कहलाती है। जैसे चार कर्ण रोग इत्यादि से आरम्भ कर चार मूर्च्छा पर्यन्त व्याख्या की गई। यहाँ समान दोष तथा समान संख्या होने से व्याख्या है। इसी प्रकार प्रकृति से अप्रकृति का साधन किया जाता है।

६. अर्थव्याख्या—**"अर्थव्याख्या नाम यत्र प्रकरणे सूत्रे वा तत्वेन वर्णनं भावस्य क्रियते। यथा—गुर्वादिगुणयोगः।"**

अर्थात् जब प्रकरण या सूत्र में विषयवस्तु का तत्वतः वर्णन किया जाता है तब वह अर्थव्याख्या कहलाती है। जैसे—प्रकृति की व्याख्या करते हुए कहा गया—

"प्रकृतिरुच्यते स्वभावो यः पुनराहारद्रव्याणां स्वाभाविको गुर्वादिगुणयोगः।"

७. कृच्छ्रव्याख्या—**"कच्छ्रव्याख्या नाम यत्र लेशोक्तानाम् अविस्पष्टानां अप्रकरणसूत्रे यत्नादुद्भावनम्। यथा—वनस्पतिसत्वानुकारेणेत्यनेन लेशतो वनस्पतीनामपि ज्ञानसद्भावं दर्शयति।"**

अर्थात् लेशोक्त एवं अविस्पष्ट अर्थों का जिससे यत्नपूर्वक स्पष्टीकरण हो वह कृच्छ्रव्याख्या कहलाती है। जैसे "वनस्पतिसत्वानुकारेण" इस कथन से वनस्पतियों में भी लेशतः ज्ञान का अस्तित्व सूचित होता है।

८. फलव्याख्या—**"फलव्याख्या नाम यस्मिन् वस्तुनि साध्ये बहुत्वनिश्चयेऽर्थे—रस इत्युवाच भद्रकाप्य इत्यारभ्य—असंख्येया रसा इत्यनेन।"**

साध्य विषय के प्रतिपादन क्रम में अनेक परकीय मतों का उल्लेख करते हुए उनका अंगभाव से समावेश कर किसी निष्कर्ष पर पहुंचना फलव्याख्या कहलाती है। जैसे—रसों की संख्या के प्रसंग में अनेक मतों का उल्लेख कर अन्त में एक निष्कर्श दिया गया और अन्य मतों का अंगभाव से समावेश कर लिया गया।

९. कठव्याख्या—**"कठव्याख्या नाम यस्मिन् सूत्रे निदर्शनी भूतान्यन्यान्युदाहरणानि तन्त्रान्तरतः समाकृष्य स्थाप्यन्ते यथा पृथिव्यादिषु महाभूतसंज्ञा स्थापिताऽऽचार्येण-रसादिषु धातुसंज्ञा निवेशिता-तदेवं विचार्यते किं खलु महाभूतान्यपि खादीनि धातुसंज्ञानि भवन्त्येवेति वक्तव्यम्। तत्र प्रामाण्यात् खादयश्चेतना षष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः। षड्धातुजस्तु पुरुषो रोगाः षडधातुजास्तथा, षडधातवः समुदिता लोक इति संज्ञां लभन्ते (इत्यादिना) दिग्धस्य तंत्रादुच्छिद्योच्छिद्य साधनायोपनीयते।**

सूत्र में निर्दशित पदार्थों की व्याख्या जब तन्त्रगत प्रामाण्य के आधार पर की जाती है तब वह कठव्याख्या कहलाती है। यथा—पृथिवी आदि की महाभूत संज्ञा है और धातु संज्ञा रस, रक्त आदि की है। किन्तु पुरुष के सम्बन्ध में पृथिवी आदि की संज्ञा भी धातु हो जाती है जिससे पुरुष षड्धात्वात्मक कहा जाता है।

इसे भट्टार हरिश्चन्द्र ने उच्छित व्याख्या कहा है।

१०. न्यासव्याख्या—**"न्यासव्याख्या नाम यस्मिन्नधिकरणे वर्तमानेन प्रकृतेनाधिकरणार्थेन सम्बन्धमभिसमोक्ष्याप्रकृतस्यार्थ उच्यते। यथा—तथा ज्वरादीनप्यातंकात् मिथ्योपचारितानकालमृत्युन पश्यामः इति ज्वरं चोक्तमपेक्ष्याहाग्निवेश्यः "किं नु खलु भगवन् ज्वरितेभ्यः पानीयमुष्णं प्रयच्छन्ति भिषजः।"**

अर्थात् न्यासव्याख्या उसे कहते हैं जिसके द्वारा जिस अधिकरण में वर्तमान प्रकृत विषय के प्रकरणगत अर्थ से सम्बन्ध देखकर अप्रकृत विषय का अर्थ किया जाता है। यथा—कालाकाल मृत्यु—विवेचन के प्रकरण में ज्वर के साथ सम्बन्ध देखकर यह प्रश्न किया गया कि वैद्य ज्वरित को उष्ण जल पीने के लिए क्यों देते हैं?

११. प्रयोजनव्याख्या—**"प्रयोजनव्याख्या नाम यत् सूत्रमभिधीयमानस्वार्थस्याव्यतिरिक्तस्यार्थनिवृत्तौ निमित्तभावमुपगमयति, यथा—यावन्तो हि लोके भावविशेषाः तावन्तः पुरुषे यावन्तः पुरुषे तावन्तो लोके—न ह्यनेन सूत्रेणारब्धेन कश्चिदुपकारो दृश्यते यथा लोकपुरुषसामान्यदर्शननिमित्ताभूता अस्योत्तरकाल सत्याबुद्धिर्जायत इति नोक्तं स्यात् तस्मादनेन प्रयोजनेदं लोकपुरुषसामान्याख्यानं प्रवृत्तम्।"**

सूत्र में कथित विषय की सार्थकता के प्रयोजन-परक जो स्पष्टीकरण किया जाता है वह प्रयोजन व्याख्या कहलाती है। यथा—लोक-पुरुष सामान्य प्रकरण में निर्दिष्ट विषय के स्पष्टीकरण के लिए सत्य-बुद्धि की उत्पत्ति प्रयोजन बतलाया गया है। यदि यह प्रयोजन न कहा जाय तो सारा विषय अस्पष्ट और निरर्थक रह जाता है।

१२. अनुलोमव्याख्या—**'अनुलोमस्य व्याख्यानम् येनैवानुक्रमेण सूत्रेऽर्थाः निबद्धाः तेनैवानुक्रमेण भाष्येऽप्यभिधीयन्ते, यथा—प्रकृतिकरणसंयोगादीन् सूत्रयित्वा भाष्यमकरोत् तत्रप्रकृतिरुच्यते स्वभाव एवमादि।"**

जिस क्रम से सूत्र में विषय निबद्ध हैं उसी क्रम से यदि भाष्य में भी विवरण किया जाय तो वह अनुलोम व्याख्या कही जाती है। जैसे—प्रकृति, करण, संयोग आदि तथा कारण, करण, कार्ययोनि आदि का जिस क्रम से सूत्र में उल्लेख किया गया उसी क्रम से भाष्य भी किया गया।

१३. प्रतिलोमव्याख्या—**प्रतिलोमव्याख्या नामानुपूर्व्या सूत्रे नियुक्तोऽर्थ—स्तामानुपूर्वी व्युत्क्रम्यार्थस्य भाष्यमुच्चारयति। यथा—त्यागाद् विषमहेतूनां समानाञ्चोपसेवनात्" विषमहेतुत्यागस्य समहेतुसेवनस्य च पूर्वक्रमप्रणीतं दृष्ट्वापि क्रमभेदं च कृतवान् सर्वक्रिभीणामपकर्षणमेवादितः कार्यं ततः प्रकृतिविघातानन्तरं निदोनोक्तानां भावानामनुपसेवनमत्र प्रतिलोमव्याख्याने प्रयोजनम्। ताभ्यामुपकल्पितमधिकृत्य**

पश्चाद् भूतं एनं संशोधयिष्यामीति क्षीरादिभिः सायं प्रातरुपपादयेत् समीरणार्थं चैव क्रिमीणां कोष्ठाभिसरणार्थं च। अतो निदानवर्जनं आदौ नोपहितम्।"

जहाँ पर सूत्र में निर्दिष्ट अर्थ का आनुपूर्वी क्रम भंगकर भाष्य किया जाता है वह प्रतिलोम व्याख्या कहलाती है। यथा—विषमहेतु के त्याग और सम के सेवन से धातुसाम्य का उपदेश करने के बाद पुनः उपदेश किया कि क्रिमिरोग में पहले क्रिमियों का अपकर्षण करना चाहिये, ततः प्रकृतिविघात तथा [illegible]नोक्त भावों का सेवन करना चाहिये। समीरण और कोष्ठाभिसरण के लिए पहले दान का ही सेवन कराया जाता है। अतः निदान वर्जन पहले नहीं बतलाया।

१४. सूत्रसमव्याख्या—**"सूत्रसमा व्याख्या नाम यत्र प्रागुद्दिष्टे तत्सूत्रस्यापि तत्तुल्यमभिधीयते, यथा—ऋत्वानुपूर्वी शिशिरादिशरत्पर्यन्ताना पठिता तेनैव क्रमेण चयप्रकोपप्रशमाः श्लेष्मादीनां समुपपद्यन्ते तेनैव क्रमेण संशोधनमुक्तवान्—हैमन्तिकं दोषचयं वसन्ते प्रवाहयेत्—एवं सूत्रं समवेक्ष्य भाष्यं सूत्रसमा व्याख्या कथ्यते।"**

सूत्रसमव्याख्या वह है जहां पूर्व निर्दिष्ट सूत्र के समान आगे के विषय उपस्थित किये जाएं। यथा—ऋतुओं की गणना शिशिर से शरद् तक की गई है, उसके बाद उसी क्रम से वात-पित्त-कफ के चय-प्रकोप-प्रशम तथा उनके संशोधन का उपदेश किया गया।

१५. ध्वजव्याख्या—**"ध्वजव्याख्या नाम ध्वजमात्रं सूत्रस्यार्थं कृत्वा सन्तिष्ठते, यथा—"विपरीतगुणैर्देशमात्राकालोपपादितः। भेषजैर्विनिवर्तन्ते विकारा साध्यसम्मताः" इत्यत्र विपरीतमिति भणता विपरीतस्य स्थापयितव्यम्। सति ह्यविपरीते विपरीतमिति, तच्च विपरीतं सामान्यं स्थाप्यते। तच्च द्रव्यं गुणः कर्म सामान्यं च बृद्धिकारणम्, विपर्ययः विशेषः सोऽपि द्रव्यगुणकर्मणा ह्रासकारणं तस्य बृद्धिह्रासकारणमेताविति।"**

जो ध्वजा के समान सूत्र के अर्थ का संकेत करती है वह ध्वज व्याख्या कहलाती है। जैसे—देश, मात्रा, काल के अनुसार विपरीत गुण औषधि से साध्य विकारों का निराकरण होता है यह कहने से सामान्य और विशेष दोनों का संकेत होता है। तथा द्रव्य-गुण-कर्म का सामान्य वृद्धि का कारण तथा विशेष ह्रास का कारण होता है, इतना अर्थ निकलता है।

सप्तविध कल्पना

पन्द्रह प्रकार की व्याख्या का वर्णन करने के बाद सप्तविध कल्पना का प्रतिपादन किया गया है। कल्पना का सामान्य अर्थ होता है रचना या निर्माण करना या विधिवत् रखना आदि। आयुर्वेद में यद्यपि औषधि निर्माण के सन्दर्भ में कल्पना शब्द विशिष्ट अर्थपूर्ण एवं विशिष्टार्थ का द्योतक है, तथापि शास्त्रीय सन्दर्भ में उसका अपना विशिष्ट महत्व है। कल्पना शब्द यहां शैली-परक है और तन्त्र की शैली से सम्बन्ध रखता है।

कल्पना सात प्रकार की बतलाई गई है—१. प्रधान, २. गुण, ३. लेश, ४. इंगित, ५. विभक्त, ६. भक्ति, ७. आज्ञा।

"सप्तविधा कल्पनेत्युक्तम् तद्यथा प्रधानगुणलेशेङ्गितविभक्तभक्त्याज्ञा ज्ञातव्या।"

१. प्रधानकल्पना—**"तत्र प्रधानकल्पना नाम (प्रधानस्य कल्पना प्रधानेन वा कल्पना) यथा—सर्पिः स्नेहयति, क्षीरं जीवयति, मधु संदधाति इत्यत्र गवां क्षीरसर्पिषी प्रकृष्टगुणत्वात् मधु च माक्षिकम् प्रधानत्वात् प्रधानेन तु कल्पना यथा—तैलम्, यथा वा "गौरसानां च यो वर्गो नवमः परिकीर्तितः न तु गवामेवात्र रसः केवलो ह्युपदिष्टः महिषीजातिप्रभृतीनामपि तत्र रसा निरुक्ताः प्राधान्येन तु कल्पनाव्यपदेशः।**

प्रधान की या प्रधान से जो कल्पना की जाती है वह प्रधान कल्पना कहलाती है। यथा "घृत स्नेहन करता है, क्षीर जीवनी शक्ति को बढ़ाता है और मधु सन्धान करता है।" यहाँ पर प्रकृष्ट गुण एवं प्रधान होने के कारण गाय का दूध और घी तथा मधुमक्खी का मधु लेते हैं—यह प्रधान की कल्पना हुई। प्रधान से भी कल्पना करते हैं, यथा—तेल या गोरस। तेल शब्द से यद्यपि अन्य तेलों का ग्रहण होता है, तथापि प्रधान होते के कारण तिल तैल का ही ग्रहरण करते हैं और इसी आधार पर इस संज्ञा की कल्पना हुई। इसी प्रकार गोरस से महिषी आदि के रस का भी ग्रहण करते हैं किन्तु प्रधान होने के कारण गौ के आधार पर यह कल्पना हुई।

२. गुण कल्पना—**"गुणकल्पना नाम येन धर्मेण पदार्थो पर्याप्तप्रयोजने नियुज्यमानो भवति तेन धर्मेण युक्तोऽसावगुणोऽपि सन् गुण इति कल्प्यते। यथा-बहुता तत्र योग्यत्वमनेकविधकल्पना। समच्चेति चतुष्कोऽयं द्रव्याणां गुण उच्यते॥ उच्यते-सूत्र-भाष्ये कर्मण्यपि गुणकल्पनामकरोत्" घृतं पित्तानिलहरमित्यादि।"**

गुण या धर्म के अनुसार जब प्रयोग होता है तो वह गुणकल्पना होती है। जैसे चिकित्सा चतुष्पाद-निरूपण में भेषज की कल्पना गुण के आधार पर की गई है। इसी के अनुसार कर्म में भी गुणकल्पना हो जाती है, जैसे—घृतं पित्तानिलहरम् इत्यादि।

३. लेशकल्पना—**"लेशकल्पना नाम अनुपदिष्टस्य विधेः—यत् किंचित् सूत्रावयवं परिगृह्यार्थः कल्प्यते, यथा—नयतंत्रे किंचित् कालमृत्योरकालमत्योर्वा लक्षणं प्रणीतं तत्तु लेशत उपनीयते।"**

जो विषय अनुपदिष्ट हो, किन्तु सूत्रावयव के संकेत पर उसका अर्थ गृहीत हो वह लेश कल्पना कहलाती है। जैसे—नयतंत्र में काल और अकाल मृत्यु का लक्षण दिया गया और वहां से उसका लेश ग्रहीत हुआ।

४. इंगित कल्पना—**"इंगितकल्पना नाम अकथयंस्तन्त्रकार यावदर्थं दर्शयति भावतः यथा सर्वविद्यास्थानारम्भस्तन्त्रेऽस्मिन्नुक्तं कर्णाटपठितप्रश्लेषादवगम्यते। यथा दानतपोयज्ञा इत्यनेन वार्तयारुपग्रहः, शास्त्रोपसंदर्शनम् देवगोब्राह्मणगुरुवृद्धसिद्धाचार्यान् सेवयेदेत्वमादिना स्मृतेरध्याहारः। धर्मार्थकाममोक्षाणामहितानामनुपसेवने हितानां चोपसेवने प्रयतितव्यमित्यनेन विद्योपयोगः। नाविच्छिन्नस्वरं नावस्थित-**

पदन्नातिदूरं नातिबिलम्बितं नात्युच्चैर्नातिनीचै स्वरैरध्ययनमभ्यस्येदित्य ध्ययनशिक्ष-वरोध।

द्रव्याणां कल्पविधानोपदेशान् कल्पः। अनवपतितशब्दमकष्टं शब्दं इत्यनेन व्याकरणोपदेशः। तन्त्रणात्तन्त्रमित्यनेन निरुक्तसंग्रहणम्। पुष्यहस्तश्रवणाश्वयुजा-मन्यतमेन नक्षत्रेण योगमुपगते बले मुहुर्ते नागबलामूलान्युद्धरेदिति ज्योतिष्टोम यत्नो-पावर्तनम्। मत्पदमात्रस्य ग्रंथस्योपदेशात् छन्दो विचितिसम्प्रवेशः। यथा—बहुविधमिद-मुक्तमर्थजातं तथा 'दीर्घं जीवितमन्विच्छन्' तथा 'बृहच्छरीरं गिरिसारसारम्' एवमादि सामान्यादीनामुपनिबन्धनात्तर्काविरोधः। विवादमार्गपदाभिधानाच्च हेतुशास्त्रनिगमनम्। विक्षेपकालात् भावानां कालः शीघ्रतरोऽत्यये तथा "तेषां स्वाभावोपरमः सदा इत्यनेन-बौद्धप्रवचनमुपहृतम्। "लोकदोषदर्शिनो मुमुक्षोः इत्यनेन—मोक्षमार्गसन्दर्शनम्।

बिना कहे हुए तंत्रकार इंगित के द्वारा जब अर्थ को उपस्थित करता है तब यह इंगित कल्पना कहलाती है।

५. विभक्ताविभक्त कल्पना—"विभक्ताविभक्तकल्पना नाम संक्षेपोक्तस्याथस्य सतो यस्य विभुत्वं तल्लक्ष्यते तस्य विस्तरः कल्प्यते, यथा—हेतुलिंगौषधज्ञानमिति एतानि त्रीणि पदानि सूत्राणि—एतदेव च विस्तार्यमाणं कृत्स्नं तन्त्रं भवति।"

संक्षेप से प्रस्तुत अर्थ को जब विस्तृत किया जाय तो वह विभक्तकल्पना होती है। यथा—हेतुलिंगौषधज्ञान इस त्रिसूत्र के विवरण के रूप में ही सारा तंत्र हुआ।

६. भक्तिकल्पना—"भक्तिकल्पना नाम यत्तदिति कल्प्यते उपचारमात्रेण यथा—आयुर्वेदोऽमृतानामिति।"

जो केवल उपचार के लिए जो कुछ भी कहा जाय वह भक्तिकल्पना होती है। यथा—उपचारवश आयुर्वेद को अमृतों में श्रेष्ठ बतलाया गया।

७. आज्ञाकल्पना—"आज्ञाकल्पना नाम यस्य हेतुरनुष्ठाने न शक्यतेऽर्थस्यास्मद् विधैरभिधातु केवलमाप्तवचनं प्रमाणीकृत्यानुभूयते यथा न छिन्द्यात्तृणम्, न भूमिं लिखेत्" एतस्मादिति न ह्यस्मिन् शक्यते हेतुराविष्कर्तुम् कल्पनाम् करणमनुष्ठानमित्यर्थः।"

जिस विषय का कथन करने के लिए हेतु का प्रतिपादन करना सम्भव नहीं हो केवल अप्तवचन को ही प्रमाण मानकर अनुभव किया जाता है उसमें कोई हेतु नहीं दिया जा सकता वह आज्ञा कल्पना कहलाती है। जैसे तिनका मत तोड़ो, भूमि पर मत लिखो इत्यादि।

सप्तदश ताच्छील्य

ताच्छील्य का सामान्य अर्थ होता है किसी विषय, भाव या वस्तु के सदृश या तत्समान् अन्य भाव का ज्ञान होना। जैसे बाह्य भौतिक जगत् में स्थित अग्नि भौतिक द्रव्यों का पाक करती है। उसी प्रकार सदृश भाव युक्त विषय या वस्तु का ज्ञान जिससे

होता है वह ताच्छील्य कहलाता है। आचार्यों ने इनकी संख्या सत्रह बतलाई है जो निम्न प्रकार है—

१. ताच्छील्य, २. अवयव, ३. विकार, ४. सामीप्य ५. भूयस्त्वम् ६. प्रकार ७. गुणि गुण विभव, ८. संसक्तता ९. तद्धर्मता १०. स्थान, ११. साहचर्य, १२. तादर्थ्य १३. कर्म, १४. गुणनिमित्तता, १५. चेष्टानिमित्तता, १६. मूल संज्ञा १७. तात्स्थ्यम्।

इनका विवरण निम्न प्रकार है—

१. ताच्छील्य— इसका सामान्य अर्थ है सादृश्य भाव। जब दो भिन्न द्रव्यों या भावों में गुण, धर्म, स्वभाव या प्रकृति का सादृश्य भाव पाया जाता है तो वह ताच्छील्य कहलाता है। जैसे महर्षि चरक ने लोक और पुरुष का साम्य प्रतिपादित किया है। ताच्छील्य के उदाहरण में बतलाया गया है कि जिस प्रकार पुरुष सोया हुआ होता है उसी प्रकार शरीर के अंगों की सुप्तता होना।

२. अवयव— किसी विषय का कथन करने पर उससे सम्बन्धित विषयान्तर का ज्ञान होना अवयव कहलाता है। जैसे—"लंघन से विकारोपशमन होकर आरोग्य का सम्पादन होता है।" ऐसा कथन करने पर अनुक्त इस बात का भी ज्ञान होता है कि लंघन नहीं करने से विकार का शमन नहीं होता है और शरीर में रोग स्थिति बनी रहती है।

३. विकार—विकार का सामान्य अर्थ है विकृति। प्रस्तुत प्रकरण में ऐसे पद का प्रयोग जो उसके वास्तविक अर्थ को प्रकट नहीं करता हो विकार से अभिप्रेत है। जैसे पालक एक प्रकार का शाक है। उसे जब पकाया जाता है तो वह अपने मूल गुण-धर्म को छोड़ देता है, किन्तु फिर भी वह शाक ही कहलाता है, अतः यह विकार है। अथवा द्रव्य विशेष की अवस्थान्तर भी विकार कहलाती है। जैसे दूध से दही जमाया जाता है। अतः दही दूध का विकार कहलाता है।

४. सामीप्य— भट्टार हरिश्चन्द्र ने इसे 'संश्लेष' कहा है। **जैसे—सामीप्यं नाम 'संश्लेषः' तत् संश्लेषादेतत् (वस्त्वन्तरम) पितद्वदुपचारं लभते। यथा— श्रोत्रप्रभृतीनी-न्द्रियाणि शिरसा संशिलष्टानीत्युपचर्यते यदुत्तमांगमंगानां शिरस्तदभिधीयते इत्यारभ्य यावत् प्रतिश्यायमुखनासाक्षिकर्णरोगाः।**

अर्थात् समीपता का अर्थ है संश्लेष। उस संश्लेष से यह (अन्य वस्तु) भी उसी के समान उपचार को प्राप्त होती है। जैसे श्रोत्र आदि इन्द्रियां शिर से संश्लिष्ट हैं—ऐसा व्यवहार किया जाता है। जो अंगों में उत्तमांग है वह शिर कहलाता है—यहां से प्रारम्भ करके 'प्रतिश्याय, मुख, नासा, अक्षि, कर्ण रोग' पर्यन्त। (देखिये चरक संहिता सूत्रस्थान, अ० १७ में १२ एवं १३)।

आचार्य अरुणदत्त ने इसका विवेचन नहीं किया है।

५. भूयस्त्व—जो अनेक में विद्यमान रहता हुआ आधिक्य से जहाँ लक्षित होता है अर्थात् जिसकी प्रमुखता रहती है वह **भूयस्त्व** है। जैसे अम्ल रस भोजन को रुचिकर बनाता है—ऐसा कहा गया है। क्या मधुरादि रस भोजन को रुचिकर नहीं

बनाते हैं—इसका उत्तर देते हुए कहा गया कि अम्ल रस में भोजन की रोचकता अधिकता से पाई जाती है।

६. **प्रकार**—जो जिस भाव का समान धर्मी होता है वह उसका **प्रकार** है। जैसे—एरण्ड नाल से कण्ठ का स्पर्श करते हुए वमन करावे—ऐसा कहा गया है। उसके प्रकार भूत सुवर्चला, शतपुष्पा आदि के नाल का ग्रहण यहाँ नहीं है। अभिप्राय यह है कि एरण्ड नाल ही अभीष्ट है।

७. **गुणि गुण विभव**— जहाँ गुण गुणत्व से और गुण गुणित्व से व्यपदिष्ट होता है वहां **गुणि गुण विभव** होता है। **गुणी गुणत्व से जैसे**—शारीर गुण दो प्रकार के होते हैं—मलभूत और प्रसाद भूत। मल भूत—स्वेद, मूत्र, पुरीष, वात, पित्त श्लेष्मा, कर्णादि का मल। प्रसादाख्य मल रसादि शुक्रान्त धातुएँ। गुण शब्द से गुणि कहलाते हैं। इनका गुणित्व कैसे है? द्रव्यत्व होने से। द्रव्य गुणित्व होने से। ये सब द्रव्य हैं, गुण गुणित्व से, जैसे—ऋषिगण रसायन के सेवन से मेधा, स्मृति बल से युक्त अमित आयु वाले हुए।

८. **संसक्ता**—एक अनेक के साथ सम्बद्ध इष्ट कर्मों में विद्यमान होते हुए अन्य सम्बन्धियों में एक का ही व्ययदेश होना संसक्तता है। जैसे—द्रव्य मधुर रस वाले, मधुर प्रायः, मधुर प्रभाव वाले, मधुर प्रभाव प्रायः वाले होते हैं। मधुर स्कन्ध में मधुर रस वाले द्रव्यों का उल्लेख है। वहाँ पर एक मधुर रस अनेक द्रव्यों से सम्बद्ध हैं। उन द्रव्यों में अम्लादि रसों की भी सम्भावना होती है। अतः 'मधुर प्राय.' कहा गया है। यही संसक्तता है।

९. **तद्धर्मता**—जो तथाभूत (उसी प्रकार) का होता है, धर्म-दर्शन से अभिन्न (सदृश) में व्याख्या को प्राप्त करता है वह तद्धर्मता है। जैसे—पृथ्वी पर मृत्यु के अनुचर घूमते हैं। यह कथन छद्मचर (अकुशल) वैद्य के लिए कहा गया है जो यम तुल्य होता है। दोनों ही मृत्यु के अनुचर हैं।

१०. **स्थान**—जहाँ स्थानी से स्थान और स्थान से स्थानी का ज्ञान होता है वह स्थान कहलाता है। जैसे—श्रोत्र। श्रोत्र इन्द्रिय होती है, उसका सम्बन्ध स्थान से है। श्रोत्रेन्द्रिय स्थानी है उससे उसके अधिष्ठान कर्ण का ग्रहण किया जाता है। इसके अतिरिक्त रस कहने पर जिव्हा विषयक भाव का बोध होता है, किन्तु इसका ज्ञान रसेन्द्रिय से होता है जो जिव्हा (अधिष्ठान) में स्थित रहती है। यह स्थान से स्थानी का बोध कराता है।

११. **तादर्थ्य**—जिस प्रयोजन के लिए जो भाव प्रवर्तित होता है उसी से व्यपदेश करना तादर्थ्य कहलाता है। जैसे—स्नेह-स्वेद से आस्य (दोषोत्क्लेश के द्वारा) करके अपामार्ग तण्डुल आदि का विरेचन देकर शिरो विरेचन देना चाहिये। उस प्रयोजन के लिए प्रवृत्ति की जाती है। भट्टार हरिश्चन्द्र ने इसे **अमितार्थ** कहा है।

१२. **साहचर्य**—जो जिसके साथ सम्बन्ध प्राप्त करता है वह उसी सम्बन्ध से उसी सम्बन्धी शब्द को प्राप्त करता है। जैसे—छत्री, दण्डी, मौली आदि। मनुष्य के पास छाता होने पर वह छत्री, दण्ड होने पर दण्डी कहलाता है। अतः छाता का छत्री (छाता धारी मनुष्य), दण्ड का दण्डी (दण्ड धारी मनुष्य) का साहचर्य भाव होता है।

१३ कर्म—**कर्म नाम यत् न च कर्म कर्मेति चोपचर्यते। यथा—"एतत्तदेकमयनं मुक्तैर्मोक्षस्य दर्शितम्" तद्वत् स्मृति बलं येन गता न पुनरागताः।** अर्थात् जो कर्म नहीं है, किन्तु कर्म उपचरित होता है। जैसे मुक्ति को प्राप्त जनों के द्वारा मोक्ष का यही एक मार्ग बतलाया गया है, उसी प्रकार जिससे स्मृति बल चला गया और पुनः वापिस नहीं आया।

१४. **गुण निमित्तता—गुणनिमित्तं नाम यत् कस्यचिद् भावस्य विभूतिः प्रशंसा प्रख्याप्यते। यथा—प्रीतिर्बलं सुखं वृत्तिविस्तारो विभवः कुलम्। यशोलोकाः सुखोदर्कास्तुष्टिश्चापत्य संश्रिताः। इत्यपत्यस्य प्रशंसा पूर्विका विभूतिः प्रख्याप्यते।**

अर्थात् जो किसी भाव की विभूति प्रशंसा को ख्यापित करती है वह गुण निमित्तता होती है। जैसे—प्रीति, बल, सुख, वृत्ति का विस्तार, वैभव, कुल, यश, लोक, सुखोदर्क और तुष्टि (सन्तोष) ये समस्त भाव अपत्य (सन्तान) में आश्रित होते हैं। इस प्रकार अपत्य की प्रशंसा पूर्वक विभूति ख्यापित की गई है।

१५. **चेष्टा निमित्त—चेष्टानिमित्तं नाम यन्निमित्तमात्रं कस्यचित् क्रिया वा भवति भावस्य धर्मस्येत्यर्थः न ह्यत्र प्रस्पन्दः क्रिया इष्टा। तद्यथा ज्वलत्यात्मनि संरुद्धं तत्सत्वं संप्रकाशते। शुद्धस्थिरप्रसन्नार्चिर्दीपो दीपाशये यथा।**

अर्थात् किसी भाव याने धर्म की जो क्रिया निमित्त मात्र होती है उसे चेष्टा निमित्त कहते हैं। यहाँ प्रस्पन्द क्रिया इष्ट नहीं है। जैसे—वह अवरुद्ध मन आत्मा में इस प्रकार प्रकाशित होता है जैसे शुद्ध, स्थिर और निर्मल किरण वाला दीपक दीपाशय में प्रकाशित होता है। यहां पर सत्व की प्रदीप की भाँति निर्मलता (तेज) उर्ध्व विसर्पित होने के लिए नहीं है, उसी प्रकार वह सन्निकृष्ट अन्य द्रव्यों को नहीं जलाता है, रूप में अथवा स्पर्श में, तैलवर्ती का दीपोदान है। यहाँ तो मात्र प्रकाश क्रिया को ही ग्रहण करके जलता है—यह समाख्या होती है।

१६. **मूल संज्ञा—मूल संज्ञा नाम यो लोकेऽस्मिन्नर्थः प्रसिद्धः तत्र चान्यस्मिन्नर्थे निवेशितः यथा—"लिंगमाकृतिश्चिह्नं संस्थानं व्यञ्जनं रूपम्" इति। रूपश्च लोके शुक्लनीलसितकृष्णादिषु स्वसंज्ञान्तु विधाय लक्षणावाचि निरुक्तम्।**

अर्थात् लोक में जो अर्थ प्रसिद्ध है उससे भिन्न अर्थ में निवेशित करना मूल संज्ञा होती है। जैसे-लोक में रूप शब्द का अर्थ शुक्ल, नील, कृष्ण आदि के लिए प्रसिद्ध है। किन्तु आयुर्वेद में रोग के लक्षण के लिए व्यवहृत होता है। लक्षण के पर्यायों में रूप का भी समावेश है। जैसे—लिंग, आकृति, संस्थान, चिह्न, रूप।

१७. **तात्स्थ्य—तात्स्थ्यं नाम यदन्यस्यैवार्थस्य भाव तत्स्थत्वादन्यस्यैव कल्प्यते, तद्यथा—बस्तिमेहनयोःशूलं मूत्रकृच्छ्रशिरोरुजा। तत्रात्मनः शूलं बस्तिमेहनयोरेव कल्प्यते तत्प्रदेशस्थत्वात् इति।**

१३. **परतंत्रप्रत्यय**— ग्रंथ में प्रतिपादित किसी विषय की प्रसिद्धि के लिए अनभ्यस्त भिषक् तन्त्र के लिए अन्य तन्त्र के उदाहरण का प्रतिपादन करना शक्य हो वह परतन्त्र उदाहरण (प्रत्यय) कहलाता है। जैसे — आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात्प्रवर्तते। व्यक्ता तदात्वे या बुद्धिः प्रत्यक्षं सा निगद्यते। यहाँ पर इस तन्त्र (चरक संहिता) में आत्मा इन्द्रिय, मन इन द्रव्यों से शब्दादि गुणों का शब्दादि गुण अर्थ संज्ञा वाले हैं। सन्निकर्ष नहीं होता है। क्योंकि सन्निकर्ष संयोग को कहते हैं वह भी गुण हैं। परादि गुणों में उसका पाठ है। इसके अतिरिक्त गुण गुणाश्रित नहीं होते हैं। अतः यहां सन्निकर्ष की उपपत्ति नहीं है। परतन्त्र से इस अर्थ की सिद्धि के लिए उदाहरण दिया गया है।

१४. **हेतु हैतुक धर्म**—एक रोग से दूसरा रोग उत्पन्न होने पर प्रथम रोग का कारण दूसरे रोग का भी कारण बने वह हेतु हैतुक धर्म होता है। जैसे पित्तातिसार से रक्तातिसार होता है। यहां पित्त से ही पित्तातिसार होता है और पित्त ही रक्त को दूषित कर रक्तातिसार उत्पन्न करता है। अतः रक्तातिसार का मूल कारण पित्त है, अतिसार नहीं। यही हेतुहैतुक धर्म है।

१५. **कार्य कारण धर्म** – कार्य संज्ञा से कारण का और कारण संज्ञा से कार्य का निर्देश करना कार्य कारण धर्म होता है। दोष भी रोग शब्द को प्राप्त करते हैं। वहाँ दोष कारण होते हैं। जैसे **'सर्वेषामपि रोगाणां कारणं कुपिताः मलाः'** समस्त रोगों का कारण कुपित मल होते हैं ऐसा वचन है। वही दोष रोग कहलाता हुआ कारण भूत दोष में कार्यभूत रोग उपचारित होता है। ऐसा कार्यकारण संज्ञा निर्दिष्ट है।

१६. **आद्यन्त विपर्यय**— ग्रंथ निर्माण तथा शास्त्र रचना के उद्देश्य से सौकर्य के लिए पद, सूत्र या प्रकरण के क्रम को उलट-पुलट देना आगे पीछे कहना "**आद्यन्त विपर्यय** कहलाता है। जैसे "**खानो दशेन्द्रियाण्यर्था प्रकृतिश्चाष्टधातुकी**" मन, दश इन्द्रियां, अर्थ (इन्द्रियों के विषय) और अष्ट धातुमय प्रकृति। यहाँ मन का व्याख्यान करने के पश्चात् इन्द्रियों और उनके अर्थ तथा अष्ट धातुमय प्रकृति की व्याख्या करके आकाशादि पंच महाभूत की व्याख्या की गई। इसी प्रकार अन्नपान विधि की व्याख्या में प्रथम पान का और बाद में अन्न का वर्णन किया।

१७. **शब्दान्यत्व**—किसी रोग या अन्य द्रव्य के लिए एक से अधिक शब्दों (पर्यायों) का उल्लेख करना शब्दान्तर (शब्दान्यत) कहलाता है। जैसे—आयु के लिए धारि, जीवित चेतनानुवृत्ति, नित्यग अनुबन्ध आदि पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग करना।

१८. **प्रत्यय धर्म** जो हेतु धर्म उपपत्ति मात्र से किसी हेतु के द्वारा व्यपदिष्ट नहीं होता है वह प्रत्यय धर्म कहलाता है। जैसे—"**देवादयः कुर्वन्त्युन्मत्तम्**—' अर्थात् देव आदि उन्मत्त करते हैं। यहां देव ऋषि, पितृ, गन्धर्व आदि को उन्माद का हेतु प्रतिपादित किया गया है। किन्तु वस्तुतः ये उन्माद कर्तृत्व में हेतु नहीं हैं। प्रज्ञापराध ही मुख्य हेतु है। इस प्रकार प्रधान कारण की उपेक्षा कर गौण कारण को महत्व देना प्रत्यय धर्म है।

१९. **उपनय**—"**उप समीपं नीयते इति उपनयः**" अर्थात् निकट या समीप में लाना उपनय कहलाता है। भट्टार हरिश्चन्द्र के अनुसार सतप्रवित पूर्व सूत्र से अन्य प्रकरण (प्रासंगिक होने पर) प्रस्तुत या वर्णन करना उपनय कहलाता है। जैसे—

यज्जः **पुरुषीये** के आहाराधिकार प्रकरण में चौरासी अन्नपानासव बतलाए गए हैं। अष्टाँग हृदय में मात्राशितीय अध्याय में विसूचिका रोग का वर्णन।

२०. **सम्भव**—ऐसे विषय का प्रतिपादन या वर्णन करना जो उस सम्पूर्ण प्रकरण को व्यापक करे सम्भव कहलाता है। जैसे—भोजन वेला में आचमन करें। यहाँ आचमन का उल्लेख भोजन प्रकरण की व्यापकता के कारण किया गया हैं।

२१. **विभव** विविच्यमान जो सूत्र या प्रकरण अर्थ के व्यापक होने से सम्पूर्ण शास्त्र के द्वारा व्याख्यायित होता है वह विभव कहलाता है। जैसे शल्य, शालाक्य आदि आयुर्वेद के आठ अंग सम्पूर्ण तन्त्र को व्याप्त करते हैं अतः उनकी व्याख्या सम्पूर्ण शास्त्र के द्वारा की जाती है।

चतुदश तन्त्रदोष

तन्त्र याने शास्त्र को दूषित करने वाले सूत्र, पद, भाव या विषय को तन्त्रदोष कहा जाता है। तन्त्रयुक्ति के सन्दर्भ मे इनका ज्ञान भी अपेक्षित है, ताकि शास्त्र का विधिवित् अध्ययन करने वाले विज्ञ जन तन्त्र दोषों का ध्यान रखते हुए और इनका परिहार करते हुए निर्मल ज्ञान के प्रकाश से आलोकित हों। तन्त्रदोष के ज्ञान की उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है—

दुर्लक्षणविहीनत्वमङ्गानामपि भूषणम्।
इत्यलंकारसम्बन्धाद्दोषविज्ञानमीयते॥

अर्थात् अंगों का दुर्लक्षणों (अशुभ लक्षणों) से विहीन रहित) होना भी भूषण होता है। इस प्रकार अलकार से सम्बन्धित होने से दोष विज्ञान कहा जाता है।

अभिप्राय यह है कि जब दोषों का सम्यग् ज्ञान होगा तब ही उनके परिहार या दूर करने का उपाय किया जायगा। अतः शास्त्र को निर्दुष्ट, सुलक्षण युक्त एवं विद्वान् गृहीत योग्य बनाने के लिए प्रथम तन्त्रदोषों का ज्ञान अपेक्षित है।

सामान्यतः आचार्यों द्वारा चतुर्दश तन्त्रदोष बतलाए गए हैं। उनका विवरण निम्नानुसार है—

१. **अप्रसिद्ध शब्द**— जो शब्द लोक में प्रचलित या प्रसिद्ध न हो ऐसे शब्दों का प्रयोग करना अप्रसिद्ध शब्द कहलाता है। जैसे—**उदावक्य गमन लक्ष्मी सम्मुखानाम्'** अर्थात् उदक्या (रजस्वला) का आगमन असुख का कारण होता है। यहां उदक्या शब्द अप्रसिद्ध एव अप्रचलित है, क्योंकि उसका सामान्यतः व्यवहार नहीं होता है।

२. **असमाप्तार्थ** जो अनुपसहृत याने अनर्थक रूप से कहा जाय वह असमाप्तार्थ होता है। जैसे '**पिप्पली पिप्पली मूलं चव्य चित्रक नागरैः।**" इस प्रकार यह पुनः कहा गया। आगे यह कुछ नहीं कहा गया कि इनसे क्या करना है। यह अनर्थक कथन होने से असमाप्तार्थ है।

३. अनर्थक— **अनर्थकं नाम यद् वार्तात्रिमे आचार्येणोक्तम्। यथा—क च ट त पाः इति पंच वर्गम्. तत्र न कश्चिदप्यर्थ आचार्येण साक्षादुक्तः।** अर्थात् वार्ता क्रम में आचार्य के द्वारा जो कहा जाय वह अनर्थक है जैसे क च ट त प ये पाँच वर्ग हैं। इसमें आचार्य द्वारा कोई भी साक्षात् अर्थ नहीं कहा गया है।

आचार्य अरुणदत्त ने इसे इस प्रकार प्रतिपादित किया है—**अनर्थक नाम यदन्यार्थेनापि पदेनापगताभिधेयम्।** अर्थात जो अन्य अर्थ वाले पद से अपगताभिधेय हो वह अनर्थक है।

जो अन्य अर्थ का भाव वहां स्थित होने से अन्य का ही समझा जाता है वह तात्स्थ्य होता है। जैसे—कहा गया है कि बस्ति एवं शिश्न का शूल, मूत्रकृच्छ्र, शिरोरुजा। यहाँ वस्तुतः शूल का अनुभव आत्मा को होता है, किन्तु स्थान विशेष में होने से बस्ति व शिश्न का शूल कहा जाता है।

एक विंशति अर्थाश्रय

शास्त्र के सुकर ज्ञान के लिए जिस प्रकार तन्त्रयुक्ति, व्याख्या, कल्पना का समुचित ज्ञान अपेक्षित है उसी प्रकार 'आश्रय' का ज्ञान भी आवश्यक है। शास्त्र में प्रतिपादित विभिन्न विषयों के वर्णन लिए जो वर्ण विन्यास किया जाता है उनके समुचित अर्थज्ञान के लिए 'आश्रय' का आश्रय लेना उपयोगी होता है। आश्रय शास्त्र में प्रतिपादित शब्दों, वाक्यों, अर्थ एवं भाव की संगति बैठाने में महत्वपूर्ण होते हैं। शास्त्र में जो आश्रय बतलाए गए हैं उनके अध्ययन से ज्ञात होता है कि वे विशिष्ट प्रकार के नियम का संकेत करते हैं। उनसे शास्त्र में अपनाई गई विशिष्ट शैली एवं शब्द विन्यास की प्रक्रिया विशेष का भी आभास मिलता है। अष्टाँग संग्रह के टीकाकार आचार्य अरुणदत्त ने बीस आश्रय बतलाए हैं जबकि भट्टार हरिश्चन्द्र ने इक्कीस आश्रयों का उल्लेख किया। उनका विवरण निम्नानुसार है—

१. **आदि लोप**—आदि याने आरम्भ के पद का अभाव। किसी सूत्र या पद में पूर्ववर्ती शब्द का प्रयोग नहीं किया जाना **'आदि लोप'** होता है। जैसे **रसःबृंहयति** अर्थात् रस बृंहण करता है। यहां 'रस' से पहले 'मांस' का लोप है। इसी प्रकार **'धारणाद्धातवः'** यहां धारण शब्द से पूर्व 'देह' शब्द का लोप है।

२. **मध्यलोप**— किसी सूत्र या वाक्य में मध्यवर्ती पद का प्रयोग नहीं किया जाना **मध्यलोप** कहलाता है। जैसे अन्न विज्ञानीय या द्रव द्रव्य विज्ञानीय में मध्य **पद स्वरुप** का प्रयोग नहीं होने से यह मध्यलोप है। पूर्णपद 'अन्नस्वरुप' तथा द्रवद्रव्यस्वरुप विज्ञानीय होना चाहिये।

३. **अन्तलोप**—जिस सूत्र या पद या वाक्य में अन्तवर्ती शब्द का प्रयोग नहीं किया गया हो वह **'अन्तलोप'** कहलाता है। जैसे **सर्पास्ते पीतमारुताः** यहां पर अन्त में 'इव' शब्द का लोप है। इसी प्रकार **'यः स्यादनुबलो धातुः स्नेहबध्यः सः चानिलः।'** यहाँ अन्त में प्रायः शब्द लोप है।

४. **उभय लोप**—दो पदों का प्रयोग नहीं किया जाना उभय लोप कहलाता है। यह तीन प्रकार का होता है-१. आदिमध्यलोप, २. आद्यन्तलोप ३. मध्यान्त लोप। **आदि मध्य लोप**-रसाधिकार में मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषाय ये षड्रस बतलाए गए हैं। यदि कहा जाय 'अम्लकटुतिक्तकषायाः' तो यहां आदिभूत मधुर और मध्यमभूत लवण का लोप है। इसी प्रकार "मधुराम्लकटुतिक्तः" कहने पर मध्यभूत लवण तथा अन्तभूत कषाय का लोप है यह **मध्यान्त लोप** है। 'अम्ललवणकटुतिक्ताः' कहने पर आदिभूत मधुर और अन्तभूत कषाय का लोप है यह **आद्यन्त लोप** है।

५. **आदिमध्यान्त लोप**—जिस सूत्र या वाक्य में आदि मध्य अन्त तीनों पदों का प्रयोग नहीं किया जाय तो वहां आदि मध्यान्त लोप होता है। जैसे **'द्वौ रसाविति, उक्तःमम्लकटुकावि- ति'** अर्थात् दो रस कहे गए हैं-अम्ल और कटु। यहाँ आदि भूत मधुर, मध्यभूत लवण और तिक्त तथा अन्तभूत कषाय का लोप है।

६. **उपधालोप** इसका उल्लेख भट्टार हरिश्चन्द्र ने किया है। अरुणदत्त ने इसका उल्लेख नहीं किया है। भट्टार हरिश्चन्द्र के वर्णनानुसार-"**पंचरसेन द्रव्येण मधुराम्ललवणकटुकषायाः इत्यत्रोपान्तस्य लोपः। अन्त्यात् पूर्वो भावः उपधा संज्ञा इत्युक्तम्। अस्माच्च कषायात्तिक्तः पूर्वः इति।**

अन्त से पूर्ववर्ती पद उपधा कहलाता है। उसका लोप होना उपधा लोप होता है। जैसे-पाँच रस वाले द्रव्य से मधुर अम्ल-लवण-कट-कषाय का कथन करने पर उपान्त (अन्त का पूर्ववर्ती या समीप वर्ती) तिक्त का लोप किया गया। अतः यह उपधा लोप है।

७. **वर्णोपजन**—ग्रंथ में यदि कोई वर्ण अनुक्त है तथा बाद में व्याख्या के समय आचार्य द्वारा उपज्ञानीय अर्थ का कहा जाना वर्णोपजन है। जैसे— **"त्रिरात्र यावकं दद्यात् पंचाहं वापि सर्पिषा"** यहाँ **'स्नेह्य'** अथवा **'संयुक्तं'** यह वर्ण उपजनित होता है।

८. **ऋषिक्लिष्ट** कोई ऐसा पद या शब्द जो ऋषिपुत्रक द्वारा असावधान चित्त होने से अथवा अशक्ति से, भ्रष्ट रूप से या अशुद्ध रूप से उच्चारित होकर वैसा ही लोक में प्रसिद्धि को प्राप्त हो जाय वह ऋषिक्लिष्ट होता है। जैसे—लोम के स्थान पर रोम, पुरोडाश के स्थान पर पुरोलाश आदि।

९. **तन्त्र शील**—सूत्रकार के द्वारा शिष्य को समझाने के लिए स्वयं ही सन्देह उत्पन्न कर पुनः उसका निराकरण करते हैं वह तन्त्रशील होता है। जैसे— **संशयश्चात्र कथं भविष्याम इतश्च्युता न वेति। स्वयमेवोत्पाद्य सन्देहम् उतरत्र पुनर्निवारयन्नाह अत्मा मातुः पितुर्वा यः सोऽपत्यं संचरेद्यदि। एकमात्रविना।** अर्थात् चरक संहिता शरीर स्थान में 'यदि माता या पिता की आत्मा सन्तान में संचरित होती है—इत्यादि के द्वारा स्वयं प्रथम सन्देह उत्पन्न कर आगे उसका निराकरण कर दिया गया। यह तन्त्र रचना की शैली विशेष है, अतः इसे तन्त्रशील कहा गया।

१०. **तन्त्र संज्ञा** - ग्रंथ या तन्त्र में सन्दर्भ विशेष में किसी शब्द विशेष का सीमित अर्थ में प्रयोग करना तन्त्र संज्ञा कहलाता है। जैसे-- नवज्वर में कषाय का निषेध किया गया है। कषाय शब्द से सामान्यतः पंचविध कषाय अभिप्रेत होता है, किन्तु नवज्वर के प्रसंग में कषाय का सीमित अर्थ क्वाथ ही लिया गया है।

११. **प्रकृत**—प्रकृत का सामान्य अर्थ है प्रस्तुत। अर्थात् ग्रंथ में जहाँ जैसा प्रसंग हो तदनुसार ही अर्थ ग्रहण करना प्रकृत कहलाता है। जैसे—"क्षारः क्षीरं फलं पुष्पं भस्मतैलानि कण्टकः।" यह औद्भिद् गण है। इसके सन्दर्भ में यहाँ क्षीर शब्द से स्नुही, अर्क आदि का क्षीर अभिप्रेत है, न कि गाय, भैंस आदि का क्षीर।

१२. **समानतन्त्र प्रत्यय**—ग्रंथ में प्रतिपादित किसी विषय विशेष का साधन करने के लिए तन्त्रान्तर में प्रतिपादित कथन को उद्धृत करना समानतन्त्र प्रत्यय कहलाता है। जैसे—शास्त्र में प्रतिपादित किया गया है कि मनुष्य को नख, केश, दाढी आदि दस दिन में काट लेना चाहिये। इसके समर्थन मे अन्य शास्त्रों के वचनों को उद्धृत रखा।